विक्रमीय प्रथम सहस्राब्दी तक

के

महाभारत-मूलक संस्कृत-नाटकों के कथानकों का

समीक्षात्मक अध्ययन

(A Critical Study of the Episodes of the Mahabharata as adopted in Sanskrit Dramas upto the First Millennium of Vikram Era)

प्रयाग विश्वविद्यालय की डी० फिल्० उपाधि के लिये प्रस्तुत

शोध-निबन्ध
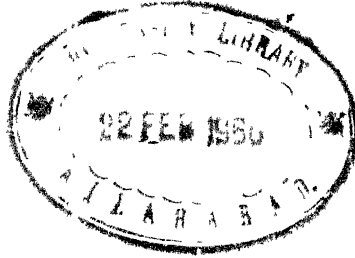
लेखिका—कुमारी अलोका गुप्ता एम० ए०

ऋषि-पञ्चमी, २०२२ विक्रमाब्द

भूमिका

बचपन से ही महाभारत के अध्ययन के प्रति मुझे विशेष रुचि थी । इसके पीछे मेरे गुरुजनों की प्रोत्साहना भी एक कारणस्वरूप थी । महाभारत के अतिसंक्षिप्त संस्करणों के भाषान्तर को ही पढ़कर मुझे बड़ा आनन्द आता था । मेरी जननी जब गोपाल जी के सम्मुख बंगला में अनुवाद की हुई गीता का सस्वर पाठ करती थीं, तब मेरा मन समन्तपंचक के उस सुविस्तृत समरांगण में असंख्य रथ-रथियों के बीच पांचजन्य शंख बजाने वाले पार्थसारथि, गाण्डीवी अर्जुन, विशाल गदा हाथ में लेकर सिंहनाद करने वाले भीम आदि महाभारतीय पात्रों का एक काल्पनिक चित्र खींचकर उन्हीं के आस-पास विभोर होकर मंडराता था । पितामह भीष्म का श्वेतश्मश्रुमण्डित मुख, यज्ञोपवीतधारी विप्र द्रोण मुझे अत्यन्त प्रिय थे । उस समय गीता का दर्शन तो मुझे समझ में नहीं आता था, किन्तु चूँकि मेरी पढ़ी हुई महाभारत की कहानियों के पात्र श्रीकृष्ण, अर्जुन, भीष्म आदि के नाम उसमें थे, उसी के कारण वह भी आकर्षक बन जाती थी । बचपन में इन महाभारतीय पात्रों की आकृति के विषय में मैंने जैसी धारणा बनायी थी, — आज भी महाभारत पढ़ते समय कभी-कभी मेरा मन उन्हीं आकृतियों की प्रत्यभिज्ञा करने लगता है । क्रास्थवेट कालेज में पढ़ते समय आठवीं कक्षा तक जूनियर कक्षाओं की छात्राओं की प्रत्येक शनिवार को होने वाली गोष्ठी में जब कभी पौराणिक कथाओं के सुनाने की बारी आती थी, तब प्रत्येक बार में सुनाने के लिए महाभारत की ही कहानियाँ चुन लिया करती थी । उस समय मैंने महाभारत के अनूदित संक्षिप्त संस्करणों को पढ़ना छोड़ दिया था, हिन्दी अथवा बंगला में अनुवाद किए हुए महाभारत को पढ़ा करती थी । बंगला में काशीरामदास के छन्दोबद्ध अनुवाद को पढ़ते समय प्रत्येक अध्याय के अन्त में 'महाभारतेर कथा अमृत समान । काशीरामदास कहे शुने पुण्यवान ।। (अर्थात् महाभारत की कथा अमृतोपम है । काशीरामदास कह रहा है, हे पुण्यवान् सुन) — ये दो पंक्तियाँ मन में एक विचित्र अनिर्वचनीय आनन्द भर देती थीं । रुचि का संयोग जब श्रद्धा से होता है, तब निश्चय ही मानव की अभीष्ट-सिद्धि

के सभी द्वार उन्मुक्त हो जाते हैं । कल्याणमय सर्वसिद्धिदाता की कृपा से मुझे संस्कृत भाषा सीखने की सुबुद्धि हुई और एक ऐसा शुभ-दिन आया, जब मुझे संस्कृत में महाभारत पढ़ने और किंचित् समझने का भी सौभाग्य हुआ । मेरे चिरकाल का स्वप्न साकार होने लगा । इण्टरमीडिएट कक्षाओं में गीता के प्रथम तीन अध्याय पाठ्यक्रम में अन्तर्भुक्त थे, अतः विशाल महाभारत के ये अमूल्य अंश मेरे नित्य अध्ययन के विषय बने । आगे श्री श्री माँ ने मुझे रोज गीता पढ़ने का आदेश दिया, तब से महाभारत मेरे जीवन का पाथेय बन गया, मेरी पूजा का विषय बन गया ।

बी०ए० कक्षाओं में कालिदास का प्रसिद्ध महाभारतीय नाटक 'शाकुन्तल' पाठ्यक्रम में स्वीकृत था । महाभारत के बहु-परिचित 'भारत' सम्बोधन के उत्सस्वरूप दुष्यन्त और भरत जननी शकुन्तला की प्रेमकथा के इस परम रमणीय नाटकीय स्वरूप से परिचित होकर मेरे हृदय में अपूर्व आनन्दमय कौतूहल के एक नवीन दिगन्त का उद्घाटन हुआ । एम०ए० की परीक्षा में उत्तीर्ण होने के अनन्तर जब मुझे शोध-कार्य करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ और जब मेरे पूज्य गुरु डा० आद्याप्रसाद जी मिश्र ने मुझे 'विक्रमीय प्रथम सहस्राब्दी तक के महाभारतमूलक संस्कृत-नाटकों के कथानकों के समीक्षात्मक अध्ययन' करने का आदेश दिया, तब मेरे हर्ष की सीमा न रही । उस समय मुझे पूज्य गुरुवर परमेश्वर के समान ही अन्तर्यामी प्रतीत हुए । मेरी रुचि एवं मेरे कौतूहल की शान्ति के लिए इससे बढ़कर अनुकूल कोई विषय हो नहीं था । मैं अपने परमश्रद्धेय प्रज्ञावृद्ध गुरु के निकट न केवल उनके विद्वत्तापूर्ण एवं स्नेहमय उपदेश एवं निर्देशन के लिए कृतज्ञ हूँ, अपितु उन्होंने जिस शक्ति से मेरे मन की जिज्ञासा एवं अभिलाषा को समझ लिया था उनकी वह शक्ति मेरे लिए सदैव पूजनीय रहेगी ।

यह विषय अन्य कई दृष्टियों से भी मुझे प्रिय प्रतीत हुआ था । इस विषय के अन्तर्गत भास,कालिदास,भट्टनारायण और राजशेखर जैसे संस्कृत के सुप्रथित नाटककारों की शैलियों से गभीर आत्मीयता स्थापित होने के लिए सुअवसर प्राप्त था । अध्ययन अथवा शोध-कार्य के क्षेत्र में अब तक भास के महाभारतीय रूपकों के कथानकों का प्रायः स्पर्श भी नहीं हुआ था । इस विषय में ए०डी०पुसालकर महोदय का 'भास-- ए स्टडी,' श्री ए०एस०पी० अय्यर का

'भास' एवं पत्र-पत्रिकाओं में भास-समस्या पर लिखे हुए कुछ लेख उपलब्ध थे। किन्तु उनमें भी महाभारतीय-नाटक के रूप में इनके कथानकों का विशेष अध्ययन नहीं हुआ था। न ही उन्हें विभिन्न प्रकार के नाट्यभेदों के अन्तर्गत रखते समय किसी ने कथानक के तत्त्वों पर विचार किया था। डा० सुरेन्द्रनाथ शास्त्री ने अपने शोध-निबन्ध 'The Laws and Practice of Sanskrit Dramas' के द्वितीय भाग में भास के कुछ महाभारतीय रूपकों के कथानकों के तत्त्वों पर अवश्य विचार किया था किन्तु ६ महाभारत रूपकों में से उन्होंने केवल 'मध्यमव्यायोग', 'कर्णभार', एवं 'ऊरुभंग' -- इन्हीं तीन रूपकों को अपने अध्ययन का विषय बनाया था। इन उल्लिखित ग्रन्थों से पूर्व महामहोपाध्याय श्री टी०गणपति शास्त्री एवं पिशारोती महोदय के भास पर लिखित आलोचनात्मक ग्रन्थ विद्यमान थे, किन्तु इन ग्रन्थों के लघु-कलेवरों में भी इन रूपकों के कथानकों को पृथक रूप से विशेष कुछ आलोचना नहीं हुई थी। किन्तु इन ग्रन्थों में आगामी शोध-कार्य के लिए प्रोत्साहन एवं दिग्दर्शन की अमूल्य निधि विद्यमान थी -- इसमें कोई सन्देह नहीं है। अतः प्रस्तुत विषय में भास के महाभारतीय रूपकों पर विस्तृत अनुसन्धान के लिए पर्याप्त अवसर विद्यमान रहने के कारण भी यह विषय उपादेय प्रतीत हुआ था।

कालिदास के विक्रमोर्वशी तथा शाकुन्तल -- दोनों नाटकों पर बहुत कुछ लिखा जा चुका है। शाकुन्तल के आधार के सम्बन्ध में भी कुछ विचार-विमर्श किया जा चुका था, फिर भी महाभारत के 'शकुन्तलोपाख्यान' पर अनेक अनुचित आक्षेप थे, जिनमें अतिरंजना की मात्रा ही अधिक थी। अतः उनमें शोध करने की पर्याप्त सम्भावना दृष्टिगोचर होती थी। इसके लिए महाभारत के शकुन्तलोपाख्यान एवं कालिदास के 'शाकुन्तल' नाटक के स्वरूपगत, वाक्यगत भिन्नताओं को प्रस्तुत करके तथा उनके वैशिष्ट्य एवं महत्त्व का सूक्ष्म विवेचन करके -- यह दिखाना आवश्यक था कि कालिदास का यह विश्वविश्रुत रूपक स्वयं ही अपनी महिमा से उज्ज्वल है, उसकी श्रेष्ठता का अवबोध करने के लिए अनावश्यक एवं अतिरंजित रूप से महाभारतीय कथा को हेय प्रतिपन्न करने की आवश्यकता नहीं। जिसके एक किरणमात्र के स्पर्श से अगणित साहित्यकार कृतकृत्य हो गये-- भगवान वेदव्यास की उस विराट प्रतिभा के प्रति सब बातों पर विचार किये बिना ऐसे आक्षेप करने से जो भ्रान्तियाँ उत्पन्न हुई थीं, उन्हें भी दूर करना परम कर्तव्य प्रतीत होता था।

कालिदास के दुष्यन्त के प्रति द्विजेन्द्रलाल राय, वल्टेयर रुकेल इत्यादि विद्वानों ने जो मत प्रकट किये थे,उन पर भी पुनः विचार करने का अवकाश था । `विक्रमोर्वशी` का आधार, उसके चतुर्थ अंक की प्रामाणिकता,नायिका उर्वशी का व्यक्तित्व इत्यादि विषय अब भी अनुसन्धान सापेक्ष्य था ।

भट्टनारायण के `वेणीसंहार` पर भी यद्यपि बहुत आलोचनाएँ लिखी जा चुकी थीं ,तथापि एक महाभारतीय रूपक के कथानक की दृष्टि से अर्थात् महाभारतीय कथा को दृष्टि में रखकर उसके कथानक की विशेष विवेचना नहीं हुई थी । उद्योगपर्व के भीम के मोह का संकेत किसी ने नहीं किया था । वेणीसंवरण की अभिनव कल्पना की सम्भाव्य प्रेरणा भी प्रकाश में आने की प्रतीक्षा कर रही थी । राजशेखर का `बालभारत` अपनी अपूर्णता के कारण शोध-क्षेत्र से उपेक्षित हो गया था । -- अतः प्रस्तुत निबन्ध का विषय शोध-कार्य के लिए अत्यन्त आकर्षक प्रतीत हुआ । विक्रमीय प्रथम सहस्राब्दी तक की अवधि ही महाभारतमूलक नाटकों की रचना के उत्कृष्ट युग के रूप में विख्यात है । इसकी ख्याति एवं उसके महत्त्व के निर्धारण के लिए उत्तरकालीन नाटकों के कथानकों में, इस अवधि में रचित रूपकों के योगदान का उल्लेख करना भी एक महत्त्वपूर्ण कर्तव्य था । इस प्रकार प्रस्तुत निबन्ध का विषय प्रत्येक दृष्टि से रुचिकर एवं उपयोगी था ।

इस निबन्ध में उत्थापित सभी समस्याओं के सुनिश्चित समाधान का दावा करने का दुस्साहस मुझमें नहीं है । अपनी गुरुकृपालब्ध बुद्धि एवं समझने के सामर्थ्य के अनुसार इस निबन्ध में विक्रमीय प्रथम सहस्राब्दी तक के संस्कृत-नाटकों के कथानकों के समीक्षात्मक अध्ययन करने का केवल प्रयास किया गया है । ज्ञान के पारावार सुधी और सहृदय गुरुजनों की अर्चना के लिए यह केवल अपने भाग्य के अनुसार संजोया हुआ एक विनम्र अर्घ्य है ।

इस शोध-निबन्ध को परम पूजनीय गुरुवर डा० आद्याप्रसाद जी मिश्र के विद्वत्तापूर्ण निर्देशन में प्रस्तुत किया गया है । अपने कर्ममय जीवन की व्यस्तता में भी प्रज्ञावान् निर्देशक ने इस शोध-कार्य में अपना बहुमूल्य समय देकर मेरी शंकाओं का समाधान किया है एवं मुझे सतत प्रोत्साहना दी है । इस शोध-कार्य में यदि कुछ भी आस्वादनीय है तो वह उन्हीं की कृपा का मधुर फल ही हो सकता है ।

मैं परमपूज्य पण्डित क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय जी के प्रति अपनी श्रद्धा एवं कृतज्ञता व्यक्त करती हूँ, जिन्होंने काशी संस्कृत विश्वविद्यालय के पुस्तकालय (सरस्वती भवन) में मेरे प्रयोजनीय पाण्डुलिपि तथा पुस्तकों के अध्ययन के लिए

समस्त सुविधाएँ प्रदान करके मुझे कृतार्थ किया था ।

प्रयाग विश्वविद्यालय के पुस्तकालय के कार्यकर्ताओं के प्रति मैं अपना आभार प्रदर्शित करती हूँ । काशी नागरी प्रचारिणी सभा के कार्यकर्ताओं के प्रति उनका स्नेहपूर्ण व्यवहार सदैव स्मरणीय रहेगा, जिन्होंने मुझे वहाँ के अतिथि-भवन में रहने की अनुमति देकर कुछ दिन के लिए सरस्वती भवन के ग्रन्थागार में अध्ययन करने की सहायता दी थी । मैं कलकत्ता के नैशनल लाइब्रेरी के सह-पुस्तकालयाध्यक्ष श्री के०बी०राय चौधरी जी के प्रति अपनी श्रद्धा एवं अपना आदरभाव प्रकट करती हूँ, जिन्होंने मुझे वहाँ पर अध्ययन करने के लिए अनुमति एवं सुविधाएँ प्रदान की थीं ।

श्री रामलखन जी द्विवेदी एवं उनकी अस्वस्थता के बाद श्री रामहित जी त्रिपाठी ने टाइप करते समय त्रुटियों का यथासाध्य परिहार किया है, अतएव मैं उन्हें अपना हार्दिक धन्यवाद प्रदान करती हूँ । श्री त्रिपाठी जी ने जिस अथक परिश्रम एवं हार्दिकता के साथ अवशिष्ट अध्यायों को टाइप करके मेरा उपकार किया है, वह प्रशंसनीय है ।

अन्त में, ज्ञानांजनशलाका से मेरी दृष्टि को उन्मेषित करने वाले समस्त गुरुजनों के वरदहस्तों का ध्यान करके, वाग्देवी तथा उनके कृती पुत्रों के चरणों में अपनी अनन्या भक्ति के कुसुमों की अंजलि अर्पण करके इस शोध-निबन्ध की भूमिका के प्रसंग से अवकाश लेती हूँ ।

-0-

संस्कृत विभाग
प्रयाग विश्वविद्यालय
प्रयाग

अलोका गुप्ता ४।६।६५
अलोका गुप्ता

-0-

विषयानुक्रमणिका

--o--

विक्रमी प्रथम शताब्दी तक के महाभारतमूलक संस्कृत नाटकों के कथानकों का समीक्षात्मक अध्ययन

पृष्ठ संख्या

पृष्ठ संख्या

पृष्ठ संख्या

प्रथम अध्याय

प्रस्तावना

प्रस्तावना

समस्त प्रकार की साहित्यिक अभिव्यक्तियों में नाटक का स्थान अग्रगण्य है । इसमें काव्य का आनन्द तो मिलता ही है, साथ-साथ अन्य कलाओं का, विभिन्न ज्ञान-विज्ञानों का भी आनन्द प्राप्त हो जाता है । भरतमुनि ने कहा है, "ऐसा कोई ज्ञान नहीं है, ऐसा कोई शिल्प नहीं है, ऐसी कोई विद्या अथवा कला नहीं है, जो नाटक में न हो ।"[1] अरस्तू (Aristotle) ने नाटक को 'Larger and higher form of art' कहा है । नाटक में संवेदन की तीव्रता एवं आनन्ददान की क्षमता मानव की अन्य साहित्यिक एवं ललित अभिव्यक्तियों की अपेक्षा अधिक होती है । इसमें काव्य के साथ अन्य कलाओं के सन्तुलित समन्वय रहने के कारण इसकी प्रभावोत्पादकता भी अन्य कलाओं की अपेक्षा अधिक होती है । अत: यथार्थ में ही यह मानव-हृदय की सुन्दर और महत्तर सृष्टि है । 'काव्येषु नाटकं रम्यम्' — यह बात अनेक दृष्टियों से चरितार्थ होती है । जीवन की सत्यता के अनुभव की दृष्टि से, रमणीयता से स्निग्ध होने की दृष्टि से और रसास्वादन की क्षमता की दृष्टि से देखने पर हम नि:संकोच भाव से कह सकते हैं कि समग्र काव्य-प्रभेदों में नाटक सर्वथा अभिराम और रमणीय है । संगीत, काव्य, कथोपकथन, नृत्य, अभिनय, दृश्य आदि से संयुक्त नाटक-साहित्य का ऐसा अंग है जिसमें कर्ण और नेत्र सम्बन्धी इन्द्रियों को आनन्द देने वाली समस्त कलाओं का अभिनिवेश रहता है । इतिवृत्त के निर्वाह की तुलना[2] विशाखदत्त ने किसी देश की राजनीति के निर्वाह के साथ की है । अवश्य नाटक में बौद्धिक-चमत्कार का आनन्द भी खूब मिलता है । किन्तु नाटक का सर्वाधिक महत्त्व तो इसमें है कि वह जीवन की अनुकृति है । कवि के भाव, कवि की कल्पना श्रव्यकाव्य में मानसिक आकृतियों में ही प्रतिफलित हो सकती हैं, परन्तु नाटक में तो नाटकीय पात्रों, उनके अभिनयों और दृश्य-संयोजनों के कारण वे साकार हो उठते हैं ।

१- देखिए— नाट्यशास्त्र – १।११६ (गायकवाड़ ओरियन्टल सीरीज़)

२- ,, — मुद्राराक्षस – ४।३॥

कविता में मानव के अन्तःकरण को प्राधान्य मिलता है, पर नाटक में तो मानव का अन्तः और बाह्य, दोनों रूपों का सुन्दर समन्वय रहता है। नाटक में सब कुछ विद्यमान है जो प्रबन्ध काव्य में होता है, किन्तु साथ ही उसमें संगीत और दृश्यों के कारण काव्य से कहीं अधिक प्रभावोत्पादकता की शक्ति रहती है। संगीत के कारण नाटकों में सुन्दर भावनाओं का विस्तार होता है। कवि जिस आकार की कल्पना में रूप प्रदान करता है, नाटककार उसी में प्राण-प्रतिष्ठा करता है। कवि मानो मूर्तिकार है जो विभिन्न पूजा और पर्वों के लिए देवताओं की मूर्ति बनाकर देता है और नाटककार मानो पुरोहित है जो उसमें प्राणप्रतिष्ठा करके उसके चिन्मय स्वरूप को अभिव्यक्त कर देता है, जिससे मृन्मयी मूर्ति में भी कहीं प्राणोच्छलता आ जाती है।

नाटक और श्रव्यकाव्य के रचनाकाल पर ध्यान देने पर यही दीखता है कि श्रव्यकाव्य की अपेक्षा उच्चतर एवं महत्तर अभिव्यक्ति होने के कारण नाटक श्रव्य-काव्य की अपेक्षा नवीनतर सृष्टि है। यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि अधिक-संख्यक उपादानों के संयोग से जिस यौगिक वस्तु की सृष्टि होती है वह सृष्टि की दृष्टि से उच्चतर किन्तु कालक्रम की दृष्टि से परवर्ती होती है। अनुकरणधर्मी होने के कारण नाट्य का बीजारोपण चाहे महाकाव्य से पूर्व ही भी जाय किन्तु कला के रूप में इसकी सृष्टि न केवल भारत में, किन्तु विश्वसाहित्य में ही महाकाव्य की अपेक्षा नवीनतर है। 'The Anatomy of Drama' नामक ग्रन्थ में टामसन ने कहा है — "In structure.....it is more primitive than epic.... Nevertheless as art form it belongs to a later phase of class society."

यूनान में डायोनिसस-उपासना की स्तुतियों की रचना के अनन्तर यूनानी-नाटकों का जन्म हुआ। मिस्र का 'Abydos Passion Play' जिसे विश्व-नाट्य-साहित्य का प्राचीनतम निदर्शन माना जाता है, उससे पूर्व विश्व-साहित्य में ऋग्वेद की स्तुतियाँ अवश्य विद्यमान थीं। भारत में भी नाटक का जन्म काव्य से बाद ही हुआ। ऋग्वेद की स्तुतियों में पहले काव्यतत्त्व का आविर्भाव हुआ, [illegible] के संवाद सूक्तों में नाट्यतत्त्व का बीजारोपण होने पर भी एक स्वतन्त्र कला के रूप में उसका आविर्भाव महाकाव्यों के बाद में हुआ। प्रोफेसर [illegible] भी महाकाव्य के प्रबन्धों

से संस्कृत नाटक की उत्पत्ति मानते हैं[१]।

संस्कृत नाटकों की उत्पत्ति कब हुई, इसके लिये कोई सुनिश्चित तिथि निर्धारित करना संभव नहीं है। फिर भी भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में नाटक के तत्त्वों का सूक्ष्म विश्लेषण देखकर कहा जासकता है कि संस्कृत नाटकों का जन्म भरतमुनि के नाट्यशास्त्र से बहुत पहले हो गया था। भरतमुनि के नाट्यशास्त्र से भी पहले पाराशर, शिलाली, कोहल आदि नटसूत्रकारों ने नाट्यकला को प्रस्फुटित कर रखा था। नाटकों का जन्म इनके लक्षणग्रन्थों की रचना से पहले अवश्य हुआ था, और नाटक भारतीय समाज में मनोरंजन के एक अन्यतम साधन के रूप में इतना प्रतिष्ठित हो चुका था कि वैयाकरण पाणिनि को भी `पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः` (४।३।११०) कह कर उनके अस्तित्व का उल्लेख करना पड़ा था। पाणिनि का समय चाहे कोई कितना ही पीछे ले जाना चाहे, तो भी उनकी निम्नतम सीमारेखा ३०० ई०पू०से आगे नहीं आती। अत: भारत में संस्कृत नाटकों का जन्म ३०० ई०पू० से बहुत पहले ही हो गया था। बुह्लर महोदय के अनुसार यह समय ४०० ई०पू० है, परन्तु यह समय और भी १०० वर्ष पीछे हट सकता है, क्यों कि सरगुजा प्रदेश के रामगढ़ की पहाड़ियों में कर्नल औसले (Colnel Ousley) ने आज से सौ वर्ष से भी पहले जिन दो गुफाओं का आविष्कार किया था- उनमें प्राप्त शिलालिपि के पाठोद्धार की चेष्टा करते हुए डा० ब्लाख (Dr. Bloch)को `लुपदक्ख` शब्द मिला, जिसका अर्थ उन्होंने `अभिनय में दक्ष` बताया। केवल यही नहीं, उसमें एक रंगमंच की रूपरेखा भी मिली, जिसमें पर्दा डालने के लिये छेद भी है। रंगशाला में दर्शकों के बैठने के लिये भी उचित व्यवस्था है। रंगमंच की दीवारों पर बने हुए चित्रों का म्लान अस्तित्व अब भी विद्यमान है। ब्लाख महोदय ने शिलालिपि का काल द्वितीय अथवा तृतीय ई०पू०निर्धारित किया है[२]। यदि द्वितीय या तृतीय ई०पू०

१- द्रष्टव्य- Sanskrit Drama

२- ,, - Journal of Asiatic Society of Bengal Vol. 5 (1909); तथा Archaeological Survey of India Report (1903-1904)

तक संस्कृत नाटकों का इतना प्रचार हो गया था कि एक पूर्णविकसित रंगशाला का निर्माण भी हो सका था, तो संस्कृत नाटकों का उत्पत्ति-काल ५०० ई०पू० मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए ।

`समाज` शब्द की प्राचीनता के आधार पर भी संस्कृत नाटकों के उत्पत्ति-काल पर प्रकाश डाला जा सकता है । संस्कृत नाटकों का जन्म सम्राट अशोक से पहले अवश्य हो गया था । अशोक ने अपने साम्राज्य में सब प्रकार के विलासपूर्ण आनन्दोत्सव को निषिद्ध घोषित कर दिया था । उनके गिरनार शिलालेख I[१] में `समाज` शब्द का प्रयोग हुआ है । यह `समाज` शब्द नाटक के `दर्शक समाज` का भी प्रतिनिधित्व करता है, क्यों कि नाटक की गणना भी विलासपूर्ण आनन्दोत्सव में ही होती है । अतः अशोक के राज्य में नाटक के `समाज` का निषिद्ध हो जाना भी आश्चर्य की बात नहीं है । फिर कालिदास के समय से ही हम दर्शक-मण्डली के लिये `सामाजिक` शब्द को प्रयुक्त होते देखते हैं, जिसका सम्बन्ध स्पष्ट रूप से `समाज` शब्द से है । `समाज`, `परिषद्` -- ये शब्द पर्यायवाची हैं । कालिदास ने अपने `शाकुन्तल` की प्रस्तावना में `अभिरूपभूयिष्ठा परिषदियम्` कहकर जहाँ दर्शकमण्डली के लिए `परिषद्` शब्द का प्रयोग किया है, वहाँ `मालविकाग्निमित्र` के प्रथम अंक में दर्शक-मण्डली के लिए `सामाजिक` शब्द का प्रयोग अग्निमित्र के मुख से इस प्रकार कराया है—`देवि, सामाजिका भवाम: ।` हर्षवर्द्धन ने अपनी `रत्नावली` नाटिका की प्रस्तावना में -`हृदये आवर्जितानि सकलसामाजिकानां मनांसीति मे निश्चय:` कह कर जहाँ दर्शक के लिये `सामाजिक` शब्द का प्रयोग किया है, वहीं अगली ही पंक्ति में `श्रीहर्षो निपुण: कवि: परिषदप्येषा गुणग्राहिणी` कह कर दर्शक के लिए `परिषद्` शब्द का ही प्रयोग कर दिया है । जयदेव ने अपने `प्रसन्नराघव` में `नूनम् एतदभिसन्धानादेव सामाजिकसमाजादितोऽभिवर्तते सखा मे रंगतरंग: ।` तथा `भाव, इदं भवन्तमुदिश्यन्ति सामाजिका: ।` कह कर दर्शक के अर्थ में `सामाजिक` शब्द का कई बार प्रयोग किया है । धनिक ने `तैव रसिका: सामाजिका:` व `स्थायिभावाननुभावयन्त: सामाजिकान् ---` कह कर दर्शक के लिए `सामाजिक` शब्द का प्रयोग किया है।

१- द्रष्टव्य- Dr. Woolner द्वारा सम्पादित

रामायण[1] में भी 'समाज' शब्द का प्रयोग नाटक के दर्शक के अर्थ में ही हुआ है। वात्स्यायन ने अपने कामसूत्र में 'समाज' शब्द का प्रयोग नाटक के सम्बन्ध में ही किया है[2]। बौद्धों के जातकों में भी 'समाज' का प्रयोग इसी अर्थ में हुआ है[3]। इस प्रकार सिद्ध होता है कि 'सामाजिक' शब्द से सम्बन्धित जिस 'समाज' शब्द का प्रयोग हम सम्राट अशोक की शिलालिपि में पाते हैं, वह नाटक के अस्तित्व का बोध कराने में पूर्णतः समर्थ है, क्यों कि जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं कि नाटकों में, नाट्य-शास्त्र पर लिखे ग्रन्थों में तथा अन्यान्य साहित्यिक रचनाओं में इस शब्द का प्रयोग सदैव दृश्यकाव्य से सम्बन्धित होकर ही होता आया है। यदि अनेक अशोक का समय ३०० ई०पू० है तो संस्कृत नाटक का उत्पत्तिकाल ५०० ई०पू० मानने में कोई बाधा नहीं है।

/रामायण[4] में नाटक का उल्लेख भी उपर्युक्त तिथि का समर्थन करता है। दशरथपुत्र भरत अपने मातुलालय में जब दुःस्वप्न देख कर व्याकुल हो उठते हैं, तब उनका चित्तविनोद नृत्य, गीत और नाटकों से किया जाता है। अतः रामायण की तिथि भी इसी बात का समर्थन करेगी कि संस्कृत नाटकों का जन्म ५०० ई०पू० तक अवश्य हो गया था।

महाभारत-काल में नाटकों की रचना हुई थी या नहीं- इस पर मतभेद है। परन्तु यह मतभेद अन्याय्य है, क्यों कि यदि रामायण में नाटक का उल्लेख मिले तो स्वाभाविक रूप से ही महाभारत-काल में नाटकों की विद्यमानता की बात सिद्ध हो जाती है। रामायण में नाटक का उल्लेख है ही, महाभारत के हरिवंश में रामायण की कथा पर आधारित एक नाटक खेले जाने का स्पष्ट उल्लेख है। परन्तु कीथ, विन्टरनित्स आदि विद्वानों के अनुसार महाभारत से बहुत बाद में हरिवंश की रचना हुई है। यदि इन विद्वानों के इस मत को मान्यता प्रदान भी करें तो भी महाभारतकाल में नाटकों की विद्यमानता महाभारत के अन्य अन्तरंग साक्ष्यों से भी सिद्ध की जा सकती है। महाभारत के सभापर्व की 'नाटका विविधाः काव्याः कथाख्यायिककारिकाः।' वाले श्लोक में नाटक

१- द्रष्टव्य- रामायण-२।६७।१५, २।६९।४

२- ,, -कामसूत्र -४।२७-३० चौखम्बा प्रकाशन, पृष्ठ ०४६-५१

३- ,, - इण्डियन एन्टीक्वीयरी (१९११), (१९१८)

४-अयोध्या का वर्णन 'वधूनाटकसंघैश्च संयुक्ताम्' कह कर किया गया है। राम के राज्याभिषेक के समय का वर्णन- 'नटनर्तकसंघानां गायकानां च गायताम्। यतः कर्णसुखावाचः शुश्राव जनता ततः।।' है।

शब्द का स्पष्ट उल्लेख है । विण्टरनित्ज़ महोदय ने हरिवंश में नाटक के उल्लेख को तो बाद को रचना कह कर निर्मूल सिद्ध करने की चेष्टा की है, परन्तु सभापर्व के विषय में तो यह बात लागू नहीं होती, फिर भी हम देखते हैं कि विण्टर-नित्ज़ महोदय ने सभापर्व में प्राप्त 'नाटक' के इस उल्लेख को भी उखाड़ फेंकने का संकल्प किया है । वे इस पंक्ति को अप्रासंगिक तथा प्रक्षिप्त कह कर लुप्त कर देना चाहते हैं[1] । अपने मत के समर्थन के लिए वे प्रो० हॉपकिन्स (Prof. Hopkins) की सहायता लेते हैं । परन्तु विण्टरनित्ज़ महोदय को प्रो० हॉपकिन्स की सहायता लेकर अधिक लाभ नहीं हुआ, क्योंकि सभापर्व की उपर्युक्त पंक्ति को हॉपकिन्स महोदय ने अप्रासंगिक तथा प्रक्षिप्त तो अवश्य कहा है परन्तु विराटपर्व के 'अकालज्ञाऽसि सैरन्ध्रि शैलूषीव विरोदिषि' वाली पंक्ति से वे कुछ विचलित हो गए हैं । वस्तुतः इस पंक्ति ने जिस समस्या को उनके सामने प्रस्तुत किया है उसका समाधान अन्त तक उनके मस्तिष्क में नहीं आया । तभी लाचार होकर कुछ संकोच से मुक्त होकर उन्होंने कह ही डाला — "Whether there was already a literary drama is, however, cheefly a matter of definition. It is conceivable that the story-teller and rhapsodes may have developed dramatic works before any such works were written, that is, become literature in a strict sense, and that the आख्यान may have been dramatically recited. But it is also true that the early epic does not mention the play or drama. Nevertheless a kind of drama existed before the epic was ended. Compare -

'अकालज्ञाऽसि सैरन्ध्रि शैलूषीव विरोदिषि ।'[2] मैक्डोनेल महोदय ने कहा है कि 'विदूषक' जैसे प्रसिद्ध नाटकीय चरित्रों का उल्लेख समग्र महाभारत में कहीं नहीं मिलता, अतः यद्यपि 'नट' शब्द की उपस्थिति महाभारत में विद्यमान है तथापि केवल मूकाभिनय (Pantomime)का अस्तित्व ही इससे सिद्ध होता है ।

१— द्रष्टव्य — 'The Mahabharata and the Drama'-Journal of the Royal Asiatic Society (1903)

२— द्रष्टव्य — 'The Great Epic of India' by E.W.Hopkins (1902)p.54

महाभारत में नाटक के अस्तित्व का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। परन्तु यह समझ में नहीं आता कि विदूषक के उल्लेख के अभाव में महाभारतकाल में नाटक का अभाव दिखाना कहाँ तक युक्तिसंगत हो सकता है। यहाँ 'नाटक' शब्द साधारण रूप से रूपक मात्र के लिये प्रयुक्त हुआ समझना चाहिए। सब प्रकार के रूपकों में विदूषक नहीं होता।[1] अत: विदूषक के उल्लेख के अभाव में 'नट', 'नाटक', 'शैलूषी' आदि शब्दों को निरर्थक कहना अन्याय है। फिर नाटक के अस्तित्व को अस्वीकार करके मूकाभिनय (pantomime) का अस्तित्व किस के बल पर सिद्ध होता है, इसके लिये भी इनके पास कोई उचित प्रमाण नहीं है। वस्तुत: महाभारतकाल में 'नाटक' शब्द का पारिभाषिक अर्थ में भी प्रयोग होने लगा था। Rev. J. Dahlmann महोदय ने समाजं संप्राप्त 'नाटका: विविधा: काव्या: कथाख्यायिककारिका:'[2] की प्रामाणिकता को स्वीकार करके पाँचवीं शताब्दी ई०पू० को संस्कृत-नाटकों के आविर्भाव-काल के रूप में स्वीकार किया है।

<u>संस्कृत-नाटकों की उत्पत्ति के विषय में विभिन्न मत</u>:- संस्कृत-नाटकों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में पाश्चात्य तथा पौरस्त्य विद्वानों ने अनेक मत प्रस्तुत किये हैं। नाट्यशास्त्र पर लिखे गये ग्रन्थों में इसकी उत्पत्ति के विषय में कई रोचक कथाएँ भी प्राप्त होती हैं।

संस्कृत नाटकों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में पाश्चात्य विद्वानों के जितने मन्तव्य हैं, उन्हें ६ भागों में विभक्त किया जा सकता है --

(क) वैदिक याग-यज्ञों में ही आनुष्ठानिक रूपसे नाट्य की उत्पत्ति हुई और संवाद-सूक्तों के बीच उनका प्राथमिक स्वरूप आविर्भूत हुआ-ऐसा मैक्समूलर, लेवी, मन श्रोयिडर, हर्टेल इत्यादि का मत है।

(ख) याग-यज्ञ से नहीं, किन्तु संस्कृत-नाटकों की उत्पत्ति का उत्स लौकिक-आनन्दानुष्ठान है-ऐसा हिलेब्रान्ट, कोनो इत्यादि का मत है।

(ग) कठपुतलियों के नाच से नाट्य की उत्पत्ति का मत पिशेल का है।

१- द्रष्टव्य- डिम तथा व्यायोग, जिनमें हास्य रस का प्रयोग अवैध है, उनमें विदूषक की अनुपस्थिति के लिये पर्याप्त सम्भावना है।

२- ,, - 'Mahabharata als Epos und Rechtsbuch' p. 298; तथा 'The Mahabharata and the Drama' (Journal of the Royal Asiatic Society 1903)

(घ)छाया-नाटकों से उत्पत्ति का मत लुडार्स का है ।

(ङ०)वैदिक-युग से बहुत दिनों बाद पूर्णपूर्व द्वितीय शताब्दी में संस्कृत नाटकों की उत्पत्ति महाकाव्यों के प्रवचन एवं कृष्णोपासना से हुई- ऐसा प्रो०कीथ इत्यादि का मत है ।

(च)यूनानी-नाटकों अथवा 'ग्रीकनाट्य' से भारत में नाटकों की उत्पत्ति हुई -ऐसा मत वेबर,विनडिश, Reich का है ।

पाश्चात्त्य विद्वानों के इन मतों में से पहले दो मतों को छोड़ कर शेष चारों मत आलोचना-सापेक्ष हैं ।इन मतों में से पिशेल एवं लुडार्स के मतों का खण्डन पाश्चात्त्य विद्वानों ने ही कर दिया है ।हिलेब्रान्ट महोदय ने पिशेल के मत का खण्डन करते हुए कहा है कि नाट्य का उद्भव जब तक नहीं हो गया,तब तक कठपुतलियों के नाच का प्रवर्तन ही नहीं हो सकता ।कीथ महोदय ने भी इसकी आलोचना कटु शब्दों में की है । ठीक भी है,क्यों कि कठपुतली के नाच के लिए भी तो कथावस्तु,संलाप,अभिनय अर्थात् नाटक के सभी प्रमुख तत्त्वों की आवश्यकता होती है । अत: जब तक नचाने वाला स्वयं अभिनय कला में दक्ष नहीं होगा, तब तक निर्जीव कठपुतलियों से अभिनय कैसे करा सकेगा ।प्रो० लुडर्स के छायानाटक वाले सिद्धान्त के सम्बन्ध में तो पाश्चात्त्य विद्वान् कीथ का यह मत है ---
"The shadow-play ...... can not have influenced the progress of the early drama."[1]
छायानाटक वाला सिद्धान्त इस बात से निराधार हो जाता है कि यदि सचमुच ही छाया-नाटकों से ही संस्कृत-नाटक विकसित होते तो परवर्ती नाटकों में उत्पन्न उसका प्रभाव तथा नाट्यशास्त्र पर लिखे गये ग्रन्थों में उसका विवरण अवश्य दृष्टि-गोचर होता । उत्तररामचरित में छाया सीता का प्रदर्शन इस सिद्धान्त के लिये प्रमाण नहीं बन सकता है,क्यों कि भवभूति के इस नाटक में छाया-सीता का प्रदर्शन एक विशेष दृष्टि से हुआ है वह गतानुगतिकता का परिचायक नहीं है ।

यूनानी-नाटकों से संस्कृत-नाटकों की उत्पत्ति की सम्भावना सर्वप्रथम वेबर महोदय ने की ।इनके अनुसार उत्तर-पश्चिमी भारत के यूनानी-अधिकृत प्रदेशों की राजसभाओं में यूनानी-नाटकों का जो अभिनय होता था,उन्हें देख कर कालान्तर भारत में नाट्या-भिनय का प्रचलन शुरू हुआ । वेबर महोदय ने बाद में महाभाष्य में नाट्याभिनय का

1. द्रष्टव्य :- 'The Sanskrit Drama' by A.B. Keith (1954) पृ०सं० 56

उल्लेख देख कर अपने सिद्धान्त को बदल कर कहा कि यूनानी-नाटकों का अभिनय भारतीय-नाटकों के उद्भव का निमित्त न होने पर भी भारतीय-नाटक यूनानी-नाटकों के प्रभाव से ही विकसित हुए। वेबर के मत की आलोचना पिशेल महोदय ने किया, किन्तु विनडिश महोदय ने पुनः इस प्रश्न को उठाया। विनडिश महोदय ने वेबर के पूर्व मत का अनुसरण करके कहा कि यूनानियों के सम्पर्क में आकर भारतीयों को नाट्यविद्या का ज्ञान हुआ और सर्वप्रथम मृच्छकटिक की रचना के माध्यम से इस ज्ञान की अभिव्यक्ति हुई। वे मृच्छकटिक का समय ३०० ई०पू० मानते हैं। विनडिश महोदय यह भी प्रमाण रूप में उपस्थित करते हैं कि यूनानी-नाटकों के प्रभाव के कारण ही भारतीय नाटक का पंचांग-विभाग, रंगमंच से पात्र-पात्रियों का निष्क्रमण, पात्र-प्रवेश रीति आदि विधानों का प्रवर्तन हुआ है। यूनानी नाटक से सिद्धान्त का सबसे बड़ा आधार है संस्कृत नाटकों में 'यवनिका' शब्द का प्रयोग। इसके अतिरिक्त ब्लाच महोदय ने सीतावेंगा के गुहा-रंगमंच के साथ यूनानी-थियेटरों के सादृश्य आधार पर भी संस्कृत नाटकों में यूनानी-नाटकों का प्रभाव दिखाने का प्रयत्न किया है। इस मत की आलोचना निम्नलिखित रूप से की जा सकती है --

(१) भारत के यूनानी अधिकृत प्रदेश में यूनानी नाटकों का अभिनय होता था, इसी से यह प्रमाणित नहीं हो जाता कि भारत में नाटकों की उत्पत्ति यूनानी-नाट्याभिनय से हुई। मृच्छकटिक संस्कृत का प्रथम नाटक भी नहीं है।

(२) पंचांक-विभाग, रंगमंच से पात्र-पात्रियों का निष्क्रमण पात्र-प्रवेश रीति इत्यादि विधानों के सम्बन्ध में कीथ महोदय ने कहा है "But these are all matters which must almost inevitably coincide the theatrical performances produced under approximately similar conditions."[1]

अतः प्रभाव का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। अंक-विभाजन इत्यादि के सम्बन्ध में एक बात और है। आरम्भ से ही संस्कृत में नाटक अंकों में विभक्त किये जाते हैं और एक अंक की समाप्ति होनेपर सब पात्रों का रंगमंच से निष्क्रान्त हो जाना आवश्यक होता है। फ्रेन्च नाटकों की भी यही रीति है, किन्तु अंक-विभाजन की प्रथा

१- द्रष्टव्य- 'संस्कृत ड्रामा' पृ० सं० ६१

प्राचीन यूनानी-नाटकों में नहीं थी । अतः यूनानी नाटकों की मौलिक उद्भावना नहीं है । अरिस्टोफेनिस के ११ पुराने 'कमेडियों' में अंक-विधान नहीं है । होरेस के 'Ars Poetica' में सर्वप्रथम अंकों का विधान निर्दिष्ट किया गया और यूनानी-नाट्यकारों को इन्हीं से अंक-विधान की रीति का ज्ञान हुआ । इस सम्बन्ध में Dryden की उक्ति ही प्रमाण है -

"But what poet first limited to five, the number of the acts I know not, only see it so firmly established in the time of Horace that he gives it for a rule in comedy: " Nev brevior quinto nen sit producitor actu." (Let no play be either shorter or longer than five acts)."

-Dryden: ('An Essay of Dramatic Poesy')

निकल (Nicoll) का मंतव्य भी यही है । 'Ars Poetica' का समय २४-२० ई०पू० है । इसके विपरीत भारत में अंक-विभाजन की रीति नाट्यशास्त्र पर प्रथम उपलब्ध ग्रन्थ भरतमुनि के नाट्यशास्त्र के समय से ही विहित है और प्रारम्भिक नाटककार भास, कालिदास, अश्वघोष इत्यादि के नाटकों में इसका यथातथ्य पालन भी दिखायी पड़ता है । अंकों की संख्या भी पाँच तक सीमित नहीं है । दस प्रकार के रूपकों में अंकों की पृथक्-पृथक् संख्या का विधान है । नाटक में तो पाँच से दस तक अंक हो सकते हैं । अतएव स्पष्ट होता है कि अंकविधान की प्रथा के लिए भारत को यूनानी-नाटकों से सीखना नहीं पड़ा । संस्कृत-नाटकों का यह मौलिक-वैशिष्ट्य इन्हें समसामयिक यूनानी-नाटकों से पृथक् करता है ।

(२) ग्रीक-आयोनियन सिद्धान्त (Greek Ionian Theory) का आधार भी दृढ़ नहीं है। पहली बात, पर्दे के लिए तीन शब्द मिलते हैं- `यवनिका`, जवनिका और `यमनिका`। तीनों ही शब्दों की व्युत्पत्ति पर्दे का अर्थ देने में समर्थ है। नाट्यशास्त्र के काव्यमाला-संस्करण में `जवनिका` शब्द मिलता है और काशी संस्कृत सीरिज़ वाले संस्करण में `यवनिका` शब्द मिलता है, गायकवाड़ ओरियन्टल सीरीज़ में भी `यवनिका` पाठ ही मिलता है। ग्रौसेट सम्पादित संस्करण (१८९८) में `जवनिका` और `यवनिका` दोनों शब्द मिलते हैं। अमरकोश के टीकाकार महेश्वर ने `यमनिका` शब्द का भी उल्लेख किया है, भानुजि ने भी `यमनिका इति वा पाठः` कह कर `यमनिका` शब्द के अस्तित्व को स्वीकार किया है। हेमचन्द्र ने भी `यमनि इत्यपि` कहा है। हिलेब्रांट सम्पादित मुद्राराक्षस के आलोचनात्मक संस्करण में `यमनिका` शब्द का दो बार प्रयोग हुआ है- (१) ततः प्रविशति यमनिकावृतशरीरो मुलमाच्छादयन्राक्षसः (पृ०१९२) (२) यमनिकामपनीयोपसृत्य (पृ०१९३)। मेघप्रभाचार्य के `धर्माभ्युदय` नाटक में ऐसा नाटकीय-निर्देश मिलता है `यमनान्तराद् यतिवेशधारी पुत्रकास्तत्र स्थापनीयः` (पृ०१५)-अतएव पर्दे के लिये इनमें से कौन सा शब्द शुद्ध है, इसका जब तक निर्विवाद निर्धारण नहीं हो जाता तब तक ग्रीक-आयोनियन सिद्धान्त के पास सुनिश्चित आधार नहीं होगा। फिर यदि `यवनिका` शब्द को कुछ देर के लिए विशुद्ध मान भी लें, फिर भी ग्रीक-आयोनियन सिद्धान्त को विशेष लाभ न होगा क्यों कि भारतवासी केवल यूनानियों को ही `यवन` नहीं कहते, अपितु फारस, मिस्र, सीरिया आदि देशों के निवासी भी भारतीयों के द्वारा इसी नाम से पुकारे जाते हैं। यदि `यवन` शब्द से केवल यूनानियों का बोध होता, तब तो ग्रीक-आयोनियन सिद्धान्त को कुछ आधार मिल भी सकता था, किन्तु ऐसे निश्चित विचार के अभाव में केवल `यवन` शब्द पर आधारित यह सिद्धान्त `अतिव्याप्ति` दोष से दूषित हो गया है। फिर, यदि `यवनिका` शब्द निश्चित रूप से पर्दे के लिये प्रयुक्त होता और उससे यूनानी-प्रभाव के ग्रहण की बात होती तो यूनानी-नाटकों में भी पर्दे का व्यवहार होना आवश्यक था। किन्तु यूनानी-नाट्याभिनय में पर्दे के व्यवहार का कोई प्रमाण नहीं मिलता। यूनान में नाट्याभिनय कोरस अथवा आर्केस्ट्रा-केन्द्रित होता था, उसके लिए व्यवस्थापकों को दर्शकों की दृष्टिपथ से रंगमंच को आवृत कर रखने के लिए संभवतः कोई प्रयोजन अनुभूत नहीं होता था। इसके विपरीत भारत में `यवनिका` अथवा पर्दे के व्यवहार के स्पष्ट उल्लेख मिलते हैं। भरतमुनि के नाट्यशास्त्र के पंचम

अध्याय में भी यवनिका के व्यवहार का संकेत है--

" एतानि तु बहिर्गीतान्यन्तर्यवनिकागतैः
प्रयोक्तृभिः प्रयोज्यानि तन्त्रीभाण्डकृतानि च ।
ततः सर्वैस्तु कुतपैः संयुक्तानीह कारयेत्
विघट्य वै यवनिकां नृत्यपाठ्यकृतानि तु ।।" ५।११

(३) संस्कृत नाटक में अन्विति-त्रय का अभाव एक वैशिष्ट्य है जो उसे यूनानी नाटकों से सर्वथा भिन्न सिद्ध करता है । यूनानी नाटकों में तीन अन्वितियाँ होती हैं--(अ)स्थानान्विति-अर्थात् समग्र घटनाओं के एक ही स्थान पर घटित होने का नियम, (ब)कालान्विति-समस्त घटनाओं के एक ही समय में अर्थात् एक ही दिन में घटित होने का नियम और (स)कार्यान्विति- समस्त घटनाओं के एक ही प्रयोजन से सम्बद्ध होने का नियम । संस्कृत नाटकों में केवल कार्यान्विति के पालन का विधान है । किन्तु शेष दो अन्वितियों के पालन के लिये संस्कृत-नाटकों में कोई विशेष आग्रह नहीं दिखाई पड़ता ।

(४)संस्कृत-नाटकों का पंच-सन्धि विभाग,६४ सन्ध्यंग,उनके प्रयोजन यूनानी-नाटकों में नहीं हैं । अरस्तू ने यूनानी नाटक के पाँच Quantitative Parts का जो निर्देश दिया है,वह संस्कृत-नाटकों के सन्धि-विभाग से किसी भी दृष्टि में साम्य नहीं रखता ।अरस्तू-प्रदर्शित नाटक के पाँच Quantitative Parts निम्न-लिखित हैं--

१- प्रोलॉग अथवा प्रस्तावना
२- पैरोड् अथवा प्रवेशगीति
३- एपिसोड अथवा संलाप-ग्रथित कहानी
४- स्टासिमन् अथवा विशिष्ट कोरस
५- एक्सोड अथवा अन्तिम कोरस का परवर्ती अंश

इनमें तीसरा तत्त्व एपिसोड अथवा`संलाप-ग्रथित कहानी`द्रष्टव्य है जिससे स्पष्ट होता है कि ये पाँच Quantitative Parts इतिवृत्त के विभाजक रूप ५ सन्धियाँ नहीं हैं,किन्तु समग्र नाटक के अवयव के पाँच विभाग मात्र हैं । इन Quantitative Parts को छोड़ कर अरस्तू ने एक स्थान पर यह मन्तव्य किया "A whole (action) is that which has a beginning, a middle, and an end."

अरस्तू के इस मन्तव्य में संस्कृत-नाटकों के सन्धि-विभाग के विचार से मिलते-जुलते

विचार परोक्ष रूप से ध्वनित हुए हैं । ड्राइडेन ने अपने" An Essay of Dramatic Poesy में अरस्तु-कृत-विभाग के सम्बन्ध में कहा है —

"Aristotle indeed divedes the integral parts of a play into four. First the protasis or entrance which gives light only to the characters of the persons and proceeds very little into any part of the action. Secondly, the Epitasis, or working up the plot, where the play grws warmer, the design or action of ilis drawing on and you see something promis-ing that it will come to pass. Thirdly the catastasis or counter turn which destroys that expectation, imbroils the action in new difficulties, and leaves you far distant from that hope in which it found you.............. Lastly the Catastrophe.....the discovery or unravelling of the plot..."

इस विभाजन से हमारे संस्कृत-नाटक के कथानक के विभाजन में संख्यागत साम्य तो है ही नहीं, स्वरूपगत साम्य भी बहुत अधिक नहीं है । केवल तृतीय विभाग Catastasis से संस्कृत-नाटकों की गर्भसन्धि का साम्य है। और एक बात जो उल्लेखनीय है, वह यह है कि Æschylus के प्रथम यूनानी नाटक 'The Suppliants' के कथानक के गठन में अरस्तु के उपर्युक्त विधानों का दर्शन नहीं होता । (६) संस्कृत में 'ट्रैजेडी' अर्थात् दुःखान्त रूपकों का अभाव भी उसे यूनानी-नाटक के ऋणी होने से बचाता है । संस्कृत रूपकों में 'नियताप्ति' एवं 'फलागम' नामक दो अवस्थाएं होती हैं । ये दोनों अवस्थाएँ दुःखान्त रूपकों में रह ही नहीं सकती । 'नियताप्ति' शब्द की व्युत्पत्ति भी सुखान्त रूपकों के अनुकूल ही है । इस प्रकार संस्कृत-नाट्यसाहित्य में सुखान्त रूपकों की परम्परा उसे यूनानी नाटकों के प्रभाव-ग्रहण से दूर रखती है । यूनानी नाट्यसाहित्य में 'ट्रैजेडी' ही का सर्वाधिक महत्व है ।

इस प्रकार संस्कृत-नाटक और यूनानी-नाटक की भिन्न भिन्न गठन-शैली एवं प्रवृत्ति भी ग्रीक-आयोनियन सिद्धान्त का विरोध करती है । अत: H. H. Wilson के निम्नलिखित कथन में ही सार दिखता है —

"Whatever may be the merits or defects of the Hindu drama, it may be safely asserted that they do not spring from the same parent, but are unmixedly its own."[1]

अ अब यूनानी-नाटकों से संस्कृत नाटकों की उत्पत्ति के सिद्धान्त की अन्तिम युक्ति—सीताबेंङ्गा की गुफा में निर्मित रंगमंच के साथ यूनानी रंगमंच के सादृश्य पर विचार करेंगे ।यद्यपि इस सिद्धान्त के प्रतिपादक ब्लाच महाशय के सिद्धान्त का खण्डन कीथ महोदय ने किया है तथापि कीथ महोदय का मत भी विचार-सापेक्ष्य प्रतीत होता है । कीथ महोदय का कथन है कि सीताबेंगा की गुफा में पहाड़ी ढाल को काट कर जो आसन-श्रेणी निर्मित हुई है उसे रंगशाला के दर्शकों का आसन न कह कर 'एम्फिथियेटर' कहना ही उचित होगा,क्यों कि भारत में कभी भी स्थायी रंगमंच अथवा नाट्यगृह नहीं था । कीथ के इस मन्तव्य के विपरीत हमें भरत के नाट्यशास्त्र में स्थायी प्रेक्षागृह के अस्तित्व के प्रमाण मिलते हैं । नाट्यशास्त्र के द्वितीय अध्याय में 'मण्डप-विधान' के सम्बन्ध में जो वर्णन मिलते हैं, उन्हीं के आधार पर स्थायी प्रेक्षागृहों के अस्तित्व को मान लिया जा सकता है । कौशाम्बी के ध्वंसावशेष में स्थायी नाट्यशाला के चिह्न अब भी विद्यमान हैं । अत: सीताबेंगा की गुफा की उन क्रमोच्च आसन-श्रेणी को दर्शकों के आसन मान लेने पर यूनानी-प्रभाव को भी मानना पड़ेगा—इस प्रकार की अनिवार्यता की कोई बात नहीं है ।पार्वत्य-प्रदेश में,पहाड़ी ढाल पर क्रमोच्च आसन बनाने की प्रेरणा मनुष्य के मन में स्वत: ही उदित हो सकती है । यह प्रेरणा केवल यूनान से ही मिल सकती है,अन्यत्र कहीं से नहीं—ऐसा विचार करना वस्तुत: हठकारिता एवं मनोभावों की संकीर्णता का परिचायक है । भरतमुनि के नाट्यशास्त्र की निम्नलिखित पंक्तियों से ही यह बात प्रमाणित हो जाती है कि भारत में नाट्य-प्रयोग की सुविधा के लिये अभिनय के अवसर पर पहाड़ी-ढाल का उपयोग बहुत पहले से ही हो गया था—

१- द्रष्टव्य- 'Select Specimens of the Theatre of the Hindus' ch. XI.

" ततो हिमवत: पृष्ठे नानानगरसमाकुले ।
बहुवृक्षलतमाकीर्णे रम्यकन्दरनिर्झरे ।। ४१-७ (G.O.S.)
पूर्वरंगे कृते पूर्वं तत्रायं द्विजसत्तमा :।
तथा त्रिपुरदाहश्च डिमसंज्ञ:प्रयोजित:।।" ४।१०

अत: सीताबेङ्गा का प्रेक्षागृह यूनानी-थियेटरों के अनुकरण पर निर्मित हुआ है- ऐसा मत अग्राह्य प्रतीत होता है ।

यूनानी-नाटक के प्रभाव के सिद्धान्त को लेवी,कीथ आदि पाश्चात्य विद्वानों ने ही अस्वीकार किया है । भारतीय-विद्वानों में से डा० एस०के०डे० तथा डा० सुनीतिकुमार चट्टोपाध्याय आदि का नाम उल्लेखनीय है । डा० सुनीतिकुमार चट्टोपाध्याय के 'इन्डियन ड्रामा' नामक ग्रन्थ में यूनानी-नाटकों के प्रभाव के सिद्धान्त का खण्डन अत्यन्त दृढ़ शब्दों में हुआ है ।[१]

डा० चट्टोपाध्याय के इस तर्क के साथ-साथ ग्रीक-आयोनियन सिद्धान्त का यहीं पर उपसंहार करके हम प्रो० कीथ के मत की आलोचना करेंगे ।

कीथ के अनुसार कोई रचना तभी 'नाटक' शब्द से अभिहित हो सकती है, जब वह अभिनेता के अभिनय के लिये एवं दर्शकों को आनन्द प्रदान करने के लिए विशेष उद्देश्य से रचित हुई हो ।[२] इसी धारणा के फलस्वरूप कीथ महोदय वैदिक काल के धार्मिक अनुष्ठानों में नाट्यतत्त्वों के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते । किन्तु कीथ की धारणा लेकर चलने पर तो विश्व के किसी साहित्य में ही ' Liturgical Play' के रूप में नाटक का अस्तित्व नहीं मिलेगा । यह भूलना नहीं चाहिये कि

१- द्रष्टव्य- "Greek Tragedy and early Attic comedy as in Aristophanes are totally different in spirit from Sanskrit drama and they present a different-world and consequently there can not be any doubt-that Sanskrit drama had an origin independent of Greek drama ..... It is more probable that the Indian tradition in the art of drama was already fully formed when Greek drama came to the knowledge of Indians."

२- ,, - Sanskrit drama by A. B Keith p 24

प्रारम्भिक अवस्था में अभिनय के लिये अभिनय अर्थात् धर्मानुष्ठान से असम्बन्धित स्वतन्त्र अभिनय यूनानी-नाटकों के इतिहास में भी प्राप्त नहीं होता । वहाँ भी नाट्योत्सव धर्मोत्सव का ही अंग बनकर अंकुरित हुआ । डायोनिसास की उपासना के अनुष्ठान से ही वहाँ नाट्य का सूत्रपात हुआ । अतएव अनुष्ठान और अभिनय वहाँ ओतप्रोत होकर अहमहमिका भाव से एक दूसरे में मिले हुए हैं और अभिनय की रसप्रवणता से धार्मिक अनुष्ठान के सौष्ठव में श्रीवृद्धि हुई है,वहाँ विशुद्ध नाटक (drama proper) का अस्तित्व न होने पर भी Liturgical Play का अस्तित्व अवश्य स्वीकरणीय है । मध्यकालीन धर्ममूलक नाटकों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्रो० निकल का मत भी इसी युक्ति का पक्षपाती प्रतीत होता है ।[१]

अत: यदि Liturgical Play को नाटक का प्रारम्भिक रूप मान लिया जाय तो `होता`, `उद्गाता`, `अध्वर्यु` तथा `ब्रह्मा` को प्रारम्भिक संस्कृत-नाटकों के उपोद्घाता के रूप में स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं रह जाती । प्रो०कीथ चाहे कुछ भी मानें, सरमा-पणि-सूक्त में वे 'ritual drama in nuce' के अस्तित्व को, बिना माने न रह सके ।[2] किन्तु इतना स्वीकार कर लेने पर परवर्ती इतिहास को जिस दृष्टि से देखना चाहिए, वे अपने सिद्धान्त के मोह में पड़कर उसकी उपेक्षा ही करते रहे ।रामायण-महाभारत में प्राप्त `नट` शब्द उनके अनुसार मूकाभिनेता का पर्याय है, पाणिनि के नटसूत्र का उल्लेख भी मूकाभिनय की रीति का परिचायक है । बौद्ध-साहित्य के `पेक्खा`, `समज्ज` आदि शब्द उनके लिये उपेक्षणीय हैं । अवदानशतक इत्यादि ग्रन्थों के साक्ष्य उनके लिए अविश्वास्य हैं ।[3] वस्तुत: इन प्रमाणों को मानने पर भारत में नाट्य के अस्तित्व की प्राचीनता सिद्ध हो जाती,इसीलिए उन्होंने इस प्रकार के साहित्यिक साक्ष्यों को `Utter uncertainty of the date' कहकर निराधार सिद्ध करने का प्रयास किया है । उन्हें तो यह दिखाना था कि भारत में नाटक का सूत्रपात ई०पू० द्वितीय शताब्दी के मध्य से हुआ,[४] इसके लिये

१- "Thus was born the 'liturgical drama' that form of medieval play wherein the dialogue and the movement formed part of the regular liturgy or service of the day.' ('World drama' p. 143)

2. 'Sanskrit Drama' p. 19
3. " " p. 43
४. " " p. 45

उन्होंने उसके पूर्व नाट्य के अस्तित्व सम्बन्धी जो कुछ साक्ष्य मिले, उन्हें प्रक्षिप्त नहीं तो भिन्नार्थक कह कर उनके महत्व को निर्मूल करने का प्रयत्न किया । कीथ के अनुसार भारत में महाकाव्यों के प्रचलन के साथ-साथ कृष्णोपासना का आधार लेकर ई०पू० द्वितीय शताब्दी से भारत में नाट्य का आविर्भाव हुआ ।उनके अनुसार कृष्ण के हाथ कंस की मृत्यु का प्रतीकात्मक अर्थ है[१] । कृष्ण और कंस की कथा को ग्रीष्म और शीत ऋतु की प्रतिस्पर्द्धा का रूपक भी माना जा सकता है,—ऐसा उनका कथन है । उन्होंने कृष्णकथा के इस स्वरूप का निदर्शन वैदिक युग से दिखाने का प्रयत्न तो किया है,किन्तु वैदिक युग से अर्थात् कम से कम पन्द्रह सौ ई०पू० से ई०पू० द्वितीय शताब्दी के मध्य तक पहुँचते पहुँचते इस प्रकार के प्रतीकात्मक रूपकों अथवा दूसरे शब्दों में उनके द्वारा सोचे हुए 'Vegetation ritual' की क्या गति रही और क्या क्रमशः परिणति रही- इसके विषय में कुछ सूचना देना उन्होंने आवश्यक ही नहीं समझा ।

अतएव कीथ महोदय के मत की आलोचना निम्नलिखित रूप से की जा सकती है —

१) प्रो०कीथ ने तेरह,चौदह सौ वर्षों के इतिहास की गति और सम्भावना की उपेक्षा की है और इतने वर्षों के क्रम-विकास की धारा को लांघ कर ई०पू० द्वितीय शताब्दी को संस्कृत-नाटकों के उत्पत्तिकाल के रूप में स्वीकार कर लिया है ।

२) भारतीय-परम्परा के अनुसार भगवान् ब्रह्मा नाट्य के स्रष्टा और भगवान् शिव उसके अधिष्ठाता देवता हैं,विष्णु नहीं । कृष्णोपासना का आधार लेकर नाटक की उत्पत्ति नहीं हुई थी—नाटक का उद्भव समाज के निम्नवर्ग एवं स्त्री-जाति के चारित्रिक उत्थान के उद्देश्य से पंचम वेद के रूप में हुआ था[२] ।

१- '.... refined version of an older vegetation ritual in which the representative of the outworn spirit of vegetation is destroyed'.

२- नाट्यशास्त्र १|१२|| पृ.सं. ११ (गायकवाड़ ओरियेन्टल सीरीज़)

३) किसी भी भाषा के साहित्य में क्रमिक-विकास की धारा की उपेक्षा कर प्रारम्भ से ही विशुद्ध-नाटक की आशा करना अनुचित है ।

४) बौद्ध-साहित्य ,रामायण,महाभारत,इत्यादि का अन्त:साक्ष्य अनुपेक्षणीय है । इनके अतिरिक्त भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में नाट्यरीतियों का प्रौढ वर्णन,पाणिनि के द्वारा नटसूत्रों का उल्लेख,भास के नाटकों की उपलब्धि भारत में नाट्यकला की प्राचीनता को सूचित करते हैं । यह प्राचीनता कीथ-निर्दिष्ट काल से अधिक ऊपरी सीमा का स्पर्श करती है । पतंजलि के महाभाष्य में नाटक के अस्तित्व का स्पष्ट प्रमाण है,उसकी उपेक्षा कीथ महोदय भी नहीं कर सके[१] ।यदि पतंजलि का समय २०० ई०पू० हो तो संस्कृत-नाटकों का आविर्भाव इससे बहुत पहले हो गया था ।

महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने नाट्यशास्त्र में प्राप्त 'इन्द्रध्वजमह' की घटना के बल पर यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि यूरोप के 'मे पोल'(May pole) नृत्य के समान भारत में वसन्तकालीन जो आनन्दोत्सव होते थे, उन्हीं से प्रभावित होकर संस्कृत नाटकों का उद्भव हुआ । इस मत में दो प्रमुख दोष दृष्टिगोचर होते हैं— पहला,'इन्द्रध्वजमह' से संस्कृत-नाटकों की उत्पत्ति का कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है । वह तो प्रथम संस्कृत-नाटक खेलने का एक शुभ अवसर मात्र था । आज भी हम किसी विशेष अवसर पर ही नाटक खेलते हैं, किन्तु उस अवसरविशेष को हम उस समय खेले गये नाटक के उद्भव का कारण नहीं कहते । ठीक यही बात शास्त्री जी के मत में भी लागू होती है । दूसरा दोष इस मत में यह दिखाई पड़ता है कि जिस 'मे पोल' नृत्य की तुलना इन्होंने प्रस्तुत की है वह शीत ऋतु की समाप्ति तथा वसंतागमन के समय पर होता है । परन्तु 'इन्द्रध्वजमह' तो वर्षा की समाप्ति पर होता है । अत: जो तुलना उन्होंने प्रस्तुत की है उससे इस इन्द्रध्वजमह का कोई सादृश्य नहीं है[२] ।

१- "We may legitimately and properly accept its existence in a primitive form."

२- द्रष्टव्य- Journal and Proceedings of the Asiatic Society of Bengal VoL. V p 351-61

वस्तुत: संस्कृत-नाटक की उत्पत्ति एक ही दिन में और सहसा ही नहीं हुई । इसका बीजारोपण और विकास शनै:शनै:हुआ । इस क्रिया में बहुत समय लगा। अनुकरण की प्रवृत्ति मनुष्य की सहजात प्रवृत्ति है । इसी प्रवृत्ति ने मनुष्य को सदैव उन्नति के लिये प्रेरणा प्रदान किया है । दरिद्र धनी का अनुकरण करने के लिए ही अपनी शक्तियों और साधनों का विकास करता है । देवलोक की समृद्धि की कल्पना करके, उनको प्राप्त कर देवताओं के समृद्ध जीवन के अनुकरण करने की प्रवृत्ति ने ऋग्वेद की प्रथम स्तुतियों को जन्म दिया ।दशम मण्डल तक पहुँचने के उपरान्त संलाप तत्व की उद्भावना करके स्तुतियों को और भी अधिक स्वाभाविक और आकर्षक बनाया गया । इस विकास में भी अनेकों वर्ष लग गये होंगे, जब कि मनुष्य के दैनन्दिन जीवन की संलाप -शैली स्तुति-रचना का माध्यम बन सकी । संलाप शैली में रचित स्तुतियों में एक पात्र नारी भी होने लगी । उर्वशी-पुरूरवा,यम-यमी ,नदी-विश्वा-मित्र आदि इसके प्रमाण हैं । इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप से अनुकरण,संलाप,नायक-नायिका आदि नाटक के अत्यावश्यक तत्वों का बीजारोपण ऋग्वेद -काल में ही हो गया । संलाप तत्व तथा नारीपात्र के आगमन से मनुष्यजाति के प्रथम साहित्य ऋग्वेद में अप्रत्यक्ष रूप से लोकधर्मीत्व का भी समावेश हो गया।

इसके बाद यजुर्वेद के कर्मकाण्ड ने आंगिक और आहार्य अभिनय की कला का भी बीजारोपण कर दिया । ऋषि ने शिष्य को सिखाया,अतएव अनुकरण की क्रिया जारी होरही ।शुक्लयजुर्वेद (पुरुषमेध प्रकरण)में शैलूष शब्द का प्रयोग भी हो गया । नृत्य तत्व की उद्भावना वैदिकयुग में ही हो गयी ।

सामवेद में गीततत्व का बीजारोपण हुआ और अथर्ववेद के चमत्कारपूर्ण क्रियाओं में रस तत्व को प्रोत्साहन मिला । इस प्रकार वैदिक युग के होता,उद्गाता,अध्वर्यु और ब्रह्मा इन चारों पुरोहितों के नेतृत्व में वेदी रूपी रंगमंच के सम्मुख यज्ञ नामक जो अनुष्ठान प्रतिदिन होने लगा- उसमें नाटक के प्राय: सभी प्रमुख तत्व बीज रूप में

१- "गीताय शैलूषं धर्माय सभाचरं नरिष्ठायै" -शुक्लयजुर्वेद ३०वाँ अध्याय पुरुषमेध प्रकरण

विद्यमान थे और याज्ञिक विकास के साथ-साथ उनका भी दिन-प्रतिदिन विकास होता गया । अत: भरतमुनि के नाट्यशास्त्र के निम्नलिखित श्लोक की सार्थकता में कोई सन्देह नहीं है —

" जग्राह पाठ्यमृग्वेदात्सामभ्यो गीतमेव च ।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि ।।"१।१८

भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में नाटकों की उत्पत्ति के विषय में जो कथा है, उससे स्पष्ट होता है कि नाटककी उत्पत्ति लोकहितार्थ हुई थी । अशिक्षित और निम्न-वर्ग का प्रतिनिधित्व करने वाली स्त्री तथा शूद्रजाति-जिनकी चारित्रिक उन्नति के लिए अन्य किसी प्रकार का साधन नहीं था, उनके चारित्रिक विकास के लिए देवताओं ने ब्रह्मा से नाट्यवेद नामक पंचम वेद की रचना के लिए प्रार्थना की थी । देवताओं की इस प्रार्थना की पूर्ति ब्रह्मा ने चारों वेदों से सामग्री लेकर की । इस प्रकार हम देखते हैं कि संस्कृत-नाटकों का सम्बन्ध धर्म अथवा धार्मिक रीतिनीतियों से बहुत अधिक नहीं है ।चाहे इसमें देवताओं का उल्लेख कितना ही क्यों न हो उत्पत्ति के समय से ही इसका सम्बन्ध लोकहित से रहा है ।इन्द्रध्वजमह को संस्कृतनाटक के जन्म का हेतु दिखाकर इसका सम्बन्ध धार्मिक कृत्य से नहीं जोड़ सकते क्यों कि इन्द्रध्वजमह तो केवल प्रथम नाटक खेलने के लिए एक सुन्दर अवसर मात्र था । इन्द्रध्वजमह से संस्कृत-नाटक की उत्पत्ति का कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है । दोनों आकस्मिक रूप से एक दूसरे से सम्बन्धित हो गये हैं । अत: संस्कृत-नाटक का जन्म समाज सुधार की भावना से हुआ- ऐसा कहने में अत्युक्ति नहीं होगी ।

ऋग्वेद से ही जिस संलाप शैली का सूत्रपात हो गया था, उपनिषद् काल के गुरु-शिष्य परम्परा में उसका खूब विकास हुआ । इसी समय अनेक प्रख्यात और उत्पाद्य आख्यानों की भी रचना हुई । आगे बढ़ कर संलाप शैली ने प्राय: सभी प्रकार के साहित्य को प्रभावित किया । महाभारतकाल ने भी प्रख्यात-नायकों से सम्बन्धित नाटकों की रचना के लिए अनेक उपाख्यानों को जन्म दिया । गीता में भगवान् के श्रीमुख से निकले हुये "यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जन:" इत्यादि शब्दों ने कविहृदय में नाटकों की रचना के लिये पर्याप्त प्रेरणा दी । पुराणों में तो अनेक नाटक खेले जाने का भी उल्लेख किया गया । श्रीमद्भागवतपुराण में अभिनेताओं का स्पष्ट उल्लेख है । मार्कण्डेयपुराण में ऋतध्वज का पुत्र अलर्क नाटकाभिनय का क

प्रोत्साहक बताया गया है । बौद्धों के दिघ्यनिकाय में नाटक के अस्तित्व का उल्लेख मिलता है[१] । अवदानशतक में एक नाटक के खेले जाने का भी उल्लेख है[२] । अर्थशास्त्र के समय तक तो नाटक का बहुल-प्रचार हो गया था । राजा के कर्त्तव्यों में नट के प्रति विहित कर्तव्य का भी उल्लेख है ।यही नहीं राजनीति में गुप्तचरवृत्ति के लिये नटों की नियुक्ति का विधान भी अर्थशास्त्र में हुआ है[३] ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संस्कृत-नाटक का जन्म सहसा नहीं हुआ । उसके प्रमुख तत्त्वों का बीजारोपण ऋग्वेदकाल से ही हो गया था । फिर वर्षों तक उसके अंग अपने अपने स्थान में विकसित होते गये ।संलाप की शैली साहित्य का माध्यम बनकर परिमार्जित होती गयी ।सामवेद के ऋषियों ने संगीत का जो मधुर तान छेड़ा था-वह समय के साथ-साथ असंख्य राग-रागिनियों में व्याप्त हो गया ।प्राचीन भारत की स्थापत्यकला के निदर्शन में मूर्तियों की भंगिमा तथा उनकी मूकाभिव्यक्ति को देख कर कौन इस बात कोअस्वीकार करेगा कि यजुर्वेद ने जिस नृत्य और अभिनय का अप्रत्यक्ष रूप से बीजारोपण किया था, उसका स्वतन्त्र विकास नहीं हुआ । इस विकास-काल में भी छोटे छोटे एकांकी तथा स्वल्पसंख्यक पात्रों से समन्वित रूपकों की सृष्टि अवश्य हो रही थी,इसका प्रमाण रामायण में प्राप्य नाटक का उल्लेख है; महाभारत के के उपाख्यानों ने मनुष्य की अनुकरणप्रवृत्ति को खूब प्रोत्साहित किया । धीरे-धीरे इन उपाख्यानों के केवल श्रव्य-रूप से भारतीय समाज सन्तुष्ट नहीं रहा और उनकी प्रभावोत्पादकता को अधिक तीव्र करने की अभिलाषा ने इन उपाख्यानों को संलाप,अभिनय इत्यादि तत्त्वों में बांधकर उनको दृश्य-श्रव्यत्व का गुण प्रदान किया[४] । अर्थशास्त्रकार के समसामयिक संस्कृत के प्रथम उपलब्ध नाटकों के रचयिता भास के तेरह नाटकों में से सात नाटकों का स्रोत महाभारतीय उपाख्यान है । संस्कृत-साहित्य का श्रेष्ठ नाटक`शाकुन्तल`की रचना के लिये कालिदास को महाभारत के उपाख्यान से ही प्रेरणाएँ मिली थी ।

१- दिघ्यनिकाय १,१,१३

२- अवदानशतक २,२४

३- अर्थशास्त्र के भाड्गुण्य नामक सप्तम अधिकरण में कहा गया है-`नटनर्त्तकगायक-वादकवाग्जीवनकुशीलवप्लवकसौभिका वा पूर्वप्रणिहिता:परमुपतिष्ठेरन् ।ते कुमारं परम्परयोपतिष्ठेरन् ।

४- द्रष्टव्य-`भास-ए स्टडी`लेखक ए०डी०पुसालकर (Part-II)

`नाटक` शब्द का साधारण प्रयोग :-

समस्त प्रकार के दृश्य अथवा अभिनेय काव्य को साधारणत: `नाटक` के नाम से अभिहित कर दिया जाता है । वस्तुत: ऐसा करना शास्त्रीय दृष्टि से अशुद्ध माना जायेगा, क्यों कि `नाटक` तो दस प्रकार के रूपकों में से एक प्रकार का रूपक है । किन्तु महाभारत, अग्निपुराण आदि उत्कृष्ट साहित्यिक ग्रन्थों से लेकर संस्कृत नाट्यकला से अनभिज्ञ लेखक की रचना में भी `दृश्यकाव्य` और `नाटक` शब्द पर्याय-वाची के रूप में प्रयुक्त होते हैं । बहुधा नाटक को समस्त प्रकार के अभिनेय काव्य की `प्रकृति`[१] कहा जाता है, परन्तु यह ठीक नहीं है । `नाटक` समस्त प्रकार के दृश्यकाव्य का प्रतिनिधि बन सकता है, परन्तु `प्रकृति` नहीं । नाटक-नाटिका, त्रोटक इत्यादि की प्रकृति बनने में भले ही समर्थ हो, परन्तु वीथी, भाण, प्रहसन आदि की प्रकृति बनने में वह कदापि समर्थ नहीं है । अत: `भावप्रकाशन` नामक ग्रन्थ में शारदातनय ने नाटक के विशेषण के रूप में जिस `प्रकृति` शब्द का प्रयोग किया है, उसका अर्थ `बीज` नहीं, अपितु `प्रतिनिधि` समझना चाहिए । नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय में वर्णित दोनों रूपक `नाटक` नहीं थे । वररुचि के नाम से प्राप्त `उभयाभिसारिका` भी `नाटक` नहीं है। वस्तुत: पहले सरल नाट्यशैली में लिखे हुए रूपकों का विकास हुआ और उन्हीं के उत्तरोत्तर विकास ने कालक्रम में नाटक का रूपांकन किया । उदाहरणार्थ वीथी को प्रहसन का पूर्वज कह सकते हैं । वीथी के प्रहसन के अंकों में समा जाने की बात कई बार भरत के नाट्यशास्त्र में ही मिल जाती है । धीरे-धीरे विदूषक-चरित्र के नेतृत्व में प्रहसन का समावेश नाटक में हो गया और नाटक की प्रस्तावना में वीथी के अंकों का सम्मेलन हो गया । भास के अधिकांश नाटकों की `स्थापना` (प्रस्तावना) में मंगलश्लोक पाठ के अनन्तर सूत्रधार के संलापों में भाण के मुख्य तत्त्व एकाकीभाषण (monologue)का प्रभाव दिखाई पड़ता है । समवकार, डिम, ईहामृग तथा व्यायोग एक दूसरे से बहुत अधिक सादृश्य रखते हैं । इन चारों के प्रमुख तत्त्व हमें नाटक में प्राप्त होते हैं । शेष रहा `प्रकरण`, इसमें और `नाटक` में बहुत ही कम भिन्नता है। दशरूपककार ने इसका लक्षण करते समय केवल मुख्य विशेषताओं को गिना कर `शेषं नाटकवत्.....` कहकर नाटक के साथ इसके अति-सादृश्य को स्पष्ट कर दिया है ।

१- द्रष्टव्य- आहु: प्रकरणादीनां नाटकं प्रकृतिं बुधा: ॥३।१२॥ रसार्णवसुधाकर

इस प्रकार हम देखते हैं कि रूपकों में सर्वाधिक विकसितरूप नाटक का है। इसी गुण के कारण उसे समस्त रूपकों का प्रतिनिधित्व करने का सौभाग्य प्राप्त होता है।यदि नाटक के तत्वों को किसी ने अच्छी तरह जान लिया तो उसे रूपक के भेदों का ज्ञान स्वत: ही हो जायेगा। यह एक विशाल सागर है जिसमें शेष सभी प्रकार के रूपकों ने अपने प्राणतत्वों को समर्पित करके उसमें लीन हो जाने में ही अपना परम सौभाग्य समझा है। दृश्यकाव्य की समस्त विशेषताओं से युक्त होने के कारण इसकी गणना सर्वत्र समस्त रूपकों के अग्रणी के रूप में हुई है। इसीलिए भरत ने इसे`पूर्ववृत्तिरूपक` कहा है। भावप्रकाशन ने `संपूर्णलक्षणत्वाच्च...` का हेतु दर्शा कर इसके प्राधान्य को स्वीकार किया है। सागरनन्दिन् ने`तत्र रूपकेषूत्कृष्टत्वाद्बहुगुणाकीर्णत्वाच्च सर्ववृत्तिनिष्पन्नस्य नाटकस्यैव स्वरूपनिरूपणमभिधीयते।` इसी विराट्रूप को प्राप्त करके`नाटक``नाट्य`शब्द का पर्यायवाची -सा बन गया है। प्रस्तुत निबन्ध के शीर्षक में भी`नाटक`शब्द साधारण अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

इस प्रकार संस्कृत-नाटक की उत्पत्ति एवं उसकी प्राचीनता के सम्बन्ध में विभिन्न मतों की समालोचना तथा प्रस्तुत निबन्ध में`नाटक`शब्द के आशय की व्याख्या के अनन्तर अब इस निबन्ध की समीक्षा के आधारभूत रूपकों के स्वरूप एवं कथानक के विभिन्न तत्वों के विषय में आचार्यों के मतों का विवेचन किया जायेगा।

<u>नाट्य की परिभाषा व भेद</u> :- धनञ्जय ने नाट्य की परिभाषा देते समय`अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्` कहा है,अर्थात् अवस्था के अनुकरण को ही नाट्य कहते हैं। धनिक ने इस परिभाषा पर टीका लिखते हुए कहा है कि जहाँ काव्य में निबद्ध धीरोदात्त, धीरललित,धीरप्रशान्त तथा धीरोद्धत प्रकृति के नायकों आदि के आंगिक ,वाचिक, आहार्य तथा सात्विक--इन चार ढंग के अभिनयों के द्वारा तादात्म्यापत्ति किया जाता है वह नाट्य कहलाता है। सागरनन्दिन् यद्यपि अनुकरण मात्र को ही नाट्य की व्याख्या देते हैं,तथापि`अवस्था`शब्द की महत्ताको विस्मृत नहीं कर देते।इसीलिए`नाट्यमनुकरणम्` कह कर अगली ही पंक्ति में वे कहते हैं कि सुख तथा दु:ख से उत्पन्न होने वाली लोक-जीवन की समस्त अवस्थाओं का अभिनय ही नाट्य है।[१] इस प्रकार धनंजय

१- `किं नाट्यम् ।नाट्यमनुकरणं यथा ।अवस्था या तु लोकस्य सुखदु:खसमुद्भवा ।तस्या-स्त्वभिनय:प्राज्ञैर्नाट्यमित्यभिधीयते ।`-- नाटकलक्षणरत्नकोश

और सागरनन्दिन् की परिभाषाओं की तुलना करने पर यह स्पष्ट होता है कि जहाँ धनञ्जय 'अवस्था के अनुकरण' को नाट्य कहते हैं वहाँ सागरनन्दिन् 'अवस्था के अभिनय' को नाट्य का लक्षण मानते हैं। आपात दृष्टि से दोनों आचार्यों की परिभाषा में भिन्नता परिलक्षित होने पर भी मूलत: दोनों की व्याख्या एक ही है, क्योंकि 'अवस्था का अनुकरण' अथवा किसी पात्र की अवस्था के साथ तादात्म्यापत्ति प्राप्त करने का एकमात्र साधन अभिनय ही है। धनिक ने इसीलिए 'अवस्थानुकृति:' शब्द की व्याख्या करते समय 'चतुर्विधाभिनयेन तादात्म्यापत्ति:' लिखा है। वस्तुत: नाट्य के सम्बन्ध में 'अनुकरण' से भी 'अभिनय' शब्द अधिक महत्त्व रखता है। लोकजीवन के लिए 'अनुकरण' शब्द पर्याप्त है, परन्तु नाट्यजगत् के लिये कोरा 'अनुकरण' शब्द पर्याप्त नहीं है। इसीलिये वहाँ अनुकरण से मिलता-जुलता परन्तु उससे अधिक गम्भीर अर्थ रखने वाला 'अभिनय' शब्द का प्रयोग अधिक वांछनीय समझा जायेगा। सागरनन्दिन् ने इसीलिये अनुकरण शब्द के स्थान पर 'अभिनय' शब्द को महत्ता प्रदान की है। काव्य के भेदों को गिनाते समय अन्य आचार्यों के समान उन्होंने उसे 'श्रव्य' और 'दृश्य' में नहीं, किन्तु 'श्रव्य' तथा 'अभिनेय' में विभक्त किया है[१]।

अभिनवगुप्त ने अपने अभिनवभारती में एक स्थल पर तो 'नटवृत्त' को ही नाट्य कहा है[२]। परन्तु आगे उसी पृष्ठ में नाट्यशब्द की विशद परिभाषा प्रस्तुत करते हैं[३]। यह परिभाषा वैज्ञानिक होने के साथ-साथ कुछ दुरूह है और यह 'व्याकीर्णे मन्दबुद्धीनां जायते मतिविभ्रम:' वाली शंका का हेतु बन सकती है। अत: अल्पबुद्धि वालों के सुलभ धनंजय की संक्षिप्त तथा सरल परिभाषा जिसमें धनिक के अवलोक ने मणिकांचन का संयोग कर दिया है, — अधिक ग्राह्य है।

भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में नाट्य की विशेषताओं की जो व्याख्या हुई है, उससे उक्त व्याख्या करना संभव नहीं है। भरतमुनि ने नाट्य को त्रिलोक के समस्त भावों का अनुकीर्तन करने वाला, नाना भावों से सम्पन्न, नाना अवस्थान्तर को दिखाने वाला तथा लोकवृत्त का अनुकरण करने वाला तो कहा ही है, परन्तु उसके अतिरिक्त भी नाटक की लोकोत्तर विशेषताओं का भी उल्लेख किया है।

१- तत्काव्यं द्विधा विदधति सुधिय: श्रव्यमभिनेयं च। —नाटकलक्षणरत्नकोश

२- नाट्यस्य नटवृत्तस्य - - - - - - - नाट्यशास्त्र (गायकवाड़ ओरियन्टल सीरीज़) पृ. ३

३- तत्र नाट्यं नाम लौकिकपदार्थव्यतिरिक्तं - - - - - - - - रसस्वभावमिति (गा. ओ. सी.) पृ. ३

इन्द्र आदि देवताओं ने ब्रह्मा से ऐसे `क्रीडनीयक`अर्थात् मनोरंजन के साधन[1] प्राप्त करने की इच्छा प्रकट की, जो`श्रव्य`होने के साथ-साथ`दृश्य`भी हो। देवताओं की इसी याचना के फलस्वरूप`नाट्य`की सृष्टि हुई।अत: स्वभावत: ही उसमें`दृश्यत्व`और`श्रव्यत्व` दोनों गुण आ गये। यह तो निर्विवाद सत्य है कि श्रव्यकाव्यों के अनन्तर ही दृश्यकाव्यों का विकास हुआ। काव्य मात्र ही व्युत्पत्तिजनक तथा रसात्मक होता है। काव्य चित्त का आह्लादक भी है और `रामादिवद्वर्तितव्यं न रावणादिवत्`रूप कान्तासम्मित उपदेश देने वाला भी। श्रव्यकाव्य में भी ये गुण विद्यमान थे, फिर देवताओं को श्रव्यकाव्य अपर्याप्त क्यों प्रतीत हुआ-इसकी बहुत ही सुन्दर व्याख्या अभिनव-भारती में हुई है--`चकारेणेदमाह तादृशा केनचिदुपायेन सम्बन्धस्तत्कुरु त येन भिन्नेन्द्रियग्राह्ये अपि दृश्यश्रव्ये एकानुसन्धानविषयत्वं न विजहीत इति सामान्याभिप्रायकाउप्राणत्वं प्रयोगस्य सूचितम्। दृश्यमिति प्रीतिप्रदं श्रव्यमिति व्युत्पत्तिप्रदमिति प्रीतिव्युत्पत्तिप्रदमित्यर्थः इति[2]।`देवताओं की प्रार्थना यही संकेत करती है कि श्रव्यकाव्य की कथावस्तु ने ही आगे चल कर नाटक को जन्म दिया होगा। श्रव्यकाव्य के रचयिता को आगे चल कर केवल कहानी कह देने से तथा श्रोता को भी केवल सुनने से सन्तुष्टि नहीं हुई होगी,फलत: दोनों के हृदय में ही उसके सजीवतर रूप के लिए अभिलाषा जागृत हुई होगी। इसके लिए कहानी सुनाने वाले को प्रवचन करते समय स्वरों का तारतम्य करना पड़ा होगा। इसी क्रिया ने संभवत: आगे चल कर कथाओं में वाचिक अभिनय को प्रस्फुटित किया।यही नहीं,संभवत: कथावस्तु में अधिक सजीवता लाने के लिए प्रवचनकर्ता को वाचिक अभिनय के साथ-साथ अंगसंचालन अर्थात् आंगिक अभिनय भी करना पड़ा।कालक्रम में, संभवत: प्रवचनकर्ता ने अपने प्राण से वर्ण्य-चरित में प्राणप्रतिष्ठा करने के लिये अपने बाह्यरूप को छोड़ कर कथावस्तु में वर्णित पात्र कीवेशभूषा भी धारण कर उसमें पूर्ण रूप से विभोर होकर उससे तादात्म्यापत्ति स्थापित कर ली होगी।वैष्णवभक्ति की काव्यधारा में आज भी इस प्रवृत्ति का दर्शन होता है। अतएव यह संभावना ठीक भी हो सकती है। इस प्रकार जब प्रवचनकर्ता ने एक बार वर्ण्य-पात्र से तादात्म्यापत्ति स्थापित कर ली,तब उसने उसी पात्र के सुख को अपना

१- नाट्यशास्त्र १।११।
२- " " की व्याख्या

सुख समझ कर आनन्द प्रकट किया होगा और उसी के दु:ख से व्याकुल होकर अश्रुविसर्जन किया होगा । इस रीति से तो आंगिक,वाचिक और आहार्य अभिनय को अपनाने के अनन्तर सात्विक अभिनय के लिये उसे कोई प्रयत्न ही नहीं करना पड़ा होगा,वह स्वत: ही अत्यन्त स्वाभाविक रूप से फूट पड़ा होगा ।अब उसकी सात्विकता में श्रोता भी निमज्जित गये होंगे और वे भी उसी के साथ हर्ष और विषाद में विभोर हो गये होंगे । इस प्रकार न जाने काव्य-रचना के आविर्भाव काल के अनन्तर कब सबके अनजाने में ही एक दिन नाटक का भी आविर्भाव सहज हो गया होगा ।कवि नाटककार बन गये होंगे और श्रोता को सामाजिक की उपाधि मिली होगी । यह कपोल-कल्पना नहीं है,मनुष्य की मानसिक प्रवृत्तियों की यह एक सहज और सम्भावनीय गतिविधि है । श्रुति भी तो कहती है `चक्षुर्वैसत्यम्`[1] अतएव श्रोत्रेन्द्रिय के विषययुत काव्य के`सत्य`को, उसके आदर्श को अधिक प्रभावकारी एवं आकर्षक रूप देने के लिए यदि चक्षुरिन्द्रिय की महत्ता का ध्यान कर मानव-मन में उस काव्य को चक्षुरिन्द्रिय-ग्राह्य बनाने का संकल्प हो और उस संकल्प की सार्थकता के लिये यदि पूर्वोक्त पद्धति का सहयोग हो तो आश्चर्य की बात नहीं है । यदि ब्रह्मा की सृष्टि में पूर्वोक्त रीति से देव वांछित दृश्य-श्रव्यत्व धर्म से युक्त नाट्य की उत्पत्ति हुई हो तो उसे स्वाभाविक ही समझना चाहिए।

नाट्य की महिमा का वर्णन करते हुए भरतमुनि ने कहा है कि यह सार्ववर्णिक पंचमवेद है ।[2] ठीक भी है, क्यों कि त्रिलोक का अनुकरण ही जिसका ध्येय है वहस्वत: ही सार्ववर्णिक होगा । नाट्य का क्षेत्र विशाल है । इसकी सीमा में स्वर्ग ,मर्त्य,पाताल -तीनों लोक समाये हुए हैं । इसमें दिव्य,अदिव्य और दिव्या-दिव्य अर्थात् त्रिलोक की प्रकृति एवं प्रवृत्तियों का समावेश हुआ है । तभी तो त्रिलोक की संस्कृति का यह इतिहास बन सका है ।त्रिलोक में अनुष्ठित समस्त भावों का इसमें संग्रह हुआ है ।कोई शिल्प,कोई विद्या,कोई कला,कोई व्यापार अथवा अनुष्ठान नहीं है,जिसका संग्रह इस नाट्यनामक`सर्वशास्त्रार्थसम्पन्न` तथा`सर्वशिल्पप्रवर्तक` रूप

१-द्रष्टव्य- बृहदारण्यक

२- ,, -नाट्यशास्त्र १।१२

इस पंचमवेद में नहीं हुआ है । इसी गुणके कारण यह इतिहास-रूप पंचम वेद आगामी सन्तानों के लिये उपदेष्टा बन गया है । इसके अनुकरणीय उपदेशों को हृदयंगम करके मनुष्य युग-युग तक चारों पुरुषार्थों[1] को प्राप्त करके यशस्वी हो सकता है ।

नाट्य की महिमा का वर्णन करना अत्यन्त कठिन है । धनंजय ने ठीक ही कहा[2] था कि समस्त वेदों के सार-तत्त्व को लेकर ब्रह्मा ने नाट्य-नामक जिस पंचमवेद की रचना की, जिससे सम्बद्ध अभिनय को भरतमुनि ने पल्लवित किया, जिसकी श्रीवृद्धि करने के लिये भगवान् शिव ने ताण्डव नामक उद्धत नृत्य का तथा भगवती पार्वती ने लास्य नामक सुकुमार नृत्य का संयोग किया- उस नाट्य के सम्पूर्ण लक्षणों अर्थात् सम्पूर्ण महिमा का वर्णन कौन कर सकता है ।

<u>नाट्य के अन्य नाम</u> :- इस नाट्य के अभिनय-वैशिष्ट्य से प्रभावित होकर आचार्यों ने इसे `अभिनेय काव्य`[3] के रूप में सम्बोधित किया है । चक्षुरिन्द्रिय का विषय होने के कारण इसे `रूप` की भी आख्या दी गयी है[4] । `तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः`- रूपक अलंकार का यह स्वरूप नाट्य में भी दिखाई पड़ता है । नाट्य में उपमेय अथवा वर्ण्य पात्र और उपमान अर्थात् नट में अभेदत्व का आरोप होता है । इस नाट्य की सारी रूपरेखा भी निषेधरहित अभेदत्व के आरोप पर प्रतिष्ठित है । अत: नाट्य का `रूपक` नाम सार्थक है ।

<u>नाट्यशास्त्र को रसशास्त्र की उपाधि</u> :-

रूपकमात्र ही रसाश्रयी होते हैं । ब्रह्मा ने पहले तीनों वेदों से पाठ्य, गीत और अभिनय तत्त्व को लेकर नाट्य की रूपरेखा की सृष्टि की, तब अथर्ववेद से रसतत्त्व को लेकर इस रूपरेखा में प्राणप्रतिष्ठा कर दी । धनिक ने नाट्यशास्त्र को ही रसशास्त्र कहा है । धनञ्जय के `व्याकीर्णे मन्दबुद्धीनां जायते मतिविभ्रमः ।` वाले श्लोक के `व्याकीर्णे` शब्द की टीका धनिक ने `व्याकीर्णे = विक्षिप्ते विस्तीर्णे च रसशास्त्रे`

१- द्रष्टव्य- नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय के १४ वें श्लोक की व्याख्या-

२- ,, - दशरूपक १।४॥

३- ,, - नाटकलक्षणरत्नकोश [तत्काव्यं द्विधा विदधाति सैन्धवः काव्यमभिनेयं च]

४- ,, - दशरूपक १।८

किया है । नाटक का दर्शक सर्वत्र `रसिका:सामाजिका:` के रूप में ही अभिहित हुए हैं । नाट्यशास्त्र के मनीषी आचार्य भरत की `विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्ति:`[1] पंक्ति की व्याख्या करते हुए अगणित रससिद्धान्तों का सूत्रपात हुआ ।

रस और भाव :- रस का नाम लेते ही एक और तत्त्व के प्रति हमारा ध्यान स्वत: ही आकृष्ट हो जाता है- वह तत्त्व है `भाव` । इस भाव को हम रस की पूर्वावस्था कह सकते हैं ।भरतमुनि का यह वाक्य `न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जित:`[2] यद्यपि के०एम०वर्मा[3] जैसे विद्वानों के लिये ब्रह्मास्त्र स्वरूप है,जिसका प्रयोग करके वे भाव और रस का एकीकरण कर देना चाहते हैं,तथापि स्वस्थ मस्तिष्क से परीक्षा करने पर दोनों का सूक्ष्म भेद तथा दोनों का पौर्वापर्य अवश्य ही स्पष्ट हो जाता है । जो भेद हमें कली और फूल में दिखाई देता है, जिस नयनहारिता के तारतम्य का अनुभव हमें एक अप्रस्फुटित कमल-कुड्मल और एक पूर्णविकसित कमल में होता है,वही तारतम्य भाव और रस में भी अनुभूत होता है । भाव कुड्मल है,तो रस पूर्ण विकसित शतदल ।नाट्य रस पर आश्रित होता है और भाव पर आश्रित होता है `नृत्य`। फिर रसाश्रयी दृश्यकाव्य `रूपक` के नाम से भी अभिहित होते हैं,और नृत्याश्रयी दृश्यकाव्य `उपरूपक` कहलाते हैं ।

रूपक तथा उपरूपक :-

(अ) रूपक के भेद :- रूपक के दस भेद हैं -नाटक,प्रकरण,भाण,प्रहसन,डिम,समवकार, वीथी,अंक और ईहामृग ।इनमें से `अंक` नामक रूपक के लिये `उत्सृष्टिकांक` नाम भी मिलता है ।नाट्यशास्त्र में हमें `नाटी` नामक एक और दृश्यकाव्य का उल्लेख मिलता है,जो नाटक और प्रकरण के मिश्रण से बना है । दशरूपककार ने इसका `नाटिका` नामकरण किया है और इसे संकीर्ण रूपक कहा है ।काव्यानुशासन में रूपक के दस भेदों के अतिरिक्त `नाटिका` और `सट्टक` की भी गणना रूपक के भेद के रूप में ही हुई है । नाट्यदर्पण में रूपक के सर्वसम्मत दस भेदों के अतिरिक्त `नाटिका` और `प्रकरणी` की भी गणना हुई है ।

१- द्रष्टव्य- काव्यप्रकाश चतुर्थ उल्लास (विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला ९५) पृ०सं ६५-६८

२- नाट्यशास्त्र भाग १ अध्याय ६ (गा. ओ. सी.)

३- द्रष्टव्य- 'Nattya, Nritta and Nritya' by K M Verma p.8

रूपक के पूर्वोल्लिखित दस भेदों को सभी आचार्यों ने स्वीकार किया है । किन्तु `नाटी` अथवा `नाटिका`, `प्रकरणी` इत्यादि दृश्यकाव्य जो आकस्मिक रूप से किसी-किसी आचार्य के द्वारा रूपक के रूप में परिगणित हो गये हैं- उनकी रूपकता के विषय में अर्थात् उनकी रसाश्रयी नाट्य में गणना होने में मतभेद है । भावप्रकाश, रसार्णवसुधाकर, प्रतापरुद्रीय आदि ग्रन्थों के रूपक-प्रकरण में इनका उल्लेख नहीं हुआ है । दशरूपक में `नाटिका` का उल्लेख होने पर भी रूपक के साथ इसका उल्लेख नहीं हुआ है । धनंजय ने `दशधैव रसाश्रयम्` कह कर तथा धनिक ने `रसानाश्रित्य वर्तमानं दशप्रकारकम् ,एवेत्यवधारणं शुद्धाभिप्रायेण ।नाटिकाया:संकीर्णत्वेन वक्ष्यमाणत्वात् ।` कह कर इसे रसाश्रयी दस प्रकार के रूपकों से पृथक कर दिया है।[१] वस्तुत: नाटिका, प्रकरणी, सट्टक आदि की गणना उपरूपक में होना ही वांछनीय है। साहित्यदर्पणकार ने ऐसा ही किया है[२] ।

रूपक के दस ही भेद हैं । रूपक और उपरूपक की गणना में यदि हमें कुछ भी त्रुटि मिलती है, उसका एकमात्र कारण नृत्य और नाट्य के सूक्ष्म पार्थक्य की अवहेलना ही हो सकती है ।इसी अवहेलना के फलस्वरूप अग्निपुराण के नाटक प्रकरण में २७ भेदों की गणना हो गयी है[३] । कालिदास के `विक्रमोर्वशी` पर भी बड़ा विवाद होता आया है ।नृत्त, नृत्य और नाट्य तीन भिन्न-भिन्न तत्त्व होने पर भी किस प्रकार बहुत से आचार्यों के द्वारा वे एक ही नाम से पुकारे जाते थे — इसकी आलोचना हम आगे करेंगे ।

(ब)उपरूपक के भेद :- उपरूपक की संख्या में आचार्यों का मतभेद अधिक दृष्टिगोचर होता है । दशरूपक में प्रासंगिक रूप से उपरूपकों का उल्लेख मात्र हुआ है और वहाँ डोम्बी, श्रीगदित, भाण, भाणी, प्रस्थानक ,रासक तथा काव्य--इन्हीं सात भेदों की गणना हुई है[४] । दशरूपककार ने इन्हें उपरूपक न कह कर `नृत्यभेद` की आख्या दी है ।अभिनवगुप्त ने डोम्बिका, भाण, प्रस्थान, शिदगक ,भाणिका, प्रेरणम् ,रामक्रीडम्, हल्लीशक और रासक--इन नौ भेदों का उल्लेख किया है[५] परन्तु उन्होंने भी इन्हें `उपरूपक`

१- द्रष्टव्य- दशरूपक (डा. भोलाशंकर व्यास द्वारा सम्पादित) पृ. सं. ४

२- ,, साहित्यदर्पण ६।४-६।।

३- ,, अग्निपुराण ३३८।१-४

४- ,, दशरूपक १।८ का 'अवलोक'

५- ,, अभिनवभारती (गा. ओ. सी.) पृ.सं. १८३

के नाम से संयुक्त नहीं किया है। काव्यानुशासन के रचयिता हेमचन्द्र ने अभिनव के नौ भेदों के अतिरिक्त श्रीगदित और गोष्ठी का भी उल्लेख किया है,[१] किन्तु ऐसा लगता है कि वे भी इनके 'उपरूपक' नाम से परिचित नहीं थे। अग्निपुराण में इनके सतरह भेदों की गणना हुई है,[२] किन्तु वहाँ भी इनके साथ 'उपरूपक' नामक शीर्षक की संयोजना नहीं हुई है। साहित्यदर्पण में इनके अट्ठारह भेदों की गणना हुई है[३] और सर्वप्रथम विश्वनाथ ने ही स्पष्ट रूप से इन अट्ठारह भेदों को उपरूपक की आख्या दी है। भावप्रकाश में बीस भेदों का उल्लेख हुआ है -तोटक, नाटिका, गोष्ठी, सल्लाप, शिल्पक, डोम्बी, श्रीगदित, भाणी, प्रस्थान, काव्य, प्रेक्षणक, सट्टक, नाट्यरासक, लासक, उल्लोप्यक, हल्लीश, दुर्मल्लिका, मल्लिका, कल्पवल्ली तथा पारिजातक।[४] परन्तु इनकी परिभाषा तथा स्वरूप की व्याख्या करते समय शारदातनय ने इसी सूची में से बिना किसी हेतु के ही सट्टक को छोड़ दिया है।

चूँकि साहित्यदर्पणकार ने सर्वप्रथम इन भेदों को 'उपरूपक' की आख्या दी है तथा दृढ़तापूर्वक इसके अट्ठारह भेद गिनाये हैं, इसलिए उनके शब्दों पर निर्भर करना ही श्रेयस्कर होगा। साहित्यदर्पणकार ने उपरूपक की निम्नलिखित अट्ठारह भेदों की गणना की है -- नाटिका, त्रोटक, गोष्ठी, सट्टक, नाट्यरासक, प्रस्थान, उल्लाप्य, काव्य, प्रेङ्खण, रासक, संलापक, श्रीगदित, शिल्पक, विलासिका, दुर्मल्लिका, प्रकरणी, हल्लीश तथा भाणिका।[५]

उपरूपक के संबंध में एक बात बहुत ही ध्यान देने योग्य है, वह है कि इनका कोई उल्लेख भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में प्राप्त नहीं होता। 'नाटी' नामक एक दृश्यकाव्य का उल्लेख अवश्य प्राप्त होता है,[६] परन्तु उसे भी 'उपरूपक' की संज्ञा नहीं दी गयी है। वस्तुतः 'उपरूपक' यह नामकरण बहुत बाद में हुआ है। दशरूपककार को भी यह

१- द्रष्टव्य- काव्यानुशासन ८।४
२- ,, अग्निपुराण अध्याय ३३८
३- ,, साहित्यदर्पण षष्ठ परिच्छेद
४- ,, भावप्रकाश (गा. ओ. सी.) पृ सं. २५५
५- ,, साहित्यदर्पण षष्ठ परिच्छेद ॥४-६॥
६- ,, नाट्यशास्त्र २०।६२-६४ (काशी संस्कृत सीरीज़ नं. ५०) पृ. सं २३१

नाम ज्ञात नहीं था । धनिक के समय में 'नृत्यभेद' के नाम से इनका ग्रहण होता था[1] । काव्यानुशासन ,नाट्यदर्पण,भावप्रकाश के रचयिताओं को भी 'उपरूपक' नाम ज्ञात नहीं था । यद्यपि 'नाट्य' अथवा 'रूपक' से इनकी भिन्नता के विषय में ये आचार्य अवश्य ही सचेतन थे,तथापि इनकी पृथक्-संज्ञा का प्रचार नहीं हो पाया था । अग्निपुराण ने तो सब को 'नाटक' आख्या दे दी थी । वस्तुत: उपरूपक में रूपक के प्राय: सभी तत्त्व प्राप्त होते हैं,भेद केवल इस बात में है कि इसमें नाट्य अर्थात् रसाभिनय का प्राधान्य न होकर नृत्य अर्थात् भावाभिनय का प्राधान्य रहता है । प्रारंभ में इस सूक्ष्म भेदक-तत्त्व के प्रति किसी का ध्यान ही आकृष्ट न हुआ होगा । बाद में क्रमश: जब आचार्यों को इसका अनुभव होने लगा तब भी वे पृथक् नामकरण के अभाव में बहुत दिन तक इसे रूपक के शीर्षक के नीचे ही रखते दिया । काव्यानुशासन में इन्हें 'गेयरूपक' कह कर पृथक करने की चेष्टा हुई है । अभिनवगुप्त ने इन्हें 'नृत्यप्रकार' कहा है, जो धनिक के 'नृत्यभेद' नाम से मिलता जुलता है ।नाट्यदर्पण में 'अन्यानि रूपकाणि' कहकर इन्हें रूपक के प्रमुख दस भेदों से पृथक करने की चेष्टा की गयी है । इस प्रकार स्पष्ट होता है कि क्रमश: आचार्यों को रूपक और उपरूपक की भिन्नता का बोध हो गया था । किन्तु इस भिन्नता को स्पष्ट करने के लिये लिये 'गेयरूपक', 'नृत्यप्रकार' आदि जितने भी संकेत किये गये, उनमें से एक भी सर्वग्राह्य नहीं हुआ । अन्त में साहित्यदर्पणकार ने इनके 'उपरूपक' नाम को दृढ़ शब्दों के द्वारा सुप्रतिष्ठित कर दिया। यह 'उपरूपक' नाम 'साहित्यदर्पणकार का दिया हुआ नहीं है,यह बात उनकी 'अष्टादश प्राहुरूपकाणि मनीषिण:' वाली पंक्ति से ही स्पष्ट होती है ।परन्तु 'उपरूपक' नाम की उपयुक्तता को पहचान कर उसे शास्त्रीय रूप से सुप्रतिष्ठित करने का श्रेय साहित्य-दर्पणकार को ही है ।

ऊपर की आलोचना से एक बात और स्पष्ट होती है । वह यह है कि रूपक अर्थात् रसाभिनय का प्रादुर्भाव उपरूपक अर्थात् भावाभिनय से पहले हुआ होगा और उसका रूपक नाम भी पहले प्रतिष्ठित हुआ होगा । भावाभिनय-प्रधान नृत्य का प्रचलन उसके बाद हुआ और उस पर आधारित दृश्यकाव्य की उत्पत्ति तथा विकास भी बाद को हुआ । विकास के इस परिवर्तन काल में उसकी पृथक् सत्ता का निर्धारण करने

१- द्रष्टव्य- 'डोम्बी श्रीगदितं भाणो भाणीप्रस्थानरासका: ।
काव्यं च सप्त नृत्यस्य भेदा:स्युस्तेऽपि भाणवत् ।।' (अवलोक)

वाला जब तक कोई नाम स्थिर नहीं हुआ तो प्राय: आचार्यों ने पूर्वप्रतिष्ठित `रूपक` नाम की संयोजना इनके साथ भी कर दी । बाद में ये उपरूपक की संज्ञा प्राप्त करके `रूपक` से पूर्णत:पृथक् हो गये ।इसी आलोचना से अप्रत्यक्ष रूप से मैक्डोनेल आदि विद्वानों का मूकाभिनय से संस्कृत-नाटक की उत्पत्ति का मत भी खण्डित हो जाता है ।

<u>नृत्त,नृत्य तथा नाट्य:-</u> दशरूपक के समय से ही नाट्यशास्त्र पर ग्रन्थ लिखने वाले आचार्यों को इन तीन पदों की व्याख्या करने की आवश्यकता का अनुभव होने लगा था । ये तीनों पद एक दूसरे से भिन्न होते हुए भी बहुधा एक दूसरे के लिए प्रयुक्त होकर समस्या का रूप धारण कर लेते थे । इसका आभास हमें धनिक के अवलोक में भी मिल जाता है[१]। अमरकोष की निम्नलिखित पंक्ति भी कम समस्याकारी नहीं है ।

`ताण्डवम् नटनम् नाट्यम् लास्यम् नृत्यम् च नर्तने`

इन्होंने `ताण्डव`लास्य एवं नृत्य को नाट्य का पर्याय मान लिया है । अत: बाद के आचार्य नाट्यशास्त्र पर ग्रन्थ लिखते समय आरम्भ में ही तीनों के स्वरूप को स्पष्ट करके तब आगे बढ़ते थे ।

`नृत्य`की चर्चा`रस और भाव`,`रूपक तथा उपरूपक` के प्रसंग में थोड़ी बहुत कर चुके हैं । नृत्य से ही मिलता-जुलता `नृत्त`शब्द है ।आज`नृत्त`शब्द का प्रयोग लोक-भाषा में प्राय: होता ही नहीं ।परन्तु यह शब्द बहुत प्राचीन है ।`नृत्य` शब्द के आविर्भाव के बहुत पहले इस शब्द का आविर्भाव हुआ । आज जैसे प्राकृत-जन`नृत्त` और`नृत्य`के भेद से अनभिज्ञ होने के कारण,दोनों के लिए एक ही शब्द `नृत्य`का प्रयोग कर देते हैं,वैसे ही एक समय ऐसा भी था जब केवल लोक में ही नहीं,साहित्य में भी `नृत्त`और`नृत्य`दोनों प्रकार की कलाओं के लिए केवल`नृत्त`शब्द का ही प्रयोग होता था । वस्तुत:`नृत्त`कला जब सुसंस्कृत होकर`नृत्य`नामक एक नवीन कला को विकसित कर रही थी,उसी परिवर्तनकाल में दोनों ही कलाएं`नृत्त`के नाम से अभिहित होती थीं ।

१- यथा -`डोम्बी श्रीगदितं भाणो भाणीप्रस्थानरासका: ।
काव्यं च सप्त नृत्यस्य भेदा: स्युस्तेऽपि भाणवत् ।।` (अवलोक)

'नृत्त' तथा 'नृत्य' दोनों शब्दों के मूल में 'नृत्' धातु है । 'नाट्य' शब्द की व्युत्पत्ति केवल नाट्यदर्पणकार को छोड़ कर सभी नट् धातु से करते हैं । पाणिनि ने भी 'नाट्य' को 'नट्' धातु से ही निष्पन्न बताया है । अत: नाट्यदर्पणकार का 'नाट्य' शब्द का 'नाट्' धातु से निष्पन्न होना ग्राह्य नहीं है[१] । किसी ने नाट्यदर्पणकार का अनुकरण भी नहीं किया है[२] । वेबर महोदय ने 'नट्' धातु को 'नृत्' का प्राकृत भाषान्तर बताया है । परन्तु सम्पूर्ण प्राकृतसाहित्य में 'नट्' धातु का कोई उल्लेख न होने के कारण वेबर महोदय का मत निराधार तथा काल्पनिक सिद्ध होता है । 'नृत्' धातु का प्रयोग प्राचीन है । ऋग्वेद में भी नृत् धातु का कई बार प्रयोग हुआ है[३] । 'नृत्' धातु गात्रविक्षेप के अर्थ में प्रयुक्त होता है और नट् धातु अवस्पन्दन के अर्थ में । 'नट्' धातु और 'नृत्' धातु के अर्थ से ही दोनों धातुओं से निष्पन्न शब्दों से घोतित कलाओं की पारस्परिक भिन्नता स्पष्ट हो जाती है कि 'नृत्' से निष्पन्न 'नृत्त' तथा 'नृत्य' में गात्रविक्षेप अर्थात् आंगिक अभिनय का और 'नट् अवस्पन्दने' धातु से निष्पन्न 'नाट्य' में सात्त्विक अभिनय का बाहुल्य पाया जायेगा ।

'नृत्त', 'नृत्य' तथा 'नाट्य' —तीनों ही मनुष्य के मनोरंजन के साधन हैं -- इस बात में तो कोई सन्देह नहीं है । परन्तु साथ यह भी मानना पड़ेगा कि ये तीनों मनुष्य के मनोरंजन के उत्तरोत्तर उन्नत तथा सुसंस्कृत साधन हैं ।

'नृत्त' मनुष्य के आदिम मन की मादकता को प्रकट करता है और आज भी आदि-वासियों की ही अपनी वस्तु है । यहाँ पर 'आनन्दोल्लास' शब्द का प्रयोग न करके 'मादकता' शब्द का प्रयोग इसलिए किया गया है क्यों कि आनन्दोल्लास प्रकट होकर रस-संचार करता है जो कि मनुष्य के अपेक्षाकृत सुसभ्य मानसिक स्थिति का परिचायक है । कोल, भील, संथाल आदि कादम्ब और कामना से उन्मत्त होकर जो उल्लास अपने 'नृत्त' के माध्यम से प्रकट करते हैं, वह उनके मन की मादकता के ही परिचायक हैं । उससे क्षणिक उत्तेजना भले ही हो, परन्तु रस-संचार नहीं हो सकता । अत: 'नृत्त' मनुष्य के मनोरंजन का वह साधन है जो केवल ताल और लय पर ही आश्रित होता है। इसका प्रयोग किसी उच्चतर उद्देश्य के लिए नहीं होता । 'संथाली', 'गरबा' नृत्त के उदाहरण हैं ।

१- दृष्टव्य-नाटकमिति नाटयति विचित्रं रंजनाप्रवेशेन सभ्यानां हृदयं नर्तयतीति नाटकम्--
—नाट्यदर्पण (G.O.S.) पृ. सं. २८

२- " – A History of Indian Literature (3rd Ed.) पृ. 197

३- ऋग्वेद- १८.३, २९.२, ३०.७, ८१.३, २४.६, १ १३०.८ इत्यादि

`नृत्य` का स्थान कला की दृष्टि से तथा उद्देश्य की दृष्टि से `नृत्त` से ऊपर है । `नृत्य` में भी ताल और लय होता है, परन्तु यहाँ ताल और लय अभिनय का अनुसरण करता है, और अभिनय निश्चित रूप से मनुष्य के विकसित मानसिक स्थिति का परिचायक है । नृत्य में अभिनय के द्वारा पदार्थ के भाव का बोधन कराया जाता है। इसका उद्देश्य केवल मनुष्य का मनोरंजन ही नहीं, किन्तु देवता-तोषण और देवताओं के अंशसम्भूत माने जाने वाले नृपतियों का तोषण भी है । भरतनाट्य, कत्थक, कथा-कलि नृत्य इसके उदाहरण हैं । भरतनाट्य आज भी दक्षिण के देवमन्दिरों का सम्पद है और कत्थक मुख्यत: राजनर्तकियों की देन है ।

`नाट्य` केवल अभिनय पर आश्रित होता है । इसीलिए यह `अभिनेय काव्य` की आख्या से विभूषित होता है । इसमें ताल और लय नहीं होता । ताल और लय विशिष्ट `नृत्य` का प्रयोग आनुषंगिक रूप से नाट्य में होता है और `नाट्य` में शोभा उत्पन्न करके ये भी कृतकृत्य हो जाते हैं । पदार्थाभिनयात्मक `नृत्य` का प्रयोग भावा-भिनय के लिए भी नाट्य में होता है जैसे शाकुन्तल के प्रथम अंक में भ्रमरबाधा को दिखाने के लिए हुआ है[१] । इस दृष्टि से पदार्थाभिनयात्मक नृत्य वाक्यार्थाभिनयात्मक नाट्य का उपकारी भी बन जाता है । परन्तु पदार्थ का अभिनय करने वाला नृत्य जो केवल भावाभिव्यक्ति का साधन है, वाक्यार्थ के अभिनय के द्वारा रसाभिव्यक्ति करने वाले नाट्य से अवश्य ही निकृष्ट है । फिर नाट्य का उद्देश्य केवल मनोरंजन नहीं, किन्तु कान्ता के उपदेश के समान मधुर रूप से `रामादिवत्वर्तितव्यं न रावणादिवत्` का उपदेश देनेवाला भी है । उसका उपदेश ब्रह्मानन्द सहोदर परमानन्द रूप रस से सिक्त होने के कारण मनुष्य स्वत: ही उस पर आकृष्ट हो जाता है । इस दृष्टि से नाट्य मनुष्य के केवल `प्रेय:` ही नहीं `श्रेय:` का भी साधक है ।

यहाँ एक और बात स्पष्ट करने की आवश्यकता है । वह यह है कि `नृत्य` में भी अभिनय होता है और `नाट्य` में भी । परन्तु दोनों में अभिनय का प्रयोग पृथक् पृथक् प्रकार से होता है । प्रमुख भिन्नता तो पहले ही कह चुके हैं कि `नृत्य` पदार्था-भिनयात्मक होता है और `नाट्य` वाक्यार्थाभिनयात्मक । चार प्रकार के अभिनय होते हैं- आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्त्विक । नृत्य में जिस आंगिक अभिनय का प्रयोग

१- द्रष्टव्य-शाकुन्तल की राघवभट्ट कृत टीका, पृ० संख्या ३३ नि०सा० प्रेस (१९५८)

होता है, वह अवश्य ही नाट्य में प्रयुक्त आंगिक अभिनय से भिन्न होता है। पहली बात नृत्य का अभिनय ताल और लय से बद्ध होता है,परन्तु नाट्य के आंगिक अभिनय में ताल और लय के लिए कोई अवकाश नहीं है।`नृत्य`का`करण` और`अंगहार`के लिए भी नाट्य में कोई अवकाश नहीं है। दूसरी बात`नृत्य` में आंगिक अभिनय की बहुलता होती है, परन्तु उसी मात्रा में नाट्य में भी आंगिक अभिनय होने लगे तो वह रसोत्पत्ति का बाधक सिद्ध होगा। अत: मात्रा में भी भिन्नता पाई जाती है। तीसरी बात, ताल और लय से बद्ध नृत्य का आंगिक अभिनय एक विशेष प्रकार का होता है जो लोकजीवन के आंगिक व्यापार का एक बहुत ही अतिरंजित - रूप होता है,परन्तु त्रिलोक का अनुकरण करने वाले नाट्य में आंगिक अभिनय इसकी तुलना में कहीं अधिक स्वाभाविक हुआ करता है।

वाचिक अभिनय`नृत्य`में भी पाया जाता है। परन्तु वह नाट्य के वाचिक अभिनय से पूर्णत: भिन्न प्रकार का होता है। मात्रा भी नाट्य की तुलना में कम होती है।नृत्य में संगीत होता है। गीतों के शब्द ही नृत्य के वाचिक अभिनय का आधार बनते हैं।नाट्य में वाचिक अभिनय की ही प्रधानता होती है। समस्त कथावस्तु का आधार संलाप ही होते हैं। अत: नाट्य में वाचिक अभिनय को जो महत्व मिलता है,नृत्य में वैसा नहीं मिलता। न ही नाट्य का वाचिक अभिनय`नृत्य` के समान रागबद्ध होते हैं। फिर, जैसा कि आंगिक अभिनय के प्रसंग में देख चुके हैं,वैसा ही नाट्य का वाचिक अभिनय भी लोकधर्मीत्व के गुण से युक्त होता है।

आहार्य अभिनय में भी यही बात है। यदि नाट्य का आहार्य अभिनय में लोक-धर्मीत्व का गुण है , तो`नृत्य`का आहार्य अभिनय परम्पराधर्मीत्व के गुण से युक्त होता है। यह सत्य है कि नर्तक नृत्य का प्रदर्शन करते समय अपने दैनन्दिन जीवन से भिन्न वेश धारण करता है और यही उसका आहार्य अभिनय का आधार है,फिर भी उसका वह वेश एक विशेष प्रकार का होता है। नृत्य की अंगसज्जा प्राय: परम्परा-निष्ठ होती है जैसा हम भरतनाट्य,कत्थक ,कथाकलि ,मणिपुरी नृत्यों में देखते हैं। नाट्य का`नट` भी दैनन्दिन जीवन से भिन्न वेशभूषा ही धारण करता है,किन्तु उसकी वेशभूषा का विधान करने वाला न तो शास्त्र होता है और न परम्परा ही होती है अपितु लोकजीवन से ही उसकी वेशभूषा का विधान होता है। नाट्य में नट जिसकी भूमिका में अभिनय करता है,उसी के अनुरूप वेश धारण करता है।

जहाँ तक सात्विक अभिनय का प्रश्न है`नृत्य` और नाट्य में इसका महत्व समान है।

फिर भी `नट अवस्पन्दने` धातु से निष्पन्न नाट्य में सात्विक अभिनय की मात्रा नृत्य से अधिक हुआ करती है ।

नाट्य ,नृत्य और नृत्त के प्रयोगावसर भी भिन्न भिन्न बताये गये हैं[1]। नाट्य का अभिनेता `नट` कहलाता है और `नृत्य` और `नृत्त` करने वाला नर्तक कहलाता है ।

`नृत्त` का अपर नाम `देशी` और नृत्य का अपर नाम `मार्ग` है[2]। नाट्य को अभिनेयकाव्य ,रूप , रूपक आदि नामों से अभिहित करते हैं ।

`नृत्त` तथा `नृत्य` के केवल दो ही भेद होते हैं -१-मधुर तथा २-उद्धत ,परन्तु नाट्य के दस भेद होते हैं -नाटक,प्रकरण,भाण,प्रहसन,डिम,व्यायोग,समवकार,वीथी, अंक तथा ईहामृग ।

<u>रूपक के भेदक तत्व</u> :- सभी रूपक अनुकारात्मक होते हैं अर्थात् सभी में अनुकरण पाया जाता है ।अनुकरण की दृष्टि से परस्पर समान होते हुए भी रूपक- वस्तुभेद,नायक भेद तथा रसभेद की दृष्टि से एक दूसरे से भिन्न होते हैं । कथावस्तु,नायक तथा रस के स्वरूप की व्याख्या करते समय हम यह भी उल्लेख करते चलेंगे कि भिन्न-भिन्न रूपकों में उनका प्रयोग किस प्रकार हुआ करता है ।

(अ) <u>वस्तु या कथानक के दो भेद</u>- <u>आधिकारिक एवं प्रासंगिक</u> :-

कथावस्तु के दो भेद होते हैं- आधिकारिक तथा प्रासंगिक । रूपक की मुख्य कथावस्तु ही आधिकारिक कथावस्तु कहलाती है और उस मुख्य कथावस्तु में गति तथा वैचित्र्य प्रदान करने वाली जो छोटी-छोटी कथा अथवा घटनाएं होती हैं- वे प्रासंगिक कथावस्तु कहलाती हैं । मुख्य अथवा आधिकारिक कथावस्तु का प्रवाह नायक की इष्टसिद्धि तक चलता है । प्रासंगिक कथावस्तु अपेक्षाकृत स्वल्प-स्थायी होती है । इनका प्रमुख उद्देश्य तो आधिकारिक कथावस्तु के फल के निर्वाह में सहायता करना होता है किन्तु प्रसंगत: उनका अपना फल भी होता है और

१- द्रष्टव्य- संगीतरत्नाकर सप्तम अध्याय, श्लोक १४।१५।।

२- द्रष्टव्य- दशरूपक १।८

उस फल के भोक्ता के रूप में प्रासंगिक कथावस्तु के भाग अपने नायक भी होते हैं। प्रासंगिक कथावस्तु का नायक मुख्य नायक का सहायक होता है और मुख्य नायक की अपेक्षा कम गुणवान् होता है।

प्रासंगिक कथावस्तु दो प्रकार की होती है। यह भेद वस्तुतः दोनों के आकार के ऊपर आधारित होता है। ऐसी प्रासंगिक कथावस्तु जो दूर तक चले, वह `पताका` कहलाती है और जो बहुत ही छोटी हो वह `प्रकरी` कहलाती है। रूपक में `पताका` नामक कथावस्तु का महत्त्व बहुत अधिक होता है। इसका नायक पताका-नायक या पीठमर्द कहलाता है। यह मुख्य नायक का अनुचर तथा उसकी कार्य-सिद्धि में सहायक होता है। यह बुद्धिमान तथा चतुर होता है। सागरनन्दिन् ने `पताका` नामक कथावस्तु की व्याख्या अत्यन्त आकर्षक ढंग से की है[1]। `प्रकरी` नामक कथावस्तु का आकार यद्यपि लघु होता है, परन्तु इससे भी नाटक में एक वैचित्र्य उत्पन्न होता है। सागरनन्दिन् ने इसकी तुलना पुष्प-स्तबक के साथ की है। जैसे फूलों का गुच्छा शोभा को उत्पन्न करता है वैसे ही `प्रकरी` नामक कथावस्तु रूपक में शोभा उत्पन्न करने वाली होती है[2]। वस्तुतः रूपक में यदि प्रासंगिक कथावस्तु का स्थान न होता तो आधिकारिक कथावस्तु की भी रोचकता कम हो जाती है प्रासंगिक कथावस्तु से ही आधिकारिक कथावस्तु में विचित्रता तथा कौतूहल का संचार होता है। नाट्यकार की प्रतिभा का प्रकाशन करने के लिए भी ये कथांश ही अवकाश देते हैं, विशेषकर प्रख्यात प्रकार की कथावस्तु में जहाँ आधिकारिक कथावस्तु को मोड़ने-तोड़ने का अवसर कम मिलता है। प्रख्यात कथावस्तु वाले रूपकों में नाट्यकार प्रासंगिक कथावस्तु के माध्यम से ही अपनी उर्वर-प्रतिभा का प्रदर्शन करता है। आधिकारिक कथा रूपक में एक ही होती है, परन्तु प्रासंगिक कथाओं की संख्या एकाधिक हो सकती है। `प्रासंगिकं यथा तत्रैव विभीषणसुग्रीवादिवृत्तान्तवत्` - धनिक के इस वाक्य में `विभीषणसुग्रीवादिवृत्तान्त---` इतने अंश से भी यही सिद्ध होता है।

१-`उपनायकेन नायकानुवर्तनं प्राधान्यमवलम्ब्य वर्त्यते सा पताका यथा मकरन्दस्य माधवानुवर्तिनो मालतीरूपत्वादिकमिति`।-नाटकलक्षणरत्नकोश

२-`पुष्पप्रकरवन्मिलिता या शोभां जनयति सा प्रकरी`-नाटकलक्षणरत्नकोश

यहाँ एक बात पर ध्यान देना आवश्यक है कि कथावस्तु के आधिकारिक और प्रासंगिक (पताका और प्रकरी)के नाम से इनके जो दो भेद करते हैं,उन्हें कथा-वस्तु के प्रकार समझ कर भूल नहीं करनी चाहिए ।इतिवृत्त अथवा कथावस्तु के ये भेद अंगस्वरूप हैं, अतः उन्हें इतिवृत्त के प्रकार नहीं मानना चाहिए । प्रत्येक कथा-वस्तु में कुछ मूल कथा होती है और कुछ ऐसी घटनाएँ होती हैं जो उस मूल कथा को पुष्ट करने में सहायता करती हैं । अतः मूल कथा रूप आधिकारिक कथावस्तु और मूल कथा को पुष्ट करने में सहायता करने वाली प्रासंगिक -कथावस्तु रूपक की समग्र रूप रेखा के दो अंग होंगी,प्रकार नहीं ।यह बात प्रासंगिक कथावस्तु अर्थात् `पताका` और `प्रकरी`को`अर्थप्रकृतियों के रूप में ग्रहण करने[१] से भी सिद्ध हो जाती है ।

पताका तथा पताकास्थान :-

पताका नामक प्रासंगिक कथावस्तु के प्रसंग में ही इसी नाम से मिलता-जुलता रूपक के एक और तत्व का भी उल्लेख कर देना आवश्यक है । वह तत्व है पताका-स्थान । पताका नामक प्रासंगिक कथावस्तु और पताकास्थान में भ्रम नहीं होना चाहिए। पताकास्थान वस्तुतःरूपककार की सुनिपुण शैली केपरिचायक होते हैं । इनसे रूपक की नाटकीयता और भी तीव्र हो जाती है । इनका संयोजन प्रतिभासम्पन्न नाटककार ही कर सकते हैं ।कभी-कभी नाटककार रूपक में एक स्थान पर भविष्य में घटित होने वाली घटना का संकेत कर देते हैं ।पताका अर्थात् ध्वजा के संकेत के समान यह भावी घटना की सूचना देती है, इसीलिए इसे`पताकास्थान`अथवा पताकास्थानक कहते हैं ।

भरतमुनि ने पताकास्थान की जो परिभाषा तथा भेदों का उल्लेख किया है,विश्व-नाथ तथा सागरनन्दिन् ने उसी को अपनाया है । परन्तु धनञ्जय की दी हुई परिभाषा तथा भेद इनसे भिन्न है । भरत[२] ,विश्वनाथ तथा सागरनन्दिन् के अनुसार पताकास्थान वह है,जहाँ प्रयोग करने वाले पात्र को तो अन्य अर्थ अभीष्ट हो,किन्तु सादृश्यादि के कारण`आगन्तुक`अर्थात् अचिन्तनीय भाव से आये हुए प्रतीयमान पदार्थ के द्वारा कोई दूसरा ही प्रयोग हो जाय,उसे पताकास्थानक कहते हैं । इन आचार्यों ने इसके चार भेद बताये हैं --(१) जहाँ उपचार के द्वारा भट से अधिक गुणयुक्त अर्थसम्पत्ति

१- दशरूपक १।१२

२- द्रष्टव्य- नाट्यशास्त्र(ग्रन्थ संख्या ३,गायकवाड ओरियन्टल सीरीज़)१६।३०-३५।।

उत्पन्न हो वहाँ प्रथम पताकास्थान होता है (२)जहाँ अनेक अर्थों में आश्रित अतिशय श्लेषयुक्त वचन हो, वहाँ दूसरा पताकास्थानक होता है,(३)जो किसी दूसरे अर्थ का सूचक,अव्यक्तार्थक तथा विनय से युक्त वचन हो,जिसमें उत्तर भी श्लेषयुक्त दिया गया हो,वह तीसरा पताकास्थानक होता है(४)जहाँ सुन्दर श्लेषयुक्त द्व्यर्थक वचनों का उपन्यास हो , जिसमें प्रधान अर्थ की सूचना होती हो, वह चौथा पताकास्थान होता है ।--धनञ्जय की परिभाषा इन आचार्यों की परिभाषा से थोड़ा भिन्न है । धनञ्जय के अनुसार जहाँ प्रस्तुत अथवा भावी वस्तु की समान क्रिया या समान विशेषण के द्वारा अन्योक्तिमय सूचना हो,उसे पताकास्थान कहते हैं[१]। इस प्रकार धनञ्जय ने भरत,विश्वनाथ आदि आचार्यों के विपरीत केवल दो ही पताकास्थान माना है - (१)तुल्येतिवृत्तरूप तथा (२)तुल्यविशेषण रूप ।धनंजय-निर्दिष्ट प्रथम प्रकार के पताका-स्थान के उदाहरण के रूप में धनिक ने हर्षवर्द्धन की 'रत्नावली'नाटिका में से' यातोऽस्मि पद्मनयने -----' इत्यादि श्लोक को प्रस्तुत किया है ,जिसमें प्रस्तुत सूर्य और कमलिनी के वर्णन के द्वारा भविष्य में घटित होने वाली उदयन-रत्नावली रूप अप्रस्तुत वृत्तान्त की अन्योक्तिमय व्यंजना हुई है ।द्वितीय प्रकार के पताकास्थान के उदाहरण के रूप में वे उसी में से'उद्दामोत्कलिका विपाण्डुरुरुचं-----' वाले श्लोक को प्रस्तुत करते हैं,जिसमें लता के वर्णन में समान विशेषणों के द्वारा अपर नायिका की सूचना दी गयी है,जो रत्नावली से सम्बन्धित भावी वृत्तान्त की ओर संकेत करती है[२]। विश्वनाथ ने इसी श्लोक को अपने चतुर्थपताका-स्थान के उदाहरण में प्रस्तुत किया है[३]। इस प्रकार धनञ्जय के द्वितीय प्रकार के पताकास्थान एवं भरत,विश्वनाथ आदि के चतुर्थ पताकास्थान के उदाहरण को एक ही श्लोक में घटित होते देख कर यह कहा जा सकता है कि धनंजय के द्वितीय पताकास्थान का अन्तर्भाव भरत,विश्वनाथ आदि के चतुर्थ पताकास्थान में हो सकता है । धनञ्जय के प्रथम प्रकार के पताका-स्थान का अन्तर्भाव विश्वनाथ आदि के चार पताकास्थानों में से किसी में भी नहीं किया जा सकता । अतएव इसे एक स्वतंत्र प्रकार का पताकास्थान मानकर उनकी संख्या पाँच मान लें तो कोई हानि नहीं है ।

१- द्रष्टव्य- दशरूपक १।१४

२- ,, वही १।१४ का अवलोक

३- ,, साहित्यदर्पण ६।४६

वस्तुत: वैदिक ज्ञान से लोकोपयोगी अंश निकाल कर जिस लोकरंजन तथा उपदेशजनक नाट्य का आविष्कार किया गया था, उसे बाद के आचार्यों ने समय-समय पर अपने अभिनव मतों से पुष्ट करने का प्रयास किया। अत: पताकास्थान के सम्बन्ध में धनंजय के इस अभिनव दृष्टिकोण को वैसा ही समझना चाहिए।

पताकास्थानों की उपादेयता बहुत है। सागरनन्दिन् ने इसके प्रयोग के सम्बन्ध में जो यह विधान बताया है कि निर्वहण सन्धि में इनका वर्जन करना चाहिए,[1] वह उचित प्रतीत नहीं होता। उन्होंने इस निषेध का कोई कारण भी नहीं बताया है। उन्होंने जब पताकास्थानों को कथावस्तु के शोभाधायक तत्त्व माना है,[2] तब क्यों निर्वहण सन्धि में उन्हें वर्जित बताया-इसका समाधान नहीं मिलता। विश्वनाथ ने पताकास्थानों के विषय में जो मत प्रकट किया है, वही ग्राह्य प्रतीत होता है—

"एतानि चत्वारि पताकास्थानानि क्वचिन्मंगलार्थं क्वचिदमंगलार्थं सर्वसन्धिषु भवन्ति। काव्यकर्तुरिच्छावशाद् भूयो भूयोऽपि भवन्ति। यत्पुन: केचिदुक्तम्-"मुखसन्धिमारभ्य सन्धिचतुष्टये क्रमेण भवन्ति इति तदन्ये न मन्यन्ते। एषामत्यन्तमुपादेयानामनियमेन सर्वत्रापि सर्वेषामपि भवितुं युक्तत्वात्।"

पताका नामक प्रासंगिक कथावस्तु के प्रसंग में आये हुए तथा नाम सादृश्य से भ्रम उत्पन्न करने वाले पताकास्थान के प्रसंग को यहीं छोड़ कर अब इतिवृत्त के भेदों पर विचार किया जायेगा।

कथावस्तु या इतिवृत्त के त्रिविध भेद : प्रख्यात, उत्पाद्य तथा मिश्र :-

कथावस्तु तीन प्रकार की होती है- प्रख्यात, उत्पाद्य तथा मिश्र। पुराण, इतिहास, रामायण, महाभारत आदि की कथा पर आधारित रूपक की कथावस्तु 'प्रख्यात' कहलाती है। प्रकृष्ट रूप से ख्यात अर्थात् प्रसिद्ध होने के कारण सामाजिक मात्र को ऐसी कथावस्तु प्रिय लगती है। कवि की कल्पना से प्रसूत होने के कारण दूसरी प्रकार की कथावस्तु 'उत्पाद्य' कहलाती है। मिश्र नामक कथावस्तु में प्रख्यात तथा उत्पाद्य दोनों का मिश्रण होता है।

१-द्रष्टव्य- पताकास्थानानि चत्वारि काव्यस्यालंकारभूतान्यपि निर्वहणसन्धिवर्जं कार्याणि
-नाटकलक्षणरत्नकोश

२- ,, - पताकास्थानानि शोभाहेतूनि ---" नाटकलक्षणरत्नकोश

यहाँ इस बात का उल्लेख कर देना भी आवश्यक है कि अग्निपुराण के ३३८ वें अध्याय में जहाँ रूपक के तत्वों का विश्लेषण किया गया है, वहाँ कथा-वस्तु के इन तीन प्रकार के स्थान में केवल दो ही प्रकारों का उल्लेख हुआ है।[1] इन दोनों प्रकारों का नाम भी भिन्न है (१)सिद्ध तथा (२)उत्प्रेक्षित।आगम अर्थात् शास्त्रों पर आधारित कथानक को`सिद्ध` और कवि-कल्पना से प्रसूत कथानक को`उत्प्रेक्षित`बताया गया है। वस्तुत: यह दोनों भेद धनंजय के बताये हुए`प्रख्यात` तथा`उत्पाद्य`से अभिन्न हैं। धनंजय के प्रख्यात,उत्पाद्य तथा मिश्र नामक कथावस्तु के त्रिविध भेद अधिक सूक्ष्म तथा उचित हैं।

त्रिविध कथावस्तु के तीन उपभेद : दिव्य,मर्त्य तथा दिव्यादिव्य :-

ऊपर रूपक के कथानक के तीन भेदों का उल्लेख किया गया है- प्रख्यात, उत्पाद्य तथा मिश्र।इन तीन भेदों के तीन उपभेद होते हैं।रूपक की कथावस्तु केवल `दिव्य`अथवा केवल`मर्त्य`अथवा दिव्य और मर्त्य के संयोग से`दिव्यादिव्य`प्रकार की हो सकती है। कथावस्तु के इस अन्तिम विभाजन का महत्व नाट्य की स्थापना अंश से सम्बन्धित है। कथावस्तु यदि`दिव्य` प्रकार की है तो स्थापक नामक नट देवता का वेश धारण करके नाटक की स्थापना करता है,यदि मर्त्यलोक की कथा का अभिनय करना हो तो मनुष्य का रूप धारण करके एवं यदि कथानक मिश्र प्रकार की हो तो वह देवता या मनुष्य में किसी एक का रूप धारण करके नाटक की स्थापना या प्रस्तावना करता है।[2]

दस प्रकार के रूपकों में त्रिविध कथावस्तु का उपयोग :-

दशरूपकों में से नाटक की आधिकारिक कथावस्तु को सदैव प्रख्यात होना चाहिए। धनंजय ने कहा है`तत्प्रख्यातं विधातव्यं वृत्तमत्राधिकारिकम्।`परन्तु उस प्रख्यात कथा में यदि कोई घटना नायक अथवा रस के प्रतिकूल हो, तो नाटककार को या तो उसे छोड़ देना चाहिए या उसे उचित रूप से परिवर्तित करने के उपरान्त ही अपने नाटक की कथावस्तु में उसका उपयोग करना चाहिए।[3] इसका उदाहरण

१- द्रष्टव्य- अग्निपुराण ३३८।१८ -`सिद्धमुत्प्रेक्षितं चेति तस्य भेदावुभौ स्मृतौ।
सिद्धमागमदृष्टं च सृष्टमुत्प्रेक्षितं कवेः।।

२- ,, -दशरूपक ३।२-३।।

३- ,, -`यत्तत्रानुचितं किंचिन्नायकस्य रसस्य वा।३।२४।।
विरुद्धं तत्परित्याज्यमन्यथा वा प्रकल्पयेत्।

`शाकुन्तल` की कथावस्तु है । महाभारत के `शकुन्तलोपाख्यान` में दुर्वासा-शाप वाली घटना का कोई उल्लेख नहीं है । दुष्यन्त बिना किसी कारण ही शकुन्तला को भूल जाने का बहाना करते हैं । उनका यह आचरण धीरोदात्त नायक के लिए प्रतिकूल पड़ता है । अत: महाकवि कालिदास ने उनकी धीरोदात्तता को अक्षुण्ण रखने के लिए दुर्वासा-शाप की कल्पना की ।

`प्रकरण` नामक रूपक की कथावस्तु `उत्पाद्य` अर्थात् कविकल्पित होती है । `भाण` तथा `प्रहसन` प्रकार के रूपकों की कथावस्तु भी `उत्पाद्य` होती है । `डिम`, `व्यायोग` तथा `समवकार` की कथावस्तु `प्रख्यात` होती है । `वीथी` की कथावस्तु `उत्पाद्य` `अंक` अथवा `उत्सृष्टिकाङ्क` की कथावस्तु `प्रख्यात` एवं `ईहामृग` प्रकार के रूपक की कथावस्तु `मिश्र` होती है ।

प्रख्यात कथावस्तु पर आक्षेप तथा उसका खण्डन :-

अभिनयदर्पण में नाट्य की व्याख्या इस प्रकार की गयी है --`नाट्यं तन्नाटकञ्चैव पूज्यं पूर्वकथायुतम्` ।- अर्थात् जिस रूपक में कोई पुरानी अर्थात् प्रसिद्ध कथा होती है, वही पूज्य होता है । नाट्यशास्त्र का `ऐतिहास` शब्द भी यही सिद्ध करता है कि नाट्य में प्रख्यात प्रकार की कथावस्तु का महत्त्व है । अत: भारतीय नाटक-साहित्य पर इस बात का आक्षेप किया जाता है कि इसमें केवल उदात्त पुरुषों अथवा राजाओं का चरित ही कथावस्तु बनता है एवं मध्यवर्ग और निम्नवर्ग का जीवन इस प्रकार के साहित्य में भी उपेक्षित होता है ।-यह आक्षेप अनुचित है, क्योंकि भारत में नाटक की उत्पत्ति केवल मनोरंजन के लिए नहीं, केवल त्रिलोक के भावानुकरण के लिए भी नहीं, अपितु लोकमंगल के लिए भी हुई है । समाज के कल्याण के लिए ऐसे नाटकों की रचना को प्रोत्साहन मिलता आया है जिसका प्रभाव लोकमंगलकारी हो । लोकमंगलकारिता का आदर्श प्रत्येक समाज के रूढ़िगत संस्कारों, भावनाओं तथा उस समाज में उत्पन्न हुए महापुरुषों के चरित्रों पर अवलम्बित होते हैं । गीता का `यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जन: ।स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ।` वाला सिद्धान्त सभी देश और सभी काल के लिए सत्य है । वैसे भारतीय-नाट्यशास्त्र में केवल उदात्त लोकों त्रिलोक के भावों के अनुकरण के लिए भी विधान है ।परन्तु आचार्यों ने लोकहित को दृष्टि में रख कर उस विधान में इतना अंश और जोड़ दिया कि अनुकरण तो सब का हो, परन्तु उद्देश्य तो मनोविनोद के साथ-साथ

दैनन्दिन जीवन की समस्याओं के किंकर्तव्यविमूढ़ तथा परिश्रान्त मानव को श्रेय: का उपदेश देकर विश्रान्ति प्रदान करना । हमारे देश में सुन्दर और श्रेष्ठ काव्य के जितने निदर्शन मिलते हैं,उनकी कथावस्तु अधिकांशत: प्रख्यात ही हैं तथा उनके नायक भी कोई महापुरुष अथवा राजा ही हैं ।परन्तु क्या`मृच्छकटिक`और `गाथा-सप्तशती`जैसी रचना नहीं मिलती? यह बात अवश्य है कि केवल निम्नश्रेणी के गुणहीन साधारण व्यक्ति की कल्पित विपत्ति,व्यथा और निर्धनता का चित्रण हमारे साहित्य में अधिक नहीं हुआ है । फिर भी जहाँ भी अवसर मिला है प्रतिभा-वान् कवि ने इनका भी चित्रण कर दिया है । रामायण में शबरी,महाभारत में एकलव्य,`शाकुन्तल` में धीवर के वृत्तान्त में किस वर्ग का चित्रण है ? सोच करने पर ऐसे दृष्टान्त बहुत मिलेंगे । हमारे देश में यथार्थवाद का अनावृत चित्रण विरल है, क्योंकि हमारे प्राचीन आचार्यों के अनुसार जो यथार्थ हमारी भावनाओं को उद्वेलित करके हमारी श्रद्धा को उद्दीप्त नहीं करता,वह यथार्थ निरर्थक और अग्राह्य समझा जाता था । जिस यथार्थ में कोई संकल्प हो,कोई गुण हो,कोई विशेषता हो,उसी का वर्णन विहित समझा जाता था और ऐसा यथार्थ श्रेष्ठ अथवा उदात्त पुरुषों के प्रख्यात चरित में ही सम्भव है । इसीलिए`काव्येषु नाटकं रम्यम्` की प्रसिद्धि प्राप्त है हुए हमारे नाटक-साहित्य में प्रख्यात कथावस्तु के प्रति ही पक्षपात किया गया है ।हमारी दृष्टि में कोई रूढ़ि यदि मानवहित के संकल्प पर प्रतिष्ठित हो तो उस पर आक्षेप करने के बजाय उसको प्रोत्साहन देना ही वांछनीय है ।

कथावस्तु का फल :- कथावस्तु का फल धर्म,अर्थ,काम रूप त्रिवर्ग है ।`त्रिवर्ग-साधनं नाट्यम्`वाली उक्ति तो प्रसिद्ध ही है । कभी-कभी इन तीनों में से एक या दो भी फल बन सकते हैं ।[१]

कथावस्तु की`अर्थप्रकृति`:-

कथावस्तु की प्रधान फल की प्राप्ति की ओर अग्रसरकरने वाले चमत्कारयुक्त अंशों को`अर्थप्रकृति` कहते हैं ।धनिक ने`अर्थप्रकृतय: = प्रयोजनसिद्धिहेतव:` अर्थात् अर्थ प्रकृतियों को प्रधान फल की सिद्धि के हेतु कहा है । ये संख्या में पाँच होती हैं--

---

१-`कार्यं त्रिवर्गस्तच्छुद्धमेकानेकानुबन्धि च ।` १।१६। --दशरूपक

बीज,बिन्दु,पताका,प्रकरी तथा कार्य । इनमें से `पताका` और `प्रकरी` के स्वरूप की चर्चा प्रासंगिक कथावस्तु के साथ कर चुके हैं । शेषतीन अर्थप्रकृतियों में बीज`नामक अर्थप्रकृति नाटकीय इतिवृत्त के प्रधान फल के हेतुरूप वह कथांश होती है,जिसका पहले तो बहुत ही सूक्ष्म रूप से कथन किया जाता है,परन्तु जैसे जैसे कथावस्तु की व्यापार-शृंखला आगे बढ़ती है वैसे वैसे उसका भी विस्तार होता जाता है । बिन्दु—जहाँ किसी अवान्तर कथा से प्रधान कथावस्तु विच्छिन्न -सी होने लगती है, तब बिन्दु नामक अर्थप्रकृति उसे जोड़ कर आगे बढ़ाती है । महाकार्य का हेतुभूत`बीज`नामक अर्थ-प्रकृति है और अवान्तरकार्य का हेतु बिन्दु नामक अर्थप्रकृति है ।

कार्य नामक अर्थप्रकृति की व्याख्या धनंजय ने तो की ही नहीं,विश्वनाथ भी स्पष्ट रूप से कुछ नहीं कहते । भरत तथा अभिनवगुप्त की परिभाषा से भी इस `अर्थप्रकृति`का स्वरूप स्पष्ट नहीं हो पाता ।सहसा देखने पर ऐसी शंका अनायास ही होने लगती है कि जब कार्य स्वयं ही प्रयोजन है तो वह प्रयोजन-सिद्धि का हेतु अथवा दूसरे शब्दों में अर्थप्रकृति कैसे बन सकता है ? डा० भोलाशंकर व्यास ने ऐसी ही शंका उठाकर कहा है या तो दोनों प्रयोजन भिन्न-भिन्न होना चाहिए, या कार्य को छोड़ कर केवल चार ही अर्थप्रकृतियों में प्रयोजनसिद्धिहेतुत्व मानना चाहिए[१] ।-- इस शंका के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि जिसके लिये सब उपायों का आरम्भ किया जाता है,जिसकी सिद्धि के लिये सब सामग्री एकत्रित की जाती है,वही`कार्य` है । जैसे भोजन (पदार्थ)और भोजन (क्रिया)दोनों शब्द आपाततः एक से प्रतीत होते पर भी एक दूसरे के सम्बन्ध में साध्य तथा साधन होने के कारण भिन्न-भिन्न होते हैं,उसी प्रकार प्रयोजन रूप कार्य से प्रयोजन सिद्धि के हेतुरूप कार्य नामक अर्थप्रकृति भी भिन्न है । अतः पाँच ही अर्थप्रकृति मानी जायगी ।`अर्थप्रकृति`पद में दो शब्द हैं- अर्थ और प्रकृति ।अर्थ से तात्पर्य कथावस्तु के प्रयोजन या फल से है और ये पाँचों उसी अर्थ की प्रकृति से सम्बद्ध होते हैं । सागरनन्दिन् ने पाँचों अर्थप्रकृतियों को कथावस्तु के पाँच प्रकार के स्वभाव के रूप में वर्णन किया है[२] । इन पाँचों अर्थप्रकृतियों के बिना नाटक की कथावस्तु एक सुगठित शैली में फलागम की ओर नहीं बढ़ सकती ।

१- द्रष्टव्य-डा०भोलाशंकर व्यास द्वारा सम्पादित`दशरूपक`पृ०सं०१३

२-`नाटकीयवस्तुनः पूर्णावस्य पञ्च प्रकृतयः स्वभावा भवन्ति।नैतान्परित्यज्य नाटकार्थाः संभवन्ति`—नाटकलक्षणरत्नकोश ।

<u>कथावस्तु की पाँच अवस्थाएँ</u> :- प्रत्येक रूपक में फल की इच्छा वाले नायक आदि पात्रों के द्वारा प्रारब्ध कार्य या व्यापार-शृंखला की पाँच अवस्थाएँ होती हैं-- आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति तथा फलागम। कार्य अथवा व्यापार शृंखला की ये पाँचों अवस्थाएँ नायक की मानसिक दशा से सम्बद्ध हैं।

अग्निपुराण[1] में इन पंच अवस्थाओं को 'कर्म चेष्टाओं' के नाम से अभिहित किया गया है। इनमें 'प्राप्त्याशा' नामक अवस्था के लिये इस ग्रन्थ में 'सद्भाव' नाम मिलता है। धनंजय ने प्राप्त्याशा का एक और नाम 'प्राप्तिसंभव' का भी उल्लेख किया है।

फल की प्राप्ति के लिये जहाँ औत्सुक्य होता है, वहाँ आरम्भ नामक अवस्था होती है। धनिक ने और भी उत्कृष्ट ढंग से इसकी व्याख्या करके कहा है कि 'इस कार्य को मैं करूँगा (इदमहं सम्पादयामि')ऐसा संकल्पमात्र ही 'आरम्भ' कहलाता है।

फल की प्राप्ति के लिये शीघ्रतापूर्वक जहाँ उद्योग किया जाता है, वहाँ 'प्रयत्न' नामक अवस्था है। जिस अवस्था में उपाय की सम्भावना से फल-प्राप्ति की आशा तथा विघ्न की आशंका से इष्टसिद्धि की निराशा के कारण चित्त दोलायमान रहता है, वहाँ 'प्राप्त्याशा' नामक अवस्था है।

सफलता का निश्चय जिस अवस्था में हो जाता है, वहाँ 'नियताप्ति' नामक अवस्था होती है।

जिस अवस्था में सफलता प्राप्त हो जाती है और उद्देश्य की सिद्धि के साथ ही अन्य सब वांछित फलों की प्राप्ति हो जाती है, वहाँ 'फलागम' नाम की अवस्था होती है।

अवस्थाओं के द्वारा कथावस्तु की गति व्यक्त होती है। लोकजीवन में भी किसी कार्य के कर्ता को इन पाँचों अवस्थाओं को पार करना पड़ता है, फिर भी नाटक तो मानव-जीवन का ही प्रतिबिम्ब है। नाटकीय कथावस्तु

१- द्रष्टव्य- 'अग्निपुराण' ३३८।१९-२०

की पहली अवस्था `आरम्भ` के अन्तर्गत नेता में किसी वस्तु की प्राप्ति की इच्छा होती है, किसी वस्तु को प्राप्त करने का वह संकल्प करता है। दूसरी अवस्था प्रयत्न है जहाँ उसे प्राप्त करने के लिये यत्न करना पड़ता है, तीसरी अवस्था `प्राप्त्याशा` में नायक का मन कभी लक्ष्य प्राप्ति की आशा में, कभी लक्ष्यच्युत होने की आशंका में दोलायमान होता है, चौथी अवस्था `नियताप्ति` में नायक को सफलता का पूरा विश्वास हो जाता है और पाँचवीं अवस्था `फलागम` में नायक को लक्ष्य प्राप्त ही हो जाता है।

<u>कथावस्तु की पन्च सन्धियाँ</u> :- पूरी कथावस्तु के पाँच विभाग होते हैं और एक एक विभाग एक एक सन्धि कहलाती है। इन पाँच सन्धियों का नाम क्रमशः मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श तथा निर्वहण है।

सन्धि के सम्बन्ध में धनंजय का विचार स्पष्ट और सुबोध्य प्रतीत नहीं होता। धनंजय ने एक बार सन्धि की परिभाषा इस प्रकार दी है :—
`बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी तथा कार्य —इन पाँच अर्थप्रकृतियों का योग जब क्रमशः अवस्था, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति तथा फलागम -इन पाँचों अवस्थाओं के साथ होता है, तब क्रम से मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श तथा उपसंहार (अथवा निर्वहण) इन पाँच सन्धियों की सृष्टि होती है[1]। ऐसा कह कर आगे ही पंक्ति में धनंजय सन्धि की एक दूसरी परिभाषा प्रस्तुत करके कहते हैं कि जब किसी एक प्रयोजन से परस्पर सम्बद्ध कथांशों को दूसरे एक प्रयोजन से सम्बन्धित कर दिया जाता है तब वह सम्बन्ध सन्धि कहलाता है[2]। धनंजय का सन्धि के विषय में एक ही स्थान पर दो भिन्न-भिन्न मत इसी बात को प्रकट करते हैं कि सन्धि का स्वरूप स्वयं धनंजय के मन में भी स्पष्ट नहीं हुआ था। यद्यपि धनिक ने दोनों परिभाषाओं को क्रमशः `सन्धिलक्षणम्` तथा `सन्धिसामान्यम्` कह कर वैशिष्ट्य प्रदान करने का प्रयत्न किया है, तथापि ऐसा करते हुए भी धनञ्जय के मत की दुर्बलता को वह छिपा नहीं पाये। धनञ्जय के प्रथम मत में सबसे बड़ी कमी यह है कि यदि इसे सन्धि का वास्तविक

१-` अर्थप्रकृतयः पञ्च पञ्चावस्थासमन्विताः ।।१।२२।।
यथासंख्येन जायन्ते मुखाद्याः पञ्च सन्धयः । - दशरूपक

२-` अन्तरैकार्थसम्बन्धः सन्धिरेकान्वये सति ।।१।२३।। दशरूपक

उदाहरण मात्र हैं जो बड़ी-बड़ी समस्याएँ उठ खड़ी होंगी । पहली बात इस मत के अनुसार प्रकरी नामक अर्थप्रकृति का समावेश विमर्श सन्धि में होना चाहिए,परन्तु प्रकरी तो गर्भ-सन्धि में भी प्राप्त होती है । दूसरी बात धनञ्जय ए गर्भ सन्धि के विषय में कहते हैं कि `पताका स्यान्न वा स्यात्प्राप्तिसंभव:`। धनिक ने इसका यह अर्थ किया है कि इस सन्धि में पताका नामक अर्थप्रकृति का होना अनिवार्य नहीं है, वह चाहे हो भी सकती है चाहे नहीं भी, परन्तु प्राप्तिसंभव का होना तो अवश्यम्भावी है । तो तात्पर्य यह निकला कि पताका नामक अर्थप्रकृति और प्राप्तिसंभव नामक अवस्था मिल कर गर्भसन्धि की रचना करेगी,किन्तु केवल प्राप्तिसंभव भी गर्भसन्धि की रचना करने में समर्थ है । धनंजय का यह विचार क्या सन्धि के सम्बन्ध में कहे गये `अर्थप्रकृतय: पञ्च पञ्चावस्थासमन्विता:`।यथासंख्येन जायन्ते मुखाद्या:पञ्च सन्धय: ।` का विरोध नहीं करता ? फिर विमर्श सन्धि की परिभाषा को लीजिए- इसमें तो वह अर्थप्रकृति और अवस्था के योग की बात का उल्लेख भी नहीं करते । केवल यही कह कर इसकी परिभाषा करते हैं कि जहाँ क्रोध से,व्यसन से,या विलोभन से फल की प्राप्ति के विषय में विचार या पर्यालोचन किया जाय, तथा जहाँ गर्भसन्धि के द्वारा बीज को प्रकट कर दिया जाय, वहाँ अवमर्श सन्धि होगी[1] । निर्वहण सन्धि के विषय में भी यही बात है । वहाँ भी वह नहीं बताते कि कौन-सी अर्थप्रकृति और कौन-सी अवस्था का योग होगा[2] । दशरूपक में दिये गये पृथक्-पृथक् प्रत्येक सन्धि के स्वरूप की आलोचना करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मुख और प्रतिमुख सन्धि तक तो वह सन्धि के विषय में दी हुई अपनी परिभाषा के अनुकूल ही व्याख्याकर पाये,किन्तु शेष सन्धियों के स्वरूप को वे अपनी परिभाषा की कसौटी पर खरा नहीं पाये ।आचार्य विश्वनाथ

१- `क्रोधेनावमृशेद्यत्र व्यसनाद्वा विलोभनात् ।
गर्भनिर्भिन्नबीजार्थ:सोऽवमर्श इति स्मृत: ।।१।४३।।` -दशरूपक

२- `बीजवन्तो मुखाद्यर्था विप्रकीर्णा यथायथम् ।।१।४८।
एकार्थमुपनीयन्ते यत्र निर्वहणं हि तत् ।` - दशरूपक

उपक्षेप, परिकर, परिन्यास, युक्ति, उद्भेद, तथा समाधान ही अनिवार्य अंग हैं। प्रतिमुख सन्धि में परिसर्प, प्रगमन, वज्र, उपन्यास तथा पुष्प ही प्रधान अंग हैं। गर्भसन्धि में अभूताहरण, मार्ग, तोटक, अधिबल, तथा आक्षेप मुख्य अंग हैं। अवमर्श सन्धि में अपवाद, शक्ति, व्यवसाय, प्ररोचना, तथा आदान- ये पाँच मुख्य अंग हैं। निर्वहण सन्धि के अंगों के विषय में कोई ऐसा विधान नहीं किया गया है ।

साहित्यदर्पण में आचार्य विश्वनाथ ने पूर्वाचार्यों के मन्तव्य का ही अनुसरण किया है, फिर भी उन्होंने कुछ महत्वपूर्ण बातों का निर्देश किया है, जो धनंजय के दशरूपक में नहीं मिलती हैं। विश्वनाथ ने इस बात पर जोर दिया है कि रुद्रट आदि आचार्य इन सन्ध्यङ्गों के यथास्थान और नियत प्रयोग के पक्षपाती हैं, परन्तु यह ठीक नहीं है। वस्तुतः इन ६४ अंगों में रस के अनुसार एक सन्धि के अंगों का समावेश उसी सन्धि में न होकर अन्यत्र भी हो सकता है, क्यों कि नाटक का प्राण रस ही है। नाटकों में सन्ध्यंगों का इस प्रकार का प्रयोग बहुधा प्राप्त होता है। विश्वनाथ ने वेणीसंहार का उदाहरण देकर कहा है कि वहाँ पर मुखसन्धि का अंगभूत सम्प्रधारण नामक अंग का प्रयोग तीसरे अंक में हुआ है। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि इन सन्ध्यंगों का प्रयोग रसानुकूल तथा रस की अभिव्यक्ति के लिए ही होता है, केवल शास्त्रपद्धति के अनुसरण करने के लिए नहीं। विश्वनाथ तो यह भी कहते हैं कि जो कवि प्रतिभासम्पन्न नहीं है वह इन अंगों का यथाक्रम पालन करके यदि कुछ लिख भी दे, फिर भी वह नाटक नहीं कहलायेगा[1]। आचार्य विश्वनाथ ने एक और महत्वपूर्ण बात का निर्देश किया है। उनका कहना है कि सन्ध्यंगों का प्रयोग प्रधान पुरुष ही कर सकते हैं[2]। नायक का नायक, प्रतिनायक अथवा पताका-नायक ही इन सन्ध्यंगों का सम्पादन करते हैं। परन्तु उपक्षेप, परिकर, परिन्यास इन तीन सन्ध्यंगों का प्रयोग अप्रधानपुरुष भी कर सकता है।

<u>सन्ध्यंगों का प्रयोजन</u> :- सन्ध्यंगों का प्रयोग रूपक की कथावस्तु की नाटकीयता को एकतानुकूल निर्वाह करने के लिए बहुत महत्वपूर्ण है। इनके महत्व का मूल्यांकन

१- द्रष्टव्य- साहित्यदर्पण 'विमला' नामक व्याख्या सहित पृ० ४६७-४६८

२- 'अंगानीमानि सम्पूर्णे नायकप्रतिनायकौ।
    प्रधानपात्रकर्तव्यान्याहुः ॥६। ११९॥ साहित्यदर्पण

करते हुए विश्वनाथ कहते हैं कि जैसे अंगहीन मनुष्य काम के योग्य नहीं होते, वैसे ही अंगों से विहीन वाक्य भी प्रयोग के योग्य नहीं होता।[1] नाट्यशास्त्र के ग्रन्थों में साधारणतः इन सन्ध्यंगों के प्रयोग का छः उद्देश्य बताया गया है- १- इष्टार्थ-रचना :- जैसी रचना करनी हो, उसमें सफलता प्राप्त करने के लिए २- गोप्यगोपन- अर्थात् जिस बात को गुप्त रखना हो, उसे छिपाने के लिये ३- प्रकाशन- जिस बात को प्रकट करना हो उसे स्पष्ट करने के लिये ४- राग- अर्थात् अभिनेय वस्तु के प्रति अनुराग की वृद्धि के लिये ५- आश्चर्यप्रयोग- अर्थात् कथा में चमत्कार उत्पन्न करने के लिये ६- वृत्तान्त का अनुपक्षय- अर्थात् कथा को ऐसा विस्तार देने के लिए, जिससे सामाजिक की रुचि उसमें बनी रहे। तात्पर्य यह है कि दृश्यकाव्य की रचना करते हुए नाटककार को पंच सन्धि तथा उनके अंगों का इस प्रकार सन्निवेश करना चाहिए, जिससे इन छः उद्देश्यों की सिद्धि हो।

दस प्रकार के रूपकों में संधियों का प्रयोग —

नाटक तथा प्रकरण में पाँचों सन्धियों का प्रयोग होता है। भाण में केवल दो सन्धियों का प्रयोग होता है - मुख और निर्वहण। प्रहसन में भी इन्हीं दो का प्रयोग होता है। डिम में विमर्श सन्धि को छोड़ कर शेष चार सन्धियाँ पायी जाती हैं। व्यायोग में गर्भ तथा विमर्श ये दो सन्धियाँ नहीं होतीं। समवकार में भी डिम के समान विमर्श सन्धि का अभाव होता है। वीथी में भाण के समान केवल मुख और निर्वहण सन्धि का प्रयोग होता है। अंक तथा उत्सृष्टिकांक में भी यही बात पायी जाती है। ईहामृग में व्यायोग के ही समान गर्भ तथा विमर्श सन्धियाँ नहीं होतीं।[2]

सन्ध्यन्तर :- सन्ध्यंगों से ही मिलते जुलते कुछ और अंगों का निर्देश नाट्यशास्त्र के आचार्यों ने किया है, वे हैं - सन्ध्यन्तर। सन्धियों के अन्तर्गत उपसन्धियाँ या अन्तर्सन्धियाँ होती हैं। इन्हें सन्ध्यन्तर कहते हैं। इनका उद्देश्य भी व्यापार-शृंखला की शिथिलता को दूर रख कर उसे सुन्दर बनाना तथा उसमें चमत्कार लाना होता है। धनंजय ने इनका उल्लेख नहीं किया है। इनकी संख्या २१ होती है। -साम, दाम, दंड, भेद, प्रत्युत्पन्नमति, वध, गोत्रस्खलित, ओज, धी, क्रोध, साहस,

---

१. साहित्यदर्पण ६।११२

२- नाट्यशास्त्र २१।१३ -१७ ।।

माया, संवृति, भ्रान्ति, दौत्य, हेत्ववधारण, स्वप्न, लेख, मद तथा चित्र ।
इनमें से स्वप्न, लेख और चित्र आदि का प्रयोग नाटक में प्रसिद्ध ही है ।

अर्थप्रकृतियाँ, अवस्थाएँ तथा सन्धियों के पारस्परिक सम्बन्ध:-

यद्यपि इनका प्रयोग भिन्न-भिन्न विचारों से किया जाता है, तथापि ये एक दूसरे के सहायक तथा अनुकूल होते हैं । तीनों के ही पाँच पाँच भेद होते हैं। तीनों ही कथावस्तु को संगठित बनाते हैं । अर्थप्रकृतियों का सम्बन्ध कथावस्तु के प्रयोजनीय तत्वों से, अवस्थाओं का सम्बन्ध कार्यव्यापार से तथा सन्धियों का सम्बन्ध रूपक की रचना से होता है । कथावस्तु के सम्प्रसारण तथा प्रस्फुटन के लिए उपयोगी होने के कारण ये तीनों एक दूसरे से भी उपयोगिता के सम्बन्ध से सम्बन्धित हैं ।

कथावस्तु के दृश्य तथा सूच्य अंश :- श्रव्यकाव्य में नायक के जीवन अथवा जीवन-चरित से सम्बन्धित समस्त घटनाओं का सविस्तार तथा सांगोपांग वर्णन करने में कोई बाधा नहीं होती । परन्तु दृश्यकाव्य के रचयिता के पास इस बात की स्वतन्त्रता नहीं होती । रंगमंच व्यवस्था, स्थान और समय के बन्धन दृश्यकाव्य के रचयिता को उसके नायकके जीवन-चरित के सांगोपांग दृश्य प्रस्तुतकरने में बाधा डालते हैं ।कथानक में कुछ ऐसी अप्रधान घटनाएँ होती हैं, जिनका दृश्यरूप सामाजिक के दृश्य में रसोत्पत्ति करने में तो असमर्थ हैं, परन्तु कथावस्तु की धारा को सामाजिक के सम्मुख अविच्छिन्न रखने के लिए जिनका ग्रहण अनिवार्य होता है । अतः रूपक-कार इनको रंगमंच पर न दिखाकर पात्रों के संलाप के माध्यम से इनकी सूचना दे देते हैं । क्योंकि ऐसे कथांशों का नाम "सूच्य" पड़ा है । फिर कुछ घटनाएँ ऐसी भी होती हैं जिनका रंगमंच पर दिखाना नाट्यशास्त्र के नियम के अनुसार वर्जित है । इन घटनाओं में से वध, नगरावरोध, युद्ध, विवाह आदि कुछ तो कथावस्तु की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण हैं, किन्तु परम्पराका निर्वाह करके नाट्यकार को उनका दृश्यरूप न दिखाकर केवल उनकी सूचना देनी पड़ती है । इस प्रकार के कथांश भी सूच्य कहलाते हैं । इनकी सूचना नाट्यकार जिन उपायों से करता है, वे अर्थोपक्षेपक कहलाते हैं- इनकी संख्या पाँच होती है -१-विष्कम्भ अथवा विष्कम्भक २- प्रवेशक ३-चूलिका ४- अंकास्य तथा ५- अंकावतार । "अर्थ" अर्थात् कथांशों के उपक्षेपण अथवा उपस्थापन

करने के कारण सूच्य कथांशों के प्रतिपादन के साधनों को अर्थोपक्षेपक कहते हैं ।[1]

<u>अंकविधान</u> :- कथावस्तु के मधुर तथा सरस अंश जिनकी गणना सामाजिक के हृदय में रसोत्पत्ति करने में पूर्णतः समर्थ होने के कारण मुख्य कथांशों में होती है तथा जिनका दृश्यत्व शास्त्र की दृष्टि से अवैध नहीं है, उन्हें अंकों के माध्यम से दिखाया जाता है । अंक-विधान के लिये संस्कृत के नाट्यशास्त्र के ग्रन्थों में कुछ विशिष्ट नियमों का पालन अनिवार्य बताया गया है । अंक में एक दिन से अधिक की घटनाओं का समावेश नहीं होना चाहिए । अंकों को असम्बद्ध नहीं होने देना चाहिए । रचना इस प्रकार से करनी चाहिए कि एक घटना से दूसरी घटना स्वतः ही निकलती हुई प्रतीत हो ।

साहित्यदर्पणकार ने अंक के लिये और भी नियमों का उल्लेख किया है ।[2] सर्वप्रथम तो वह भरतमुनि के निर्देश का ही उल्लेख करते हैं कि "गोपुच्छाग्रसमाग्रमिति प्रकीर्तिताः सूक्ष्मा कर्तव्या:। फिर अंक के लिये वे नियम बताते हैं कि अंक में नेता का चरित प्रत्यक्ष होना चाहिए। वह रस और भाव से परिपूर्ण होना चाहिये । गूढ़ार्थक शब्द नहीं होना चाहिये । प्रधान कथा की समाप्ति नहीं होनी चाहिये । अंक बहुत कार्यों से युक्त नहीं होना चाहिये । इसमें नाटक के बीज का उपसंहार नहीं होना चाहिये । अनेक प्रकार के संविधान तो हों, परन्तु पद्य बहुत न हों । सन्ध्यावन्दनादि आवश्यक कार्यों का विरोध न हो । नायक को सदा सन्निहित ही रहना चाहिए । अंक में तीन-चार पात्र उपस्थित रहें ।"

इन नियमों से सबका प्रतिपादन तो किसी भी नाटककार ने नहीं किया है, हाँ, सभी ने इन नियमों का यथाशक्ति निर्वाह करने का प्रयत्न अवश्य किया है ।

<u>रूपकों में अंकों की संख्या:-</u>

नाट्याचार्यों के अनुसार नाटक में पाँच से दस तक अंक हो सकते हैं । भाण में एक, प्रहसन में एक, डिम में चार, व्यायोग में एक, समवकार में तीन, वीथी में एक, अंक या उत्सृष्टिकांक में एक तथा ईहामृग में चार अंकों की योजना करने का विधान

१- द्रष्टव्य-दशरूपक १।३६ : साहित्यदर्पण ६।१२-१६।।

२- ,, - साहित्यदर्पण ६।८-१६

बताया गया है[१]।

<u>रूपकों में संवाद-योजना</u> :- रूपकों में कथावस्तु पात्रों के संलाप के माध्यम ही विस्तृत रहती है। रूपकों में संवाद के तीन प्रमुख रूप मिलते हैं - १-सर्वश्राव्य अर्थात् जो संवाद रंगमंच पर उपस्थित सभी पात्रों के सुनने लायक होता है २-नियतश्राव्य अर्थात् जो रंगमंच पर उपस्थित सभी पात्रों के लिये नहीं अपितु केवल कुछ नियतसंख्यक पात्रों के सुनने लायक होता है। नियतश्राव्य को नाट्यधर्मी संलाप भी कहते हैं क्योंकि यह लोकधर्मी के विपरीत है। लोक में यह संभव नहीं है कि कोई व्यक्ति कुछ कहे तथा पास खड़े हुए व्यक्तियों में से एक अभीष्ट व्यक्ति तो न सुनें किन्तु वहीं खड़े अन्य व्यक्ति एवं सामाजिक सुन लें। यह केवल नाट्यजगत् में ही संभव हो सकता है। इसीलिए इसे नाट्यधर्मी संलाप कहते हैं। नाट्यधर्मी संवाद दो प्रकार के होते हैं- १- जनान्तिक तथा २- अपवारित। जहाँ किसी पात्र को कोई बात सुनानी नहीं रहती, उसकी ओर "त्रिपताकाकर" (अर्थात् अंगुलियों से त्रिपताका बने हुए हाथ) से संकेत करके अन्य पात्रों के साथ मन्त्रणा की जाय- वहाँ जनान्तिक नामक संवाद होगा। जहाँ मुँह को दूसरी ओर कर कोई पात्र दूसरे व्यक्ति की गुप्त बात कहता है, उसे अपवारित कहते हैं। नाट्यधर्मी संवादों में आकाशभाषित की भी गणना होती है, परन्तु यह जनान्तिक और अपवारित से भिन्न है। जहाँ कोई पात्र "क्या कहते हो" इस तरह कहता हुआ दूसरे पात्र के बिना ही बातचीत करे, तथा उसके कथन के कहे बिना भी सुनकर कथोपकथन करे, वहाँ आकाशभाषित होता है।

शेष संवाद दो प्रकार के होते हैं - १- प्रकाश तथा २-स्वगत। जो बात रंगमंच में उपस्थित सभी पात्रों के लिए श्राव्य होती है वह "प्रकाश" कहलाता है और जो पात्र केवल अपने आपको कहता है अर्थात् केवल वक्ता को छोड़ कर जो संवाद अन्य किसी पात्र के लिये श्राव्य नहीं होता है वह "स्वगत" कहलाता है।

कालिदास ने सर्वश्राव्य, नियतश्राव्य तथा स्वगत नामक तीन प्रकार के संवादों के

१- द्रष्टव्य-दशरूपक तृतीय प्रकाश अथवा साहित्यदर्पण षष्ठ परिच्छेद, श्लोक १३८ से १४१।

आधार पर कथावस्तु के तीन प्रकार बताया है । परन्तु यह उचित नहीं है ।
जैसे आधिकारिक और प्रासंगिक कथावस्तु के प्रकार नहीं, किन्तु अंग हैं, वैसे ही
त्रिविध संवाद भी कथावस्तु के अभिन्न अंग हैं, प्रकार नहीं ।

इस प्रकार नाट्य के स्वरूप एवं उसके विभिन्न तत्वों की विस्तृत
आलोचना करने के अनन्तर विक्रमीय प्रथम सहस्राब्दी तक के महाभारतमूलक
संस्कृत नाटकों के समीक्षात्मक अध्ययन के पथ पर क्रमशः से अग्रसर होना सम्भव
होगा । नाट्य के अंग-उपांगों पर सम्यक् रूप से विचार-विमर्श करने के अनन्तर
ही प्रस्तुत निबन्ध के अध्येतव्य नाटकों की समीक्षा के कार्य को उठाने में औचित्य
दृष्टिगोचर होता है । यहां नाट्य के तत्वों की जो आलोचना हुई, वही
आगामी अध्यायों में प्रस्तुत निबन्ध के विषयभूत नाट्य-साहित्य की समीक्षा
का आधार बनेगी । पंचम अध्याय में महाभारतीय कथाओं से प्रस्तुत निबन्ध
के आलोच्य नाटकों के कथानकों के भेद एवं वैशिष्ट्य के निर्धारण में षष्ठ
अध्याय में कथानकों के नाट्यशास्त्रीय विवेचना के कार्य में,सप्तम अध्याय में
रस-परिपाक पर तथा अष्टम अध्याय में संवादतत्व की दृष्टि से नाटकीय कथानक
पर विचार-विमर्श करने में इस अध्याय में आलोचित तत्वों को आधार रूप में
ग्रहण किया जायगा ।

महाभारत आर्यसंस्कृति का प्रतिनिधि-ग्रन्थ है । भगवान् वेदव्यास ने अपनी ज्ञानदृष्टि से इस अद्भुत ग्रन्थ की सृष्टि की है । महाभारत के आख्यान और उपाख्यानों ने दो-तीन हजार वर्षों से इस देश की जनता को मनोरंजन के साथ साथ धर्मतत्व सिखाया है, काव्य का आधार बन कर उन्हें `ब्रह्मानन्द सहोदर` रस के आस्वादन के बहाने कान्तासम्मित उपदेश दिया है । महाभारत में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष से सम्बन्धित सभी बातों का उल्लेख हुआ है । इसके विराट् स्वरूप को प्रत्यक्ष करके ही वैशम्पायन ने आदिपर्व में मुक्तकण्ठ से घोषणा की है --

` धर्मे चार्थे कामे च मोक्षे च भरतर्षभ ।
यदि हास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित् ।।१।६२।५३

इसे उत्तम धर्मशास्त्र कहा जाता है । यही उत्तम अर्थशास्त्र और उत्तम मोक्षशास्त्र भी है[१] । प्रज्ञावान् मुनियों ने इसे पंचमवेद की आख्या दी है । सौति ने इसकी महत्ता का अनुभव करके कहा है -` जैसे जानने योग्य पदार्थों में आत्मा, प्रिय पदार्थों में अपना जीवन श्रेष्ठ है, वैसे ही सम्पूर्ण शास्त्रों में परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति-रूप प्रयोजन को पूर्ण करने वाला यह इतिहास श्रेष्ठ है[२] । इतिहास तथा महाकाव्य-- महाभारत के स्वरूप के ये ही दो प्रमुख परिचय हैं, किन्तु इतिहास के रूप में इसकी ख्याति अधिक है । विविध उपाख्यानों के आधार-स्वरूप इस ग्रन्थ से सम्यक् रूप से परिचित होकर ही सौति ने भविष्यवाणी की है --

`अनाश्रित्यैतदाख्यानं कथा भुवि न विद्यते ।
आहारमनपाश्रित्य शरीरस्येव धारणम् ।।`

इसकी काव्यमयता की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती । ध्वनिकार ने महाभारत की रसवत्ता को पहचान कर इसके काव्यत्व को सर्वप्रथम सुप्रतिष्ठित करने का प्रयास किया[३] । महाभारत में इस बात का उल्लेख है कि जब वेदव्यासजी ने इस ग्रन्थ की रचना करके ब्रह्माजी को इसके स्वरूप का वर्णन किया, तब यही कहा था-` कृतं मयेदं भगवन् काव्यं

१- द्रष्टव्य-`धर्मशास्त्रमिदं पुण्यमर्थशास्त्रमिदं परम् ।
मोक्षशास्त्रमिदं प्रोक्तं व्यासेनामितबुद्धिना ।। महाभारत-१।६२।२३

२- ,, महाभारत, १।२।३६

३- ,, ध्वन्यालोक, (सम्पादक डा. एस. त्रिपाठी, मोतीलाल बनारसीदास) पृ. स. १३४१

परमपूजितम्`।[१] -- इस पर ब्रह्माजी ने आशीर्वाद दिया-`त्वया च काव्यमित्युक्तं तस्मात् काव्यं भविष्यति`।[२] ब्रह्माजी ने यह भी कहा कि संसार के बड़े से बड़े कवि भी इस काव्य से बढ़कर कोई रचना नहीं कर सकेंगे । ठीक वैसे ही,जैसे ब्रह्मचर्य,वानप्रस्थ और संन्यास, -तीनों आश्रम अपनी विशेषताओं के द्वारा गृहस्थाश्रम से आगे नहीं बढ़ सकते ।`

सच है । आज भी महाभारत अपनी महिमा में सुप्रतिष्ठित है । पाश्चात्य विद्वानों --`इलियड और`ओडेसी`-- को लेकर इससे तुलना करने आये ,किन्तु उसके विराट् स्वरूप की दिव्यद्युति के सम्मुख दोनों का संयुक्त कलेवर भी क्षीण दीखने लगा ।`इलियड`और`ओडेसी`संयुक्त कलेवर से महाभारत आठ गुना विशाल सिद्ध हुआ। केवल संस्कृत के हीनहीं,भारत की प्रान्तीय भाषा के साहित्य में भी प्राय: प्रख्यात इतिवृत्तों के लिए आज भी महाभारत का आधार ही प्रधान रूप से ग्रहण किया जाता है ।

महाभारत के स्वरूप में इतिहास एवं काव्य के अपूर्व मिलन ने ही आगामी साहित्यकारों को आकृष्ट किया । प्रथम अध्याय में संस्कृत साहित्य में प्रख्यात इतिवृत्तों के महत्व पर यत्किंचित् विचार किया गया है,उससे इतना तो स्पष्ट हो ही गया है कि हमारे प्राचीन साहित्यसेवी प्रख्यात इतिवृत्त को अपनाने के क्यों इतने अधिक पक्षपाती थे ? प्रख्यात इतिवृत्त पर श्रद्धा रखने वाले संस्कृत के कवि एवं नाटककारों के लिये महाभारत आज भी परम श्रद्धेय बना हुआ है । आदिपर्व में सौति ने भविष्यवाणी की थी कि जितने भी श्रेष्ठकवि होंगे उनके काव्य के लिए यही(महाभारत)उपजीव्य बनेगा।`[३] --सौति की यह भविष्यवाणी मिथ्या नहीं हुई ।भास,कालिदास,भट्टनारायण,राजशेखर आदि संस्कृत-साहित्य के सुप्रथित नाट्यकारों की रचनाएँ ही इसके प्रमाण हैं । बीसवीं शताब्दी में पहुँचकर भी नाटककारों की महाभारत की कथा पर नाट्य-रचना की प्रवृत्ति में दुर्बलता नहीं आयी । मद्रास संस्कृत अकादमी की नाट्य-रचना की प्रतियोगिता में सर्वोत्तम पुरस्कार प्राप्त करने वाली श्री महालिंगकवि की`प्रतिराजसूयम्`

१- द्रष्टव्य- महाभारत, १।१।६१

२- ,, ,, १।१।७२

३-`सर्वेषां कविमुख्यानामुपजीव्यो भविष्यति`

नामक महाभारतमूलक नाट्यकृति ही इसका उज्ज्वल दृष्टान्त है। संस्कृत के नाटक-साहित्य में प्रसिद्ध महाभारतमूलक नाटकों की सूची निम्नलिखित है:-

नाटक	नाट्यकार
१- मध्यमव्यायोग	भास
२- दूतवाक्य	,,
३- दूतघटोत्कच	,,
४- कर्णभार	,,
५- ऊरुभंग	,,
६- पंचरात्र	,,
७- विक्रमोर्वशी	कालिदास
८- शाकुन्तल	,,
९- वेणीसंहार	भट्टनारायण
१०- बालभारत	राजशेखर
११- सुभद्राधनंजय	कुलशेखरवर्मन्
१२- तपतीसंवरण	,,
१३- नैषधानन्द	क्षेमीश्वर
१४- चण्डकौशिक	,,
१५- धनञ्जयविजयव्यायोग	कांचनाचार्य
१६- नलविलास	रामचन्द्रसूरि
१७-निर्भयभीमव्यायोग	,,
१८-हरकेलिनाटक	विग्रहराज विशालदेव
१९-किरातार्जुनीय व्यायोग	वत्सराज
२०- ययातिचरित	रुद्रदेव
२१- पार्थपराक्रम	प्रह्लादनदेव
२२- भीमपराक्रम	शतानन्दकवीन्द्रसूनु
२३- सौगन्धिकाहरण	विश्वनाथ
२४- पाण्डवाभ्युदय	व्यासरामदेव
२५- सुभद्रापरिणय	,,

२६-	सुभद्रापरिणय	हस्तिमल्ल
२७-	सुभद्रापरिणय	वेंकटाध्वरी
२८-	सुभद्रापरिणय	रघुनाथाचार्य
२९-	भैमीपरिणय	मण्डिकल रामशास्त्री
३०-	उषापरिणय	वेंकटाध्वरी श्री निवासाचार्य
३१-	ययातितरुणानन्द	वल्लिसायकवि
३२-	भीमपराक्रम	पिलाई
३३-	प्रतिराजसूयम्	श्री महालिंगकवि

इसके अतिरिक्त खोज करने पर और भी अनेक नाटकों की प्राप्ति अवश्य होगी- ऐसा विश्वास है । इस सूची में `दामकप्रहसन`, `पाण्डवानन्द` इत्यादि रूपकों की तो गणना ही नहीं की गयी ।`पाण्डवाभ्युदय` का उल्लेख दशरूपक में हुआ है ,किन्तु ग्रन्थ अब भी अप्राप्य है । इस प्रकार कितने रूपक होंगे,जिनका नाम ही नाम विभिन्न आचार्यों के ग्रन्थों में उल्लिखित है,किन्तु अस्तित्व विलीन हो गया है और कितने ऐसे होंगे जिनका नाम तक विस्मृति के अन्धकार में विलीन हो गया है । विदेशियों का आक्रमण,संस्कृत के पठन-पाठन के प्रति उदासीनता इत्यादि भी इस विस्मृति की तथा ऐसे रूपकों की अप्राप्ति के कारण हैं ।

विक्रमीय प्रथम शताब्दी तक के महाभारत-मूलक नाटक :- विक्रमीय प्रथम शताब्दी तक के महाभारतमूलक नाटक ही प्रस्तुत निबन्ध के आलोच्य विषय हैं । इस निर्दिष्ट काल के महाभारतमूलक नाटकों की सूची के विषय में किंचित् दिग्दर्शन आवश्यक प्रतीत होता है । यद्यपि ये विषय स्वयं ही ऐसे हैं कि इन पर ही पृथक् रूप से शोध- कार्य किया जा सकता है,तथापि इन पर सम्भाव्य विचार व्यक्त किये बिना प्रस्तुत निबन्ध के विषयभूत नाट्य-साहित्य का निर्धारण एवं अध्ययन कुछ भी संभव न होगा ।

भारत में सृष्ट्याब्द,कलि-संवत् ,युधिष्ठिर-संवत्,मालव-संवत् शकाब्द-इत्यादि वर्षगणना की कितनी ही रीतियां प्रचलित हुईं,किन्तु अन्ततः विक्रम-संवत् ही इस प्रतिस्पर्द्धा में अपने अस्तित्व की रक्षा सगौरव रूप से करने में समर्थ हुआ है ।विक्रम-संवत् का प्रचार सुप्राचीन काल से इस भूखण्ड के एक विशाल भाग पर होता चला आया है । विदेशी-शासन की परतन्त्रता के काल से भारतवासी ख्रिष्टीय-संवत् को अपनाने में विवश होने पर भी अपने प्राचीन विक्रम-संवत् को भुला नहीं सके । आज के ख्रिष्टीय - संवत् के बहु-प्रचलन के काल में भी भारत के धार्मिक एवं सामाजिक अनुष्ठानों में प्रायःइसी का

व्यवहार होता है । आज भी पंचांग,जन्मकुण्डली में इसी संवत् के व्यवहार का विधान है ।विक्रम-संवत् की द्वितीय सहस्राब्दी की समाप्ति के शुभ-उपलक्ष में वाराणसी में अनुष्ठित आल इण्डिया ओरियेन्टल कॉनफारेन्स (१९४३ई०)में विद्वानों ने विक्रमादित्य एवं विक्रम संवत् पर पर्याप्त विचार -विमर्श किया । श्री रमेशचन्द्र मजूमदार,श्री राजबली पाण्डेय इत्यादि विद्वानों ने इस विषय को लेकर प्रशंसनीय अनुसंधान-कार्य किया है ।फिर भी,इसे सुप्रतिष्ठित करने के लिए और भी अनुसंधान की अपेक्षा है ।

विक्रम-संवत् का प्रचलन किसने किया था,इस पर विद्वानों में मतभेद है । फर्ग्युसन विक्रम-संवत् के प्रवर्तक के रूप में हर्ष विक्रमादित्य को मानते हैं,जो उज्जयिनी के शासक थे । उनका कथन है कि उज्जयिनी के इस हर्षविक्रमादित्य नामक नरेश ने ख्रीष्टीय ५४४ शताब्दी में कारूर् के युद्ध में हूणों को परास्त किया था । अपने विजय-काल को चिरस्मरणीय बनाने के उद्देश्य से उन्होंने विक्रम-संवत् का प्रवर्तन किया और उसे छ:सौ वर्षों की प्राचीनता का गौरव देकर उसका प्रवर्तनकाल ५७ ई० पू०माना ।[1] मैक्समूलर महोदय को भी यह मत उचित जान पड़ा,अत:उन्होंने भी उसका समर्थन किया।[2] -परन्तु यहमत निराधार प्रतीत होता है । एक तो,उज्जयिनी के शासकों के इतिहास में हर्षविक्रमादित्य नामक किसी शासक का नाम नहीं मिलता ।दूसरी बात,-उन्होंने इस संवत् के प्रवर्तन-काल को ६०० वर्ष पीछे क्यों कर दिया,-इसका भी कोई समाधान नहीं मिलता ।डा० डी०आर०भण्डारकर[3] के अनुसार विक्रम-संवत् के प्रवर्तक चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य थे जो ३७५ ई० से ४१३ ई० तक पाटलिपुत्र में शासन करते थे । स्मिथ,कीथ आदि पाश्चात्य विद्वान एवं अनेक भारतीय विद्वानों ने भण्डारकर जी के मत का अभिनन्दन किया । परन्तु यह मत भी उचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि गुप्तों के पास अपना गुप्त-संवत् था । उनके शासनकाल में भी उसी संवत् का प्रयोग होता था । स्कन्दगुप्त के गिरनार वाले शिलालेख में गुप्त-संवत् का ही प्रयोग हुआ है । गुप्तों की राजधानी पाटलिपुत्रथी,उज्जयिनी नहीं ।चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के समय भी पाटलिपुत्र ही शासन का केन्द्रस्थल था,-परन्तु परम्परा के अनुसार विक्रमादित्य की

१- The Journal of the Royal Asiatic Society 1870 p.814

२- India - what can it teach us? 286

३- The Journal of Bombay Branch of Royal Society Vol. XX(1900) p.398

इस विक्रम-संवत् के प्रथमशताब्दी तक के काल में उपलब्ध महाभारत-मूलक नाटकों के रचयिता के रूप में भास का नाम प्रथमत: उल्लेखनीय है । सन् १६१२ से पूर्व तक भास के नाटकों के विषय में किसी को बहुत अधिक जानकारी नहीं थी । त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज़ के प्रख्यात सम्पादक महामहोपाध्याय श्री टी०गणपति शास्त्री के द्वारा सन् १६१२ में भास के नाम से तेरह नाटकों का प्रकाशन हुआ । इनमें से छ: नाटक महाभारत पर आधारित हैं ,दो नाटक रामायण पर आश्रित हैं तथा शेष पाँच अर्ध-ऐतिहासिक घटनाओं तथा किंवदन्तियों पर आधारित हैं । सन् १६४१ में राजवैद्य कालिदास शास्त्री ने`यज्ञफल` नामक एक अन्य नाटक प्रकाशित किया और इसे भासकृत बताया । सन् १६३० में डा० कुन्न राजा ने छठवें प्राच्य अधिवेशन की पत्रिका में`वीणावासवदत्ता` को भी भास कीरचना के रूप में घोषित किया[1] । किन्तु बाद में ये शेषोक्त दोनों नाट्य-कृतियाँ कोविद्वानों ने भास की रचना मानने में असम्मति प्रकट की ।`वीणावासवदत्ता` की कथा`प्रतिज्ञायौगन्धरायण` से साम्य रखती है ,किन्तु भाषा-शैली की कृत्रिमता उसे भास कृत होने में सन्देहास्पद बना देती है । सन् १६४२ ई० में जयपुर के पण्डित गोपालदत्त शास्त्री ने भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट पूना में पहुंच कर डा० सुकथंकर ,पी०के० गोडे इत्यादि विद्वानों के सम्मुख `यज्ञफल` को स्वरचित बताया[2] । उन्होंने यह भी कहा है कि यह रचना उनकी अपनी है, इस बात के प्रमाण के लिए उन्होंने ग्रन्थ में तीन गुप्त संकेत किये हैं ।डा० आर०एन०दाण्डेकर ने इस विषय में खोज की और गोपालदत्त के दो गुप्त संकेतों को निराधार सिद्ध किया ।`यज्ञफल`की सन् १८७० की पाण्डुलिपि को जिसे पी०के० गोडे ने प्रामाणिक बताया था,उसकी भी परीक्षा की गयी-उसमें गोपाल दत्त के द्वारा उल्लिखित तृतीय गुप्त संकेत जिसमें`भासा-नुकारी` शब्द है - प्रामाणिक सिद्ध हुआ ।आगे दाण्डेकर महोदय, प्रो० फला आदि विद्वानों ने यह सिद्ध किया कि यह रूपक सचमुच ही किसी भासानुकारी द्वारा लिखी गयी है । प्रो० फला[3] ने यह मन्तव्य किया कि यद्यपि`यज्ञफल` अन्य भासकृत नाटकों के समान ही आरम्भ होता है और उन्हीं के समान समाप्त होता है ,तथापि इसमें बहुत

१- 'A. New Drama of Bhasa' - Proceeding of VI Oriental Conference (1930) p. 593

२-`भास` - एक अध्ययन ` -पं० बलदेव उपाध्याय पृ० १७-१८

३- Journal of the Bombay Branch of Asiatic Society (1954)

कुछ सी नवीन बातें हैं,जो भास के समान नहीं रही होंगी । अत: सम्भव है कि यज्ञफल भास के नाटकों के अनुकरण पर किसी अन्य परवर्ती नाटककार द्वारा रचित हो, जो इसका कर्तृत्व न तो भास को समर्पित करता है और न स्वयं अपने को इसका प्रणेता बताता है । इस प्रकार क्रमश: भास-रचित रूपकमाला से `यज्ञफल` का बहिष्कार कर दिया गया ।

बीसवीं शताब्दी के पूर्व तक अर्थात् त्रिवेन्द्रम नाटकों के प्रकाशन से पहले भी संस्कृत के ज्ञानेच्छु भास के नाम से परिचित थे और उन्हें अनेक रूपकों के रचयिता के रूप में जानते थे । किन्तु उनके अनेक रूपकों में से केवल `स्वप्नवासवदत्तम्` का नाम ही ज्ञात था । कई आचार्यों ने `स्वप्नवासवदत्तम्` को भास की रचना के रूप में उल्लेख किया है । राजशेखर[1] तथा `नाट्यदर्पण`[2] के संयुक्त रचयिताओं ने `स्वप्नवासवदत्तम्` को स्पष्टत: भासकृत कहा है । अनेक शास्त्रीय ग्रन्थों में भास के नाटकों की प्रशस्ति भी मिलती है । कालिदास ने मालविकाग्निमित्र की प्रस्तावना में अपने पूर्ववर्ती यशस्वी नाटककारों में भास के नाम का उल्लेख किया है[3] । दण्डी[4] तथा बाण[5] ने भास की जो प्रशंसा की है उससे भी स्पष्ट होता है कि भास के अनेक रूपक उस समय विद्यमान थे । वाक्पतिराज[6], जयदेव[7] तथा अयानक ने भास के वैशिष्ट्य का उल्लेख किया है । अभिनवगुप्त[8] तथा भोजदेव[9]

१- `भासनाटकचक्रे पि छेकै: क्षिप्ते परीक्षितुम् ।
स्वप्नवासवदत्तस्य दाहको भून्न पावक: ।।`

२- यथा भासकृते स्वप्नवासवदत्ते शेफालिकाशिलातलमवलोक्य वत्सराज:`---`नाट्यदर्पण

३- प्रथितयशसां भाससौमिल्लकविपुत्रादीनां प्रबन्धानतिक्रम्य कथं वर्तमानस्य कवे:कालिदासस्य कृतौ बहुमान: ----`

४- सुविभक्तमुखाद्यङ्गैर्व्यक्तलक्षणवृत्तिभि: ।
परेतोऽपि स्थितो भास: शरीरैरिव नाटकै:।-अवन्तिसुन्दरीकथा

५-सूत्रधारकृतारम्भैर्नाटकैर्बहुभूमिकै:
सपताकैर्यशो लेभे भासो देवकुलैरिव॥ हर्षचरित

६-भासम्मि जलणमित्ते कुन्तीदेवे अ जस्स रहुआरे।
सोबन्धवे अ बन्धम्मि हारिअन्दे अ आणन्दो।-गौडवहो

७- भासो हास:कविकुलगुरु: कालिदासो विलास:।प्रसन्नराघव

८- क्वचित्क्रीडा ।यथा वासवदत्तायाम् ।-अभिनवभारती

९- वासवदत्ते पद्मावतीमस्वस्थां द्रष्टुं राजा समुद्रगृहकं गत: ।-शृंगारप्रकाश

ने `स्वप्नवासवदत्तम्` का उल्लेख किया है ।अभिप्रायमुख्य इन सब बातों से यह स्पष्ट होता है कि भास के नाटकों का अत्यधिक प्रचार था । कवियों तथा आचार्यों में भास के नाटक सम्मान की दृष्टि से देखे जाते थे । किन्तु क्रमशः ये अति प्रसिद्ध नाटक भी कालचक्र के प्रभाव से लोक-चक्षु के अन्तराल में दीर्घकाल तक पड़े रहे । इन नाटकों के लुप्त होने के कारण के सम्बन्ध में श्री ए०एस०पी०अय्यर ने अनेक सम्भावनाएँ प्रस्तुत की[1] हैं किन्तु आलोचकों के कौतूहल की निवृत्ति के लिए इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि वैदिक ग्रन्थ और उसकी शाखायें,जिनका पठन-पाठन कुल-परम्परा में एक दिन अनिवार्य था, लुप्त हो गये तो फिर लोकरंजनकारी इन नाटकों का सुदीर्घकाल तक अन्धकार में रह जाना कोई अस्वाभाविक बात नहीं है ।

भास तथा उनके नाटकों के विषय में ज्ञान प्राप्त करने के लिए गणपति,शास्त्री जी से पूर्व भी पाश्चात्य एवं पौरस्त्य विद्वान् प्रयत्नशील रहे । सन् १८५६ में फिट्ज़ एडवर्ड हाल ने जर्नल आफ एशियाटिक सोसायिटी बेंगाल `कीपत्रिका में भास,रामिल तथा सौमिल पर विचार-विमर्श किया[2] । उन्होंने भास का वास्तविक नाम संभवतः भासक रहा होगा- ऐसी कल्पना की[3] ।गणपति शास्त्री के द्वारा इन नाटकों के प्रकाशन से पूर्व ३ जनवरी १६०६ ई० को मद्रास के गवर्नमेण्ट ओरियन्टल मैनुस्क्रिप्ट लाइब्रेरी के प्रतिलिपिकर्ता श्री सम्पतकुमार चक्रवर्ती ने पुस्तकालय के लिए`प्रतिज्ञायौगन्धरायण` की भी एक प्रति नकल की थी[4] । अतः भास के रूपकों की खोज के विषय में सन् १६१२ में ही विद्वत्वर्ग सहसा उद्योगी नहीं हो उठे ।

सन् १६१२ में संस्कृत के अधिकांश ज्ञानेच्छुओं एवं अनुसंधित्सुओं ने अत्यन्त हर्ष के साथ महामहोपाध्याय श्री टी०गणपति शास्त्री के द्वारा भास के रूपकों की खोज एवं प्रकाशन का अभिनन्दन किया, किन्तु साथ ही कुछ विद्वानों ने इनकी प्रामाणिकता पर सन्देह प्रकट किया । अतः भास तथा उनके नाटक समस्यामूलक बन गये ।पहले कहा

१-`भास` - लेखक ए०एस०पी० अय्यर - पृ० १३-१५

२- 'Fragments of the early Hindu Dramatists, Bhasa, Ramila and Somila' by Fitz Edward Hall

३- द्रष्टव्य-हाल महोदय के पूर्वनिर्दिष्ट लेख की पृष्ठ सं० २८

४ महाकवि भास - एक अध्ययन लेखक बलदेव उपाध्याय

जा चुका है कि भास के नाटकों में से 'स्वप्नवासवदत्तम्' को कतिपय आचार्यों ने स्पष्टतः भासकृत कहकर उल्लेख किया है, अतएव यह नाटक प्रामाणिक है-इसमें कोई सन्देह नहीं है। इसी नाटक की रचना-शैली के वैशिष्ट्य के आधार पर ही गणपति शास्त्री जी ने अन्य बारह नाटकों को भासकृत सिद्ध किया है। किन्तु 'स्वप्नवासवदत्तम्' में से दो/एक श्लोक जिनका उद्धरण आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में दिया है, वे त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज़ से प्रकाशित 'स्वप्नवासवदत्तम्' में प्राप्त नहीं होते। यह देख कर भास-विरोधियों ने कहा कि वर्तमान 'स्वप्नवासवदत्तम्' मूल नाटक का एक परिवर्तित संस्करण मात्र है। बाद में काळे[2] तथा विन्टरनित्ज़[3] ने वर्तमान प्रकाशित 'स्वप्नवासवदत्तम्' में उन दोनों श्लोकों के उपयुक्त स्थान का उल्लेख कर दिया है, जहां ये दोनों श्लोक सम्पूर्ण कथानक के परिवेश में सुचारु रूप से लग जाते हैं।

फिर भी सन्देह की निष्पत्ति नहीं हुई। भासविरोधी विद्वानों ने शंका उठायी कि इन नाटकों की प्रस्तावना के जिस वैशिष्ट्य को इन नाटकों के भास-कृत होने में एक हेतु के रूप में ग्रहण किया जा रहा है, वह दक्षिण भारत में प्राप्य 'मत्तविलास', 'आश्चर्य चूडामणि', 'कल्याणसौगन्धिका', 'तपती-संवरण', सुभद्राधनंजय, 'शाकुन्तल', 'नागानन्द' तथा 'विक्रमोर्वशी' की पाण्डुलिपियों की प्रस्तावना की शैली में भी वैसा वैशिष्ट्य मिलता है। इसके आधार पर उन्होंने इन नाटकों को भासकृत मानने में असम्मति प्रकट की। इन नाटकों को भासकृत मानने में विरोध करने वालों में बार्नेट महोदय का नाम उल्लेखनीय है[4]।

यह सच है कि दक्षिण भारत से उपलब्ध उपर्युक्त संस्कृत नाटकों की प्रस्तावना में और भास के नाम से प्रकाशित इन तेरह नाटकों की प्रस्तावना में पर्याप्त साम्य है, किन्तु एक बात में भिन्नता भी है। भास के नाम से प्रकाशित इन

१-संचितपक्ष्मकपाटं नयनद्वारं स्वरूपताडनेन ।
उद्घाट्य सा प्रविष्टा हृदयगृहं मे नृपतनूजा।। नाट्यदर्पण

तथा-'यथा भासकृते स्वप्नवासवदत्ते शेफालिकाशिलातलमवलोक्य वत्सराजः
पादाक्रान्तानि पुष्पाणि सोष्म चेदं शिलातलम् ।
नूनं काचिदिहासीना मां दृष्ट्वा सहसा गता।। नाट्यदर्पण

२- ईण्ट्रोडक्शन- काळे द्वारा सम्पादित 'स्वप्नवासवदत्तम्' की भूमिका

३- 'Bhasa – what do we really know of him and his works' – by Winternitz (Woolner Comm. Volume)

४- Bulletin of school of oriental studies; J.R.A.S. 1919; J.R.A.S. 1921

लेखक नाटकों की प्रस्तावना में कहीं भी रचयिता के नाम का उल्लेख नहीं हुआ है किन्तु 'मत्तविलास', 'आश्चर्यचूडामणि' आदि उपर्युक्त नाटकों की प्रस्तावना में रचयिता के नाम का स्पष्ट उल्लेख विद्यमान है । अतः सिद्ध होता है कि त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज़ के इन तेरह नाटकों की प्रस्तावना में जो वैशिष्ट्य है वह किसी प्रान्त की नाट्य-परम्परा का वैशिष्ट्य न होकर किसी लेखक की शैली का वैशिष्ट्य है ।

ये नाटक भासकृत न होकर केरल प्रदेश के चाक्यारों[1] की रचना हो सकती है --ऐसी भी संभावना की गयी । रङ्गाचार्य रेड्डी ने इन्हें भास के नाटकों का संक्षिप्त संस्करण माना है, पिशारोती[2] ने 'स्वप्नवासवदत्तम्' को एक परिवर्तित संस्करण माना है और दूसरे भास नाटकों को अप्रामाणिक कहा है । विन्टरनित्स और सुक्थङ्कर ने इनमें से कुछ नाटकों को तो भास-रचित माना है, परन्तु उपलब्ध तेरह नाटकों में से एक सब को भासकृत मानने में उन्होंने भी असम्मति प्रकट की है ।

इस प्रकार सन् १९१२ में इन नाटकों का प्रकाशन हुआ और सन् १९२५ तक इन नाटकों को अप्रामाणिक ठहराने का प्रयास करने वाले विद्वानों का एक भास-विरोधी दल भी तैयार हो गया । इसमें रामावतार शर्मा, बार्नेट, भट्टनाथ स्वामी, रंगाचार्य रेड्डी, काणे, पिशारोती आदि विद्वानों का नाम अग्रगण्य है । परन्तु सौभाग्य की बात यह है कि परस्पर विसम्वादी सिद्धान्तों और मान्यताओं के बीच भी भास और उनके नाटकों का अस्तित्व विलीन नहीं हो गया, अपितु उन्हें समर्थन करने वालों की संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि ही होती जा रही है । डा० सुक्थंकर जी ने 'जर्नल आफ बॉम्बे ब्रान्च आफ दी रायल एशियाटिक सोसायटी' की ग्रन्थ संख्या २६ में प्रकाशित अपने लेख में भास-सिद्धान्त के पक्षपाती एवं विपक्षियों की जो तालिका दी है, उससे भी स्पष्ट होता है कि भास-सिद्धान्त को मानने वालों की संख्या उसके विरोधियों

१- विविध ज्ञान विस्तार ग्रन्थ संख्या ५० (१९१९) पृ०सं० २०६

२- Bulletin of School of Oriental Studies Vol. 3 p. 115

की संख्या की अपेक्षा कहीं अधिक है । सुकुथंकर जी की इस तालिका में भास पर गंभीरतम विचार-विमर्श करने वाले डा० ए०डी०पुसालकर, ए०एस०पी० अय्यर, बी०के०भट्ट, बलदेव उपाध्याय आदि अपेक्षाकृत आधुनिक विद्वानों की गणना नहीं हुई है । इन विद्वानों ने भास-समस्या पर अत्यन्त प्रशंसनीय कार्य किया है । इनके नामों को भास तथा इन तेरह नाटकों के पक्षपाती विद्वानों की सूची में समाविष्ट कर देने पर वह सूची और भी दीर्घ हो जाती । यहां कोई विन्टरनित्स[1] के कथन का उदाहरण देकर कह सकता है कि ऐसे विषयों का सुनिश्चित निर्धारण पक्ष अथवा विपक्ष के मतदाताओं की संख्या के द्वारा नहीं होता, किन्तु युक्तियों के संख्याधिक्य के द्वारा ही हुआ करता है-अत: चाहे भास-सिद्धान्त के पक्ष में मताधिक्य हो, तथापि यह सिद्धान्त ग्राह्य नहीं है। इस प्रकार के आलोचकों के लिए यही श्रेष्ठ उत्तर है कि सुकथंकर जी ने जिन विद्वानों की सूची दी है, वे सभी उत्कृष्ट विचार-सम्पन्न हैं और सभी ने अपने मत की पुष्टि में पर्याप्त युक्ति और तर्क प्रस्तुत किए हैं[2] । इस दिशा में पुसालकर जी ने जो कार्य किया है वह सर्वाधिक रूप से स्तुत्य है । उन्होंने रूपकों की रचना-शैली, उनमें व्यक्त सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक तथ्यों तथा अन्यान्य बाहरंग प्रमाणों के आधार पर सुगभीर अनुसंधान करने के पश्चात् भास के व्यक्तित्व स्थितिकाल एवं १९१२ ई० में त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज़[3] से प्रकाशित इन तेरह रूपकों के एक ब कर्तृत्व को प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया है । सी०आर०देवधर ने भी इस विषय में प्रशंसनीय उद्योग किया है । इन रूपकों के एक कर्तृत्व के सम्बन्ध में उनकी खोज भी प्रशंसनीय है । अतएव यह कहना अनुचित होगा कि भास-सिद्धान्त के पक्षपाती केवल अपने पूर्ववर्ती विद्वानों का अन्धानुकरण करके अथवा पुष्ट प्रमाणों को प्रस्तुत कर किए बिना ही भास तथा भास के नाम से प्रकाशित इन रूपकों की प्रामाणिकता को स्वीकार कर लिया है । विद्वानों की इस बहुमत

१- द्रष्टव्य- "... in the science truth is not found out by the majority of votes but by the majority of arguments." – Winternitz [Calcutta Review 1924]

२- ,, 'The plays Ascribed to Bhasa Their Authenticity and Merits' (1927) – by C. R. Devadhara; 'Bhasa – a study' by A. D. Pushalkar (1940)

३- ,, "The plays Ascribed to Bhasa, their authenticity and Merits" by C. R. Devadhara (Published by Oriental Book Agency, 1927)

के प्रति आस्था रख कर भास-सिद्धान्त को मान लेना ही श्रेयस्कर प्रतीत होता है ।

वैसे इस पर और अनुसन्धान की आवश्यकता नहीं है, अथवा यह भास-सिद्धान्त सर्वथा सबल एवं सुप्रतिष्ठित है,अथवा विरोधियों की युक्तियां पूर्णरूपेण उपेक्षणीय हैं- ऐसा कहने का दुस्साहस संभवत: किसी को नहीं होगा । पहले ही कहा जा चुका है कि भास अथवा उनके ग्रन्थों के प्रामाण्या-प्रामाण्य के विचार पर पृथक रूप से शोध-कार्य किया जा सकता है ।जो कुछ भी हो इतना तो निश्चित है कि भास के नाम से प्रसिद्ध इन तेरह नाटकों में से जो छ: नाटक महाभारतमूलक हैं,वे विक्रमीय प्रथम शताब्दी तक के नाट्य-साहित्य के अन्तर्गत ही आयेंगे । प्रस्तुत निबन्ध का विषय उन्हीं नाटकों के कथानकों का अध्ययन है । भास अथवा कालिदास की तिथि की समस्याओं पर आलोचना उस अध्ययन की पूर्वपीठिका मात्र है । विषय-प्रवेश के लिए उन पर अकिंचित् विचार करना अपरिहार्य था, इसीलिए प्रस्तुत अध्याय में प्रतिष्ठित विद्वानों के मान्य मतों का दिग्दर्शन कराकर उन पर आस्था प्रकट की गयी ।

भास-सिद्धान्त के विरोधियों के मतों की समालोचना करते हुए यह कहा जा सकता है कि जो विद्वान् इन नाटकों को चाक्यारों की रचना मानते हैं, वे वस्तुत: इन रूपकों की उपादेयता के प्रति घोर अन्याय करते हैं ।भाषा,नाट-कीयता एवं रस— सभी दृष्टि से ये रूपक अत्यन्त हृदयग्राही हैं । आगामी अध्यायों में इनकी विवेचना भी इस बात को पुष्ट करेगी । इतने उत्कृष्ट रचनाओं को चाक्यारों की लेखनी-प्रसूत मानना युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता ।चाक्यारों के पास इतनी काव्य प्रतिभा नहीं है कि वे ऐसे उच्चकोटि के नाटकों का प्रणयन कर सकें । यदि ये चाक्यारों की ही रचना होतीं तो वे अवश्य प्रस्तावना में अपने कर्तृत्व का संकेत करते । इतने सुन्दर रूपकों की रचना करके रचयिता यश: प्राप्ति के प्रति उदासीन हो —यह संभव नहीं है ।रचयिताओं की ऐसी उदार प्रवृत्ति वैदिक अथवा वैदिकोत्तर युग के प्रारम्भ में ही दृष्टिगोचर होती है । चाक्यारों की जीविका नाटक से ही सम्बन्धित होती है।अतएव इतने उत्कृष्ट नाटकों की रचना के सामर्थ्य का प्रचार उनकी जीविका की दृष्टि से भी महत्व-पूर्ण है । ऐसी परिस्थिति में प्रस्तावना में रचयिता के नामोल्लेख का अभाव

इन रूपकों को न केवल चाक्यारों की रचना होने से बचाता है,अपितु उनकी प्राचीनता को भी प्रतिष्ठित करता है । इस विषय में सुकथंकर जी के मत की किंचित् विवेचना भी आवश्यक है। सुकथंकर जी इन रूपकों की प्रस्तावना में ग्रन्थकर्ता के नामोल्लेख के अभाव को प्राचीनता का हेतु नहीं मानते ।उनका कहना है कि अश्वघोष के शारिपुत्र प्रकरण के तुर्फान में उपलब्ध पाण्डुलिपि के ग्रन्थान्त (Colophon) में ग्रन्थकर्ता के नाम का स्पष्ट उल्लेख है , अत: प्राचीन नाटकों में ग्रन्थकार के नामोल्लेख की प्रथा नहीं थी--यह संभावना निराधार प्रतीत होती है । सुकथंकर जी के इस मत का खण्डन इसी से किया जा सकता है कि यद्यपि प्रारंभ में अश्वघोष को एक सुप्राचीन नाटककार के रूप में स्वीकार कर लिया गया था, तथापि बाद के अनुसन्धानों से वे कालिदास के परवर्ती ही सिद्ध हुए हैं[१] । भास तो कालिदास मनस्क के भी पूर्ववर्ती हैं । इस प्रकार भास और अश्वघोष के बीच के समय का व्यवधान कालिदास और अश्व-घोष के बीच के व्यवधान से दीर्घ है । ऐसी अवस्था में कोई भी दृढ़ता के साथ यह नहीं कह सकता कि कालिदास अथवा अश्वघोष के समय में जो नियम प्रचलित रहे हों,वे भास के समय भी रहे होंगे ।रचना के कर्तृत्व के प्रति उदासीनता प्राचीनता के ही परिचायक हो सकते हैं,अर्वाचीनता के नहीं ।यदि ये तेरह नाटक अर्वाचीन चाक्यारों की रचना होती तो इनमें नाट्यकार के नाम का उल्लेख अवश्य होता । केरल के अतिरिक्त अन्य प्रान्तों में इनकी अनुपलब्धि भी इनके भास-कृत होने में किसी प्रकार की विप्रतिपत्ति को जन्म नहीं दे सकती ।अभी संस्कृत ग्रन्थों की समस्त पाण्डुलिपियों की उपलब्धि भी तो नहीं हुई है । न जाने कितनी पाण्डुलिपियाँ अभी भी अज्ञातवास कर रही होंगी ।उत्तरी भारत की राजनैतिक उथल-पुथल भी इस स्थल पर भास के नाटकों की अनुपलब्धि का कारण हो सकती है । प्राचीन ग्रन्थों में प्राप्त उद्धरणों के अभाव का जहाँ तक प्रश्न है ,हो सकता है वे अंश लेखक के प्रमादवश छूट गये हों । यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि उपलब्ध रूपक में उन छूटे हुए अंशों को पुन: समाविष्ट कर

१- द्रष्टव्य- 'Date of Kalidasa' by K.C. Chattopadhyaya

देने का उचित अवकाश है । महामहोपाध्याय कुप्पुस्वामी शास्त्री जी का कहना है कि `स्वप्नवासवदत्तम्` तथा `प्रतिज्ञा` नाटक में विवाह के लिए `सम्बन्ध` शब्द का प्रयोग हुआ है, जो आज भी इसी अर्थ में केरल के चाक्यारों में प्रयुक्त होता है-अतएव ये नाटक चाक्यारों की ही रचना हो सकती हैं । कुप्पुस्वामी जी के इस मत का खण्डन सरलता से किया जा सकता है, क्योंकि हिन्दी में भी विवाह के लिए `सम्बन्ध होना`, `सम्बन्ध तय होना` इत्यादि कहा जाता है, बंगाल में भी विवाह के अनुष्ठान से पूर्व चलने वाली बातचीत को `सम्बन्ध` ही कहते हैं । अतएव `विवाह` के लिए `सम्बन्ध` शब्द का प्रयोग केवल चाक्यारों में ही होता हो-ऐसी बात नहीं ।

ये नाटक इतने दीर्घ समय तक अपने मौलिक स्वरूप की रक्षा करने में समर्थ हुए हों—इस बात की बहुत कम संभावना है । स्थान-स्थान पर भाषा की कृत्रिमता मन को शंकाकुल बना देती है । `कर्णभार` में प्राप्त इस प्रकार के एक सन्दिग्ध अंश पर प्रस्तुत निबन्ध के अष्टम अध्याय में विचार भी किया गया है । परन्तु केवल इसी बात के आधार पर भास-सिद्धान्त का तिरस्कार करना अनुचित होगा, क्यों कि कालिदास की कृतियों में भी इस प्रकार के अनेक सन्दिग्ध स्थल हैं । रामायण और महाभारत तो ऐसे प्रक्षेपों के लिए प्रसिद्ध ही हैं । किन्तु ऐसे प्रक्षेपों के होने पर भी जैसे रामायण और महाभारत से वाल्मीकि और वेदव्यास के कर्तृत्व को पूर्णतया पृथक् नहीं किया जाता, जिस प्रकार `विक्रमोर्वशी` के सन्दिग्ध चतुर्थ अंक के अथवा शाकुन्तल के तृतीय अंक के सन्दिग्ध अंशों की उपस्थिति में भी उन दोनों नाटकों में कालिदास के कर्तृत्व का तिरस्कार नहीं किया जाता-- उसी प्रकार भास के रूपकों में केवल ऐसे कतिपय स्थलों को देख कर उन्हें भासकृत मानने में असम्मत होना उचित नहीं है । यह अवश्य है कि जहाँ कहीं ऐसे स्थल हों, उन पर विवेचना न करके आगे बढ़ना अनुचित है । प्रस्तुत निबन्ध के षष्ठ अध्याय में ऐसी शंकाओं पर यथासाध्य विचार किया गया है । यहाँ इस बात को निःसंकोच कह देना उचित प्रतीत होता है कि भास के नाम से प्रकाशित त्रिवेन्द्रम नाटकों में से

'बालचरित' की प्रामाणिकता भास सिद्धान्त मानने वाले विद्वानों के लिए अनुसन्धान सापेक्ष्य है । 'बालचरित' को 'हरिवंश' पर आधारित मान लिया जाय तो इसमें भास का कर्तृत्व सन्देहात्मक बन जायेगा, क्यों कि हरिवंश के ईसवी शताब्दियों में रचित होने की संभावनाकी जाती है । इस दृष्टि से भास हरिवंश के रचना-काल से पूर्ववर्ती होकर उसे अपने रूपक के आधार के रूप में ग्रहण नहीं कर सकते । अत: या तो 'बालचरित' के आधार के रूप में किसी अन्य प्राचीनतर कथा का अन्वेषण करना पड़ेगा या 'भासनाटक-चक्र' में से बाल-चरित का बहिष्कार करना पड़ेगा । यह विषय प्रस्तुत निबन्ध की सीमा के बहिर्भूत होने के कारण इस पर अधिक विचार-विमर्श न करके केवल आगामी अनुसन्धित्सु को इसके प्रति जागरूक होने का संकेत मात्र दिया जा रहा है । इस रूपक को छोड़ कर शेष रूपकों के भास-कृत होने में सन्देह नहीं होना चाहिए । उनका आधार भास से प्राचीनतर होने के कारण उनके विषय में ऐसा सन्देह उठ ही नहीं सकता । इनमें स्थान-स्थान पर परवर्ती काल के हाथों का स्पर्श अवश्य है, किन्तु उससे भास का कर्तृत्व नष्ट नहीं होता-इस बात की विवेचना तो अभी-अभी कर चुके हैं ।

भास की सुनिश्चित तिथि क्या हो सकती है, इस पर दृढ़तापूर्वक कुछ कहना संभव नहीं है । हमारे देश में इतिहास-लेखन के आदर्श की भिन्नता ही इस असमर्थता का हेतु है । इससे केवल भास की ही नहीं, किन्तु अतीत के प्राय: सभी साहित्यकार एवं शासकों का तिथि-निर्धारण एक समस्या का रूप धारण कर लेता है । भास के नाम से प्रकाशित नाटकों की तिथि पाँचवीं शताब्दी ई०पू० से लेकर ग्यारहवीं शताब्दी ई० तक के सुदीर्घ काल में दोलाय-मान है । सुक्थंकर जी ने उसकी जो सूची दी है[१] --यहाँ पर उसका उद्धरण दे देना अप्रासंगिक न होगा । --

---

१- Journal of Bombay Branch of Royal Asiatic Society Vol. 26 (Article No. XI)

पाँचवीं शताब्दी ई०पू० - भिडे (Bhede)

तृतीय ,, ,, - महामहोपाध्याय गणपति शास्त्री

प्रथम ,, ,, - जायसवाल तथा चौधुरी

द्वितीय शताब्दी ई० - कोनो, लिण्डेन्यु और सुलाई (Sulai)

तृतीय ,, ,, - बैनर्जी-शास्त्री, कीथ और बैकोबी

चतुर्थ ,, ,, - लेस्नी (Lesny) तथा विन्टरनिट्स

सातवीं ,, ,, - बार्नेट और नेरूरकर

नवीं ,, ,, - काणे

दसवीं ,, ,, - रामावतार शर्मा पाण्डे

ग्यारहवीं ,, ,, - रङ्गाचार्य रेड्डी

यद्यपि सुकथंकर जी ने इस सूची की विशेष व्याख्या नहीं की, तथापि यहां पर इस बात को स्पष्ट कर देना उचित प्रतीत हो रहा है कि प्रस्तुत सूची में दो वर्ग के विद्वानों के मत हैं- एक जो भास-सिद्धान्त को मानते हैं, और दूसरे जो उसका विरोध करते हैं। बार्नेट, रामावतार शर्मा, रंगाचार्य रेड्डी आदि विद्वान् भास-विरोधी हैं । वे त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज़ से प्रकाशित इन रूपकों को चाक्यार अथवा किसी परवर्ती कवि की रचना मानते हैं । इन विद्वानों के मतों की विवेचना कर चुके हैं । प्रथम वर्ग के विद्वान् जो भास-सिद्धान्त को मानते हैं, उनमें भी दो विभाग हैं-एक तो वे जो कालिदास की तिथि प्रथम अथवा द्वितीय ई०पू० मानते हैं और दूसरे वे जो कालिदास की तिथि को ईसवी सनों में खींच लाते हैं । कालिदास ने भास को अपना पूर्ववर्ती माना है, अतएव भास-सिद्धांत को मानने वाले विद्वान् प्राय: कालिदास की तिथि से ही भास की तिथि का अनुमान लगाते हैं।

कालिदास की तिथि के विषय में जितने मत प्रचलित हैं, उनमें आज प्रथम शताब्दी ई०पू० वाले मत को ही सर्वाधिक प्रतिष्ठा मिली हुई है । कालिदास को प्रथम शताब्दी ई०पू० में रखने की युक्तियों को आगे प्रस्तुत किया जायेगा । अतएव इस समय इन युक्तियों की आलोचना बिना किये ही उसे स्वीकार कर भास की तिथि के विषय में कुछ संभाव्य विचार प्रकट किया जायेगा ।

कालिदास ने भास को अपने पूर्ववर्ती नाटककारों में से एक यशस्वी नाटककार के रूप में उल्लिखित किया है। यदि कालिदास का समय प्रथम शताब्दी ई० पू० मान लिया जाय तो भास की तिथि तृतीय अथवा द्वितीय शताब्दी ई०पू० मानना अनुचित न होगा —— क्योंकि एक कवि की ख्याति के प्रसार के लिये कम से कम एक सौ अथवा दो सौ वर्षों के समय की अपेक्षा तो होती ही है। कालिदास के समय भास अपने नाटकों के कारण इतने प्रसिद्ध हो चुके थे, कि सामाजिक उनकी तथा कालिदास के पूर्ववर्ती अन्य यशस्वी नाटककारों की कृतियों के सम्मुख उनके "मालविकाग्निमित्र" का आदर करेंगे या नहीं — इस पर वाणी के वरदपुत्र कालिदास को भी आशंका हो रही थी। अतः भास का समय ई० पू० तृतीय अथवा द्वितीय शताब्दी मानना अनुचित नहीं है।

भास की रचना-शैली एवं भाषा भी ऐसी है कि उससे इन रूपकों को सरलता से ई० पू० के लौकिक संस्कृत साहित्य में अन्तर्भुक्त किया जा सकता है। उनके रूपकों में भरतमुनि के नाट्यशास्त्र के नियमों के विपरीत वध, शयन इत्यादि दृश्यों की उपस्थिति, सूत्रधार के द्वारा उनका आरम्भ होना, प्रस्तावना में रचयिता के नाम के उल्लेख का अभाव, अपाणिनीय प्रयोग — इत्यादि बातें उन्हें लौकिक संस्कृत के अन्यान्य रूपकों से पृथक करती हैं। इनमें से कुछ बातें दक्षिण भारत में उपलब्ध अन्य नाटकों की पाण्डुलिपियों में भी पायी जाती हैं। किन्तु उनके आधार पर जिसप्रकार भास-विरोधी विद्वान भास के नाम से प्रकाशित इन रूपकों को अर्वाचीन ठहराने का प्रयत्न करते हैं, उसी प्रकार भास-सिद्धान्त को मानने वाले विद्वान उन्हीं के आधार पर इन त्रिवेन्द्रम रूपकों को भास-कृत एवं प्राचीन सिद्ध करने का भी प्रयास कर सकते हैं। भास के रूपकों की प्रस्तावना-शैली में अत्यन्त सम्बद्ध होने के कारण दक्षिण-भारत के संस्कृत के परवर्ती नाटककारों ने उसका अनुकरण किया हो और नाटककारों एवं अन्य पाण्डुलिपि के प्रतिलिपि कर्त्ताओं ने कालिदास, हर्ष इत्यादि नाटककारों की कृतियों की प्रस्तावना को भी उसी सांचे में ढाल दिया हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। भास की जो ख्याति थी, उसे देखकर उनकी मौलिक प्रतिभा के विषय में सन्देह नहीं रह जाता। अतएव प्रस्तावना की ऐसी शैली यदि मूलतः उसी प्रतिभावान कवि की मौलिक उद्भावना हो तो उसमें शंका करने की तो कोई कारण नहीं

होना चाहिये । महामहोपाध्याय टी० गणपति शास्त्री[1], ए० एस० पी अय्यर[2], डा० स्वरूप[3] आदि विद्वान इन नाटकों की रचना-शैली के आधार पर लौकिकसंस्कृत के नाटकों से पृथक मानते हैं । अतः इस प्रकार से विचार करने पर भी भास की तिथि ई० पू० द्वितीय अथवा तृतीय शताब्दी मानना युक्तिसंगत ही प्रतीत होता है । पुसालकर जी ने इन रूपकों में अभिव्यक्त भास के तत्कालीन राजनैतिक, धार्मिक एवं सामाजिक तथ्यों का जो विवरण[4] अपने ग्रन्थ में दिया है, उसे देखते हुए भी ई० पू० द्वितीय अथवा तृतीय शताब्दी को भास के स्थितिकाल के रूप में मानने में किसी प्रकार की आशंका नहीं होती ।

भास के रूपकों में से मध्यमव्यायोग, दूतवाक्य, दूतघटोत्कच, कर्णभार, ऊरुभंग तथा पञ्चरात्र — ये ६ ही रूपक महाभारतमूलक होने के कारण प्रस्तुत निबन्ध के लिये विचारणीय विषय हैं । ये ६ रूपक महाभारत-मूलक हैं, इस बात पर शायद ही किसी को सन्देह हो । सभी विद्वानों ने इन्हें महाभारत-मूलक ही माना है । सुक्थंकर जी ने " ऊरुभंग " को एक स्वतः-सम्पूर्ण दुःखान्त रूपक न मान-कर किसी अन्य रूपक का एक विच्छिन्न अंश माना है[5] । अतएव उनकी दृष्टि से तो पांच ही महाभारतमूलक रूपक होने चाहिये । सुक्थंकर जी का यह मत मान्य प्रतीत नहीं होता । उनको छोड़कर अन्य किसी विद्वान ने "ऊरुभंग" के प्रति ऐसा दृष्टिकोण नहीं रखा है । रूपक के एक विच्छिन्न अंश में जिस अपूर्णता का आभास होता है, वैसा आभास "ऊरुभंग" में नहीं होता । दशरूपकोक्त रूपक के लक्षण भी " ऊरुभंग" में भलीभाँति घटित हो जाते हैं । अतएव सुक्थंकर जी के मत में किसी भी दृष्टि से सार नहीं दिखाई पड़ता । वे तो भास के नाम से प्रकाशित सभी महाभारतमूलक रूपकों को किसी वृहद् महाभारतीय नाटक के एक एक विच्छिन्न अंश मानना चाहेंगे, पर ऐसा करने पर क्या विप्रतिपत्तियाँ उठ खड़ी होंगी —

---

१. द्रष्टव्यः— गणपति शास्त्री द्वारा सम्पादित स्वप्नवासवदत्तम् की भूमिका
2. " :— 'Bhasa' by A.S.P. Ayyar (Chapter IV)
3. " :— They exhibit a family likeness form a group of themselves.
४. " :— 'Bhasa — a study' (Part-II) by A.D Pushalker
५. " :— Journal of the Bombay Branch of Royal Asiatic Society Vol I (1925)

अश्वघोष के " बुद्धचरित " पर कालिदास की कृतियों की छाया दिखायी पड़ती है। बुद्धचरित के तृतीय सर्ग के तेरहवें श्लोक से लेकर चौबीसवें श्लोक तक का वर्णन, रघुवंश के सप्तम सर्ग के पाँचवें श्लोक से लेकर सतरहवें श्लोक तक के वर्णन से तथा कुमारसम्भव के सप्तम सर्ग के छप्पनवें श्लोक से लेकर सतरहवें श्लोक तक के वर्णन से बहुत अधिक साम्य रखता है। यदि कालिदास अनुकर्ता होते तो वे एक ही अनुकार्य-विषय की पुनरावृत्ति अपनी दो कृतियों में न करते। फिर अश्वघोष की कृति में कालिदास के प्रभाव के ऐसे अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं। पण्डित क्षेत्रेश चन्द्र चट्टोपाध्याय ने[1] अपने ग्रन्थ में कितने ही ऐसे उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। अश्वघोष की कविता में कालिदास की कविता का शब्दगत सादृश्य ही नहीं, किन्तु पदगत, अर्थगत और अलंकारगत सादृश्य भी मिलता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि अश्वघोष के समय में कालिदास की कविता बहुत प्रसिद्ध हो गयी थी और उन्होंने अवश्य ही उनकी कविताओं का पर्याप्त पारायण किया था – अन्यथा इतना अधिक सादृश्य कभी न पाया जाता। प्रतिभा के बल से जो बात एक कवि कह देता है, वही दूसरा भी कह सकता है, किन्तु उक्ति अर्थ, पद, शब्द आदि के सादृश्य के इतने अधिक दृष्टान्त मिलना कदापि संभव नहीं है। यदि ये उक्तियाँ अश्वघोष की अपनी होती तो इनकी एकाधिक बार आवृत्ति होनी चाहिये थी— किन्तु अश्वघोष की कृतियों में ऐसा नहीं दिखाई पड़ता। कालिदास की कृतियों में ही पुनरावृत्ति दृष्टिगोचर होती है। ध्यान देने की बात यह है कि कालिदास की कृति में उस एक श्लोक अथवा वाक्यांश से जिस सौन्दर्य की उत्पत्ति हुई है, अश्वघोष की रचना में वैसी नहीं हो सकी है। चट्टोपाध्याय जी ने अपने ग्रन्थ में इसके भी अनेक दृष्टान्त उपस्थित किये हैं और उन्हीं सब के आधार पर उन्होंने कालिदास को अश्वघोष से प्राचीन माना है[2]। के० जी० शंकर ने अपने लेख में[3] अश्वघोष से कालिदास की पूर्व प्राचीनता को सप्रमाण सिद्ध किया है। कालिदास अश्वघोष से प्राचीन थे, इस इस बात पर संभवतः अब बहुत कम विद्वानों को सन्देह होगा। कालिदास अश्वघोष के बाद नहीं हो सकते, यह बात पहले ही सिद्ध कर चुके हैं। यदि कोई फिर भी दुराग्रह करे तो वह कालिदास की काव्यप्रतिभा के साथ अन्याय ही करेगा। अब तो

---

1. द्रष्टव्य – 'Date of Kalidasa' by Pt. K. C. Chattopadhyaya
2. द्रष्टव्य:– " " " " " " " "
3. " :– INDIAN HISTORICAL QUARTERLY Vol. I

कोई पत्पमट्टि को भी कालिदास के पूर्ववर्ती कह कर कालिदास को उनका ऋणी सिद्ध करेगा। इस प्रकार के दुराग्रह की आशा किसी भी बुद्धिमान काव्यमर्मज्ञ से नहीं की जा सकती। काव्यज्ञ सहृदय और दुराग्रही आलोचक की कोई तुलना नहीं हो सकती। 'किसकी प्रतिभा मौलिक है और कौन किसका ऋणी है'—इसका ज्ञान सहृदय को ही हो सकता है, दुराग्रही आलोचक को नहीं। अतः कालिदास और अश्वघोष के काव्यों के पौर्वापर्य के निश्चय करते समय जब सहृदय विद्वानों के द्वारा कालिदास अश्वघोष से पूर्ववर्ती ठहरते हैं, तब हमें उन्हीं की सप्रमाण युक्तियों पर आस्था रखनी चाहिए। 'संयुक्त रत्न-पिटक', धर्म पिटक निदान, जिसका अनुवाद ४७२ ई० में चीनी भाषा में हुआ है,[1] उसमें अश्वघोष को कनिष्क का गुरु बताया गया है। कनिष्क का समय ७८ ई० है। उनके समकालीन एक कवि पर कालिदास की रचनाओं का इतना अधिक प्रभाव पड़ने के लिये अवश्य ही एक लम्बा वर्षकाल की अवधि की अपेक्षा है। अतएव कालिदास का स्थितिकाल प्रथम शताब्दी ई० पू० माना जा सकता है। प्रो० विलियम जोन्स भी कालिदास का समय प्रथम शताब्दी ई० पू० ही मानते हैं।

कालिदास ने अपने प्रथम नाटक में पुष्यमित्र के पुत्र अग्निमित्र को नायक बनाया है। अग्निमित्र शुंगवंश का कोई अतिप्रसिद्ध नृपति तो था नहीं कि उसके राज्याभिषेक के बहुत दिनों बाद भी वह इतने स्मरणीय बने रहते कि उनको कालिदास जैसे कवि अपने नाटक का नायक बनाते। अतः मालविकाग्निमित्र में अग्निमित्र का नायकत्व तथा पुष्यमित्र के विषय में कालिदास की सूक्ष्म जानकारी ही इस बात के परिचायक हैं कि कालिदास अग्निमित्र के समकालीन अथवा उनके निकटतम परवर्ती रहे होंगे। इससे भी कालिदास के स्थितिकाल के विषय में प्रथम शताब्दी ई० पू० की मान्यता सुप्रतिष्ठित होती है।

परम्परा के अनुसार कालिदास उज्जयिनी के सम्राट्- विक्रमादित्य के राज्यकाल में विद्यमान थे। " विक्रमोर्वशीयम् " में ६ प्रत्यय के विषय में डॉ० वी० [illegible] का कथन है कि कालिदास ने विक्रमोर्वशीयम् (विक्रमेण लब्धा उर्वशी तामधिकृत्य कृतं नाटकम्) में बिना अन्य समास के ही पाणिनि के नियम का

---

[1] Bunyis Nanjis Catalogue of the Chinese Tripitaka Nos. 1329-1330

यह ठीक भी है, क्योंकि वनपर्व में अर्जुन ने उर्वशी को "वंशजननी" कहा है । अतएव उर्वशी-पुरूरवा की कथा का आधार लेकर रची हुई नाट्यकृति को महाभारतमूलक कहा जाय तो अनुचित नहीं होगा । फिर, पुराणों को विक्रमोर्वशी का आधार मानने में भ्रान्ति भी हो सकती है । यदि कालिदास पाँचवीं अथवा छठी शताब्दी के होते तब तो मत्स्य अथवा पद्मपुराण उनकी रचना का आधार बन सकता था, किन्तु प्रथम शताब्दी ई० पू० का समय ही कालिदास के आविर्भाव-काल के रूप में अधिक मान्य है । ऐसी अवस्था में ये पुराण विक्रमोर्वशी के आधार नहीं हो सकते । प्रसिद्ध भारतीय विद्वान पी० वी० काणे ने अपने "हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र" में पुराणों की तिथि ३०० ई० से ६०० ई० के मध्य में निर्धारित की है[१] । प्रख्यात पाश्चात्य विद्वान मैकनील भी महाभारत को ही पुराणों का स्रोत मानते हैं । वे भी पुराणों की तिथि छठी शताब्दी ही मानते हैं[२] । अतः "विक्रमोर्वशी" का आधार मत्स्य अथवा पद्मपुराण को न मानकर महाभारत को ही मानना श्रेयस्कर प्रतीत होता है । ~~महाभारत को ही कालिदास के शाकुन्तल नाटक का भी आधार~~

महाभारत को ही कालिदास के शाकुन्तल नाटक का भी आधार माना जाता है । यह ठीक भी है, क्योंकि शाकुन्तल के आधार के रूप में पद्मपुराण का जो उल्लेख किया जाता है, वह अनुचित है । हमें विक्रमोर्वशी के आधार की चर्चा करते समय युक्तिपूर्वक यह दिखाया जा चुका है कि यह पुराण कालिदास की परवर्ती रचना होने के कारण उनकी किसी नाट्यकृति का आधार बनने में समर्थ नहीं है । साधारणतः विद्वानों ने भी महाभारत को ही शाकुन्तल नाटक के आधार के रूप में स्वीकार किया है । पद्मपुराण को महत्व देने वाले विद्वानों में निम्नलिखित डा० [illegible] शर्मा का नाम उल्लेखनीय है । इनके अतिरिक्त [illegible] सरकार ने अपने "शकुन्तलारहस्य" नामक बंगला भाषा में लिखे हुए ग्रन्थ में तथा डा० सुरेन्द्र नाथ शास्त्री ने भी अपने शोध-निबन्ध में पद्मपुराण को ही शाकुन्तल नाटक का आधार माना है । ये और इनके अतिरिक्त दो चार अन्य विद्वानों को छोड़कर प्रायः सामान्यतः सभी संस्कृत के विद्वानों के द्वारा शाकुन्तल

---

१. वनपर्व ४६।४०-४१।।
2. History of Dharmashastra (Vol. IV) by P.V. Kane p.IX
३. "The Mahabharata was the chief source of the Puranas. Essentially related to the Mahabharata is a group of legendary works called, Puranas, of which there were eighteen. Derived their Subject-matter from the epics, the earliest of them can not be older than 6th cen. A.D.
— India's Past (1956) Ch.V.

कालिदास की पूर्वोक्त भावाभिव्यक्ति मौलिक है, क्यों कि वैसी ही भावा-
भिव्यक्ति रघुवंश में [1] भी दृष्टिगोचर होती है । यदि वह पद्मपुराण से ली गई
होती तो स्वाभाविक क्रम से उसका अनुकरण केवल उनकी एक रचना में ही परिलक्षित
होता, कवि दूसरी रचना में उसकी पुनरावृत्ति नहीं करते ।

पद्मपुराण की कथा के किसी किसी स्थान में पुराणकर्ता ने महाभारत
के शकुन्तलोपाख्यान एवं कालिदास के शाकुन्तल की उक्तियों का एक मिश्रित रूप प्रस्तुत
करने का व्यर्थ प्रयास किया है । महाभारत में दुष्यन्त शकुन्तला से कहते हैं-

" सुव्यक्तं राजपुत्री त्वं यथा कल्याणि भाषसे ।
भार्या मे भव सुश्रोणि ब्रूहि किं करवाणि ते ॥

और " शाकुन्तल " में दुष्यन्त शकुन्तला को देखकर यह स्वगतोक्ति करते हैं-

" असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा
यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः ।
सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु
प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः ॥"

पद्मपुराणकर्ता ने उपर्युक्त दोनों उक्तियों को मिला-जुला कर अपने दुष्यन्त से कहलवाया
है -

' सुव्यक्तं राजपुत्रीयं यथा कल्याणि भाषसे ।
अन्यथा पौरवाणां हि मनो नैवानुरज्यति ॥
भार्या भवतु सुश्रोणि ममैव शुभदर्शना । "

पद्मपुराण का यह श्लोक उसमें वर्णित कथा की दृष्टि से नितान्त
असांगतिक प्रतीत होता है, क्योंकि पुराणकर्ता ने पहले शकुन्तला के प्रति दुष्यन्त के
आकर्षण का उल्लेख न करके ही उनके मुख से " अन्यथा पौरवाणां हि मनो नैवानुरज्यति'

---

1. द्रष्टव्य:- " [illegible] कन्या पुण्यावर्तितं यथा ।
[illegible] अभिजात: [illegible] ॥" — रघुवंश

कहलाया है। पद्मपुराण की कथा में ऐसी असंगति कईबार दृष्टिगोचर होती है। पुराणकर्ता के शाकुन्तल एवं महाभारत के युगपद् अनुकरण करने का प्रयास ही इस प्रकार की असंगति के हेतु हैं।

पद्मपुराण के बंगाल संस्करण के पातालखण्ड में दिलीप तथा अन्यान्य रघुवंशीय नृपतियों का जो वर्णन हुआ है, वह भी कालिदास के " रघुवंश " का अनुकरण करता है। यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि बंगाल संस्करण में प्राप्य रघुवंश के नृपतियों की कथा से समन्वित पातालखण्ड भी आनन्दाश्रम में अप्राप्य है। विन्टरनित्ज ने पद्मपुराण के इस बंगाली संस्करण को निश्चितरूप से कालिदासोत्तरकाल में रचित बताया है। इस प्रकार पद्मपुराण को शाकुन्तल का आधार मानने वाला मत कई कारणों से निराधार सिद्ध हो जाता है। अतः महाभारत के " शकुन्तलोपाख्यान " को ही शाकुन्तल का आधार मानना उचित प्रतीत होता है।

इस प्रकार कालिदास की तीनों कृतियों के आधार सम्बन्धी मतों के प्रामाण्या-प्रामाण्य का विचार कर लेने के पश्चात् प्रस्तुत निबन्ध के विषयभूत नाट्यसाहित्य में कालिदास के विक्रमोर्वशी एवं शाकुन्तल को समाविष्ट करने में किसी प्रकार की बाधा अनुभव नहीं की गयी है।

भट्टनारायण के " वेणीसंहार" को महाभारत-मूलक मानने में आज तक किसी ने विवाद प्रकट नहीं किया है। " वेणीसंहार " की कथा महाभारत के किसी एक उपाख्यान पर आधारित न होकर अपितु महाभारत की आधिकारिक घटना कुरु-पाण्डव-युद्ध पर रचित है। अतएव इसकी महाभारतीयता पर सन्देह का अवकाश ही नहीं है। भट्टनारायण की यह रचना विक्रमीय प्रथम सहस्राब्दी तक के महाभारत-मूलक नाट्यसाहित्य के अन्तर्गत ही आयेगी। यद्यपि भट्टनारायण के समय के विषय में उनकी रचना से कोई संकेत नहीं मिलता, फिर भी इस नाटक में प्रकाशित भट्टनारायण का कालनिर्णय ही इसकी तिथि-निर्धारण की समस्या का समाधान कर देता है। संस्कृत के विभिन्न आचार्यों ने अपने ग्रन्थ में रस अथवा नाटकों के विभिन्न तत्त्वों के उदाहरण के रूप में वेणीसंहार में से उद्धरण प्रस्तुत किया है। इन आचार्यों में वामन, आनन्दवर्धन, धनिक, धनञ्जय, मम्मट तथा विश्वनाथ का नाम उल्लेखनीय है।

वामन उल्लिखित आचार्यों में प्राचीनतम हैं। उनका समय ७५० ई० से ८०० ई० के मध्य में माना जाता है। वामन ने अपनी काव्यालंकारसूत्रवृत्ति में कई बार "वेणीसंहार" का उद्धरण दिया है। इससे भट्टनारायण वामन के पूर्ववर्ती सिद्ध होते हैं। इस दृष्टि से उनका समय ७५० ई० से पूर्व माना जा सकता है।

बाण ने हर्षचरित के प्रारंभ में अपने पूर्ववर्ती कवियों के नाम अथवा उनकी रचनाओं का उल्लेख किया है। यदि भट्टनारायण बाण के पूर्ववर्ती होते तो संभव है बाण उनके नाम का भी उल्लेख करते, क्योंकि भट्टनारायण की प्रतिभा ऐसी नहीं है कि बाण से उनकी उपेक्षा की आशा की जा सके। अतएव भट्टनारायण को बाण का परवर्ती मानना युक्तिसंगत प्रतीत होता है। बाण का समय सातवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध है, अतएव भट्टनारायण का स्थितिकाल ६५० ई० से ७५० ई० के मध्य में मानना समीचीन होगा।

राजशेखर के बालभारत के महाभारत-मूलक होने में भट्टनारायण के वेणी-संहार के समान ही कोई सन्देह नहीं है। यद्यपि इस नाटक की पूर्ण प्रति अप्राप्य है, तथापि जो दो अंक उपलब्ध हैं, उन्हीं के आधार पर इतना तो ज्ञात हो ही जाता है कि यह रूपक वेणीसंहार के समान महाभारत की आधिकारिक घटना भारतयुद्ध पर आधारित है। इसकी कथावस्तु "वेणीसंहार" से भी महाभारत के अधिक विस्तृत अंश पर आधारित रही होगी — ऐसा अनुमान किया जाता है, क्योंकि इसके प्रथम अंक का आधार महाभारत के आदि पर्व की अन्यतम महत्त्वपूर्ण घटना द्रौपदी-स्वयम्वर है और द्वितीय अंक का आधार सभापर्व की प्रमुख घटना द्यूतक्रीड़ा है। द्वितीय अंक के अन्त में कवि ने द्रौपदी के मुख से भीमसेन के द्वारा कौरवों के रुधिर से अपनी भावी वेणीबन्धन की जिस प्रतिज्ञा की घोषणा करवायी है, उसमें भट्टनारायण के "वेणीसंहार" का स्पष्ट प्रभाव है। द्वितीय अंक के अन्त में भीमसेन और द्रौपदी की जिन प्रतिज्ञाओं का वर्णन है उन्हीं से नाटक की अनुपलब्ध एवं आगामी सम्भाव्य अंकों का भी अनुमान किया जाता है और इसी से कवि के भट्टनारायण के परवर्ती होने की सूचना भी मिल जाती है। भट्टनारायण का समय जैसा कि कहा जा चुका है ७५० ई० से पूर्व माना जा सकता है, अतएव राजशेखर का समय उसके बाद का होगा — ऐसा निष्कर्ष सरलता से निकाला जा सकता है।

क्षेमेन्द्र ने औचित्य विचार चर्चा में 'बालभारत' के द्वितीय अंक के ग्यारहवें श्लोक का उद्धरण किया है। क्षेमेन्द्र का समय १०३७ ई० है, अतएव राजशेखर का समय अवश्य ही इससे पूर्व होगा। बाल भारत की प्रस्तावना में राजशेखर ने 'महोदय' नगर के तत्सामाजिक की प्रशंसा की है। यह 'महोदय आधुनिक कन्नौज नगर का ही नामान्तर माना जाता है। राजशेखर ने इसी प्रस्तावना में महीपाल देव के विक्रम की स्तुति की है। इस प्रकार राजशेखर 'बालभारत' के अन्तःसाक्ष्य से कन्नौज के शासक महीपालदेव के समकालीन सिद्ध होते हैं। सियादोनी शिलालेख से इस नृपति के राज्यकाल की अन्तिम सीमा ९१७ ई० तक ठहरती है[१]। अतएव राजशेखर का समय ९१७ ई० के आस-पास का रहा होगा — ऐसा अनुमान किया जा सकता है। सोमदेव का समय ९६० ई० माना जाता है और सोड्ढल का ९९० ई०, अतएव इन सब अन्तरंग एवं बहिरंग प्रमाणों के आधार पर राजशेखर का समय ९२० ई० अर्थात् ख्रिस्तीय ~~ख्रिस्तीय~~ दशम शताब्दी मानने में कोई असुविधा नहीं है।

इस प्रकार प्रस्तुत अध्याय में उल्लिखित नाटककारों की तिथि एवं उनकी कृतियों के महाभारत-मूलक होने के प्रमाणों पर आलोचना करने के अनन्तर प्रस्तुत निबन्ध के विषयभूत नाट्य साहित्य की सूची प्रस्तुत करना उचित प्रतीत हो गया है। इस सूची में निम्नलिखित रूपकों का समावेश किया जायेगा—

भास के महाभारत-मूलक नाटक— १- मध्यमव्यायोग
२- कर्णभार
३- दूतवाक्य
४- दूतघटोत्कच
५- ऊरुभंग
६- पञ्चरात्र

कालिदास के महाभारत-मूलक नाटक— १- विक्रमोर्वशी
२- अभिज्ञान शाकुन्तल

भट्ट नारायण का नाटक — १- वेणी संहार

राजशेखर का नाटक —— १- बालभारत

अतएव प्रस्तुत निबन्ध के अध्ययन के विषय के रूप में उपर्युक्त महाभारत-मूलक नाटकों की सूची को ही सम्पूर्ण मान कर आगामी अध्यायों में विभिन्न दृष्टिकोणों से इन्हीं रूपकों की समीक्षा करने का प्रयास किया जायेगा।

१. Epigraphica Indica 1

तृतीय अध्याय

विक्रमीय प्रथम शताब्दी तक के
संस्कृत-नाटकों में गृहीत महाभारतीय उपाख्यानों के मूल रूप

संस्कृत-नाटकों में गृहीत महाभारतीय उपाख्यानों का मूल रूप

'कर्णभार' की महाभारतीय कथा :—

महाकवि भास ने महाभारत के चिरस्मरणीय पात्र कर्ण के जीवन की कुछ अत्यन्त मर्मस्पर्शी घटनाओं को एकसूत्र में पिरो कर इस करुण तथा वीररस-मिश्रित अपूर्व रूपक की रचना की है। महावीर कर्ण के जीवन की ये घटनाएँ जिन पर भास के 'कर्णभार' की कथावस्तु आधारित है, वे महाभारत के किसी एक उपाख्यान में सीमित नहीं हैं, किन्तु महाभारत के वनपर्व से लेकर 'शान्तिपर्व' तक बिखरी हुई हैं।

समग्र रूपक एक ही दृश्य की पृष्ठभूमि पर आधारित है। वह दृश्य ऐसा है — जिसमें महावीर कर्ण कौरवों की सेना का अध्यक्ष बनकर, कुरुक्षेत्र की ओर प्रस्थान करने के लिए शल्यराज द्वारा परिचालित रथ पर आरूढ़ होने जा रहे हैं। यह दृश्य महाभारत के 'कर्णपर्व' में दृष्टिगोचर होता है। केवल इसी एक दृश्य की पृष्ठभूमि में समग्र कथावस्तु का प्रसार किया गया है। कथावस्तु का कुछ अंश कर्ण और शल्यराज के संवाद के माध्यम से, कुछ कर्ण और भिक्षुक वेशधारी इन्द्र के संवाद के माध्यम से एवं रूपक के चरम अंश में क्रमानुसार कर्ण और देवदूत के संवाद के माध्यम से विकसित हुआ है। कर्ण और शल्यराज के संलाप में हमें कर्ण का जन्म, मातृपरित्यक्त कर्ण का पालन, कुन्ती का अनुरोध, कर्ण की अस्त्रशिक्षा, परशुराम का कर्ण के प्रति अभिशाप आदि घटनाओं से परिचय होता है। कर्ण और याचकरूपी इन्द्र के संलाप में हमें इन्द्र के द्वारा कपटपूर्वक कर्ण के कवच-कुण्डलों के अपहरण की घटना दृष्टिगोचर होती है। कर्ण तथा देवदूत के संवाद में हमें इन्द्र के द्वारा कर्ण की 'विमला' नामक शक्ति की प्राप्ति का ज्ञान होता है। इन घटनाओं में से 'कुण्डलाहरण' की घटना को छोड़कर शेष समस्त घटनाओं का उल्लेख हमें शान्तिपर्व में विस्तार से मिलता है। "कुण्डलाहरण" तथा इन्द्र से कर्ण का

'शक्ति-लाभ' — ये दोनों घटनाएँ महाभारत के वनपर्व के 'कुण्डलाहरण पर्व' में मिलती हैं ।

'कर्णभार' रूपक की प्रस्तावना में महावीर कर्ण के हृदय में अभूतपूर्व विषण्णता के उदय का जो समाचार मिलता है, वह महाभारतीय कथा से मेल नहीं खाता । महाभारत में अश्वत्थामा के परामर्श से जिस दिन दुर्योधन ने कर्ण को सेनापति के रूप में वरण किया, उस समय कर्ण के हृदय में किसी प्रकार का विषाद भाव उदित नहीं हुआ था । उस दिन कर्ण ने सेनापति के रूप में पूर्ण उत्साह के साथ ही समरांगण की ओर प्रस्थान किया था । 'कर्णभार' में शल्य का जो उदार एवं सहानुभूतिभावापन्न रूप चित्रित है वह भी महाभारतीय कथा के विपरीत है । महाभारत में शल्य युद्धारम्भ से पहले ही पाण्डवपक्ष को यह वचन दे चुके होते हैं कि वह युद्ध के समय कर्ण के तेज को मन्दीभूत करने का यथासाध्य प्रयत्न करेंगे । अतएव इस वचन के अनुरूप उस दिन सारथि शल्य ने तिरस्कार इत्यादि नाना प्रकार से कर्ण के आत्मविश्वास को दुर्बल बनाने का प्रयत्न किया ।

कर्णभार के सातवें श्लोक में कर्ण कहते हैं —

'भोः कष्टम् ।

पूर्वं कुन्त्यां समुत्पन्नो राधेय इति विश्रुतः ।
युधिष्ठिरादयस्ते मे यवीयांसस्तु पाण्डवाः ।।'

इस कथन का स्रोत महाभारत में कई स्थलों पर उल्लिखित है । महाभारत के 'आदि', 'वन', 'उद्योग', 'भीष्म' इत्यादि कई पर्वों में कर्ण के जन्म-वृत्तान्त का वर्णन हुआ है । सर्वाधिक विस्तृत वर्णन वनपर्व में प्राप्त होता है । वनपर्व के ३०५[1] वें अध्याय से लेकर ३१० वें अध्याय तक वैशम्पायन जनमेजय को कर्ण के जन्म की कथा सविस्तार सुनाते हैं । इन अध्यायों में कुन्ती के द्वारा दुर्वासा की परिचर्या और वरदान के रूप में दुर्वासा से प्रत्येक देवता को वशीभूत करने वाले मन्त्र की प्राप्ति, वर के प्रभाव की परीक्षा के लिए कुन्ती के द्वारा सूर्य का आवाहन, सूर्य का आविर्भाव, युवारूप से सूर्य और कुन्ती का मिलन, कुन्ती की मातृत्व-प्राप्ति, सूर्य के द्वारा कुन्ती को पुनः कन्याभाव-प्राप्ति का वरदान, कवच-कुण्डलधारी सूर्यपुत्र कर्ण की उत्पत्ति, मंजूषा में स्थित कर्ण को रखकर कुन्ती के द्वारा उसका अश्वनदी में निक्षेप, स्नान करते हुए अधिरथ नामक सूत एवं उसकी पत्नी राधा को नदी में प्रवाहित उस

१– द्रष्टव्य 'श्रीमन्महाभारतम्' Edited by T. R. Krishnacharya, T. R. Vyasacharya Nirnay Sagar Press, Bombay (1907)

मंजूषा की प्राप्ति, अधिरथ सूत के घर में शिशु कर्ण का पालन-पोषण और उसका 'राधेय' नामकरण इत्यादि घटनाओं का सुदीर्घ वर्णन है । 'उद्योगपर्व' में पहले-पहल श्रीकृष्ण के मुख से कर्ण अपना वास्तविक परिचय सुनते हैं, किन्तु इसी पर्व में कर्ण को कुन्ती स्वयं परिचय बताती है । उद्योगपर्व में कर्ण-कुन्ती का संवाद बहुत ही मर्मस्पर्शी है । भास के कर्णभार के उस श्लोक का प्रेरणास्थल उद्योगपर्व का यही अंश हो सकता है । इस अंश ने केवल भास को, किन्तु रवीन्द्रनाथ को भी अभिभूत कर दिया था और भास के समान ही रवीन्द्रनाथ ने भी इस अंश को अपनाया था । अपने कौमार्य की रक्षा के लिए कुन्ती ने जिस पुत्र को एक दिन निर्दयता के साथ नदी में बहा दी है, विधि के निष्ठुर परिहास से बाद में उसी पुत्र के पराक्रम से भयभीत होकर उसे अन्य पुत्रों की रक्षा के लिए उससे अभय माँगना पड़ता है । तब एक पुत्रवात्सल्यहीना जननी के स्वार्थ में और एक मातृस्नेहवंचित पुत्र के क्षोभ में संघर्ष होता है । इस अपरिचित माता-पुत्र की मिलन का जैसा वर्णन महाभारत के 'उद्योग पर्व' के १४५ वें तथा १४६ वें अध्याय में मिलता है, वैसा वर्णन संसार के अन्य किसी साहित्य में शायद ही मिले । गंगा के पावन तट पर एक माता अपने चिर विस्मृत पुत्र से मिलने जाती है । पुत्र उनका स्वागत करता है 'मैं राधेय अधिरथ का पुत्र कर्ण आपका अभिवादन करता हूँ, आज्ञा दीजिए क्या करूँ, आप क्या चाहती हैं? माता कुन्ती कहती हैं नहीं, तुम कौन्तेय हो, कुन्ती के पुत्र हो । तुम 'राधेय' नहीं , तुम अधिरथ के पुत्र नहीं । हे कर्ण ! तुम मेरा विश्वास करो, तुम सूतकुल में उत्पन्न नहीं हुए हो । मैं ही तुम्हारी माता हूँ, कुन्तीराज के भवन में मैंने ही तुम्हें जन्म दिया था । अतः हे पुत्र ! तुम 'पार्थ' हो । अंशुमाली सूर्य के औरस से तुम्हारा जन्म है, तभी तो तुम दिव्य कवच और कुण्डल से सुशोभित होकर उत्पन्न हुए थे । तुम भ्रम के कारण धार्तराष्ट्रों से सौहार्द रख रहे हो और अपने भाइयों को नहीं पहचान रहे हो । तुम अर्जुन के साथ हो जाओ , जगत में कर्ण और अर्जुन की जोड़ी राम और जनार्दन की जोड़ी के समान प्रसिद्ध हो जाय । तुम धार्तराष्ट्रों का परित्याग कर अपने भाइयों से मिल जाओ और शत्रुओं का विनाश करो । गुण में , आयु में तुम पाण्डव भाइयों में ज्येष्ठ हो, इसलिए अपने को सूतपुत्र न कहो, तुम पार्थ हो ।' सूर्य ने भी कुन्ती के वचनों का अनुमोदन कर कर्ण को समझाया , किन्तु कर्ण अपने निश्चय पर अटल रहे । उनके हृदय के पुंजीभूत क्षोभ की ज्वालामुखी फूट पड़ी और उन्होंने माता से कहा —

"न वै मम हितं पूर्वं मातृवच्चेष्टितं त्वया ।
सा मां सम्बोधयस्यद्य केवलात्महितैषिणी ।।"

गुरुशाप के भय से कर्ण ने अपना वास्तविक परिचय दिया :-

'ब्रह्मक्षत्रान्तरे सूतं जातं मां विद्धि भार्गव ॥ ३।२६॥ शान्तिपर्व (गी० प्रे० गोरखपुर)

राधेयः कर्ण इति मां प्रवदन्ति जना भुवि ।

प्रसादं कुरु मे ब्रह्मन्नस्त्रलुब्धस्य भार्गव ॥ ३।२७॥

पिता गुरुर्न संदेहो वेदविद्याप्रदः प्रभुः ।

अतो भार्गव इत्युक्तं मया गोत्रं तवान्तिके ॥' ३।२८॥

तब परशुराम ने उन्हें अभिशाप दिया कि युद्ध में तुम्हारे समान संसार में कोई क्षत्रिय नहीं होगा, किन्तु तुम्हारे इस मिथ्या आचरण के कारण वधकाल उपस्थित होने पर तुम्हारी यह सारी ब्रह्मास्त्र-शिक्षा विफल हो जायेगी ।'

'कर्ण भार' रूपक में इन्द्र के द्वारा कपटपूर्वक कर्ण के सहज कवच-कुण्डल के अपहरण का जो दृश्य प्रस्तुत किया है, उसका आधार वनपर्व का 'कुण्डलाहरण' पर्व है । महाभारत में यह घटना इस प्रकार वर्णित है :-

'पाण्डवों के वनवास-काल के बारह वर्ष बीत जाने पर तेरहवें वर्ष के प्रारम्भ में पाण्डवों के हितैषी इन्द्र ने कर्ण के दिव्य कवच-कुण्डलों के अपहरण करने की योजना बनायी । कर्ण के ये दोनों आभूषण अमृत से उत्पन्न थे और इनके प्रभाव के कारण कर्ण रण में अवध्य बने हुए थे । कर्ण की अवध्यता पाण्डवों के लिए चिन्ता का हेतु थी, अतः अपने पुत्र अर्जुन के विजय के मार्ग को सुगम बनाने के उद्देश्य से इन्द्र ने महादानी कर्ण से उन्हें कपटपूर्वक ले लेने का विचार किया । इन्द्र की इस दुरभिसन्धि को जानकर भगवान् सूर्य ने अपने पुत्र को सावधान करने के लिए उसे स्वप्न में दर्शन दिया और बार-बार कवच-कुण्डलों का दान न देने का अनुरोध किया । सूर्य ने कर्ण को इन्द्र की सारी योजना बता दी और पुत्र-स्नेह के कारण कर्ण के पूछने पर अपना परिचय भी बता दिया ।

सूर्य ने पुत्र को बहुत समझाया, किन्तु जब किसी तरह कर्ण अपने निश्चय से विचलित नहीं हुए तब सूर्य ने उन्हें इन्द्र से प्रतिदान के रूप में इन्द्र की अमोघ शक्ति मांग लेने का परामर्श दिया ।

इसके बाद जब इन्द्र याचक ब्राह्मण के रूप में कर्ण के पास आये तो पहले कर्ण ने उन्हें नहीं पहचाना और ब्राह्मण को धन, स्त्री, ग्राम, गायें इत्यादि देने की अभिलाषा प्रकट की । किन्तु ब्राह्मण को अपना कवच-कुण्डल मांगते देखकर उन्होंने उनके वास्तविक स्वरूप को पहचान लिया । उन्होंने उन्हें कवच-कुण्डल न लेकर दूसरी कोई वस्तु मांगने के लिए अनुरोध किया --

"अवनिं प्रभवा गात्रे निर्मितं बहु मार्किकम् ।

ततो ऽकृषिषु प्रदास्यामि न तु कर्णं सकुण्डलम् ॥" ३१०।६ ॥वनपर्व (गी. प्रे. गोरखपुर)

किन्तु इन्द्र ने जब नहीं माना तब ~~कर्ण ने~~ पिता के परामर्श के अनुसार कर्ण ने विनिमय में इन्द्र से एकाघ्नी शक्ति मांग ली, यही नहीं अपने शरीर के सौन्दर्य को अक्षुण्ण रखने का भी वरदान मांग लिया — " उत्कृत्य तु प्रदास्यामि कुण्डले कवचं च ते । निकृत्तेषु तु गात्रेषु न मे बीभत्सता भवेत् ॥"

इस प्रकार भास ने महाभारत के जो जिन घटनाओं को नाटकीय रूप देकर 'कर्णभार' नामक रूपक की रचना की है, वे महाभारत में किसी एक उपाख्यान में सीमित नहीं है — किन्तु वरन् महाभारत में अनेक पर्वों में इतस्ततः बिखरी हुई हैं । कर्ण महाभारत की आधिकारिक कथावस्तु के अन्यतम पात्र हैं, दुष्यन्त, पुरूरवा आदि पात्रों के समान प्रासंगिक कथा के अर्थात् किसी उपाख्यान विशेष के नायक नहीं । महाभारत युद्ध में उनका स्थान महत्त्वपूर्ण है, उनका जीवन सक्रिय एवं प्रत्यक्ष है । अतएव उनके जीवन की घटनाएँ 'शकुन्तलोपाख्यान', 'नलोपाख्यान' आदि के समान किसी एक उपाख्यान में सीमाबद्ध रह भी नहीं सकती हैं ।

ऊरुभंग

'ऊरुभंग' की महाभारतीय कथा 'शल्यपर्व' से लेकर 'स्त्रीपर्व' के प्रारम्भिक अध्यायों तक बिखरी हुई मिलती है । भीम और दुर्योधन के गदायुद्ध का वर्णन महाभारत के 'शल्यपर्व' के अन्तिम अध्यायों में 'गदायुद्धपर्व' में मिलता है । महाभारत के 'सौप्तिकपर्व' में दुर्योधन की मृत्यु का वर्णन है तथा 'स्त्रीपर्व' के प्रारम्भिक अध्यायों में गान्धारी तथा दुर्योधन की दो पत्नियों के विलाप का वर्णन है ।

'गदायुद्धपर्व' का आरम्भ शल्यपर्व के ५५ वें अध्याय से होता है । सर्वप्रथम गदायुद्ध के लिए उद्यत हुए भीम और दुर्योधन का वीररसात्मक वर्णन है । भीम और दुर्योधन का विवाद होता है और दोनों में घोर युद्ध शुरू हो जाता है । भीम को दुर्योधन के ऊरु में प्रहार करने का संकेत देने के लिए श्रीकृष्ण अर्जुन को परामर्श देते

---

१. 'श्रीमन्महाभारतम्' Edited by T. R. Krishnachary and T. R. Vyasacharya Nirnay Sagar Press (1907)

हैं । अर्जुन-निर्दिष्ट संकेत समझ कर भीम दुर्योधन के ऊरु पर प्रहार करते हैं । इसके बाद भीम क्रोध के साथ ऊरुभंग के कारण भूमि पर आहत होकर गिरे हुए दुर्योधन के सिर पर बायें पैर से पादाघात करते हैं । युधिष्ठिर दुर्योधन को सान्त्वना देते हैं । भीम के इस अन्याय युद्ध से क्रुद्ध होकर बलराम भीम के विनाश के लिए अपना हल उठाते हैं । श्रीकृष्ण उनको शान्त करते हैं । बलराम द्वारकापुरी की ओर प्रस्थान करते हैं । श्रीकृष्ण और भीम के साथ युधिष्ठिर का कथोपकथन होता है । द्रौपदी भीम की प्रशंसा करती है । दुर्योधन श्रीकृष्ण के साथ विवाद करता है और अपने सुकृत्यों की घोषणा करता है । 'गन्धर्वलोक' से दुर्योधन पर पुष्पवृष्टि होती है । श्रीकृष्ण पाण्डवों को सान्त्वना देते रहते हैं । पाँचाल आदि पाण्डव पक्ष के वीरों को अपने अपने शिविर में जाने का निर्देश देकर श्रीकृष्ण पाण्डवों को लेकर दुर्योधन के शिविर में पहुँचते हैं । श्रीकृष्ण अर्जुन को रथ से उतार कर बाद में स्वयं उतरते हैं और साथ ही वह रथ भस्मीभूत हो जाता है । इस आकस्मिक घटना से आश्चर्यान्वित हुए अर्जुन को श्रीकृष्ण रथ-दहन का रहस्य बताते हैं । श्रीकृष्ण के परामर्श के अनुसार पाँचों पाण्डव ओघवती के तट पर रात को रहते हैं । श्रीकृष्ण युधिष्ठिर के कहने पर गान्धारी को आश्वस्त करने के लिए हस्तिनापुर चले जाते हैं और गान्धारी-धृतराष्ट्र को अपने सान्त्वनावचन से शान्त करके पाण्डवों के पास लौट आते हैं । धृतराष्ट्र को संजय से दुर्योधन के विलाप का समाचार ज्ञात होता है । इसी बीच अश्वत्थामा को भी दुर्योधन के पतन का समाचार मिलता है । अश्वत्थामा कृप और कृतवर्मा के साथ दुर्योधन के समीप पहुँचते हैं और उसकी शोचनीय दशा को देखकर क्षुब्ध होते हैं । अश्वत्थामा और दुर्योधन का संवाद होता है । अश्वत्थामा दुर्योधन के सम्मुख पाण्डवों का वध करने की प्रतिज्ञा करते हैं । दुर्योधन के कहने पर कृपाचार्य अश्वत्थामा को सेनापति के पद पर अभिषिक्त करते हैं । शल्यपर्व में गदायुद्धपर्व यहीं समाप्त हो जाता है ।

इसके उपरान्त सौप्तिकपर्व शुरू होता है । संजय और धृतराष्ट्र का संवाद होता है । अश्वत्थामा, कृप और कृतवर्मा वन में पहुँचकर एक न्यग्रोध वृक्ष के नीचे बैठकर विश्राम करते हैं । कृप और कृतवर्मा सो जाते हैं । अश्वत्थामा जागते रहते हैं । उसी समय उस वृक्ष में रात को एक उल्लू घोंसलों में सोये हुए अनेक कौवों को अकेला ही मार डालता है । अश्वत्थामा यह दृश्य देखते हैं और उनके मस्तिष्क में रात को सोए हुए पाण्डवों की हत्या करने का उपाय सूझता जाता है । वह कृप और कृतवर्मा को जगाकर अपनी योजना बताते हैं । यही नहीं, पाण्डवों के विनाश की पुनः प्रतिज्ञा

भी करते हैं । कृप अश्वत्थामा की योजना सुनकर आतंकित होकर उन्हें इस प्रकार हत्या करने से होने वाले पाप का वर्णन कर निवृत्त करना चाहते हैं । परन्तु पितृ-हत्या का प्रतिशोध लेने के लिए दृढ़प्रतिज्ञ अश्वत्थामा उनके अनुरोध की उपेक्षा कर अकेले ही पाण्डव-शिविर की ओर चल देते हैं । अश्वत्थामा को महाभूत का दर्शन होता है । अश्वत्थामा निष्ठा के साथ शिव की स्तुति करते हैं । अश्वत्थामा की स्तुति से प्रसन्न होकर शिव उन्हें खड्ग प्रदान करते हैं और स्वयं उनके शरीर में प्रवेश करते हैं । शिविर के द्वार पर कृप और कृतवर्मा को छोड़कर अश्वत्थामा भीतर प्रवेश करके पहले अपने पितृहत्याकारी धृष्टद्युम्न की हत्या करते हैं और बाद में पाँच पाण्डवों के भ्रम से द्रौपदी के पाँच पुत्रों की हत्या कर डालते हैं । इस प्रकार अन्त तक अश्वत्थामा के नैशअभियान से सुप्त पाण्डव-शिविर में एक भी जीवित प्राणी रह नहीं पाता । अश्वत्थामा कृप और कृतवर्मा के साथ पुनः दुर्योधन के पास आकर सारी घटना सुनाते हैं । द्रौपदी के पाँचों पुत्रों का सिर देखकर दुर्योधन प्रसन्न होकर अश्वत्थामा के प्रति अपनी कृतज्ञता का प्रदर्शन करता है और सुख निश्चिन्त होकर प्राणत्याग देता है ।

तदनन्तर 'स्त्री पर्व' शुरू होता है । धृतराष्ट्र को व्यास के प्रसाद से दिव्यचक्षु का लाभ होता है । गान्धारी जिन पुत्रों के जीवित रहते कभी उनको आँखों से देखी नहीं, उन्हीं के मरने पर उनके मुख का अन्तिम दर्शन करने के लिए अपनी आँखों पर से पट्टी हटा देती हैं । धृतराष्ट्र और गान्धारी अन्तःपुर की स्त्रियों के साथ अपने मृत परिजनों को देखने के लिए युद्धभूमि की ओर प्रस्थान करते हैं । दुर्योधन के शव को देखकर उसकी दोनों पत्नी — लक्ष्मणजननी हाहाकार कर उठती हैं । गान्धारी इन दो पुत्रवधुओं की ओर श्रीकृष्ण का ध्यान आकृष्ट करके विलाप करने लगती हैं । ✱ महाभारत का इतना ही अंश महाकवि भास के 'ऊरुभंग' का उपजीव्य बना है ।

<u>'दूतवाक्य'</u> :- महाकवि भास के 'दूतवाक्य' की कथावस्तु का प्रारम्भ सन्धि का प्रस्ताव लेकर श्रीकृष्ण के कौरवराजसभा में आने के समाचार से होता है जिसे सुनकर दुर्योधन श्रीकृष्ण को बन्दी करने की योजना बनाता है । महाभारत में यह घटना उद्योगपर्व के 'भगवद्यानपर्व' में वर्णित है ।

उद्योगपर्व के ८८ वें अध्याय में दुर्योधन अपने परिजनों के सम्मुख युद्ध के सम

✱ श्रीमन्महाभारतम् - Edited by T.R. Krishnacharya and T.R. Vyasacharya, Nirnay Sagar Press (1907)

में आने वाले श्रीकृष्ण को बन्दी करने की इच्छा प्रकट करता है । यह सुनकर धृतराष्ट्र दुर्योधन का तिरस्कार करते हैं । भीष्म भी दुर्योधन की इस दुरभिसन्धि की निन्दा करते हुए सभा छोड़कर चले जाते हैं । दूसरे दिन सवेरे श्रीकृष्ण धृतराष्ट्र की पूजा ग्रहण करने के उपरान्त विदुर के गृह में जाकर कुन्ती से मिलते हैं और पाण्डवों की कुशलवार्ता एवं सन्देश कहते हैं । कुन्ती को सान्त्वना देकर श्रीकृष्ण दुर्योधन के गृह में पहुँचते हैं । दुर्योधन श्रीकृष्ण का आदर-सत्कार करके उन्हें भोजन-ग्रहण करने के लिए आग्रह करता है । परन्तु श्रीकृष्ण विदुर के गृह में ही भोजन करने की इच्छा प्रकट करते हैं । विदुर श्रीकृष्ण को दुर्योधन की दुष्टता का स्मरण दिलाकर उन्हें कौरवराजसभा में न जाना ही श्रेयस्कर बताते हैं । परन्तु इसी बीच दुर्योधन और शकुनि वहाँ पहुँचकर श्रीकृष्ण से राजसभा में उपस्थित होने की प्रार्थना करते हैं । श्रीकृष्ण भी विदुर को साथ लेकर कौरवराजसभा में पहुँच जाते हैं । भीष्म सभा में उपस्थित अभ्यागतों का स्वागत करते हैं और श्रीकृष्ण को उचित आसन प्रदान करते हैं ।

श्रीकृष्ण अपने आगमन का कारण बताते हैं । सन्धि और विग्रह के गुणागुण की व्याख्या करके श्रीकृष्ण धृतराष्ट्र से दोनों में से अभीष्ट पक्ष का अवलम्बन करने का उपदेश देते हैं । नारद, ययाति, मातलि आदि का दृष्टान्त देकर गर्व का त्याग करके पाण्डवों से सन्धि कर लेने का परामर्श देते हैं । धृतराष्ट्र के अनुरोध करने पर श्रीकृष्ण दुर्योधन को भी समझाते हैं । भीष्म तथा द्रोण भी दुर्योधन को श्रीकृष्ण के आदेश के अनुसार कार्य करने के लिए परामर्श देते हैं । धृतराष्ट्र भी श्रीकृष्ण के वचन की उपेक्षा करने में अनर्थ होने की सम्भावना देखकर पुत्र को समझाते हैं । परन्तु दुर्योधन पर किसी बात का प्रभाव नहीं पड़ता और दम्भ के साथ वह घोषणा करता है कि बिना युद्ध के वह सूच्यग्र भूमि भी पाण्डवों को नहीं देगा । इस पर क्रुद्ध होकर श्रीकृष्ण दुर्योधन की निन्दा करके उसके पाण्डवों के प्रति किये अनेक अन्याय अत्याचारों का उल्लेख करते हैं । इस प्रकार सब के सम्मुख श्रीकृष्ण के द्वारा अपमानित होकर दुर्योधन सभा छोड़कर चला जाता है । श्रीकृष्ण धृतराष्ट्र को कुल के कल्याण के लिए अत्याचारी कंस का दृष्टान्त देकर दुर्योधन को बन्दी बनाकर पाण्डवों के हाथ समर्पित करने का उपदेश देते हैं । इसी बीच विदुर गान्धारी को भी सभा में ले आते हैं । गान्धारी के समझाने पर दुर्योधन पुनः सभागृह में प्रवेश करता है । गान्धारी अपने पुत्र को नीति का उपदेश देती है और पाण्डवों के साथ सन्धि कर लेने के लिए अनुरोध करती है । दुर्योधन माता के वचनों की अवज्ञा करके सभागृह को छोड़कर

बाहर चला जाता है । बाहर जाकर दुर्योधन अपने कर्ण आदि सहायकों के साथ परामर्श करके श्रीकृष्ण को बन्दी बनाने का उपाय सोचता है । इधर सात्यकि को दुर्योधन की मंत्रणा की सारी बातें ज्ञात हो जाती हैं और वह शीघ्र ही सैन्य से श्रीकृष्ण तथा सभास्थ परिजनों को सब कुछ बता देते हैं । धृतराष्ट्र दुर्योधन को बुलाकर श्रीकृष्ण की महिमा का वर्णन करके उनके ईश्वरत्व की व्याख्या करते हैं । श्रीकृष्ण के दिव्यत्व का वर्णन करके विदुर दुर्योधन का तिरस्कार करते हैं । परन्तु दुर्योधन के दुष्ट षड्यन्त्र को समझ कर श्रीकृष्ण कौरव राजसभा में अपना विश्वरूप प्रकट करते हैं ।

पंचरात्र :- भास के पंचरात्र की कथावस्तु का स्रोत महाभारत का विराट-पर्व है । विराट-पर्व का भी गोग्रहण पर्व , जो कीचक वध पर्व (अध्याय २८) के बाद शुरु होता है — उस अंश में से महाकवि भास ने अपने रूपक के लिए कथा-सामग्री ली है । इस प्रकार विराट-पर्व के २९ वें अध्याय से लेकर ७८ वें अध्याय तक विस्तृत महाभारतीय कथा में से भास ने रूपक की घटनाओं का चयन किया है । विराट-पर्व के २९ वें अध्याय से लेकर ७८ वें अध्याय तक विस्तृत महाभारतीय कथा का स्वरूप संक्षेप में निम्नलिखित है :-

पाँचों पाण्डव द्वादश वर्ष वनवास का काल व्यतीत करने के अनन्तर विराट राज्य में एक वर्ष के लिए अज्ञातवास का जीवनयापन कर रहे थे । दुर्योधन ने पाण्डवों के अन्वेषण के लिए जिन गुप्तचरों को भेजा था वे देश-देशान्तरों में घूम कर दुर्योधन के पास आ कर निवेदन करते हैं कि पाण्डवों की अवस्थिति को वे किसी भी प्रकार जान नहीं पाये । इसी प्रसंग में उन दूतों ने दुर्योधन को कीचक-वध की वार्ता सुनायी । इस समाचार से दुर्योधन चिन्तित होकर पाण्डवों के अन्वेषण के विषय में अपने परिजनों के साथ मन्त्रणा करता है । भीष्म और द्रोण दुर्योधन से पाण्डवों के साथ संधि कर लेने का उपदेश देते हैं परन्तु 'कीचक वध भीमसेन का ही कार्य हो सकता है'—ऐसा अनुमान करके दुर्योधन ,भीष्म और द्रोण के उपदेशों की अवहेलना करके सुशर्मा को विराटनगर में भेजता है । सुशर्मा विराटनगर में पहुँच कर उसकी दक्षिणी सीमा में गोग्रहण करता है । ग्वालों ने भयभीत होकर यह समाचार विराट को सुनाया । युधिष्ठिर कङ्कभट्ट रूप से अपने कुल-कौशल को बताकर विराट के साथ उनके सहायक के रूप में भाइयों को लेकर सुशर्मा से युद्ध करने के लिए प्रस्थान करते हैं । सुशर्मा इस युद्ध में विराट को बन्दी कर लेता है । युधिष्ठिर के उपदेश

से भीमसेन सुशर्मा से अपने आश्रयदाता विराट को मुक्त करते हैं । केवल यही नहीं, भीम सुशर्मा को भी बन्दी बना लेते हैं किन्तु युधिष्ठिर उस पर करुणा करके उसे मुक्त कर देते हैं । इस प्रकार विराट और सुशर्मा के बीच होने वाले युद्ध में छद्मवेशी पाण्डवों की सहायता से विराट-राज विजय प्राप्त करते हैं । किन्तु इसी बीच दुर्योधन, भीष्म और द्रोण आदि सहायकों के साथ विराट नगर की उत्तरी सीमा में गोग्रहण करते हैं । विराट राज सुशर्मा से निवृत्त होकर अभी भी राजधानी में नहीं लौटे थे , अतः गोपालकों ने कुमार उत्तर को ही इस गो ग्रहण का समाचार दिया । दम्भी उत्तर यह समाचार पाकर योग्य सारथि के अभाव में कौरव सेना के सम्मुखीन होने में अपनी असमर्थता प्रकट करते हैं । यह सुनकर अर्जुन द्रौपदी को उत्तरा से बृहन्नला के सारथ्य कौशल को कहने के लिए अनुरोध करते हैं । उत्तरा द्रौपदी की बातें सुनकर अपने भाई से कहती है और भाई के अनुरोध से बृहन्नला से उनके रथ की सारथि बनने के लिए प्रार्थना करती है । इस प्रकार बृहन्नला का छद्मवेशधारी अर्जुन उत्तर का सारथि बनकर कौरवों के साथ युद्ध करने के लिए प्रस्थान करते हैं । उत्तर कुरु-सेना के कोलाहल से भयभीत होकर रथ से उतर कर भागने का प्रयत्न करता है । अर्जुन उसके केश को पकड़ कर उसे पुनः रथ पर बैठाते हैं और उसे आश्वस्त करने का प्रयत्न करते हैं । तदनन्तर उत्तर को लेकर अर्जुन उस शमी वृक्ष के पास पहुँचते हैं जिसमें पाँचों पाण्डवों ने अपने-अपने अस्त्रों को छिपा रखा था । अर्जुन अपने गाण्डीव आदि अस्त्रों को वहाँ से उतारते हैं । पाण्डवों के अस्त्र-शस्त्रों को देखकर उत्तर आश्चर्यान्वित होकर अर्जुन से इन अस्त्रों के स्वामियों के विषय में पूछते हैं । तब अर्जुन युधिष्ठिर आदि पाँचों पाण्डवों के अस्त्रों का पृथक-पृथक परिचय देकर सब के वास्तविक परिचय को प्रकट कर देता है । उत्तर को पूर्ण विश्वास दिलाने के लिए अपने दस नामों का अर्थ तथा उसकी व्याख्या भी करते हैं । उत्तर बृहन्नला वेशधारी का अर्जुनत्व जानकर उसी अज्ञानवश किये हुए अपने आचरणों के लिए क्षमा प्रार्थना करता है । अर्जुन उसे अपनी क्लीवताप्राप्ति का हेतु बताते हैं । युद्ध में जाने से पहले अर्जुन उत्तर के रथ से सिंहध्वज को उतार कर अपने हनुमद्ध्वज को लगाते हैं । इस प्रकार सब प्रकार से युद्धोपयोगी कर लेने पर अर्जुन रणभूमि की ओर अग्रसर होते हैं । उधर भीष्म दुर्योधन को यह बताते हैं कि पाण्डवों के वनवास की अवधि पूरी हो चुकी है । अज्ञातवासकाल भी समाप्त हो चुका है । भीष्म पुनः दुर्योधन को पाण्डवों से संधि करने का उपदेश देते हैं किन्तु दुर्योधन भी पुनः उसकी उपेक्षा करता है । कौरव भी युद्ध के लिए आगे बढ़ते हैं । अर्जुन भी आगे बढ़कर दो बाण चलाकर पितामह भीष्म तथा गुरु द्रोण का चरण स्पर्श कर उनका कुशल पूछते हैं ।

दुर्योधन की गायों को लेकर प्रस्थान करते देख अर्जुन उस ओर बढ़ते हैं और उनके रक्षकों का वध करके गायों को लौटा लाते हैं। तदनन्तर अर्जुन, भीष्म,द्रोण, कर्ण, अश्वत्थामा,दु:शासन आदि कौरव महारथियों के साथ क्रम से युद्ध करके उन्हें पराजित करते हैं। बहुत देर तक युद्ध करने के बाद अर्जुन सम्मोहन अस्त्र चलाते हैं जिससे सारी कुरु-सेना मूर्छित-सी हो जाती है। तब अर्जुन के कहने पर उत्तर द्रोण आदि कौरवपक्षीय योद्धाओं के वस्त्रों का अपहरण करता है। इस प्रकार उत्तर [illegible] गोग्रहण में कौरवों को परास्त कर अर्जुन उत्तर के साथ विराट नगर में प्रवेश करते हैं। वे उत्तर से पाण्डवों के परिचय को गुप्त रखने का उपदेश देते हैं। फिर श्मशान के उस शमी वृक्ष के पास पहुँच कर वे अपने अस्त्रों को फिर से छिपा देते हैं और बृहन्नला का वेश धारण कर उत्तर का सारथि बन जाते हैं। अर्जुन की प्रेरणा से उत्तर दूतों को अपनी विजयवार्ता घोषित करने के लिए राजधानी में भेज देते हैं।

इधर विराट युधिष्ठिर आदि के साथ दक्षिण-गोग्रहण में विजय प्राप्त कर जब लौटते हैं तब बृहन्नला को साथ लेकर उत्तर के युद्ध की ओर प्रस्थान करने का समाचार सुनकर उसकी रक्षा के लिए अपनी सेना को भेज देते हैं। किन्तु इसी बीच दूत विजयवार्ता लेकर उपस्थित होते हैं। इस विजय की खुशी में वे कंकवेशधारी युधिष्ठिर के साथ जुआ खेलने बैठते हैं। खेलते समय जितनी बार वे उत्तर के पराक्रम की प्रशंसा करते उतनी ही बार कंक बृहन्नला की वीरता की प्रशंसा करके कहते कि उसी ने कौरवों को पराजित किया है। अतएव विराट राजा क्रोध में आकर कंक को द्यूतरंग के गोटियों से मारते हैं। कंक के मुख पर घाव हो जाता है। और रक्त की धारा फूट पड़ती है। यह देखकर ही सैरन्ध्रीवेशिनी द्रौपदी अपने उत्तरीय से रक्त को भूमि पर गिरने से रोकती है।

अर्जुन के साथ उत्तर के प्रवेश करने पर पुरवासी उनका हर्ष के साथ स्वागत करते हैं। अन्तःपुर में पहुँच कर उत्तर पिता का अभिवादन करता है। वह युधिष्ठिर के शरीर में घाव देखकर भयभीत होता है और पिता से क्षमा प्रार्थना करने के लिए कहता है। अर्जुन भी अन्तःपुर में पहुँच जाते हैं और उत्तरा को कौरवों के अपहृत वस्त्र दे देते हैं। उन्हें युधिष्ठिर के आघात के सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात नहीं होता। भीम,अर्जुन आदि पाण्डव रात को युधिष्ठिर के पास जाते हैं किन्तु जब युधिष्ठिर आनन्दित होकर अर्जुन का स्वागत नहीं करते— तब अर्जुन भीम से ज्येष्ठ भ्राता के दुःख का कारण पूछते हैं। युधिष्ठिर स्वयं ही सब कुछ

पात्र केवल महाभारतीय हैं । कथा कवि की अपनी प्रतिभा से गढ़ी हुई है । मध्यम-व्यायोग के पात्र भीम, घटोत्कच और हिडिम्बा महाभारतीय पात्र हैं । वन-पर्व में एक ब्राह्मण कुमार के बदले भीम के राक्षस के पास जाने और उसके दमन करने की घटना का वर्णन 'बकवधपर्व' में है । मध्यम ब्राह्मण कुमार का आत्मत्याग एवं माता-पिता की उसके प्रति उदासीनता शुनः शेप आख्यान का स्मरण दिलाते हैं । सम्भवतः मध्यम व्यायोग की रचना के प्रेरक ये ही दो घटनाएँ हों । दूतघटोत्कच के कंचुकी, भट इत्यादि अप्रधान पात्रों को छोड़ कर धृतराष्ट्र, गान्धारी, दुःशला, दुर्योधन, दुःशासन, शकुनि एवं घटोत्कच सभी महाभारतीय पात्र हैं । इसमें अभिमन्यु-वध एवं उसके पश्चात् अर्जुनकृत जयद्रथ-वध की प्रतिज्ञा को छोड़कर सभी घटनाएँ कल्पित हैं । वस्तुतः महाभारत में अभिमन्युवध के उपरान्त दुर्योधन, दुःशासन इत्यादि के शिविर छोड़ कर धृतराष्ट्र के अभिवादन करने के लिए उपस्थित होने का कोई उल्लेख नहीं है । इसके विपरीत दुर्योधन, जयद्रथ इत्यादि के शिविर में रात्रि में अर्जुन की उस भीषण प्रतिज्ञा के सिंहनाद को सुनकर क्या प्रतिक्रिया हुई -- इसी का वर्णन महाभारत में प्राप्त होता है ।

अभिमन्युवध के उपरान्त महाभारत में पाण्डव शिविर में उद्भूतशोक का वर्णन जितने विस्तार से किया गया है, उसकी तुलना में दुर्योधन इत्यादि के हर्ष का उल्लेख नाममात्र ही था । अतः परवर्ती अनेक कवियों ने कल्पना में इस घटना की प्रतिक्रिया का काल्पनिक चित्रण प्रस्तुत किया । भास के दूतघटोत्कच एवं वेणीसंहार के द्वितीय अंक की कथा एवं बंगाली कवि माइकेल मधुसूदन दत्त के 'वीरांगना' काव्य में जयद्रथ के प्रति दुःशला के पत्र की आख्यान वस्तु यही है ।

विक्रमोर्वशी :- विक्रमोर्वशी की कथा के स्रोत के रूप में महाभारत के विभिन्न पर्वों में उर्वशी-पुरूरवा के विषय में जो कथा एवं जो उल्लेख प्राप्त होते हैं, उनका संक्षिप्त रूप निम्नप्रकार है :-

महाभारत के आदिपर्व के ६९ वें अध्याय में जनमेजय के पूछने पर वैशम्पायन कुरुवंश का वर्णन करते हैं । इसी प्रसंग में पुरूरवा की कथा भी आती है ।

वैशम्पायन कहते हैं कि मनु से समग्र मानवजाति की सृष्टि हुई । ब्राह्मण, क्षत्रिय इत्यादि मनु से उत्पन्न होने के कारण ही मानव कहलाते हैं । मनु की बावनीं सन्तान इला थी । इला ने पुरूरवा को जन्म दिया । वह ही

महर्षयश्च बहव: दाक्षियाश्च परन्तपा:
अप्सरस्सु सखीनां च मातृणां च न विद्यते ।। ७-७।६
तस्यास्त्वापि प्रसादोऽयं प्रवक्ष्यामि च ते नृप ।
निवर्तनार्थं न देवाकृत्वा तत्त्वानुसंहसि ।।' ७-७।८

महाभारत के सभापर्व के ६७ वें अध्याय में दुर्योधन ने अपने वंश का वर्णन किया । वहीं पर उसने प्रसंगत: पुरुरवा का भी उल्लेख किया ।

'अव्यक्तप्रभवो ब्रह्मा सर्वलोकपितामह:
ब्रह्मणोऽत्रि सुतो विद्वानत्रे: पुत्रो निशाकर ।
सोमस्य तु बुध: पुत्रो बुधस्य तु पुरूरवा :
तस्यापत्य सुतोऽप्यायुरायोस्तु नहुष: सुत: ।।'

वनपर्व में अर्जुन जब इन्द्र की सभा में पहुंचते हैं, तब वे आश्चर्य से उर्वशी को देखकर अनिमेष नेत्रों से देखते हैं । बाद में, उर्वशी जब अर्जुन पर आसक्त होकर उनका अभिसरण करती है तब अर्जुन कहते हैं :-

'यथा कुन्ती महाभागा यथेन्द्राणी शची मम ।
तथा त्वमपि कल्याणी नात्र कार्या विचारणा ।। ४६।३२
यच्चेक्षिताऽसि विस्पष्टं विशेषेण मया शुभे ।
तच्च कारणपूर्वं हि शृणु सत्यं शुचिस्मिते ।। ४६।३७
इयं पौरववंशस्य जननी मुदितेति ह ।
त्वामहं दृष्टवांस्तत्र विज्ञायोत्फुल्ल लोचन: ।। ४६।४०
गुरोर्गुरुतरा मे त्वं मम वंशविवर्धिनी ।
तथा हि वंश जननी त्वं हि मम गरीयसी ।। ४६।४१

उद्योगपर्व में गालव-उपाख्यान के माधवी और काशीराज दिवोदास के प्रणय सम्बन्ध की तुलना उर्वशी और पुरूरवा की प्रणयलीला से की गयी है :-

'रेमे च तस्यां राजर्षि: प्रभावत्यां यथा रवि: ।
यथा भूम्यां भूमिपतिरुर्वश्यां च पुरूरवा: ।।'

शान्तिपर्व के राजधर्मानुशासन में पुरूरवा और कश्यप के प्रश्नोत्तरों का उल्लेख कर युधिष्ठिर को राज्य में ब्राह्मण,क्षत्रिय इत्यादि वर्णों के सौहार्द के महत्त्व पर उपदेश किया गया है ।

इस प्रकार समग्र महाभारत के विभिन्न पर्वों में पुरूरवा और उर्वशी का उल्लेख हुआ है । यहाँ केवल प्रधान-प्रधान स्थलों का ही उल्लेख किया गया है । महाभारत के इन समस्त उल्लेखों को एकत्रित करने पर पुरूरवा-उर्वशी की कहानी

इस प्रकार मिलती है :-

पुरूरवा बुध और इला का पुत्र था । वह अत्यन्त विद्वान एवं अतुलविक्रमी था । इन्द्र ने स्वयं उसके लिए प्रतिष्ठानपुर में एक सुन्दर पुरी का निर्माण किया था । वह गन्धर्व लोक से उर्वशी को मर्त्यलोक में ले आये और प्रतिष्ठानपुर में उसके साथ बहुत काल तक सुखपूर्वक रहे । इन दोनों की प्रेम-लीला इतनी प्रसिद्ध थी कि उनके तिरोभाव के बहुत वर्षों बाद भी अन्य प्रेमी-प्रेमिकाओं के प्रणय सम्बन्ध में उनके प्रेम-सम्बन्ध का दृष्टान्त दिया जाता था । पुरूरवा ने गन्धर्व लोक से तीन प्रकार की अग्नियों को लाकर मर्त्यलोक में स्थापित किया था । बाद में अपने पराक्रम एवं ऐश्वर्य से मदमत्त होकर वे दुराचरण करने लगे । उन्होंने ब्राह्मणों के साथ कठोर अत्याचार किया । उनकी धेनु तथा रत्नादि धनों का निर्दयतापूर्वक अपहरण किया । ब्रह्मलोक से आये हुए सनत्कुमार के प्रति उन्होंने उपेक्षा प्रदर्शित की । अन्त में महर्षियों ने क्रुद्ध होकर उन्हें अभिशाप दिया और उसी से वह नष्ट हो गये ।

<u>शाकुन्तल :-</u>

कालिदास के 'शाकुन्तल' नाटक का उपजीव्य महाभारत के आदिपर्व का 'शकुन्तलोपाख्यान' है । यह उपाख्यान आदिपर्व के ६८ वें अध्याय से लेकर १०० वें अध्याय तक विस्तृत है ।

जनमेजय के पूछने पर वैशम्पायन के मुख से कथा इस प्रकार शुरू होती है :-

पौरव वंश में दुष्यन्त नामक एक अत्यन्त तेजस्वी नृपति राज्य करता था । चतुरन्ता पृथिवी उसके अधिकार में थी । उसके आसमुद्र-विस्तृत राज्य में चारों वर्ण के मनुष्य बड़े सुख से रहते थे । न तो राज्य में वर्णसंकर था, न कोई पापी ही था । सबकी धर्म में श्रद्धा थी और सभी धार्मिक जीवन बिताते थे । उस जगदीश्वर के शासन में न तो प्रजा को चोरों का भय था, न क्षुधा का भय था और न रोगों का ही भय था । प्रजा वैभव के प्रति निःस्पृह होकर अपने-अपने धर्म का पालन करती थी । उस राजा के आश्रय में रहकर प्रजा निर्भीक हो गयी थी । बादल उचित समय में बरसता था । राज्य धनधान्य से समृद्ध था । ब्राह्मण अपने कार्यों में लगे रहते थे । कहीं मिथ्याचार नहीं मिलता था । दुष्यन्त अद्भुत वीर्यशाली था, अपनी भुजाओं से वह मन्दर पर्वत को भी उठाने की क्षमता रखता था । गदायुद्ध में हाथी के पीठ पर चढ़कर युद्ध करने में, अश्वपृष्ठ पर चढ़कर

युद्ध करने में तथा सभी प्रकार के अस्त्रों के संचालन में वह कुशल था । शक्ति में वह विष्णु के समान था, तेज में सूर्य के समान, धैर्य में समुद्र के समान तथा सहनशीलता में पृथ्वी के समान था । उसके शासन से प्रजा प्रसन्न थी और वह भी प्रसन्न होकर धर्मभाव से प्रजा का शासन करता था ।

इसके बाद जन्मेजय वैशम्पायन से कहते हैं कि हे तत्वज्ञ ! शकुन्तला की उत्पत्ति किस प्रकार हुई और दुष्यन्त से उसका साक्षात्कार कैसे हुआ — यह सब आप मुझे विस्तार से बताइए । जन्मेजय की ऐसी प्रार्थना सुनकर वैशम्पायन दुष्यन्त-शकुन्तला की कथा का विस्तारपूर्वक वर्णन करते हुए कहते हैं कि किसी दिन दुष्यन्त अपनी चतुरंग सेना के साथ शिकार खेलने के लिए वन की ओर चले । घोड़ों के हिंनाद से, शंख और दुन्दुभि की आवाज से मानो नगर गूंज रहा था । पुरवासी स्त्रियाँ प्रासाद के छत पर चढ़कर राजा का दर्शन करने लगीं । उनको तो ऐसा लगा मानो हाथी पर सवार हुए साक्षात् इन्द्र ही जा रहे हों । स्त्रियाँ राजा के पराक्रम की प्रशंसा करने लगीं और उनके सिर पर फूल बरसाने लगीं । इस प्रकार राजा आगे बढ़ते जा रहे थे, पीछे-पीछे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि वर्ण के पुरवासी भी वन के पथ पर उनका अनुसरण कर रहे थे । राजा ने देखा कि जब नगरवासी बहुत दूर तक चले आये हैं तो उन्होंने उन्हें लौट जाने की आज्ञा दी और स्वयं गरुड़ के समान वेगवान रथ पर आरूढ़ होकर पृथ्वी को रथ की आवाज से गुंजरित करते हुए गम्भीर वन की ओर अग्रसर हुए । वन अनेक योजनों के विस्तृत था और नन्दनकानन के समान सुन्दर भी था । उस जनशून्यविहीन वन में असंख्य मृग, सिंह तथा अन्य वन्य पशु भरे हुए थे । राजा ने अनेक मृग तथा सिंहों को अपने बाण का लक्ष्य बनाया । राजा के अनुचर तथा सेनाओं ने भी अनेक पशुओं का वध किया । इस पर नाना प्रकार के अस्त्रों का प्रयोग करके राजा ने असंख्य पशुओं का शिकार किया । मृगया के आतंक से वन्य पशुओं में हलचल मच गयी ।

इस प्रकार उस वन में हजारों पशुओं को मारते हुए तथा हरिणों का पीछा करते हुए दुष्यन्त एक-दूसरे वन में पहुँच गये । वह नगर से दो योजन की दूरी पर अवस्थित था । भूख-प्यास से व्याकुल तथा मृगया से परिश्रान्त [illegible] हरिणों के पीछे भागते हुए दुष्यन्त मालिनी नदी के तीर पर अवस्थित एक ऐसे वन में पहुँच गये जो नदी के किनारे फहराती हुई एक सुन्दर पताका के समान प्रतीत हो रहा था । राजा वन की शोभा को देखकर प्रसन्न हो रहे थे । वन की शोभा का दर्शन करते हुए वे एक सुन्दर आश्रम के पास पहुँच गये । उस आश्रम

में नाना प्रकार के सुन्दर-सुन्दर वृक्ष थे, होम की शिखा प्रज्वलित थी। अनेक मुनियों का उसमें निवास था। निकट ही मालिनी नदी अपने विस्तृत तटों के बीच प्रवाहित हो रही थी। मालिनी के किनारे बने हुए अपूर्व पुण्य वातावरण से युक्त महर्षि काश्यप के इस श्रेष्ठ आश्रम को देखकर राजा को उसमें प्रवेश करने की इच्छा हुई। राजा ने अपनी चतुरंग सेना को तपोवन के प्रवेशद्वार पर रोकने का आदेश दिया और कहा कि "मैं महर्षि कण्व का दर्शन करने जा रहा हूँ, अतः मेरे लौट आने तक तुम सब यहीं ठहरो।" राजा उस नन्दनवन के तुल्य तपोवन को देखकर भूख और प्यास भी भूल गये और अमात्य और पुरोहित के साथ उन्होंने आश्रम में प्रवेश किया। ब्रह्मलोक के समान उस आश्रम में पहुँच कर वे अत्यन्त आनन्दित हुए। वहाँ नाना शास्त्रों, वेद, वेदांगों का अध्ययन-अध्यापन हो रहा था। ब्राह्मणों तथा उग्रतपा ऋषियों एवं तपोवन के समस्त गुणों से युक्त उस आश्रम को बार-बार देखने से भी राजा के मन में तृप्ति नहीं हो रही थी।

वैशम्पायन ने फिर से कहना शुरू किया कि दुष्यन्त अपने अमात्यों को विदा देकर अब अकेले ही कण्व का दर्शन करने के लिए अग्रसर हो रहे थे, परन्तु उन्हें कहीं भी वह व्रतधारी ऋषि दिखायी नहीं दे रहे थे। तब आश्रम में किसी को न देखकर राजा ने आवाज दी —"कौन यहाँ है?" राजा की आवाज को सुनकर लक्ष्मी के समान सुन्दर तापसी के वेश धारण किये हुए एक कन्या बाहर निकल आयी। वह श्यामांगशालिनी कन्या आयत नेत्र वाली तथा समस्त शुभ लक्षणों से युक्त राजा को देखकर आनन्दित हुई और स्पष्ट एवं मधुर अक्षरों से उनका स्वागत किया। पाद्य, अर्घ्य तथा आसन देकर, कुशल पूछ कर उनका अतिथि-सत्कार किया। फिर स्मित हास्य करके राजा से उनका परिचय तथा आश्रम में आगमन का उद्देश्य पूछा। राजा ने उस मधुरभाषिणी तथा अनवद्य अंगों वाली कन्या के प्रश्नों का उत्तर देते हुए कहा — "मैं राजर्षि तथा महात्मा इलिन का पुत्र दुष्यन्त हूँ। मैं महर्षि कण्व का दर्शन करने के लिए यहाँ आया हूँ। वह इस समय कहाँ हैं?" शकुन्तला ने कहा —"मेरे पिता फल लाने के लिए वन में गये हैं। आप थोड़ी देर प्रतीक्षा कीजिए, वह अभी आ जायेंगे।"

राजा ने महर्षि को आश्रम में अनुपस्थित देखकर तथा उस रूपयौवन, तप एवं संयम से शोभायमान कन्या को देखकर पूछा —"तुम कौन हो? किसलिए और कहाँ से ऐसी अपूर्व रूप एवं गुणों से युक्त तुम यहाँ इस वन में आयी हो? मैं तुमसे कुछ कहना चाहता हूँ — मैं राजर्षि के वंश में पैदा हुआ हूँ, मैं तुम्हें वरण

करना चाहता हूँ। तुम्हारे प्रति मेरा मन इतना आकर्षित हुआ है, तो क्या तुम क्षत्रिया हो, — क्योंकि मेरे मन की गति ब्राह्मणकन्या की ओर किसी प्रकार चालित नहीं हो सकती। हे आयतलोचन वाली। मैं तुम्हारा भक्त हूं अतः तुम भी मुझे स्वीकार करो और मेरे इस विशाल राज्य का पालन करो। मेरी बुद्धि को अन्यथा मत होने दो।" यह सुनकर उस कन्या ने हँस कर कहा — "हे दुष्यन्त। मैं तपस्वी और धर्मज्ञ महात्मा की कन्या के समान हूँ। हे राजेन्द्र। मैं स्वतन्त्र नहीं हूँ, अवश्य मेरे गुरु और पिता हैं। अतः अपने लिए तुम उन्हीं से मुझको माँगो। नहीं तो तुम्हें मेरा वरण करना उचित नहीं है।"

दुष्यन्त ने कहा — "भगवान सर्वलोक के पूज्य कण्व जिनके लिए यह कहा जाता है कि चाहे धर्म अपने पथ से विचलित हो, परन्तु वह अपने कठोर व्रत से विचलित नहीं हो सकते — तुम उनकी कन्या कैसे हुई? मेरा यह संशय तुम दूर करो।"

शकुन्तला ने उत्तर दिया — "हे राजन्। सुनो, मैं कैसे कण्व की कन्या बनी। एक बार एक ऋषि ने मेरे जन्म के सम्बन्ध में महर्षि कण्व से पूछा था, उनको भगवान कण्व ने जो उत्तर दिया था वही तुमसे कहूँगी। कण्व ने कहा था कि पहले विश्वामित्र ने महान तपस्या करके इन्द्र को भयभीत कर दिया था कि कहीं वह मेरा स्थान न ले ले। तब भीत इन्द्र ने मेनका को बुलाकर कहा कि तुम अपने दिव्य गुणों के कारण सभी अप्सराओं में श्रेष्ठ हो, तुम मेरा यह कल्याण साधित करो। सूर्य के समान तेजस्वी विश्वामित्र ने घोर तपस्या करके मेरे हृदय को कंपित कर दिया है। हे मेनके। तुम उनके पास जाकर उनको प्रलुब्ध करके, उनकी तपस्या में विघ्न उत्पन्न कर दो। अपने रूप, यौवन, हाव-भाव तथा मधुर वचनों से उनको प्रलुब्ध करके उनको तपस्या से विमुख कर दो ताकि वह मुझको मेरे स्थान से हटा न सके।" मेनका ने इन्द्र से कहा कि "हे भगवन्। आप स्वयं ही जानते हैं कि वह उग्रतपा महर्षि कितने कोपनशील हैं। उनके तेज, तप तथा क्रोध से तो आप भी डरते हैं तो मेरा तो कहना ही क्या है। क्षत्रियवंश का होकर भी जो अलौकिक ब्राह्मणत्व को प्राप्त कर ले, महाभाग वसिष्ठ से भी जिनका विरोध हो, स्नानार्थ ही जो एक नदी की सृष्टि कर डाले, जो क्रोध में आकर एक दूसरा ही संसार बनाने के लिए उद्यत हो जाय, गुरुशाप से ग्रस्त त्रिशंकु को जो अलौकिक स्वर्ग देने की चेष्टा करे — उस उग्रस्वभाव उग्रतपा ऋषि से मैं बहुत डरती हूँ। मेरी जैसी सामान्य नारी उस जितेन्द्रिय को स्पर्श भी कैसे कर सकती है। उनका

मुख ही मानो साक्षात् अग्नि है और आँखों की दो पुतलियाँ मानो सूर्य और चन्द्र हैं और जिह्वा मानो स्वयं मृत्यु है -- ऐसे तेजस्वी को मेरी समान नारी कैसे स्पर्श भी कर सकती है । परन्तु आपके कहने से मैं उनके पास न जाकर कैसे रहूंगी । अतः हे देवराज । मेरी रक्षा का उपाय सोचिए । आपसे रक्षित होकर ही मैं उनके सामने आपकी कार्यसिद्धि के लिए जा सकती हूँ । आप ऐसी आज्ञा दें कि जिस समय मैं उस महर्षि के सम्मुख होऊँ, उस समय पवन मेरे वस्त्रों को मेरी देह से अनावृत कर दे और आपकी आज्ञा से कामदेव भी उस समय अस्मत्सहायक बन जाय । जिस समय मैं उस महर्षि को प्रलुब्ध करती रहूँ, उस समय सुगन्ध समीरण प्रवाहित होकर वातावरण को मोहक बना दे ।" देवराज ने इसके उत्तर में 'तथास्तु' कहा और मेनका भी विश्वामित्र के आश्रम में पहुँच गयी । मेनका ने अपने भीरु हृदय से महर्षि का अभिवादन किया और साथ ही साथ वायु, कामदेव ने पूर्व-परिकल्पित सब कार्य शुरू कर दिये । उसके अनावृत सौन्दर्य ने विश्वामित्र के मन में कामभाव का संचार किया । काम से वशीभूत होकर ऋषि ने सहस्र वर्ष उसके साथ इस प्रकार व्यतीत किये कि मानो एक दिन ही हो । महर्षि का तपस्या से अर्जित पुण्य भी घट गया । उधर मेनका ने विश्वामित्र की कन्या शकुन्तला को जन्म दिया और उस कन्या को सुन्दर शय्या पर लेटाकर मालिनी के किनारे छोड़ आयी और इन्द्र की कार्यसिद्धि करके स्वर्ग भी लौट गयी । मालिनी के तट पर शकुन्तों अर्थात् पक्षियों ने उस परित्यक्त शिशु को अपने पंखों में ढाँककर दूसरे हिंसक जन्तुओं से उसकी रक्षा करते रहे । जब कण्व उधर से जा रहे थे तब पक्षियों ने उनसे उनके मित्र कौशिक की इस पुत्री की रक्षा करने के लिए अनुरोध किया । कण्व पशु-पक्षियों की भाषा को समझते थे , अतः दयावान कण्व ने उस शिशु को आश्रम में लाकर उसका पालन-पोषण किया । जन्मदाता, प्राणदाता तथा जिसके अन्नों का भोग किया जाता है तीनों ही क्रमशः पिता कहलाते हैं । इस प्रकार शकुन्तला कण्व की पुत्री हुई और कण्व को भी शकुन्तला ने पिता के महान आसन पर बैठाया । शकुन्तला ने राजा से कहा कि मैं अपने पिता को जानती ही नहीं हूं और महर्षि कण्व को ही मैं पिता समझती हूं ।

दुष्यन्त ने सब सुनकर कहा कि मेरे मन में अब सब कुछ स्पष्ट हो गया है अतः अब तुम मेरी पत्नी का पद स्वीकार करो । मैं सोने की माला, वस्त्र, मणि और रत्न की गहने आदि सब तुम्हें दूंगा । आज से सारा राज्य तुम्हारा ही हो जाय । तुम मुझे गान्धर्व-विवाह से स्वीकार करो । विवाह के सब

प्रकारों में गान्धर्व विवाह को ही श्रेष्ठ समझा जाता है ।

शकुन्तला ने राजा से कहा कि मेरे पिता फल लाने के लिए आश्रम से वन में गये हैं, थोड़ी देर प्रतीक्षा करो वही तुम्हारे हाथ में मुझको समर्पित करेंगे । पिता मेरे लिए प्रभु हैं और साक्षात् देवतातुल्य हैं, वह मुझे जिसके हाथ समर्पित करेंगे वही मेरा पति होगा । फिर स्त्री को स्वातन्त्र्य देना उचित भी तो नहीं है, क्यों तो पिता कुमारी रहने पर रक्षा करते हैं । यौवन में पत्नि स्त्री पति के और वृद्धावस्था में पुत्र के रक्षण में रहती है । अतितपस्वी पिता को अवमानना करके मैं धर्मपूर्वक किसी को पतिरूप में वरण कैसे कर सकती हूँ । फिर ब्राह्मण के पास शस्त्र तो नहीं होते किन्तु उनकी क्रोधाग्नि ही शस्त्र का काम करती है । वे क्रोधानल से ही शत्रु का विनाश करते हैं । आग अपने तेज से सब कुछ जला डालती है, सूर्य अपनी किरणों से, राजा दण्ड से तो ब्राह्मण अपने कोप से सब अभीष्ट को भस्मीभूत करने में समर्थ हैं ।

यह सुनकर दुष्यन्त कहते हैं कि मैं जानता हूँ कि महर्षि कण्व में क्रोध का लेशमात्र भी नहीं है, अतः तुम मुझे स्वीकार कर सकती हो । मेरा मन तुमपर ही लगा हुआ है । फिर जब आत्मा का बन्धु आत्मा स्वयं ही है और आत्मा की गति भी आत्मा ही है तो तुम अपने ही आप अपना दान कर सकती हो । राजा ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस, पैशाच नामक आठ प्रकार की विवाह-विधि की उपयुक्तता की व्याख्या करके शकुन्तला से गान्धर्व रीति के द्वारा उनकी पत्नी बनने के लिए युक्तिपूर्वक अनुरोध करते हैं ।

इस पर शकुन्तला राजा से कहती है कि यदि धर्म का पथ ऐसा ही है और मैं अपने आप की यदि स्वामिनी हूं तो इस सम्बन्ध में आप मेरे शर्त को भी सुनें । आप शपथ कीजिए कि मेरा जो पुत्र होगा वही आपके बाद उत्तराधिकारी होगा । यदि आप ऐसी प्रतिज्ञा करें तभी आपसे मेरा मिलन सम्भव होगा । राजा उसके प्रस्ताव को मान लेते हैं और कहते हैं कि " यदि तुम्हारी और कोई इच्छा हो वह भी कहो, मैं उन्हें भी पूर्ण कर दूंगा ।" तब शकुन्तला कहती है कि लोकप्रवाद यह है कि शास्त्रोक्त विधि से किया हुआ विवाह ही प्रशंसनीय और कल्याणकारी होता है । अतः आप यज्ञ, कुशा, फूल, अक्षत, आज्य, हवि, लाजा, समिधा, आसन आदि विवाहोचित समस्त नियमों के साथ मेरा पाणिग्रहण करें । मैं धर्म के कारण ही इन दुराग्रह विषयों को भी आप से स्पष्टरूप से

१- श्रीमन्महाभारतम् - Edited by T.R. Krishnacharya and T.R Vyasacharya Nirnay Sagar Press (1906) १/४/२५ - ३२।।

कह रही हूं —"पत्नी की दृष्टि में रखकर मुझे क्षमा करें ।" इस पर राजा बिना कुछ सोच-विचार के ही उस मान लेते हुए कहते हैं कि " केवल यही नहीं, मैं तो तुम्हें अपने साथ राजधानी में भी ले जाऊंगा ।" इसके बाद राजा पुरोहित को बुला कर विधिपूर्वक शकुन्तला का पाणिग्रहण करते हैं शकुन्तला के हृदय में विश्वास उत्पन्न करके बार-बार कहने लगे कि " मैं तुम्हें राजधानी में ले जाने के लिए अपनी चतुरंगिणी सेना को भेजूँगा । ब्राह्मण और विभिन्न देश के राजा सूत,किरात, कुब्ज, वामन,कंचुकी,सूत,मागधों के साथ तथा शंख-दुन्दुभि ध्वनि के साथ मेरे बान्धव तुम्हें लेने के लिए वन में आयेंगे । तुम्हें अपने घर में ऐसे ही साधारण रूप से बिना मंगल सत्कार के नहीं ले जाऊँगा । ऐसा समझा-बुझा कर और साथ-साथ मन से महर्षि कण्व के लिए शंकित होकर वहाँ से अपनी राजधानी को चल देते हैं ।

दुष्यन्त के जाने के बाद ही कण्व आश्रम में लौट आते हैं, परन्तु शकुन्तला लज्जा के कारण उनके सम्मुख जा नहीं पाती । फिर शंकित मन से धीरे-धीरे ऋषि के पास जाकर उनके हाथ से फल-फूल लेकर रखती है तथा उनके पैरों को धोकर उन्हें आसन प्रदान करती है । परन्तु यह सब करते हुए भी शकुन्तला लज्जा के कारण आँखें उठा नहीं पाती । ऋषि भी शकुन्तला से कुछ नहीं कहते । कण्व को कुछ गम्भीर देखकर शकुन्तला भयभीत हो उठती है परन्तु कुछ देर बाद महर्षि उससे कहते हैं कि तुम पहले कभी-कभी ऐसी नहीं होती, तुम्हें सारी बातें कहो मेरे मन में भाव उत्पन्न मत करो । " तब शकुन्तला का भय कुछ दूर हो जाता है और वह पिता के पैरों को दबाती हुई बोली —" हे तात ! मैंने दैवयोग से यहां आये हुए इलिल के पुत्र दुष्यन्त को पतिरूप में वरण किया है । आप मेरे पति के प्रति प्रसन्न हों और उस क्षत्रियकुल को अभय प्रदान करें । आपको दिव्यज्ञान से सारा वृत्तान्त पता लग जायगा ।"

तब कण्व ने दिव्यदृष्टि से सब कुछ देखकर शकुन्तला से कहा —" तुमने मेरा अनादर करके जिस पुरुष का वरण किया है, वह अशोभनीय नहीं है, अतः तुम भयभीत न होओ । तुमने अच्छा ही किया है, अतः दुःखी मत होओ । क्षत्रिय के लिए गान्धर्व-विवाह ही श्रेष्ठ कहलाता है, फिर तुम्हारा विवाह तो विधिपूर्वक हुआ है । तुमने जिस व्यक्ति को पति का स्थान दिया है , वह कुलीन है और पुरुषों में श्रेष्ठ है । तुम्हारा पुत्र भी महा यशस्वी होगा और समुद्र पृथ्वी का चक्रवर्ती राजा होगा । मैं तुम पर प्रसन्न हूँ, तुम अभीष्ट वर की प्रार्थना करो ।" इस पर साध्वी शकुन्तला वरदान के रूप में पति की मंगल

कामना करती है । कण्व शकुन्तला से कहते हैं —" आज से तुम दुष्यन्त की पत्नी बनी हो अत: पतिव्रताओं की जो वृत्ति है उसका पालन करो ।" इस प्रकार शकुन्तला पिता का स्नेह प्राप्त करके अत्यन्त प्रसन्नता होती है ।

उधर दुष्यन्त के वैसी प्रतिज्ञा करके चले जाने के बाद शकुन्तला में मातृत्व के लक्षण बढ़ते जाते हैं । शकुन्तला राजा के ध्यानमें नींद, स्नान,भोजन सब कुछ छोड़ देती है और सोचती है —" आज नहीं तो कल , कल नहीं तो परसों अवश्य ही राजा की भेजी हुई चतुरंगिनी सेना और ब्राह्मण मुझे लेने आयेंगे ।" परन्तु दिन बीतता जाता है, सप्ताह भी बीत जाते हैं , महीने भी बीत जाते हैं और इस प्रकार गिनते-गिनते तीन वर्ष बीत जाते हैं । इसके बाद उपदेश से तथा कण्व स्वयं उसकी सन्तान का जातकर्मादि संस्कार करायेंगे — यह सुनकर वह तीन वर्ष पूरे होने के बाद दुष्यन्त के पुत्र को जन्म देती है । आकाश से पुष्पवृष्टि होती है , देवदुन्दुभि बजने लगते हैं , अप्सराएँ नाचने लगती हैं, देवताओं ने मधुर गीत गाया है और इन्द्र की ओर से भविष्यवाणी की कि —" शकुन्तला का पुत्र चक्रवर्ती राजा होगा , रूप, तेज और शक्ति में संसार में वह अद्वितीय होगा । वह सैकड़ों वाजपेय और राजसूय यज्ञ करके अपना धन ब्राह्मणों को दक्षिणा के रूप में देगा । महर्षि कण्व के आश्रम में रहने वाले,देवताओं के ऐसे वचन सुनकर शकुन्तला का अभिनन्दन करने लगे । शकुन्तला भी सब कुछ सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुई । कण्व ने ब्राह्मणों को बुलाकर शिशु का जातकर्मादि संस्कार करवायातथा उसके बड़े होने के साथ-साथ विधिपूर्वक अन्य संस्कार भी कराये । शकुन्तला का पुत्र शीघ्र ही बढ़ने लगा । उसके मुंह में छोटे व नुकीले चमकते हुए दांत निकल आये । हथेली पर बना हुआ चक्र उसके चक्रवर्ती होने की घोषणा करता था । वह कुमार तेज में साक्षात् विष्णु के समान प्रतीत होता था ।

इधर दुष्यन्त ने जान बूझकर सब कुछ स्मरण रहने पर भी महर्षि के भय से आश्रमी शकुन्तला को ले आने के लिए कोई उत्साह नहीं दिखाया ।

शकुन्तला का महा तेजस्वी पुत्र कण्वाश्रम के समस्त जन्तुओं को अपने बाहुबल से वशीभूत करता था, यहाँ तक कि सिंह और शेर को भी पकड़ कर पेड़ से बांध रखता था । राक्षस, पिशाच सब का मुष्टियुद्ध में ही वध कर देता था । सभी ऋषि उसे अलौकिककारी कर्मों का वर्णन करते हुए अत्यन्त प्रसन्न होते थे । एक बार एक दैत्य ने उस पर हमला करना चाहा परन्तु उस बच्चे ने हँस कर उसे हाथ से ही इतना कसकर पकड़ रखा कि वह दैत्य अपने को छुड़ा भी न पाया । वह

शकुन्तला का पुत्र रोज ही दैत्य और राक्षसों का वध करता था जिससे भयभीत होकर अब दैत्य और राक्षस आश्रम के पास ही नहीं आते थे । यह सब देखकर कण्व तथा उनके आश्रम के निवासियों ने उस बालक का नाम सर्वदमन रखा ।

इधर दीर्घ प्रतीक्षा करते-करते बारह साल बीत गये और शकुन्तला चिन्ता में दिन पर दिन घुलती गयी, उसका चेहरा पीला पड़ गया, शरीर कृश हो गया और वह मलिनवेश धारण करके बड़ी दीन-सी दिखने लगी । महर्षि कण्व ने जब सर्वदमन के असीम पराक्रम को देखा और उसे यौवराज्य में अभिषिक्त होने के लिए योग्य समझा तब उन्होंने शकुन्तला को बुलाया और उसे आदर्श पतिव्रता नारी के गुणों का उपदेश देकर उसे पुत्र के साथ दुष्यन्त के पास जाने के लिए कहा । सर्वदमन को भी बुलाकर स्नेह से उसका आलिंगन करके महर्षि कण्व ने कहा —" पौरववंशी राजा दुष्यन्त का नाम प्रसिद्ध है, उन्हीं की प्रधान महिषी यह पतिव्रता तुम्हारी जननी है । यह तुम्हारे साथ पति के पास जाना चाहती है । तुम वहाँ जाकर राजा का अभिवादन करना, अपने पिता के प्रति अनुकूल आचरण करना । वह तुम्हें यौवराज्य देंगे और तुम भी एक दिन अपने पिता और पितामह के समान राज्य में प्रतिष्ठित होगे । फिर जब तुम राज्य शासन करने लगो तब मेरी भी याद कर लेना ।"

कण्व का वचन सुनकर किशोर सर्वदमन ने ऋषि की चरणवन्दना करके कहा —" आप ही मेरे पिता, माता सब कुछ हैं, आप ही मेरी गति हैं । मैं आप ही को अपना सब कुछ समझता हूँ । आप ही की सेवा करना इस लोक तथा परलोक के लिए मुख्य कार्य होगा । यदि शकुन्तला अपने पति के पास जाना चाहती है तो स्वयं ही चली जाय, मैं तो आपके चरणों के पास बैठकर आपकी सेवा करता रहूँगा । मैं पहले के समान हरिण आदि पशुओं के साथ खेलता नहीं रहूँगा । आपके शासन में रहकर स्वाध्याय करूँगा ।" यह कहकर सर्वदमन कण्व के चरणों को पकड़ कर बैठ गया । शकुन्तला पुत्र के वचन सुनकर तथा पिता के स्नेह के कारण रोने लगी । जननी को रोती हुई देखकर सर्वदमन ने शकुन्तला से कहा —" शकुन्तला महर्षि के वचन सुनकर तुम क्यों रो रही हो, यदि तुम्हें पति के लिए प्यार है तो अब तुम्हें वहाँ से चल देना चाहिए ।"

शकुन्तला कहती है —" एक दोष अवश्य है और उसका फल आज भी भोग करना पड़ता है । मैं तुम्हें रोज कितना मना करती हूँ पर तुम मेरा कहना सुनते ही नहीं । तुम रोज हाथियों को उत्पीड़ित करके, सिंह शेर आदि पशुओं से सुन्दर वन में उथल-पुथल मचा देते हो । तुमने ऐसा कार्य करके महर्षि को रुष्ट

कर दिया है, अभी तो वे हम दोनों को चले जाने के लिए कह रहे हैं। मुझे दुष्यन्त के पास नहीं जाना है न मैं पुत्र की हितैषिणी हूँ। मैं यहीं पिता के चरणों में पड़ी रहूँगी।" — ऐसा कहकर रोती हुई शकुन्तला पिता कण्व के चरणों पर गिर पड़ी।

शकुन्तला को इसप्रकार विलाप करते देखकर कण्व ने उसे फिर पातिव्रत्य का उपदेश दिया और राजा के पास जाने के लिए कहा। शकुन्तला को समझा कर उन्होंने सर्वदमन को भी समझाया कि शकुन्तला मन से तो पति के पास ही जाना चाहती है परन्तु मुख से दूसरा कह रही है और शिष्यों को शकुन्तला और उसके पुत्र को दुष्यन्त के पास पहुँचा आने के लिए आदेश दिया।

कण्व का उपदेश सुनकर तथा उनकी आज्ञा पाकर शकुन्तला बहुत प्रसन्न हुई। सर्वदमन भी कण्व की चरणवन्दना करके चलने के लिए उद्यत हुआ। शकुन्तला ने पिता की प्रदक्षिणा करके हाथ जोड़कर अपनी त्रुटियों के लिए क्षमा मांगी। उस समय कण्व ऋषि होकर भी शकुन्तला के आसन्न वियोग से इतने विचलित हो गये कि उनके मुख से कुछ भी शब्द नहीं निकला, केवल आँखों से आँसुओं की धारा बह चली। इतने में शकुन्तला के साथ, चलने वाले दूसरे मुनि भी आ गये। कण्व ने उनको दुष्यन्त के नगर का रास्ता बताकर सब को विदा दी। कण्व ने

शकुन्तला और सर्वदमन को साथ लेकर कण्वाश्रमवासी मुनि दुष्यन्त के राजप्रासाद की ओर चलने लगे। उन्होंने उस सुन्दर पुरी का दर्शन किया जिसे पुरुहूत ने पुरुरवा के लिए निर्माण किया था। वहाँ पर सभागृह में राजर्षि दुष्यन्त स्वर्णालंकार से भूषित होकर ब्राह्मण, क्षत्रिय और मन्त्रियों से परिवृत होकर प्रसन्नचित्त विराजमान थे। उस समय मुनियों ने पक्षियों के रव में मंगलसूचक ध्वनि सुनकर शकुन्तला से कहा कि तुम अवश्य ही आज रानी बनोगी और यह कुमार भी आज ही यौवराज्य में अभिषिक्त होगा। शकुन्तला को आगे करके नगरद्वार में प्रवेश किया। शकुन्तला के पुत्र को देखकर सभी नगरवासी उसकी प्रशंसा करने लगे। सर्वदमन भी नगर में प्रवेश करके उसकी शोभा को देखकर आनन्दित हुआ। नगरवासी बन्धुओं को बुलाकर सर्वदमन को दिखाने लगे। इन नवीन आगन्तुकों का दर्शन करने के लिए पुरनारियों में होड़ लग गयी। कोई माँ-बेटे की इस जोड़ी को देखकर कह रहे थे कि ऐसा लग रहा है मानो जयन्त के साथ साक्षात् इन्द्राणी ही मर्त्यलोक में आ गयी है। कोई महर्षियों की पूजा करके अपने को धन्य समझ रहे थे। शकुन्तला के साथ सर्वदमन को देखकर कोई समझ रहे थे मानो पार्वती के साथ-साथ कुमार कार्तिकेय ही नगर में पहुँच गये हों। परन्तु कुछ पूर्व

इन वल्कल और कृष्णाजिन पहने हुए आगन्तुकों को पिशाच समझ रहे थे, कोई भूखतावश शीर्णकाय, मलिनवेश और जटाजूटधारी महर्षियों को देखकर हँस रहे थे। पुरवासियों का उपहास सुनकर सभी महर्षि बहुत क्षुब्ध हुए और कहा कि हमें कण्व के आदेश के अनुसार नगर में बिना प्रवेश किये संगम पर ही रुक जाना चाहिए था, हम निरापराध जनों को इन दुष्टों की बसति वाले नगर में प्रवेश करने की आवश्यकता ही क्या है? ऐसा परामर्श करके सब ऋषि संगम की ओर लौट चले।

मुनियों को लौट जाते देखकर शकुन्तला को बहुत दुःख हुआ वह अपने को वैसा ही निःसहाय समझने लगी, जैसा कि मातृ-पितृहीन छोटी लड़कियाँ समझती हैं। भारी मन से, धूल से धूसरित हुई केशों वाली शकुन्तला धीरे-धीरे पुत्र का हाथ पकड़ कर चलने लगी। परन्तु इस प्रकार दुःखी होने पर और मलिनवेश धारण करने पर भी शकुन्तला की रूपराशि कम नहीं हुई। उसके अलौकिक सौन्दर्य को देखकर दुष्यन्त के नगरवासी उसे स्वर्गलोक से आविर्भूत हुई कोई देवी है, ऐसा सोचने लगे। सर्वदमन के दीप्तिदीप्त रूप की प्रशंसा करके वे कहने लगे कि राजा के लक्षणों से युक्त दुष्यन्त के समान ही रूप और तेज वाला यह कुमार किसका पुत्र हो सकता है? नगर की स्त्रियाँ कौतुकवश बच्चों के समान शकुन्तला का अनुसरण करने लगीं। पुरवासियों का कथोपकथन सुनकर शकुन्तला रुक गई और राजप्रासाद के द्वार पर पहुँच कर सहसा दुष्यन्त से क्या कहूँगी, — इस बात की चिन्ता करके विह्वल-सी हो उठी। परन्तु जब उसकी दृष्टि सिंहासन पर इन्द्र के समान विराजमान दुष्यन्त पर पड़ी तो उसके हृदय में एक अपूर्व आनन्द का संचार हुआ। राजा को प्रणाम करके उसने अपने पुत्र से कहा — 'यही राजा तुम्हारे पिता हैं, इनका अभिवादन करो।' यह सुनकर लज्जा से अवनतमुखी हुई शकुन्तला ने एक स्तम्भ का आलिंगन करके राजा से कहा — 'तुम प्रसन्न हो।' सर्वदमन ने भी हाथ जोड़कर राजा का अभिवादन किया और हर्षोत्फुल्ल नयनों से वह राजा को देखने लगा।

इधर दुष्यन्त ने धर्मबुद्धि से चिन्ता करते हुए शकुन्तला से कहा — 'हे सुन्दरि! अपने आगमन का उद्देश्य बताओ। मैं किसी रूप से तुम्हारी बात पर सन्देह नहीं करूँगा।'

शकुन्तला ने दुष्यन्त से कहा — 'महाराज प्रसन्न होइए, हे पुरुषोत्तम मैं सब कुछ कहूँगी। यह आपका पुत्र है जिसे मैंने जन्म दिया है। अब इसे आप यौवराज्य में अभिषिक्त कीजिए। आश्रम में आपने जो कुछ कहा था उसे पूरा कीजिए। मेरे साथ समागम के समय पहले आपने जो प्रतिज्ञा की थी, कण्व के

आश्रम में हुई उस घटना का स्मरण कीजिए ।"

स्त्रियों का उपभोग करने वाले उस दुष्यन्त के मन में सब कुछ स्पष्ट स्मरण हो आया । सपुत्रा शकुन्तला को देखकर उसके मन में प्रसन्नता भी हुई । उसे अपनी प्रतिज्ञा भी याद आ गयी । परन्तु सब कुछ जानकर भी उसने शकुन्तला से कहा — "मुझे तुम्हारे साथ समागम होने की कोई बात याद नहीं है । मेरा तुम्हारे साथ धर्म,काम,अर्थ का कोई सम्बन्ध हुआ था — ऐसा भी याद नहीं आता । अत: तुम चाहो तो रहो अथवा जाओ, जैसा तुम्हारा मन हो वैसा ही करो ।"

राजसभा में दुष्यन्त के इन अपमानजनक वचनों को सुनकर पहले तो शकुन्तला लज्जित और दुखी हुई, किन्तु दूसरे ही क्षण उसे दुष्यन्त पर बड़ा क्रोध आया । क्रोध के कारण उसकी आँखें लाल हो गयीं, होंठ फड़कने लगे । अपने क्रोधोद्दीप्त कटाक्षों से मानो वह राजा को भस्मीभूत करने लगी । उसने अपनी तपस्या का तेज धारण किया । क्षोभ और दुख से व्याकुल हुई शकुन्तला क्षण भर विचार करके राजा से न्याय के यह शब्द बोली — "हे महाराज, आप जानते हुए भी क्यों ऐसा कह रहे हैं । क्यों साधारण मनुष्य के समान लज्जाहीन होकर यह कह रहे हैं कि "मैं कुछ नहीं जानता । आप सत्यासत्य के निर्णय करने वाले अपने हृदय से पूछिए । क्यों, अपनी कल्याणमय आत्मा की उपेक्षा कर रहे हैं ? जो हृदय की उपेक्षा करके मुँह से दूसरा कहता है , वह आत्मापहारी चोर कौन-सा पाप नहीं करता ? आप अपने को ही सब कुछ समझ रहे हैं, हृदय में जो पुरातन मुनि सोया हुआ है, उसको महत्व नहीं दे रहे हैं । जो पुराणपुरुष हृदय में रहकर मनुष्य के समस्त कर्मों को देखता है, उसके पास क्या आप अपराध नहीं कर रहे हैं ? धर्म ही सब का कल्याण करने वाला है , जो धार्मिक है वह कभी दुःख का भागी नहीं होता है । फिर सूर्य और चन्द्र, अनिल और अनल अन्तरिक्ष और धरणी, हृदय, यम, रात्रि और दिन, दोनों सन्ध्याएँ तथा धर्म सभी मनुष्य के सभी कृत्यों के साक्षी हैं । यम और वैवस्वत निःसन्देह दुराचारी को दण्ड देते हैं । जो दुष्ट है उस पाप- कार्य करने वाले के द्वारा निःसन्देह तिरस्कृत होता है । जो अपनी आत्मा की अवमानना करके मिथ्याचरण करता है, उसे देवता क्षमा नहीं करते । स्वयं उपस्थित हुई, अपनी पतिव्रता, सुशीला पत्नी को स्वीकार क्यों नहीं करते ? क्यों इस भरी सभा में प्राकृत जन के समान मेरी उपेक्षा कर रहे हैं ? क्या मेरी बातों को आप सुन नहीं रहे हैं । यदि प्रार्थना करने वाली मेरे वचनों को नहीं मानते हो दुष्यन्त ! तुम्हारे सिर के सौ टुकड़े हो जायेंगे । भार्या में प्रविष्ट कर पुरुष अपने को ही पुनः उत्पन्न करता है इसी

तो जाया का जायात्व सिद्ध होता है । इसीलिए धार्मिक सन्तान को उत्पन्न करते हैं । उसकी सन्तति ही उसके पूर्वजों का उद्धार करती है । पिता को 'पुं' नामक नरक से उद्धार करता है इसी से 'पुत्र' कहा जाता है । पुत्र के द्वारा मनुष्य संसार को जीत लेता है और पौत्र से अनन्त को प्राप्त करता है इसी पौत्र के पुत्र से प्रपितामह प्रसन्न होते हैं । वही भार्या है जो घर की रक्षा करती है, सन्तानों की जो जननी है, जो पतिप्राणा और पतिव्रता है । मनुष्य की अर्द्धांगिनी भार्या ही मनुष्य का सबसे उत्तम मित्र है, वही त्रिवर्ग की मूलस्वरूपिणी है । जो व्यक्ति भार्या से युक्त है, वह बन्धु से भी युक्त है । दुर्गम वन में भी, पथ पर चलते हुए भी भार्या ही एकमात्र विश्राम का स्थान है । जो भार्या से युक्त होता है, उसी का विश्वास किया जाता है । मनुष्य की विषम परिस्थिति में भी भार्या ही एकमात्र सहाय होती है । यदि भार्या की मृत्यु पहले होती है तो वह स्वर्ग में जाकर भी पति की प्रतीक्षा करती है और यदि पति की मृत्यु पहले होती है, तो भार्या भी उसका अनुसरण करती है । शरीर के पोषणार्थ तथा स्वर्ग के पाथेय के लिए मनुष्य पुत्र उत्पन्न करता है । ज्ञानी कहते हैं कि मनुष्य पुत्र उत्पन्न करते समय आत्मा के द्वारा आत्मा को ही उत्पन्न करता है । अतः पुत्र की जननी भार्या को मातृवत् समझना चाहिए । इसके बाद शकुन्तला, अपनी स्त्री को छोड़कर परस्त्री के उपभोग के दोषों का वर्णन करती है । दरिद्र मनुष्य भी अपनी पत्नी का सम्मान करते हैं । जब अपने धूल से धूसरित शरीर से शिशु अपने पिता का आलिंगन करता है, तब पिता को ऐसा लगता है कि इससे अधिक संसार में कुछ भी नहीं है । अपने अभीष्ट और मनस्वी पुत्र को तुम इस प्रकार कटाक्षों से देखकर उसकी उपेक्षा क्यों कर रहे हो ? चींटी भी अपने अण्डों का पालन-पोषण करती है । वे क्षुद्र होने पर भी अपने अण्डों का परित्याग नहीं करते — फिर तुम इतने बड़े महान् नृपति होकर अपने पुत्र का पालन नहीं करते ? वायस तो कोकिल के अण्डों का भी पालन करता है तो तुम मेरे द्वारा उत्पन्न अपने ही पुत्र का पालन क्यों नहीं करोगे ? मलय से उत्पन्न चन्दन अति शीतल कहा जाता है परन्तु शिशु का आलिंगन तो चन्दन से भी अधिक शीतल होता है । स्पर्श करने योग्य वर्गों में पुत्र श्रेष्ठ समझा जाता है । तीन वर्ष के पूर्ण होने पर मैंने इस शत्रुओं के क्षयकारी पुत्र को उत्पन्न किया था । आज वह तुम्हारे शोक को दूर करने वाला कुमार मेरे कहने पर तुम्हारे आह्वान की प्रतीक्षा कर रहा है । जब मैंने इसे जन्म दिया तभी अन्तरिक्ष में यह वाणी ध्वनित हुई थी कि यह

कुमार सैकड़ों अश्वमेध, राजसूय आदि यज्ञों का कर्ता होगा ।"

शकुन्तला अपने जन्म की कथा भी संक्षेप में फिर से कहती है । शकुन्तला राजा को कण्वाश्रम में उनके साथ मिलन की घटना का स्मरण दिलाती हुई कहती है -- "आपको मेरे प्रति इस प्रकार का वचन कहना उचित नहीं है । न ही धर्म का तिरस्कार करके अपने आप उपस्थित हुई मेरा परित्याग करना ही उचित है । संसार का पालक होकर निर्दोष और निःसहाय मेरा परित्याग करना उचित नहीं है । हे राजन् ! मैंने पूर्वजन्म में कौन-सा पाप किया था जिसके कारण मैं माता-पिता के द्वारा और इस समय आपके द्वारा परित्यक्त हुई । आपके द्वारा परित्यक्त हुई मैं तो आश्रम में लौट जाऊँगी , परन्तु अपने आत्मज इस बालक का परित्याग न कीजिए ।"

दुष्यन्त ने कहा -- "शकुन्तला ! मेरा कोई पुत्र तुमने उत्पन्न किया है, ऐसा मैं नहीं जानता । स्त्रियां स्वभाव से ही झूठ बोलने वाली होती हैं, अतः तुम्हारे वचन पर कौन विश्वास करेगा ? विशेषतः मेरे सामने इस प्रकार के अविश्वास्य वचन कहने में है दुष्ट तापसि ! तुझे लज्जा नहीं हो रही है । तू यहाँ से चली जा । तू तापसी का वेश धारण की हुई कोई दुष्ट स्त्री है । तेरा पुत्र विशाल शरीर वाला और अत्यन्त बलवान दीख रहा है, कैसे इतने थोड़े से समय में ही शाल वृक्ष के तने के समान तेरा यह पुत्र विशालकाय हो गया? तू तो मुझे पुंश्चली ही प्रतीत हो रही है । फिर तेरा जन्म भी तो हीन कुल से हुआ है । तू जो कुछ कह रही है, कुछ भी मेरे लिए प्रत्यक्ष नहीं है, सब कुछ परोक्ष है । फिर यह तो सर्वविदित है कि स्त्रियाँ कामपरायण होती हैं, उनका स्वभाव भी कुटिल होता है और झूठ बोलने में चतुर होती हैं । तेरी जननी मेनका क्रूर-स्वभावा है जो तुझे अनाथ की तरह हिमालय की गोद में उपेक्षा से फेंक कर चली गयी । वह तेरा क्षत्रिय पिता भी बड़ा निर्दयी, जो ब्राह्मणत्व का लोभी और कामपरायण है । अहो , तेरा जन्म ऐसे दुष्ट चरित्र वाले जनों के द्वारा हुआ है । तू तो इस प्रकार निकृष्ट जाति की हुई, फिर कैसे अपने को कुलीन कह रही है ? तू जन्म होते ही परित्यक्त हुई और कोयल के समान दूसरे ने तेरा भरण-पोषण किया । तू राजा के सामने जो कुछ कह रही है, सब अविश्वास्य है । तू यहाँ लज्जा हो चली जा । सोना मणि-मुक्ता, वस्त्र, आभरण यदि अपने भोग के लिए चाहती हो तो यहाँ से ले और चली जा , मैं तुझे देखना नहीं चाहता ।"

इस प्रकार शकुन्तला क्रोधित होकर कहने लगी -- हे राजा ! दूसरे के छोटे-छोटे दोषों को तो तुम खूब देख रहे हो, पर अपने में जो कितने बड़े-बड़े दोष

हैं, उसे देख ही नहीं पाते । मेनका स्वर्ग की रहने वाली है, सारे स्वर्गलोक में उसकी प्रतिष्ठा है, मैं उसकी कन्या हूँ । अतः स्वर्गलोक की मेनका अप्सरा की जन्य लेकर मैं तो यही समझूँगी कि मेरा जन्म तुमसे श्रेष्ठ ही है । तुम केवल पृथ्वी पर विचरण करते हो, परन्तु मैं तो अन्तरिक्ष में भी भ्रमण कर सकती हूँ — अतः हम दोनों में कितना अन्तर है, तुम स्वयं ही देख सकते हो । फिर तुम्हारे पूर्व पितामह की आयु भी तो उर्वशी अप्सरा के ही पुत्र थे । अप्सराओं से उत्पन्न होने पर मातृदोष नहीं होता । यह प्रमाद सब है, उसी से मैंने आपके पूर्वपितामह का निदर्शन किया है, कोई द्वेष के कारण नहीं । अतः आप मुझे इसके लिए क्षमा कीजियेगा । कुरूप व्यक्ति भी जब तक दर्पण में अपने को नहीं देखता, तब तक अपने को दूसरे से सुन्दर ही समझता है । परन्तु जब वह अपने को दर्पण में देख लेता है, तभी वह लज्जित होकर अपने और दूसरे व्यक्ति में अन्तर समझता है । मदमस्त हाथी धूल उड़ाकर प्रसन्न होता है, उसी प्रकार दुर्जन दूसरों की निन्दा करके प्रसन्न होता है । जो अपने पुत्र की उपेक्षा करता है उसका धन देवता नष्ट कर देते हैं, उसमें अविश्वास करता है । इसके उपरान्त शकुन्तला पुनः 'पुत्र' शब्द और पुत्र की महत्ता का वर्णन करने लगी । शकुन्तला सत्य की महिमा का वर्णन करके राजा से कहती है कि "सत्य के समान महान धर्म कुछ भी नहीं है । सत्य ही परम धर्म है और सत्य की प्रतिष्ठा भी प्रतिज्ञा-पालन में है । अतः इस बालक के पुत्रत्व पर शंका करने से पहले आप अच्छी तरह विचार कर लीजिए । जिसकी गति, स्वर, स्मृति, शिक्षा शील, विद्या, विज्ञान, स्वभाव आदि सब कुछ आपके ही समान है वह आपका ही पुत्र हो सकता है । सादृश्य में जो आपके प्रतिबिम्ब के तुल्य है, जो 'तात' कहकर आपका सम्बोधन कर रहा है, उसके प्रति आप विमुख मत होइए । हे दुष्यन्त ! आपके बिना भी मेरा पुत्र चतुरन्ता धरणी का चक्रवर्ती राजा होगा — इस बात पर कोई सन्देह नहीं है, क्योंकि स्वयं देवराज इन्द्र ने यही कहा था । उनकी बात कभी मिथ्या नहीं होती । मैं भाग्यहीना जहाँ से आयी थी वहीं लौट जा रही हूँ ।"

वैशम्पायन ने जनमेजय से कहा कि ऐसा कहकर शकुन्तला जाने लगी । उस समय वह अतिशय दुःख पी रही थी । वह कमलनयनी शकुन्तला अपने पुत्र के साथ वन की ओर चलने लगी । परन्तु उसी समय आकाशवाणी हुई । दुष्यन्त अपने पुरोहित, ऋत्विक आचार्य, मन्त्री सब के द्वारा परिवृत्त होकर बैठे थे । तभी

अन्तरिक्ष में ध्वनित हुई इस वाणी को सुना —" हे दुष्यन्त शकुन्तला ने जो कुछ कहा वह सब सच है । सच में मनुष्य पुत्र के रूप में अपने को ही उत्पन्न करता है । तुम भी आत्मस्वरूप पुत्र का पालन करो । शकुन्तला पवित्र है, तुम उसकी अवमानना न करो । हमारे वचनों का आदर करके भी तुम्हें इस बालक का भरण-पोषण करना चाहिए । अतः इसका नाम 'भरत' रखा जाय । यह कुल ही इसके नाम से 'भारत' कुल कहलायेगा । जो आगामी सन्तति हैं वे और जो पहले हो चुके हैं —सब भारत कहलायेंगे ।"

वैशम्पायन ने कहा —" यह कहकर देवताओं ने, ऋषियों ने ,तपस्वी ने शकुन्तला को पतिव्रता कहकर, प्रसन्न होकर पुष्पवृष्टि की । आकाशवाणी सुनकर दुष्यन्त सिंहासन से उठकर देवताओं को प्रणाम करके हर्षित होकर पुरोहित तथा आमात्यों से कहा —" आप भी इस देवदूत तथा महर्षियों की वाणी को सुनें । मैंने तो अपनी पत्नी तथा पुत्र को पहले ही पहचान लिया था , परन्तु यदि मैं शकुन्तला का कथन सुनकर इस बालक को अपने पुत्र के रूप में स्वीकार करता तो संसार को इस पर सन्देह हो सकता था ।"

वैशम्पायन ने कहा कि इस प्रकार देवताओं तथा महर्षियों के कथन से शकुन्तला की शुद्धता को प्रमाणित करके राजा ने प्रसन्न होकर अपने पुत्र का ग्रहण किया । फिर पिता के जो-जो कर्तव्य होते हैं, सब का सम्पादन किया । पुत्र का सिर सूंघ कर स्नेह के साथ उसका आलिंगन किया । ब्राह्मणों ने स्वागत किया, चारण स्तुतिपाठ करने लगे । पुत्र का शरीर स्पर्श करके राजा अत्यन्त प्रसन्न हुए । पत्नी की भी उन्होंने धर्म के साथ पूजा की और इस प्रकार से सान्त्वना के वचन कहे —" हम दोनों का सम्बन्ध लोक के परोक्ष में हुआ था , संसार इस बात से अनभिज्ञ था, अतः मैंने सब के सम्मुख पुनः इस सम्बन्ध की शुद्धता को प्रकट किया । मैंने तुम्हारे प्रति जो कुछ कहा वह इसीलिए कहा कि संसार मुझे स्त्रीभावापन्न न समझे और तुम्हारी भी शुद्धता प्रमाणित हो जाय । अब तो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सभी पतिव्रता और देवी समझ कर तुम्हारी पूजा करेंगे । तुम्हारे पुत्र को यौवराज्य में अभिषिक्त कर रहा हूँ, तुम ही मेरी प्रधाना महिषी हो । हे प्रिये ! जो कुछ मैंने तुम्हारे क्रोध के लिए कहा हो, उन्हें तुम क्षमा कर दो । पति को क्षमा करने वाली स्त्री ही पतिव्रता कहलाती है ।" शकुन्तला की महाभारतीय कथा की समाप्ति यहीं हो जाती है ।

'वेणीसंहार' :- भट्टनारायण के 'वेणीसंहार' नाटक में कथा महाभारत की

आधिकारिक कथा को ही नाटकीय रूप प्रदान किया गया है । इसमें 'उद्योगपर्व' से लेकर शान्तिपर्व के 'राजधर्मानुशासनपर्व' के 'चार्वाकवध' के वृत्तान्त तक विस्तृत दीर्घ महाभारतीय कथा का आधार लिया गया है । उसका संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है :-

पाँचों पाण्डव द्रौपदी के साथ बारह वर्ष वनवास की एवं एक वर्ष की अज्ञातवास की अवधि व्यतीत करके धृतराष्ट्र के न्याय की प्रतीक्षा कर रहे थे, किन्तु धृतराष्ट्र एवं उसके पुत्र राज्य के लोभ एवं ईर्ष्या के कारण राज्य तो दूर, युधिष्ठिर के मांगे हुए पांच ग्राम भी लौटा देने को तैयार नहीं हुए । अतः खिन्न होकर युधिष्ठिर ने श्रीकृष्ण से अनुरोध किया कि वे ऐसा कुछ उपाय करें जिससे उन्हें धर्म और अर्थ किसी से भी वंचित न होना पड़े । उन्होंने अपने मन की अभिलाषा को व्यक्त करते हुए कहा —" हम लोग न तो राज्य का परित्याग करने के लिए उत्सुक हैं और न कुल के विनाश की इच्छा ही रखते हैं । यदि नम्रता दिखाने से शान्ति हो जाय तो वही श्रेयस्कर है ।" धर्मराज के ऐसा कहने पर श्रीकृष्ण ने दोनों पक्षों के हित के लिए कौरवराजसभा में जाने का निश्चय किया । प्रस्थान करने से पूर्व उन्होंने युधिष्ठिर की साम्नीति की अनुपयोगिता का उल्लेख कर उन्हें युद्ध के लिए प्रस्तुत रहने का परामर्श दिया ।

श्रीकृष्ण के उपदेश के अनुसार पाँचों पाण्डव इस बात पर मन्त्रणा करने के उद्देश्य से एकत्रित हुए । इस अवसर पर स्वभाव से भयभीत होकर भीमसेन ने अभूतपूर्व भीरुता व्यक्त करते हुए कहा —" हे मधुसूदन ! आप कौरवों के बीच में वैसी ही बातें करें, जिससे शान्ति स्थापित हो सके । मैं इस प्रकार शान्तिस्थापना के लिए आपसे अनुरोध करता हूँ । राजा युधिष्ठिर भी शान्ति की प्रशंसा करते हैं और अर्जुन भी युद्ध के लिए उत्सुक नहीं हैं, क्योंकि अर्जुन में बहुत अधिक दया भरी हुई है ।" यही नहीं, भीमसेन ने इस प्रकार अपने स्वभाव के प्रतिकूल साम-वाक्यों से अपनी शान्तिप्रियता की व्यञ्जना की —

"दुर्योधनः क्रूरकारी कदर्यः पापपूरुषः ।। ७४।१७ (गीताप्रेस गोरखपुर संस्करण) उद्योगपर्व

अल्पमन्युः लोकेषु वार्धिकीर्यं शिवम् ।

कामानुबन्धमहतं नीचकुलपराङ्मुखम् ।। ७४।१८

अपि दुर्योधनं कृष्ण सर्वे वयमधश्चराः ।

नीचैर्भूत्वानुयास्यामो मा स्म नो भरता नशन् ।।" ७४।२०

श्रीकृष्ण भीम के मुख से ऐसा सामवचन सुनकर आश्चर्य करने लगे । उन्होंने भीम को

उनकी पूर्वकृत प्रतिज्ञाओं का स्मरण दिलाकर उन्हें युद्ध के लिए उत्तेजित किया । फलत: भीमसेन का मोह दूर हो गया और वे पूर्ववत् धार्तराष्ट्रों के विनाश के लिए कृतप्रतिज्ञ हो गये ।

भीमसेन के समान ही पहले अर्जुन और नकुल ने भी स्पष्टरूप से युद्ध के लिए श्रीकृष्ण से अनुरोध नहीं किया । श्रीकृष्ण ने उन दोनों पाण्डवों के हृदय में भी युद्ध के लिए प्रेरणा भर दी । श्रीकृष्ण की मृदु भर्त्सना से भीमसेन के समान ही उन दोनों का तेज पुन: प्रदीप्त हो उठा । कनिष्ठपाण्डव सहदेव ने ही केवल अपनी बारी आने पर सब के सम्मुख स्पष्टरूप से युद्धनीति का समर्थन करते हुए श्रीकृष्ण से कहा — " हे शत्रुदमन श्रीकृष्ण ! महाराज युधिष्ठिर ने यहाँ जो कुछ कहा है, वह सनातन धर्म है , परन्तु मेरा कथन यह है कि आपको ऐसा प्रयत्न करना चाहिए जिससे युद्ध होकर ही रहे । दशार्हनन्दन ! यदि कौरव पाण्डवों के साथ सन्धि करना भी चाहें, तो भी आप उनके साथ युद्ध की योजना बनाइयेगा । पांचालराजकुमारी द्रौपदी को वैसी दशा में सभा के भीतर लायी गयी देखकर दुर्योधन के प्रति बढ़ा हुआ मेरा क्रोध उसका वध किये बिना शान्त नहीं होगा । यदि भीमसेन,अर्जुन तथा धर्मराज युधिष्ठिर धर्म का अनुसरण करते हैं तो मैं उस धर्म को छोड़कर रणभूमि में दुर्योधन के साथ युद्ध ही करना चाहता हूँ । " — सात्यकि ने सहदेव का अनुमोदन मुक्तकण्ठ से किया । समस्त योद्धाओं ने सिंहनाद करके सहदेव के कथन का अभिनन्दन किया । द्रौपदी भीमसेन आदि पाण्डवों की शम-नीति से बहुत दुखी थी, अत: उसको सहदेव के स्पष्टभाषण से बहुत प्रसन्नता हुई । भीमसेन को शान्त देखकर उसे अत्यन्त खेद हुआ था, आँखों में आँसू भर गये थे । इस प्रकार व्यथित होकर द्रौपदी ने श्रीकृष्ण से दुःशासन की लांछनाओं का स्मरण दिलाकर अपने सुन्दर केशों की ओर संकेत करके कहा — " हे कमललोचन श्रीकृष्ण ! शत्रुओं के साथ सन्धि की इच्छा से आप जो-जो कार्य या प्रयत्न करें , उन सब में दुःशासन के हाथों से खींचे हुए इन केशों को याद रखें । यदि भीमसेन और अर्जुन कायर होकर कौरवों के साथ संधि की कामना करते हैं तो मेरे वृद्ध पिता अपने महारथी पुत्रों के साथ शत्रुओं से युद्ध करेंगे । मेरे पाँच महापराक्रमी पुत्र भी वीर अभिमन्यु को प्रधान बनाकर कौरवों के साथ संग्राम करेंगे । मैं दुःशासन की साँवली भुजा को जब तक कट कर धूल में लोटती न देखूँ तब तक मेरे हृदय को शान्ति नहीं मिलेगी । प्रज्वलित अग्नि के समान इस क्रोध को हृदय में रखकर प्रतीक्षा करते-करते मुझे तेरह वर्ष व्यतीत हो गये हैं । आज भीमसेन के सन्धि के लिए कहे गये वचन मेरे हृदय में बाण के समान

से मारे गये । अर्जुन आचार्य का सबसे प्रिय शिष्य है । इसीलिए उन्होंने युद्ध किये बिना ही उसे व्यूह में घुसने का मार्ग दे दिया । यदि उन्होंने सिन्धुराज को घर जाने की अनुमति दे दी होती तो इतना बड़ा अपाय न होता । 'मैं तुम्हें सिन्धुराज की रक्षा करूंगा, अर्जुन उसे पा नहीं सकेगा,' ऐसा कहकर इस ब्राह्मण ने मेरी सेना का संहार कराने के लिए सिन्धुराज को रोक दिया ।' — दुर्योधन का ऐसा आक्षेप-वचन सुनकर कर्ण ने आचार्य की निर्दोषता का वर्णन कर उसके सन्देह को दूर किया । इसके उपरान्त घटोत्कचवधपर्व शुरू होता है । कर्ण अपने कवच-कुण्डल के विनिमय में प्राप्त इन्द्र की एकघ्नी शक्ति से अर्जुन वध करने का विचार करते हैं । कृपाचार्य कर्ण की विकत्थना का उपहास करते हैं:—

'शोभनं शोभनं कर्ण सनाथः कुरुपुंगवः ।
त्वया नाथेन राधेय वचसा यदि सिध्यति ॥ १५८।१३ (द्रोणपर्व गीता प्रेस गोरखपुर संस्करण)
बहुशः कत्थसे कर्ण कौरव्यस्य समीपतः ।
न तु ते विक्रमः कश्चिद् दृश्यते फलमेव वा ॥ १५८।१४
तावद् गर्जसि राधेय यावत् पार्थं न पश्यसि ।
आरात् पार्थं हि ते दृष्ट्वा दुर्लभं गर्जितं पुनः ॥' १५८।१५

इस पर कर्ण कृपाचार्य से विवाद करता है और उनका अपमान करता है । मामा का अपमान देखकर अश्वत्थामा कर्ण का वध करने को उद्यत हो जाते हैं । दुर्योधन सब को शान्त करते हैं । दुर्योधन के अनुनय से सन्तुष्ट होकर अश्वत्थामा पाण्डवों के साथ घोर युद्ध करते हैं ।

उधर पाण्डवसेना तीव्र गति से आक्रमण करती है । सोमदत्त आदि कौरव महारथी का निधन होता है । भीमपुत्र घटोत्कच अद्भुत पराक्रम से युद्ध करते हैं । कर्ण का अर्जुन पर एकघ्नी शक्ति के प्रहार करने का विचार सुनकर श्रीकृष्ण घटोत्कच को रात्रियुद्ध में कर्ण का सामना करने के लिए भेजते हैं । घटोत्कच के निशाकालीन समर से कौरव-सेना उत्पीड़ित हुई । घटोत्कच की विभिन्न माया-युद्ध के सम्मुख कर्ण आदि श्रेष्ठ कौरवयोद्धाओं का बल भी व्यर्थ होने लगा । तब सभी कौरव आर्त होकर कर्ण से अनुरोध करने लगे । 'कर्ण ! आज तुम इन्द्र की शक्ति को घटोत्कच पर मार डालो । नहीं तो ये धृतराष्ट्र के पुत्र और कौरव नष्ट हो जायेंगे ।' इस प्रकार रात में राक्षस के प्रहार से घायल होते हुए कर्ण ने अपनी सेना को भयभीत देखकर तथा कौरवों का महान् आर्तनाद सुनकर घटोत्कच पर शक्ति चला दी । महावीर घटोत्कच के निधन से पाण्डव शोकाकुल हो गये । उधर कर्ण की एकघ्नी

शक्ति का ह्रास देखकर तथा ~~कौरव~~ अर्जुन की अपराजेयता को सोचकर कौरवों में भी विषाद छा गया । दुर्योधन ने द्रोण को उत्तेजित किया। द्रोण ने आख्यातीत पराक्रम से युद्ध किया । द्रोण के उत्कृष्ट पराक्रम से पाण्डव-सेना में भीति का संचार हुआ । तब श्रीकृष्ण के परामर्श से भीमसेन ने 'अश्वत्थामा मारा गया' यह वाक्य कहा । भीमसेन उसी समय मालव राज के अश्वत्थामा नामक हाथी को मार कर आये थे । द्रोणाचार्य मुहूर्त भर के लिए रुक गये, उनका मन संशय से दोलायमान हो गया। किन्तु क्षण भर में ही, भीमसेन के वाक्य में विश्वास न करके पूर्ववत् घोर युद्ध करने लगे । द्रोण ने पृथ्वी को पाण्डवरहित कर देने का निश्चय किया । उनका निश्चय जानकर अन्तर्यामी भगवान श्रीकृष्ण ने युधिष्ठिर से कहा —

'स भवांस्त्रातु नो द्रोणात् सत्याज्ज्यायोऽनृतं वचः ।
अनृतं जीवितस्यार्थे वदन्न स्पृश्यतेऽनृतैः ।।' १९०।४६ (द्रोणपर्व गी॰ प्रे॰ गोरखपुर संस्करण)

भीमसेन ने भी युधिष्ठिर को प्रेरणा दी — 'नरेश्वर ! आप भगवान श्रीकृष्ण की बात मान लीजिए और द्रोणाचार्य से कह दीजिए कि 'अश्वत्थामा मारा गया ।' राजन् ! आपके कहने पर विप्रश्रेष्ठ द्रोण कदापि युद्ध नहीं करेंगे, क्योंकि आप त्रिलोक में सत्यवादी के रूप में विख्यात हैं ।' इस प्रकार भीमसेन की प्रेरणा से तथा श्रीकृष्ण के आदेश से प्रेरित होकर युधिष्ठिर असत्यभाषण के लिए तैयार हो गये । महाभारतकार कहते हैं:—

'तमतथ्यभये मग्नो जये सक्तो युधिष्ठिरः ।
(अश्वत्थामा हत इति शब्दमुच्चैश्चकार ह ।)
अव्यक्तमब्रवीद् राजन् हतः कुंजरः इत्युत ।।' १९०।५५ (द्रोणपर्व गी॰ प्रे॰ गोरखपुर संस्करण)

इसके पहले युधिष्ठिर का रथ पृथ्वी से चार अंगुल ऊँचा रहा करता था, किन्तु उस दिन उनके इस प्रकार के असत्य भाषण से उनके रथ के घोड़े धरती का स्पर्श करके चलने लगे । युधिष्ठिर के मुख से यह वचन सुनकर द्रोणाचार्य पुत्रशोक से संतप्त हो गये । तब धृष्टद्युम्न उनके वध करने के प्रयत्न से आगे बढ़ आये । भीमसेन ने द्रोण को उनके अधिक अन्याय का उत्तरदायी बताकर तिरस्कार किया । धृष्टद्युम्न अवसर पाकर द्रोण के रथ पर चढ़ आया । शोकसंतप्त होने के कारण द्रोणाचार्य के [illegible] हृदय में दिव्यास्त्र प्रतिभासित नहीं हुए । तभी तो धृष्टद्युम्न का कौशल देखकर द्रोणाचार्य योगबल से परमात्मा का ध्यान करते हुए अपना शरीर छोड़ दिया । उस दशा में धृष्टद्युम्न ने उनके शरीर का स्पर्श किया और केश पकड़ कर उनका शिरश्छेद किया । अर्जुन पाण्डव धृष्टद्युम्न का कार्य देखकर हाहाकार कर उठे । सभी उस समय सारे प्राणी को धिक्कारने लगे ।

द्रोण को निहत देखकर कौरव-सेना भागने लगी । कौरवसेना को भागते देखकर द्रोणपुत्र अश्वत्थामा आगे बढ़ गये । जिस समय द्रोणाचार्य का वध किया गया, उस समय अश्वत्थामा वहाँ उपस्थित नहीं थे । वह उस समय शिखण्डी के नेतृत्व में युद्ध करने वाले पांचाल आदि पाण्डव सेनाओं का सामना कर रहे थे । कौरव सेना को भागते देखकर उन्होंने दुर्योधन के समीप जाकर इस प्रकार पूछा —

"कस्मान्निदं हतो राजन् रथसिंहे कथं तव ।
एतामवस्थां सम्प्राप्तं तन्ममाचक्ष्व कौरव ॥" १९३।३२ (द्रोणपर्व गी. प्रे. गोरखपुर संस्करण)

किन्तु दुर्योधन उनसे उस दारुण समाचार को कही नहीं पाया । द्रोणपुत्र को देखकर उसकी आँखों में आँसू भर आये । दुर्योधन ने संकोचपूर्वक कृपाचार्य से अनुरोध किया — "शंसात्र भद्रं ते सर्वं यथा सैन्यमिदं द्रुतम् ।" कृपाचार्य ने बारम्बार पीड़ा अनुभव करते हुए द्रोण-वध का समाचार सुना दिया । सारा वृत्तान्त सुनकर अश्वत्थामा की आँखें भर आयीं । रोष से उद्दीप्त होकर उन्होंने दुर्योधन से कहा —

"पिता मम यथा क्षुद्रैर्न्यस्तशस्त्रो निपातितः ।
धर्मध्वजवता पापं कृतं तद् विदितं मम ॥ १९५।४ (द्रोणपर्व गी. प्रे. गोरखपुर संस्करण)
यद् तु धर्मपुत्रः सद् केशग्रहणमाप्तवान् ॥ १९५।८
पश्यतां सर्वसैन्यानां तन्मे मर्माणि कृन्तति ।
मयि जीवति यत् तातः केशग्रहणमाप्तवान् ॥ १९५।७
कथमन्ये करिष्यन्ति पुत्रेभ्यः पुत्रिणः स्पृहाम् ॥"

अश्वत्थामा युधिष्ठिर तथा धृष्टद्युम्न का वध करने के लिए दृढ़प्रतिज्ञ हो गये । अश्वत्थामा ने भीषण नारायणास्त्र का प्रयोग किया परन्तु श्रीकृष्ण की कृपा से पाण्डवों का शरीर अक्षत रहा । अश्वत्थामा ने अर्जुन पर आग्नेयास्त्र निक्षेप किया किन्तु श्रीकृष्ण ने अर्जुन को बचा लिया । महात्मा श्रीकृष्ण और अर्जुन को आग्नेयास्त्र के प्रभाव से मुक्त देखकर अश्वत्थामा को बड़ा दुःख हुआ । वह कुछ काल के लिए आश्चर्य से किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये किन्तु बाद में धनुष त्याग कर रथ से उतर कर "यह सब मिथ्या है ।" ऐसा कहते हुए युद्धभूमि को छोड़कर चले गये । — महाभारतीय कथा का उतना अंश 'वेणीसंहार' के तृतीय अंक का स्रोत है ।

इसके बाद कर्णपर्व प्रारम्भ होता है । आरम्भ में कर्णवध का संक्षिप्त वर्णन है, बाद में संजय धृतराष्ट्र को कर्ण-वध के वृत्तान्त को विस्तार से सुनाते हैं ।

अश्वत्थामा के प्रस्ताव के अनुसार दुर्योधन ने कर्ण को सेनापति के पद पर अभिषिक्त किया ।

कर्ण ने मकरव्यूह का निर्माण करके घोर युद्ध प्रारम्भ किया । उन्होंने पाण्डवसेना के बहुत बड़े भाग का संहार किया । किन्तु कर्ण की अध्यक्षता में युद्ध करने वाले दुःशासन को भीमसेन ने सहसा अपने अधीन कर लिया और उसके रक्तपान करने की घोषणा कर — ऐसा कहते हुए वे अत्यन्त प्रसन्न हो-होकर उसके रक्त का आस्वादन करने लगे । उस समय भीम को देखकर कौरव-सेना भय के कारण भाग खड़ी हुई । कर्ण भी अत्यन्त भयभीत हुए । जब भीम दुःशासन का रक्तपान कर रहे थे तब कृपाचार्य आदि वीर तथा अवशिष्ट धार्तराष्ट्र विपन्न और शोकाकुल होकर दुर्योधन को सब ओर से घेर कर उसके पास खड़े रहे ।

शल्य ने कर्ण के हृदय से भय और विषाद को दूर करने का प्रयत्न किया । कर्ण को कातर देखकर उसका वीरपुत्र वृषसेन पिता की सहायता के लिए पास आया । उसने भीमसेन पर आक्रमण कर दिया । भीम और नकुल वृषसेन के बाणों से व्यथित हो गये । असहाय होकर भीम ने अर्जुन से वृषसेन के हाथों से रक्षा करने की प्रार्थना की । तब व अर्जुन ने बड़ी कठिनाई से वृषसेन का वध किया । उन्हें अभिमन्यु-वध के शोक का ऐसा प्रतिशोध लेकर कुछ संतोष हुआ । अर्जुन ने उसी दिन कर्ण का भी वध किया । कर्ण ने बहुत पराक्रम दिखाया किन्तु पूर्वकाल में प्राप्त ब्रह्मशाप के कारण सहसा उनके रथ की पहिया पृथ्वी में धँस गयी, परशुराम के शाप से उन्हें ब्रह्मास्त्र की शिक्षा याद न आयी । यह सब देखकर कर्ण व्याकुल हो गये । राधापुत्र कर्ण ने रथ से उतर कर पहिये को उठाने का प्रयत्न किया । क्रोध से उनकी आँखों में आँसू भर आये, उन्होंने अर्जुन से धर्मात्माओं के कार्यों का उल्लेख कर थोड़ी देर के लिए युद्ध रोक देने की प्रार्थना की । तब श्रीकृष्ण ने कर्ण से कहा — "राधापुत्र ! सौभाग्य की बात है कि अब यहाँ तुम्हें धर्म की याद आ रही है ! प्रायः यह देखने में आता है कि नीच मनुष्य विपत्ति में पड़ने पर दैव की ही निन्दा करते हैं, अपने किए हुए कुकर्मों की नहीं । कर्ण ! जब तुमने तथा दुर्योधन, दुःशासन और शकुनि ने एक वस्त्र धारण करने वाली रजस्वला द्रौपदी को सभा में बुलाया था, उस समय तुम्हारे मन में धर्म का विचार कहाँ उठा था ?...." इस प्रकार कर्ण के पूर्व काल में किए हुए अन्यायों का स्मरण दिलाया । कर्ण ने लज्जा से सिर झुका लिया । वे धरती पर खड़े होकर ही अर्जुन से युद्ध करने लगे । अर्जुन को अपने बाणों से व्यथित करके अवसर पाकर ज्यों ही वे पुनः पहिये को उठाने का प्रयत्न करने लगे त्यों ही श्रीकृष्ण की प्रेरणा से अर्जुन ने अपने तरकस से 'अंजलिक' नामक बाण से कर्ण का वध किया । धरती पर गिराये गये कर्ण के शरीर से एक तेज निकल कर आकाश में फैल गया और ऊपर जाकर सूर्यमण्डल में विलीन हो गया । कर्ण का वध की बातें

सुनकर दुर्योधन शोक से मूर्च्छित हो गया ।

कर्ण के निधन के उपरान्त कृपाचार्य ने दुर्योधन को पाण्डवों से सन्धि कर लेने का परामर्श दिया, किन्तु दुर्योधन ने उनके परामर्श की अवमानना की । दुर्योधन ने अश्वत्थामा के प्रस्तावानुसार शल्य को सेनापति बनाकर युद्ध के लिए भेजा । शल्य के साथ अश्वत्थामा ने भी घोर युद्ध किया , किन्तु अन्ततः युधिष्ठिर ने संवर्तक नामक अग्नि के समान प्रज्ज्वलित शक्ति से उन्हें यमलोक पहुँचा दिया । शकुनि का अन्त सहदेव ने किया । अब दुर्योधन के पास कोई सहायक न था, सेना भी प्रायः नाममात्र थी, समरांगण में अपने को अकेले पाकर दुर्योधन भयभीत होकर गदा हाथ में लिए पूर्व दिशा में स्थित सरोवर की ओर भाग खड़ा हुआ । माया से जल को स्तम्भित करके वह सरोवर के अन्दर छिप गया । वहाँ पर विचरण करने वाले व्याधों ने यह समाचार युधिष्ठिर को दिया । युधिष्ठिर अपनी सेना के साथ श्रीकृष्ण एवं अन्य भाइयों को साथ लेकर सरोवर के किनारे पहुँच गये । वहाँ युधिष्ठिर ने जल में छिपे हुए दुर्योधन के प्रति नानाविध उपहासवचन कहे । उनके उपहासवचनों से क्रुद्ध होकर दुर्योधन सरोवर के बाहर निकल आये । उन्होंने दुर्योधन को युद्ध के लिए उपयुक्त सामग्री प्रदान की और पाँचों पाण्डवों में से किसी एक से युद्ध करने के लिए आह्वान किया । भीम और दुर्योधन में गदायुद्ध शुरू हो गया । बलराम भी दर्शक बनकर वहाँ उपस्थित हुए । गदा-संचालन में भीम की अपेक्षा दुर्योधन अधिक निपुण थे — यह बात श्रीकृष्ण भी स्वीकार करते थे । [illegible] युद्ध में भीमसेन दुर्योधन का सामना नहीं कर पा रहे थे । अतएव अर्जुन ने श्रीकृष्ण की प्रेरणा से भीम को दुर्योधन की जाँघों पर प्रहार करने का संकेत किया । ऐसा करना यद्यपि युद्ध के नियमों की दृष्टि से अनुचित था , तथापि भीम ने दुर्योधन पर विजय प्राप्त करने के उद्देश्य से तथा अपनी प्रतिज्ञा की पूर्ति के लिए अचानक दुर्योधन की जाँघों पर गदा का प्रहार किया । दुर्योधन आहत होकर गिर पड़ा, उसकी दोनों जाँघें टूट चुकी थीं । दुर्योधन के गिरने पर चारों ओर बहुत उत्पात दृष्टिगोचर हुए । भीमसेन ने बायें पैर से दुर्योधन के मस्तक पर पादाघात किया । दुर्योधन की दुर्दशा को देखकर भगवान बलराम अत्यन्त क्रुद्ध हुए और भीम के विनाश के लिए दौड़े । श्रीकृष्ण ने उन्हें शान्त किया ।

वेणीसंहार के षष्ठ अंक में जो चार्वाक्-वृत्तान्त है उसका कथास्रोत महाभारत के शान्तिपर्व के 'राजधर्मानुशासन' पर्व का ३८ वाँ अध्याय है । इससे पहले 'सौप्तिकपर्व' में अश्वत्थामा के द्वारा द्रौपदी के पाँचों पुत्रों की हत्या की कथा है । सौप्तिक के उपरान्त 'स्त्रीपर्व' है फिर 'शान्तिपर्व' । शान्तिपर्व में चार्वाक-कथा

इसप्रकार वर्णित है —

युधिष्ठिर व्यास और कृष्ण की आज्ञा से हस्तिनापुर में प्रवेश करते हैं । सारे नगरवासी हर्ष के साथ उनका स्वागत करने लगे । उस समय ब्राह्मण का वेष धारण करके दुर्योधन का मित्र चार्वाक नामक राक्षस भी वहाँ ब्राह्मणों की मण्डली में सम्मिलित हो गया । जब ब्राह्मणगण युधिष्ठिर को आशीर्वाद देने के लिए उद्यत हुए तो उसने अन्य सब ब्राह्मणों की अनुमति बिना लिये ही युधिष्ठिर से कहा — 'राजन् ! ये सब ब्राह्मण मुझपर अपनी बात कहने का भार देकर मेरे माध्यम से तुमसे कह रहे हैं कि कुन्तीनन्दन तुम अपने ज्ञातियों का वध करने वाले एक दुष्ट राजा हो । तुम्हें धिक्कार है । ऐसे पुरुष के जीवन से क्या लाभ ? इस प्रकार यह बन्धुओं का विनाश करने वाले तथा गुरुवधकारी तुम्हारा मर जाना ही श्रेयस्कर है ।' ब्राह्मणवेषधारी चार्वाक के ऐसे वचन सुनकर अन्य सब ब्राह्मण असन्तुष्ट हो गये । इधर चार्वाक का वचन सुनकर युधिष्ठिर अत्यन्त उद्विग्न एवं लज्जित हो गये । उन्होंने ब्राह्मणों को प्रणाम करके कहा —

'प्रसीदन्तु भवन्तो मे प्रणतस्याभियाचतः ।
प्रत्यापन्नव्यसनिनं न मां धिक्कर्तुमर्हथ ॥' ३८।३० (शान्तिपर्व गीता प्रेस गोरखपुर संस्करण)

तब ब्राह्मणों ने उन्हें हृदय से आशीर्वाद दिया और ज्ञानदृष्टि से चार्वाक का वास्तविक स्वरूप जानकर उसे अपने क्रोध से नष्ट कर दिया ।

इस प्रकार भट्टनारायण के वेणीसंहार का कथास्रोत महाभारत के इस विशाल भाग पर निर्भर है । यहाँ केवल उन्हीं घटनाओं का संक्षिप्त वर्णन किया गया, जो वेणीसंहार में गृहीत हैं अथवा उल्लिखित हैं । वैसे वेणीसंहार में महाभारत के उद्योगपर्व से लेकर शल्यपर्व तक की प्रायः सभी प्रमुख घटनाओं का प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष प्रभाव है फिर भी विस्तार के भय से सब का पृथक् उल्लेख नहीं किया गया ।

'बालभारत' — 'बालभारत' के उपलब्ध दो अंकों में क्रमशः द्रौपदी का स्वयम्वर एवं द्यूतक्रीड़ा का वर्णन है । इनकी कथा भी महाभारत के क्रमशः आदिपर्व १८३ से १९८ अध्यायों में एवं सभापर्व के ४६ वें अध्याय से लेकर ७७ वें अध्याय तक वर्णित है ।

धौम्य को अपना पुरोहित बनाकर पाँचों पाण्डव द्रौपदी के स्वयम्वर में जाने का निश्चय करते हैं । स्वाध्याय में तत्पर रहने वाले, मधुर प्रकृति वाले

तथा ब्रह्मवादी पाण्डुकुमार व्यास से आज्ञा लेकर द्रुपद की राजधानी की ओर
चल पड़े हैं । द्रुपद की राजधानी में पहुँचकर ब्राह्मण के रूप में अपना परिचय देकर
उन्होंने वहाँ के एक कुम्भकार के गृह में रहने की व्यवस्था की ।

द्रुपदराज मन ही मन अर्जुन के साथ अपनी पुत्री के विवाह की अभिलाषा
करते थे, अत: उन्होंने कुन्तीपुत्र अर्जुन की खोज निकालने की इच्छा से एक ऐसा
दृढ़ धनुष बनवाया जिसे कोई झुका भी नहीं सकता था । राजा ने एक कृत्रिम
आकाश-यन्त्र भी बनवाया, उस यन्त्र के छेद के ऊपर उन्होंने उसी के बराबर का
एक लक्ष्य तैयार करवाया और यह घोषणा की कि जो वीर इस धनुष पर
प्रत्यंचा चढ़ाकर इन प्रस्तुत बाणों द्वारा ही यन्त्र के छेद के भीतर से लक्ष्य भेद
करेगा, वही मेरी पुत्री को प्राप्त कर सकेगा । द्रुपदराज की घोषणा सुनकर
विभिन्न देशों के नृपति उनकी राजधानी में एकत्रित होने लगे । बहुत से महात्मा
ऋषि-मुनि भी इस स्वयम्बर को देखने की इच्छा से वहाँ पर आये । दुर्योधन
आदि कौरव भी कर्ण के साथ वहाँ आये । द्रुपदराज ने उनका यथायोग्य सत्कार
किया ।

इसके उपरान्त महाभारत में स्वयम्वर- सभा का सुदीर्घ वर्णन है ।
विभिन्न प्रकार से द्रुपद की राजधानी तथा स्वयम्बरसभा के वर्णन करने के अनन्तर
वैशम्पायन पाँचालनरेश के द्वारा सुसज्जित करवाये हुए उस सभा में पाण्डवों के
आगमन का वर्णन करते हैं । पाण्डव अन्यान्य ब्राह्मणों के साथ उन्हीं लोगों की
पंक्ति में बैठे थे । इस प्रकार सम्पूर्ण समाज की उपस्थिति में द्रुपद-तनया ने हाथ
में सोने की बनी हुई वरमाला को लेकर सभा में प्रवेश किया । उस समय स्नान की
हुई सुन्दर वस्त्र और आभूषण से सुसज्जित द्रौपदी की शोभा अवर्णनीय हो
रही थी । सोमकवंशी क्षत्रियों के पवित्र एवं मन्त्रज्ञ ब्राह्मण पुरोहितों ने अग्निवेदी
के चारों ओर कुशा बिछाकर वेदोक्त विधि से प्रज्वलित अग्नि में आज्य से आहुति
डाली । इस प्रकार अग्निदेव को तृप्त कर ब्राह्मणों से स्वस्ति वाचन कराने के
अनन्तर चारों ओर बजने वाले सब प्रकार के बाजे बंद करा दिये गये । बाजों की
आवाज बन्द हो जाने पर जब स्वयम्बर सभा का कोलाहल शान्त हो गया, तब
विधिपूर्वक धृष्टद्युम्न ने द्रौपदी को साथ लेकर रंगमंडप के बीच में खड़े होकर
मेघ और दुन्दुभि के समान स्वर वाले मेघगम्भीर वाणी में यह अर्थयुक्त उत्तम एवं
मधुर शब्दों से यह घोषणा की :-

उनकी दुर्दशा का वर्णन करते हुए वैशम्पायन कहते हैं —

> 'हाहाकृतं तद् धनुषा दृढेन
>
> निष्पिष्टहारांगद कुण्डलम् ।
>
> कृष्णानिमित्तं विनिवृत्तकामं
>
> राज्ञां तदा मण्डलमार्तमासीत् ॥' १८६।२० (आदिपर्व) गी. प्रे. गोरखपुर संस्करण)

तब नृपतियों की यह दुरवस्था देखकर धनुर्धारियों में श्रेष्ठ कर्ण+ उस धनुष के पास गये किन्तु वे भी उसपर प्रत्यंचा और बाण नहीं चढ़ा पाये।

उसके बाद जरासंध, शिशुपाल और शल्य ने भी प्रयत्न किया किन्तु असफल हुए। शल्य के बाद दुर्योधन ने प्रयत्न किया किन्तु उसे झटके के कारण ऐसी चोट मिली कि वह भूमि पर चित लेट गया। धनुष की चोट के कारण राजा दुर्योधन बड़ा लज्जित हुआ और अपने स्थान पर लौट गया।

इस प्रकार जब सारा नृपतिसमाज सम्भ्रम में पड़ गया और लक्ष्यभेद की बातचीत तक बन्द हो गयी, तब ब्राह्मणवेशधारी कुन्तीनन्दन अर्जुन ने उस धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ाकर उसपर बाणसन्धान करने की अभिलाषा की। यह देखकर श्रीकृष्ण बहुत प्रसन्न हुए। उन्हें विश्वास हो गया कि द्रौपदी अब पाण्डुनन्दन अर्जुन के हाथ में आ गयी। पाण्डवों के छद्मवेश को और किसी ने नहीं पहचाना। जब ब्राह्मणों के बीच से अर्जुन उठे तो ब्राह्मणों में हलचल मच गयी। उपस्थित ब्राह्मणों में दो दल हो गया। एक अर्जुन के पराक्रम पर शंका करने लगे, दूसरे दल ने अर्जुन की सफलता पर पूरा विश्वास व्यक्त किया। अन्त में सभी ब्राह्मण एक होकर ब्राह्मणवेशधारी अर्जुन को आशीर्वाद देने लगे। अर्जुन ने

+ कर्ण के द्वारा प्रत्यंचा और बाण चढ़ाने की बात गीताप्रेस, गोरखपुर से प्रकाशित महाभारत के आदिपर्व में (अ० १८०) किया गया है —

> 'उद्धृत्य तूर्णं धनुरुद्यतं तत्
>
> सज्यं चकाराशु युयोज बाणान् ॥
>
> दृष्ट्वा सूतं मेनिरे पाण्डुपुत्रा
>
> भित्वा नीतं लक्ष्यवरं धरायाम् ।
>
> धनुर्धरा रागकृतप्रतिज्ञ-
>
> मत्यग्निसोमार्कमथार्कपुत्रम् ॥
>
> दृष्ट्वा तु तं द्रौपदी वाक्यमुच्चै-
>
> र्जगाद नाहं वरयामि सूतम् ।
>
> सामर्षहासं प्रसमीक्ष्य सूर्यं
>
> तत्याज कर्णः स्फुरितं धनुस्तत् ॥

किन्तु दाक्षिणात्य पाठ में यह वर्णन नहीं मिलता। भण्डारकर रिसर्च इंस्टीट्यूट से प्रकाशित ग्रंथ में भी नहीं है। नीलकंठी टीका भी इसका उल्लेख नहीं करती।

वरदायक शंकर को अवनत-मस्तक होकर प्रणाम किया और श्रीकृष्ण का स्मरण कर धनुष उठा लिया । अर्जुन ने पलक मारते-मारते प्रत्यंचा चढ़ा दी । इसके बाद उन्होंने पाँचों बाणों को भी हाथ में ले लिया । उन्होंने निमेष में लक्ष्यवेध कर दिया । वह बिंधा हुआ लक्ष्य छिन्न-भिन्न होकर यन्त्र के छेद से भूमि पर गिर पड़ा । आकाश से देवतालोग अर्जुन के मस्तक पर पुष्पवृष्टि करने लगे । स्वयम्वरसभा में महान् आनन्द छा गया । ब्राह्मणगण अत्यन्त प्रसन्न हुए । बाजे बजने लगे । सूत और मागधगण मीठे स्वर से यशोगान करने लगे ।द्रुपद के हर्ष की सीमा न रही । जब कोलाहल बढ़ने लगा तो धर्मपुत्र युधिष्ठिर नकुल और सहदेव को लेकर अपने आवास को चल दिये । लक्ष्य को ~~देख कर~~ भूमि पर गिरा हुआ देखकर इन्द्रतुल्य अर्जुन पर दृष्टि डालकर कृष्णकन्या हाथ में सुन्दर फूलों की जयमाला लिये मन्द-मन्द मुस्कराती हुई कुन्तीकुमार के पास गयी और उन्होंने उपस्थित राजमण्डल के सम्मुख अर्जुन के गले में जयमाल पहना दिया ।

अर्जुन इस प्रकार उस स्वयम्वरसभा में स्त्रीरत्न द्रौपदी को जीतकर रंगभूमि से बाहर निकलने लगे । द्रौपदी उनके पीछे-पीछे चल रही थी । ब्राह्मणलोग हर्ष के साथ उनका सत्कार कर रहे थे । किन्तु राजा द्रुपद ने क्षत्रियों की उपेक्षा कर अपनी रूपस्वरूपा कन्या को एक ब्राह्मण के हाथों में समर्पित कर दिया — ऐसा सोचकर उपस्थित राजन्यवर्ग द्रुपद पर आक्रमण करने के लिए उद्यत हो गया । कुछ वीरों ने यहां तक कहा कि " यदि इस कन्या को हम लोगों में से किसी को अपना पति बनाना अभीष्ट न हो तो इसे जलती हुई आग में झोंककर हम अपने-अपने राज्य को चल दें ।" द्रुपदराज को क्यों दण्ड देना चाहिए, इसका हेतु-प्रदर्शन करते हुए वे कहते हैं —

"अवमानमवाप्येह स्वयंवर च रणाजाद् ।
स्वयम्वराणामन्येषां मा भूदेवंविधा गतिः ॥ १८८।११ (आदिपर्व प्रे. गोरखपुर संस्करण)

राजाओं का ऐसा विचार देखकर द्रुपद भयभीत होकर ब्राह्मणों के शरण में गये । तब पाण्डुपुत्र भीम और अर्जुन राजाओं का सामना करने के लिए आगे बढ़े । वज्र के समान शक्तिशाली भीम ने तो गदा के स्थान पर गजराज की भाँति अपने दोनों हाथों से एक वृक्ष को ही उखाड़ कर ले आये । भीमसेन उस समय दण्डधारी साक्षात् यमराज प्रतीत हो रहे थे । अर्जुन भी स्वयम्वर में लक्ष्यवेध के लिए प्राप्त उसी भयंकर धनुष को लेकर शत्रु का प्रतिरोध करने लगे । ब्राह्मणों ने दोनों भाइयों को आश्वासन दिया — दोनों भाइयों का उग्र पराक्रम देखकर राजाओं ने कहा —"यदि ब्राह्मण युद्धाभिलाषी हों तो उनका वध करने पर पाप

नहीं होता।" यह कहकर वे भीम और अर्जुन पर टूट पड़े। अर्जुन ने कर्ण को पराजित कर उसकी दुर्दशा कर डाली। दुर्योधनादि राजा भी परास्त हो गये। भीम ने शल्यराज को दोनों हाथों से उठाकर दूर फेंक दिया। ब्राह्मणों को बड़ी प्रसन्नता हुई —

उपस्थित सभी को दो ब्राह्मणवेशधारी भाइयों का अद्भुत पराक्रम देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ। तब श्रीकृष्ण ने समस्त राजाओं को युद्ध से निवृत्त होने के लिए समझाया। वैशम्पायन कहते हैं —

"तद् कर्म भीमस्य समीक्ष्य कृष्णः
कुन्तीसुतौ तौ परिशंकमानः।
निवारयामास महीपतींस्तान्
धर्मेण लब्धेत्यनुनीय सर्वान्॥" १७०।३२॥ (आदिपर्व गी. प्रे. गोरखपुर संस्करण)

श्रीकृष्ण के समझाने से सभी युद्धरत नरेश युद्ध से निवृत्त होकर उन दोनों के पराक्रम से विस्मित होकर अपने-अपने निवासस्थान को चले गये। अर्जुन भी भाई भीम और पत्नी द्रौपदी के साथ माता कुन्ती के पास चले गये। 'बालभारत' के प्रथम अंक की कथावस्तु का स्रोत महाभारत का उपर्युक्त ही अंश है।

द्वितीय अंक का कथास्रोत महाभारत के सभापर्व के द्यूतपर्व के ५६ वें अध्याय से लेकर "अनुद्यूतपर्व" के ७७ वें अध्याय तक व्याप्त है। इसका संक्षिप्त रूप निम्नप्रकार है —

दुर्योधन की प्रेरणा से पुत्रस्नेह धृतराष्ट्र ने द्यूतक्रीड़ा के दुष्परिणामों को जानकर भी युधिष्ठिर को बुलाने के लिए विदुर को भेजा। महात्मा विदुर ने धृतराष्ट्र को बहुत समझाया, किन्तु धृतराष्ट्र ने दैव की दुहाई देकर विदुर को अपने आदेश पालन के लिए प्रस्तुत कर दिया। विदुर युधिष्ठिर के समीप गये और उन्होंने युधिष्ठिर को धृतराष्ट्र का सन्देश सुनाया। धर्मप्राण युधिष्ठिर ने पहले द्यूतक्रीड़ा के अवगुणों का ध्यान करके वहाँ जाने के लिए अनिच्छा व्यक्त की, किन्तु बाद में धृतराष्ट्र के वचनों पर सम्मान प्रदर्शित करते हुए कहा —

"न चाकामः शकुनिना देविताहं
न चेन्मां जिष्णुराह्वयिता सभायाम्।
आहूतोऽहं न निवर्ते कदाचित्
तदाहितं शाश्वतं वै व्रतं मे॥ ५८।१६॥"

यह कहकर युधिष्ठिर ने यात्रा की तैयारी की और वे भाइयों, सेवकों तथा पत्नी द्रौपदी के साथ हस्तिनापुर की ओर चल पड़े। मार्ग में विदुर

ने व्यथित होकर युधिष्ठिर को दुर्योधनादि के अशुद्देश्य के विषय में बता दिया। युधिष्ठिर पाण्डवों के साथ जाकर धृतराष्ट्र आदि गुरुजनों के साथ श्रद्धापूर्वक मिले। धृतराष्ट्र की आज्ञा लेकर रत्नमय गृहों में प्रवेश किया। अन्तःपुर की स्त्रियाँ द्रौपदी के सौभाग्य को देखकर ईर्ष्यान्वित हुईं। दूसरे दिन युधिष्ठिर आदि पाण्डवों ने द्यूत-सभा में प्रवेश कर सब के प्रति यथायोग्य सम्मान-प्रदर्शन किया। युधिष्ठिर ने शकुनि को द्यूत के अवगुण बताकर निवृत्त करना चाहा किन्तु क्रूरमति शकुनि किसी प्रकार नहीं माने। अनेक वाद-विवाद के उपरान्त शकुनि ने कहा —

"एवं त्वं मामिहाभ्येत्य निकृतिं यदि मन्यसे।
देवनाद् विनिवर्तस्व यदि ते विद्यते भयम्॥" ५८।१६॥ (सभापर्व गीताप्रेस गोरखपुर संस्करण)

इसपर युधिष्ठिर ने कहा —

"आहूतो न निवर्तेयमिति मे व्रतमाहितम्।
विधिश्च बलवान् राजन् दिष्टस्यास्मि वशे स्थितः॥" ५८।१८

युधिष्ठिर के यह कहने पर यह निश्चित किया गया कि दाँव पर लगाने के लिए धन और रत्न तो दुर्योधन देगा किन्तु उसकी ओर से खेलेगा शकुनि। युधिष्ठिर ने इसका विरोध किया किन्तु शीघ्र ही द्यूतक्रीड़ा प्रारम्भ हो गयी। युधिष्ठिर प्रत्येक दाँव पर हारते गये। इस प्रकार जब सर्वापहारी द्यूतक्रीड़ा ने जब भयंकर रूप धारण किया तब मनस्वी विदुर ने युधिष्ठिर को सावधान करते हुए द्यूताचारी की कही हुई नीति का उपदेश किया। धृतराष्ट्र आदि कुरु-प्रमुखों से बार-बार इस क्रीड़ा के निवारणार्थ अनुरोध किया। इस पर असन्तुष्ट होकर दुर्योधन ने अपने पूज्य पितृव्य का कटु शब्दों में तिरस्कार किया। द्यूतक्रीड़ा पूर्ववत् चलती रही, युधिष्ठिर क्रमशः धन, राज्य, भाइयों को भी द्यूत में पण रखकर हार गये। युधिष्ठिर जब अपने को दाँव पर रखकर हार गये, तब शकुनि ने कहा — "राजन्! आप अपने को दाँव पर लगाकर जो हार गये, यह आपके द्वारा बड़ा अधर्म कार्य हुआ। धन के शेष रहते हुए अपने आपको हार जाना महान पाप है। आपकी प्रियतमा द्रौपदी एक ऐसा दाँव है, जिसे आप अब तक नहीं हारे हैं, अतः पाँचाल राजकुमारी कृष्णा को आप दाँव पर रखिए और उसके द्वारा फिर अपने को जीत लीजिए।" युधिष्ठिर ने द्रौपदी के रूप तथा गुणों का वर्णन करके द्रौपदी को दाँव पर रखा। धर्मराज के ऐसा कहते ही उस सभा में बैठे हुए सज्जनों के मुख से "धिक्कार है, धिक्कार है" की आवाज़ आने लगी। भीष्म, द्रोण और कृपाचार्य आदि के शरीर से पसीना छूटने लगा। विदुर दोनों हाथों से अपना सिर थाम कर

बैठ गये । बाह्लीक, सोमदत्त, भीष्म, संजय, अश्वत्थामा, भूरिश्रवा, धृतराष्ट्रपुत्र युयुत्सु आदि मनस्वियों का मस्तक अवनत हो गया । किन्तु धृतराष्ट्र मन-ही-मन प्रसन्न हो बार-बार यह जानने को उत्सुक हुए कि उनका क्या जीता जा रहा है कि नहीं । सभासदों की आँखों में आँसू भर आये, किन्तु कर्ण, दुर्योधन आदि को बड़ा हर्ष हुआ । युधिष्ठिर दाँव पर द्रौपदी को भी हार बैठे ।

इसके उपरान्त दुर्योधन ने सर्वप्रथम विदुर को द्रौपदी को सभा में उपस्थित करने के लिए आदेश दिया । विदुर ने दुर्योधन का बहुत तिरस्कार किया । दुर्योधन ने विदुर को तिरस्कार करके प्रातिकामी को आदेश दिया । प्रातिकामी ने द्रौपदी से दुर्योधन का आदेश कह सुनाया । द्रौपदी ने उसे फटकार कर युधिष्ठिर से यह पूछने के लिए भेज दिया कि युधिष्ठिर पहले अपने को हार कर द्रौपदी को दाँव पर रखा अथवा द्रौपदी को दाँव पर रखने के बाद वह अपने को हारे । प्रातिकामी ने सभा में जाकर युधिष्ठिर से पूछा, किन्तु युधिष्ठिर मौन रहे । द्रौपदी के उस प्रश्न के उत्तर में उनके मुख से साधु-असाधु कुछ भी नहीं निकला । प्रातिकामी द्रौपदी के पास लौट गया और पुनः उसे कौरवों का आदेश सुनाया । द्रौपदी ने भी पुनः प्रातिकामी को यह कहकर सभा में भेज दिया कि सभा में जाकर मेरे उस प्रश्न को पूछना कि मैं पहले दाँव पर हारी गयी हूँ अथवा धर्मराज ने पहले अपने को हारा । वहाँ अनेक धर्मज्ञ, नीतिज्ञ और श्रेष्ठ सभासद हैं जो निश्चय ही धर्मपूर्वक विचार करके मेरे इस प्रश्न का उत्तर दें ।" प्रातिकामी ने सभा में जाकर द्रौपदी के प्रश्न को दुहराया किन्तु उस समय दुर्योधन के भय से सभी धर्मज्ञ और नीतिज्ञ पुरुष भी अवनत मस्तक होकर चुप-चाप बैठे रहे । युधिष्ठिर ने द्रौपदी के पास यह सन्देश कहलाकर एक दूत भेजा — "तुम चाहे जैसी दशा में होओ उसी दशा में सभा में आकर अपने श्वसुर के सम्मुख खड़ी हो जाओ । तुम जैसी राजकुमारी को सभा में आयी देख सभी सभासद मन-ही-मन इस दुर्योधन की निन्दा करेंगे ।" दूत द्रौपदी के पास चला गया । इधर दुर्योधन ने पुनः प्रातिकामी को द्रौपदी के पास भेजना चाहा, किन्तु प्रातिकामी द्रौपदी के तेज से भयभीत हो रहा था । अतः दुर्योधन ने दुःशासन को भेजा । दुःशासन द्रौपदी को बुलाने गया । उसने द्रौपदी को बुलाकर कहा — "पाँचाली ! तुम जीत ली गयी हो अतः अब लज्जा परित्याग करके दुर्योधन को देखो और कुरुओं की सेवा करो । अब तुम पर हम लोगों का धर्मतः अधिकार है । तुम हम लोगों की सेविका हो ।" यह सुनकर द्रौपदी आर्त होकर उस ओर भागी, जहाँ अन्तःपुर की प्रौढ़ स्त्रियाँ बैठी थीं । दुःशासन ने वेगपूर्वक द्रौपदी के पीछे दौड़ कर उसके लम्बे-लम्बे लहराते हुए केशों को पकड़ लिया । जो केश राजसूय यज्ञ में अवभृथस्नान

में मन्त्रपूत जल से सींचे गये थे, उन्हीं को दु:शासन ने पाण्डवों के पराक्रम की अवहेलना करके बलपूर्वक पकड़ लिया । दु:शासन जब द्रौपदी का केश पकड़ कर खींचने लगा ,तब द्रौपदी ने आर्त स्वर में उससे कहा -- ` मैं रजस्वला हूं , एक वस्त्र धारण की हुई हूं अत: तुम मुझे सभा में गुरुजनों के सम्मुख उपस्थित न करो ।` द्रौपदी बार-बार ऐसा कहकर उससे अनुनय करने लगी किन्तु दु:शासन ने उनकी कातर प्रार्थना की उपेक्षा करके उनके केश को खींचता हुआ उन्हें सभागृह में लाकर उपस्थित किया । द्रौपदी आकुल होकर श्रीकृष्ण का स्मरण करने लगी और आर्त्त स्वर में सभी से सहायता मांगने लगी किन्तु द्रौपदी के इस अपमान का प्रतिकार करने के लिए कोई भी आगे नहीं बढ़ा । तब द्रौपदी ने सभास्थ सबको क्षोभपूर्वक धिक्कारते हुए कहा --` भरत-वंशियों को धिक्कार है । उनका धर्म नष्ट हो गया है । क्षत्रियों ने अपना धर्म खो दिया है । उनकी वृत्ति एवं उनका धन-धर्म दोनों नष्ट हो चुके हैं । जो सभा में सब मौन होकर धार्तराष्ट्रों के इस अत्याचार का समर्थन कर रहे हैं । द्रौपदी ने स्वयं सभा में उपस्थित जनों से पूछा --` कि युधिष्ठिर अपने को दांव में रखने से पूर्व मुझको हारे अथवा बाद में ।` द्रौपदी के प्रश्न का उत्तर देने वाला वहाँ कोई न था । दु:शासन द्रौपदी को `दासी दासी ` कहकर केश पकड़ कर घसीट रहा था । कर्ण दुर्योधन तथा शकुनि प्रसन्न हो रहे थे । कर्ण तो हंस-हँस कर दु:शासन के उस कथन की प्रशंसा भी करने लगा । द्रौपदी की दुरवस्था को देखकर भीमसेन को बड़ी पीड़ा हुई । वे युधिष्ठिर के प्रति अत्यन्त कटु वचन कहने लगे । अर्जुन ने बड़ी कठिनाई से भीमसेन के क्रोध को शान्त किया । इसी समय दुर्योधन के ही एक अनुज विकर्ण से द्रौपदी की वह दुरवस्था देखी नहीं गयी । उसने कुरुवृद्धों को द्रौपदी के प्रश्न का उत्तर देने के लिए अनुरोध किया । जब किसी से कोई उत्तर नहीं मिला तब उसने स्वयं ही अपने अग्रजों को धिक्कार कर क्रुद्ध होकर द्रौपदी के इस अपमान का अनौचित्य प्रदर्शन किया । विकर्ण के न्यायपूर्ण वचनों को सुनकर सज्जन उसकी प्रशंसा करने लगे किन्तु कर्ण को उसकी इस न्यायप्रियता पर बड़ा क्रोध आया । उसने विकर्ण को तिरस्कार करते हुए कहा --` साधारणत: स्त्रियों के एक ही पति होने का विधान है । धर्म इसी बात का अनुमोदन करता है किन्तु इसने एकाधिक पतियों की उपासना की है अतएव यह निश्चित रूप से वारवधू की कोटि में परिगणित होगी । अत: मेरी दृष्टि में इसके सभा में उपस्थित करने में अथवा इसके एक वस्त्र धारण करने में अथवा पूर्णरूप से विवस्त्र होकर ही उपस्थित होने में कोई अनौचित्य नहीं दिखता । कर्ण का क्रोध इतना कहकर भी शान्त नहीं हुआ । उसने दु:शासन

"एवमुक्त्वा तु कौन्तेयमपोह्य वसनं स्वकम् ।
स्मयन्नथैनां पांचालीमैश्वर्यमदमोहितः ॥ ७१।१०॥ (सभापर्व गी.प्रे. गोरखपुर संस्करण)
कदलीस्तम्भसदृशं सर्वलक्षणसंयुतम् ।
गजहस्तप्रतीकाशं वज्रप्रतिमगौरवम् ॥ ७१।११॥
अभ्युत्स्मयित्वा राधेयं भीममाधर्षयन्निव ।
द्रौपद्याः प्रेक्षमाणायाः सव्यमूरुमदर्शयत् ॥" ७१।१२॥

जानकर भीमसेन का रोष चरम अवस्था में पहुंच गया । उन्होंने सभा के सामने प्रतिज्ञा की —

"पितृभिः सह सालोक्यं मा स्म गच्छेद् वृकोदरः ।
यद्येतमूरुं गदया न भिन्द्यां ते महाहवे ॥" ७१।१४॥

भीमसेन की प्रतिज्ञा की भयंकरता का दुष्परिणाम देखकर विदुर ने धार्तराष्ट्रों को सावधान करते हुए कहा — 'तुम लोगों ने मर्यादा का उल्लंघन करके यह द्यूतक्रीड़ा की है । सभा में स्त्री को लाकर उसकी लांछना की है । तुम्हारे योग और क्षेम दोनों नष्ट हो गये हैं ।'

उस समय चारों ओर अमंगलध्वनि हुई, शृगालादि दिन में ही शब्द करने लगे । अशुभ चिन्हों के दर्शन से सब भयभीत हो गये । गान्धारी शीघ्र धृतराष्ट्र के पास आयी, विदुर कुछ आदियों के साथ वह धृतराष्ट्र को समझाने लगी । धृतराष्ट्र भी अमंगल की आशंका करके मंगलस्वरूपिणी द्रौपदी को सान्त्वना देते हुए इच्छावर-याचना के लिए अनुरोध किया । धृतराष्ट्र ने दो वर दिये । एक से द्रौपदी ने युधिष्ठिर को और दूसरे वर में अन्य चार पाण्डवों को दासभाव से मुक्त किया । धृतराष्ट्र ने तीसरा वर मांगने के लिए कहा, किन्तु मनस्विनी द्रौपदी ने तीन बार वर लेने का अनौचित्य दिखाकर कहा — 'क्षत्रिय की स्त्री दो ही वर मांग सकती है ।' धृतराष्ट्र ने पाण्डवों का राज्य, धन सब कुछ लौटा दिया और उन्हें इन्द्रप्रस्थ जाने की आज्ञा दी । स्त्री के कारण मुक्त हुए पाण्डुनन्दनों का कर्ण उपहास करने लगा । भीमसेन बहुत क्रुद्ध हुए । युधिष्ठिर धृतराष्ट्र की आज्ञा को शिरोधार्य करके भाइयों तथा पत्नी द्रौपदी को लेकर प्रस्थान किया । परन्तु अभी तक वे मार्ग में ही थे कि दुर्योधनादि की प्रेरणा से धृतराष्ट्र ने पुनः द्यूतक्रीड़ा के लिए आह्वान किया । धर्मप्राण युधिष्ठिर सब के साथ लौट आये । इस बार शकुनि ने यह शर्त रखा कि जो हारेगा उसे बारह वर्ष वनवास में और एक वर्ष अज्ञातवास में रहना पड़ेगा । युधिष्ठिर हार गये । कुन्ती के पांचों पुत्रों ने वनवास की दीक्षा

ली और क्रमश: सबने मृगचर्म को उत्तरीय वस्त्र के रूप में धारण किया । दु:शासन उनको लक्ष्य करके उपहास करने लगा । उसने द्रौपदी को कौरवों को पति के रूप में वरण करने के लिए कहा और पाण्डवों को `क्लीब`, `षण्ढतिल` कहा । भीमसेन क्रुद्ध हुए तो वह उन्हें `गौ गौ` कह कर पुकारने लगा । युधिष्ठिर ने बड़ी कठिनाई से भीम को रोका । तब भीम ने दु:शासन के रक्तपान करने की पुन: प्रतिज्ञा की । उन्होंने कहा -- `मैं दुर्योधन का वध करूँगा, अर्जुन कर्ण का संहार करेंगे और जुआड़ी शकुनि का वध सहदेव करेंगे । मैं इस पापी दुर्योधन को मार कर उसके सिर पर बायें पैर से गदाघात करूँगा । दु:शासन का रक्त उसी प्रकार पी लूँगा, जैसे सिंह मृग का रक्त-पान करता है ।` तदनन्तर अर्जुन कर्ण-वध की, सहदेव ने शकुनि के वध की, नकुल ने द्रौपदी लांछन में दुर्योधन के सहायकों के वध की प्रतिज्ञा की । केवल युधिष्ठिर ने सभा में उपस्थित भरतवंशीय वृद्धों एवं पितामह भीष्म के प्रति अपनी श्रद्धांजलि व्यक्त की --

> `आमन्त्रयामि भरतांस्तथा वृद्धं पितामहम् ।
> राजानं सोमदत्तं च महाराजं च बाह्लिकम् ।। ७२।१॥ ([illegible] पुर संस्करण)
> द्रोणं कृपं नृपांश्चान्यानश्वत्थामानमेव च ।
> विदुरं धृतराष्ट्रं च धार्तराष्ट्रांश्च सर्वश: । ७२।२॥
> युयुत्सुं संजयं चैव तथैवान्यान् सभासद: ।
> सर्वानामन्त्र्य गच्छामि द्रष्टास्मि पुनरेत्य व: ।।` ७२।३॥

युधिष्ठिर के इस प्रकार पूछने पर कौरवों के प्रधान पुरुष लज्जा से मौन हो गये । उन्होंने मन ही मन बुद्धिमान युधिष्ठिर के कल्याण का चिन्तन किया । `बालभारत` के द्वितीय अंक का कथानक यहीं समाप्त हो जाता है ।

--0--

चतुर्थ अध्याय

-0-

'महाभारतीय कथाओं का तृतीय नाटकीय रूप'

कर्णभार --

प्रस्तावना के अनन्तर दुर्योधन का एक भृत्य रंगमंच पर प्रवेश करता है। वह कर्ण से इस बात को निवेदन करने के लिए कहता है कि युद्धकाल उपस्थित हो गया है, नृपति मण्डल सिंहनाद कर रहे हैं, शत्रु का आह्वान सुनकर दुर्योधन भी समरांगण की ओर प्रस्थान कर चुके हैं। इतने ही में भट्ट कर्ण को योद्धा के वेष में आते हुए देखता है। उसे कर्ण की विषण्ण मुद्रा देखकर आश्चर्य होता है। कर्ण के तेजस्वी रूप में सन्ताप की मुद्रा भट को वैसी ही प्रतिभात होती है, जैसे प्रखर किरणों वाला सूर्य मेघमण्डल से आच्छादित हो गया हो। इस प्रकार कर्ण के अभूतपूर्व विषाद एवं उनके आगमन का समाचार देकर वह रंगमंच से निष्क्रान्त हो जाता है। तदनन्तर कर्ण यथानिर्दिष्ट रूप में सारथि शल्य के साथ रंगमंच पर प्रवेश करते हैं। वह शल्य से कहते हैं कि आज यदि रणक्षेत्र में अर्जुन दिखायी दे जाय तो वे अवश्य ही उसका वध कर कौरवों का अभीष्ट सिद्ध कर देंगे। वे शल्य से कहते हैं -- " वहीं मेरे रथ को ले चलो जहाँ अर्जुन है।" जिस प्रकार प्रज्वलित अंगार पर धीरे-धीरे राख की पर्त जमती है, उसी प्रकार कर्ण के इन उग्र विचारों पर भी चिन्ता की म्लान छाया पड़ने लगती है। स्वयं कर्ण को भी अपने इस अस्वाभाविक मानसिक अवसाद पर आश्चर्य होता है। इसका विश्लेषण-सा करते हुए वे दुःख के साथ अपने दुर्भाग्य की व्याख्या करके कहते हैं -- " मैं कुन्ती का ही पुत्र हूँ किन्तु संसार मुझे 'राधेय' के नाम से जानता है। युधिष्ठिर आदि पाण्डव मेरे अपने ही छोटे भाई हैं। चिरकाल से जिस दिन की प्रतीक्षा थी, वह दिन उपस्थित है किन्तु इस बहुप्रतीक्षित दिवस में मुझे अपनी अस्त्र-शिक्षा व्यर्थ दिख रही है। माता कुन्ती के वचनों के द्वारा भी मैं बन्धन में डाल दिया गया हूँ।"

इस प्रकार अनेक बन्धन, अभिशाप और वचनों से उत्कण्ठित कर्ण शल्य को अपनी अस्त्र शिक्षा का वृत्तान्त सुनाने लगते हैं कि किस प्रकार वे अस्त्र-शिक्षा की अभिलाषा से परशुराम के समीप उपस्थित हुए थे और किस प्रकार उनसे अस्त्र-शिक्षा प्राप्त करने के बाद उनसे अभिशप्त हुए थे। कर्ण ने कहा -- " मैं परशुराम के समीप उपस्थित होकर उन्हें प्रणाम करके चुपचाप खड़ा हो गया। परशुराम ने आशीर्वाद देकर मेरा परिचय पूछा और मेरे आगमन के उद्देश्य जानने की अभिलाषा प्रकट की। मैंने कहा -- " भगवन्! मैं समस्त प्रकार की अस्त्रविद्या सीखना चाहता हूँ। परशुराम ने कहा --"मैं तो केवल ब्राह्मणों को ही सिखाता

हूँ, क्षत्रियों को नहीं ।' इस पर कर्ण 'मैं क्षत्रिय नहीं हूँ' ऐसा कहकर उनसे अस्त्र-विद्या सीखने लगा । कुछ समय बीतने पर एक बार फलफूल इत्यादि के आहरणार्थ गुरु के साथ मैं भी वन में गया । वहाँ पर भ्रमण करने से परिक्लान्त गुरु मेरी गोद में सिर रखकर सो गये । उस समय दुर्भाग्य से 'कज्जुल' नामक एक भयंकर कीड़े ने मेरी जाँघों में काटना शुरू किया किन्तु कहीं गुरु की निद्रा भंग न हो जाय, इस भय से मैं उस असहनीय पीड़ा को भी धैर्यपूर्वक सहता रहा । रक्त की धारा बह चली । उससे भीगकर गुरु जग गये और क्रुद्ध होकर उन्होंने मुझे अभिशाप दिया —'तेरे अस्त्र कालनिफल होंगे —' ।

आज कर्ण को वही अशुभ दिन उपस्थित हुआ दृष्टिगोचर हो रहा है क्योंकि उनके अस्त्र निस्तेज पड़ गये हैं, उनके घोड़ों की आँखें बन्द हो गयी हैं तथा वे बार-बार ठोकर खा रहे हैं । रथारूढ़ के मदजल-सी सुगन्ध वाले गजराज मानो रणस्थल से लौट चलने का निवेदन कर रहे हैं । शंख-दुन्दुभि का शब्द मूक हो गया है । इन सब अशुभ निमित्तों को देखकर कर्ण के सारथी शल्य उद्विग्न होकर कहते हैं— 'हाय ! यह सब क्या हो रहा है !' कर्ण उन्हें आश्वासन देते हैं—'शल्यराज ! आप विषाद न करें । संग्राम में मृत्यु होने पर स्वर्ग प्राप्त होता है और विजय प्राप्त करने पर यश मिलता है । अतः संसार में युद्ध किसी भी दृष्टि से निष्फल नहीं होता ।'

इसके बाद कर्ण अपने ही घोड़ों से प्रार्थना करते हैं कि 'ये युद्धस्थल से कभी पीठ न दिखाने वाले, गरुड़ के समान वेगवान सुन्दर काम्बोजदेशीय घोड़े जिनकी रक्षा मुझे करनी चाहिए, वे मेरी रक्षा करें ।' इस प्रकार मंगलकामना के बाद कर्ण के चित्त का दैन्य दूर हो जाता है और वे पुनः युद्ध में उत्साह दिखाते हुए शल्यराज को आदेश देते हैं —'शल्यराज ! जहाँ अर्जुन है वहीं मेरे रथ को ले चलो ।'

ठीक उसी समय नेपथ्य में किसी याचक का स्वर सुनायी देता है — 'कर्ण ! मैं बहुत बड़ी भिक्षा माँगता हूँ ।' याचक के तेजस्वी शब्द के प्रभाव से अपने घोड़ों को भी सुनने भर के लिए निस्पन्द हो जाते देखकर कर्ण शल्यराज से कहते हैं कि 'यह कोई साधारण ब्राह्मण नहीं है । आप उन्हें बुलाइए ।' किन्तु बाद में कर्ण स्वयं ही ब्राह्मण को बुलाते हैं —' भगवन् ! इधर आइए ।'

तब रंगमंच पर याचक वेशधारी इन्द्र का प्रवेश होता है । प्रवेश करते ही वे वहाँ सूर्य को आच्छादित करने के लिए मेघों को आदेश देते हैं । बाद में कर्ण के समीप पहुँचकर वही वाक्य दुहराते हैं —'कर्ण ! मैं बहुत बड़ी भिक्षा चाहता हूँ ।' कर्ण उन्हें प्रणाम करते हैं । तब छद्मवेषी इन्द्र को सम्भ्रम होता

है कि आशीर्वाद के रूप में क्या कहा जाय । 'चिरंजीवी हो' — ऐसा तो वे कह ही नहीं सकते । बहुत सोच-विचार कर अत्यन्त चतुरता के साथ वे कर्ण को आशीर्वाद देते हैं — 'कर्ण ! तुम सूर्य की भाँति, चन्द्र, हिमवान एवं सागर की भाँति यशस्वी हो ।' कर्ण को कुछ निराशा होती है । वे कहते हैं — 'भगवन् ! आपने मुझे दीर्घायु होने का आशीर्वाद नहीं दिया । अथवा यही सुन्दर है, क्योंकि धर्म ही मनुष्य के द्वारा यत्नपूर्वक पालनीय है । इस शरीर के विनाश के बाद मनुष्य केवल यश से ही जीवित रहता है ।' यह कहकर वे याचक के सम्मुख अपने वैभवों का वर्णन करते हैं और उनमें से जो भी इष्ट हो, मांग लेने को कहते हैं । किन्तु याचक सब का प्रत्याख्यान करता है । किंकर्तव्यविमूढ़ होकर कर्ण ने अपना सिर भी काट कर देना चाहा किन्तु याचक को वह भी अभिप्रेत नहीं । अन्त में कर्ण युद्ध में अमरत्व प्रदान करने वाले अपने सहजात कवच-कुण्डलों को भी देने का वचन देते हैं । याचक प्रसन्न हो जाता है । कर्ण को एक क्षण के लिए सन्देह होता है कि कहीं यह कपट कुचाली श्रीकृष्ण तो नहीं हैं । परन्तु दूसरे ही क्षण वे अपने को यह सोचकर धिक्कारते हैं कि एक बार वचन देकर उस प्रकार विचारित करना उचित नहीं । कर्ण प्रसन्न मन से अपने शरीर से कवच और कुण्डलों को काट कर दे देते हैं । शल्यराज को इन्द्र का यह कपट असह्य प्रतीत होता है । वह कर्ण को रोकने लगते हैं परन्तु कर्ण दान की महिमा का वर्णन करके कहते हैं —

'शिक्षा क्षयं गच्छति कालपर्ययात्
सुबद्धमूला निपतन्ति पादपाः ।
जलं जलस्थानगतं च शुष्यति
हुतं च दत्तं च तथैव तिष्ठति ॥' (कर्णभार श्लोक सं. 22)

कर्ण से कवच-कुण्डल लेकर इन्द्र प्रसन्न हो जाते हैं । उन्हें अपने पुत्र अर्जुन के विजय के विषय में अब कोई सन्देह नहीं रह जाता । वह स्वर्ग से ऐरावत पर आरूढ़ होकर इन्द्र और कर्ण के युद्ध को देखने की अभिलाषा से प्रस्थान करते हैं ।

शल्य कर्ण से कहते हैं — 'अंगराज ! आप तो ठग लिये गये ।' कर्ण ने पूछा — 'किससे ?' । शल्य ने कहा — 'इन्द्र से' । इस पर कर्ण ने कहा — 'तब तो मैंने ही उन्हें ठग लिया क्योंकि ब्राह्मणों के अनेक यज्ञों से तृप्त होने वाला दानवकुल का विनाशक इन्द्र आज मेरे द्वारा कृतार्थ हो गया है ।'

कर्ण से कपटपूर्वक कवच-कुण्डलों का अपहरण करके इन्द्र को बड़ी ग्लानि होती है । वे देवदूत के हाथ से विनिमय में कर्ण के लिए 'विमला' नामक शक्ति भेज

देते हैं । इन्द्र की आज्ञा से देवदूत विमला नामक शक्ति को लेकर उपस्थित होते हैं , किन्तु कर्ण प्रतिदान लेना अस्वीकार करते हैं । इस पर देवदूत कहते हैं — 'ब्राह्मण का वचन मानकर इसे ग्रहण करो ।' तब कहीं कर्ण उसे स्वीकार करते हैं । कर्ण पुनः अपने कर्तव्य के प्रति सजग हो जाते हैं और सारथि शल्य से वहाँ रथ ले चलने के लिए कहते हैं , जहाँ अर्जुन हो ।

भरतवाक्य के साथ रूपक की समाप्ति हो जाती है ।

'दूतवाक्य'

रूपक की प्रस्तावना करके सूत्रधार रंगमंच से निष्क्रान्त हो जाते हैं । तदनन्तर रंगमंच पर कांचुकीय बादरायण का प्रवेश होता है । वह द्वारपालों को दुर्योधन का आदेश सुनाता है । इसी बीच उसे दुर्योधन आता हुआ दिखायी देता है । दुर्योधन की देहकान्ति की तुलना वह नक्षत्रों के बीच पूर्ण चन्द्र से करता है ।

दुर्योधन वीर-वेश में रंगमंच पर उपस्थित होता है । वह अपने परिजनों के सम्मुख पाण्डवों के साथ युद्ध करने की अभिलाषा व्यक्त करता है । तदनन्तर सब आमन्त्रित राजाओं एवं सभासदों को लेकर वह मन्त्रणा-गृह में प्रवेश करता है और स्वयं ही सब को यथायोग्य आसन प्रदान करता है । इसी समय कंचुकी दुर्योधन को दौत्यार्थ पाण्डवों के शिविर से पुरुषोत्तमनारायण के आगमन की सूचना देता है । दुर्योधन कंचुकी के मुख से नारायण के लिए 'पुरुषोत्तम' विशेषण सुनकर अत्यन्त क्रुद्ध होता है । त्रस्त होकर कंचुकी उसके चरणों पर गिर कर क्षमा प्रार्थना करता है और अपनी त्रुटि का संशोधन करते हुए कहता है कि केशव नामक दूत आया है । इस पर दुर्योधन कुछ प्रसन्न होता है । वह उपस्थित राजाओं एवं सभासदों से पूछता है कि कृष्ण के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए । सभी एक स्वर से कहते हैं कि अर्घ्य इत्यादि के द्वारा श्रीकृष्ण की पूजा करनी चाहिए । दुर्योधन को यह बात प्रिय नहीं लगती । वह दूत को बन्दी बनाने में ही कल्याण देखता है । श्रीकृष्ण को बन्दी करने पर क्या लाभ होगा , इसकी व्याख्या करता है । यही नहीं, वह सब को घोषणा करता है कि जो कोई श्रीकृष्ण को सम्मान प्रदर्शित करने के लिए अपने आसन से उठेगा उसे बारह सुवर्ण का दण्ड देना पड़ेगा । स्वयं उसे भी उठना न पड़े इसलिए वह कंचुकी से उस चित्र को मंगाता है जिसमें द्रौपदी का केशाम्बर-कर्षण चित्रित है । उसे देखने के बहाने से वह श्रीकृष्ण की अगवानी न करने का विचार करता है । श्रीकृष्ण कौरव राज सभा में प्रवेश करते

हैं । उनके प्रवेश करते ही दुर्योधन अपने आसन से गिर पड़ता है । अन्य राजा एवं सभासद सम्भ्रम में पड़ जाते हैं । दुर्योधन सब को पूर्वभाषित दण्ड का स्मरण दिलाता है । श्रीकृष्ण गांगेय प्रमुख वयोवृद्ध कौरवों को आसन ग्रहण करने का अनुरोध करते हैं । तदनन्तर वे दुर्योधन के द्वारा निर्दिष्ट आसन पर बैठ जाते हैं । सहसा उनकी दृष्टि चित्रपट पर पड़ती है । पहले तो वह कुछ उत्सुक होते हैं, किन्तु चित्रगत वस्तु को देखकर वे दुर्योधन धृष्टता की निन्दा करते हैं, जो अपने कुकृत्यों को सभा में देखकर प्रसन्न हो रहा है । दुर्योधन भी कुछ लज्जित होकर चित्रपट को हटाने का आदेश देता है । इसके बाद दुर्योधन बड़े कौशल से पाण्डवों का कुशल पूछता हुआ कहता है —' धर्मपुत्र ! युद्ध भीम, इन्द्र का पुत्र अर्जुन, अश्विनीकुमारों के यमल पुत्र नकुल और सहदेव सब अपने परिजनों के साथ कुशल से तो हैं ?' इसके उत्तर में श्रीकृष्ण पाण्डवों का सन्देश सुनाते हैं कि युधिष्ठिर आदि पाण्डुपुत्र आपके शरीर और राज्य के आभ्यन्तरिक और बाह्य कुशल की कामना करते हुए निवेदन करते हैं —' हम लोगों ने अब तक महान दुःख झेला है । उसकी अवधि भी पूरी हो गयी है । अतः हमारे पिता के धन का जो न्यायोचित अंश हो उसे आप दे दीजिए ।'

यह सुनकर दुर्योधन कहता है कि युधिष्ठिर आदि पाण्डुराज के पुत्र नहीं हैं । पाण्डु को तो मुनि के शाप के कारण कोई पुत्र उत्पन्न ही नहीं हुआ था । अतः देवताओं के पुत्रों का पितृत्व पाण्डु को कैसे मिल सकता है । तब श्रीकृष्ण धृतराष्ट्र के जन्म के प्रति भी कटाक्ष करते हैं । बाद में दाय-भागों से युद्ध की दुष्परिणति का उल्लेख करके युधिष्ठिर के इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लेने का अनुरोध करते हैं । किन्तु दुर्योधन राजनीति का निष्कर्ष दिखाकर कहता है कि राज्य याचकों को नहीं दिया जाता । जिसे उसकी इच्छा होती है, वह युद्ध करके ही उसे पा लेता है । श्रीकृष्ण दुर्योधन को अपने ही भाइयों के प्रति इस प्रकार बन्धुविरुद्ध आचरण करने से सावधान करते हैं । इस पर दुर्योधन क्रुद्ध होकर उन्हीं बलराम एवं कंस के प्रति किए गए उनके अपने आचरणों को स्मरण करने के लिए कहता है । तदनन्तर श्रीकृष्ण दुर्योधन से पक्षपात पर गम्भीरता के साथ विचार करने को कहते हैं किन्तु दुर्योधन पक्षपाती हुई बातों को ही दुहराता है । तब श्रीकृष्ण राजनीति के साम भेद का विचार करते हैं । वह अर्जुन के पराक्रम का वर्णन करके उसे सावधान करते हैं कि उनके कहने से यदि दुर्योधन राज्यार्द्ध नहीं देता तो पाण्डव अपने पराक्रम से ही उसके सारे साम्राज्य को अपने अधीन कर लेंगे । इस पर दुर्योधन का क्रोध और भी बढ़ जाता है । वह स्पष्ट कह देता है कि चाहे

कुछ भी हो वह श्रीकृष्ण के कहने पर अपने राज्य का एक तिनका भी न देगा। श्रीकृष्ण उसका तिरस्कार करते हैं और वहाँ से चलने के लिए उद्यत होते हैं। तब दुर्योधन अपनी योजना के अनुसार दुःशासन, कर्ण आदि को श्रीकृष्ण को बन्दी करने के लिए आदेश देता है किन्तु कोई भी दुर्योधन के आदेश का पालन करने में समर्थ नहीं होता। श्रीकृष्ण की महिमा से सब के हाथ-पैर पाश से बद्ध हो जाते हैं। अतः दुर्योधन स्वयं ही अपनी योजना को सफल बनाने का प्रयत्न करता है। दुर्योधन के इस दुराग्रह को देखकर श्रीकृष्ण अपने विराट् रूप को प्रकट करते हैं किन्तु दुर्योधन उससे भी भयभीत नहीं होता। वह श्रीकृष्ण को मारने के लिए धनुष लाने के लिए चला जाता है। तब श्रीकृष्ण दुर्योधन का वध करने के लिए सुदर्शन को बुलाते हैं। सुदर्शन आविर्भूत होकर श्रीकृष्ण को उनके कर्तव्य का स्मरण दिलाते हुए कहता है — "भगवन्! आप तो पृथ्वी के भार को दूर करने के लिए धराधाम पर अवतीर्ण हुए हैं। इस दुष्ट दुर्योधन के वध से आपका वह श्रम तो विफल हो जायगा।" श्रीकृष्ण को अपना कर्तव्य स्मरण होता है। वह सुदर्शन का साधुवाद करके उसे वापस भेज देते हैं। इसी बीच श्रीकृष्ण के अन्य प्रहरणों तथा वाहन गरुड़ का भी आगमन होता है। सुदर्शन सब को श्रीकृष्ण की रोष-शान्ति का समाचार देता है। सब वापस चले जाते हैं। सुदर्शन भी मेरुगुहा की ओर प्रस्थान करता है।

सब के चले जाने पर श्रीकृष्ण ज्यों ही पाण्डवशिविर की ओर प्रस्थान करने के लिए उद्यत होते हैं त्यों ही नेपथ्य में वृद्ध धृतराष्ट्र का स्वर सुनायी पड़ता है। धृतराष्ट्र श्रीकृष्ण के चरणों पर गिर कर अपने पुत्रों के दुराचरण के लिए क्षमाप्रार्थना करते हैं। श्रीकृष्ण अत्यन्त आदरपूर्वक उन्हें उठाते हैं और उनका दिया हुआ प्राघार्य स्वीकार करते हैं। श्रीकृष्ण को प्रणाम करके धृतराष्ट्र चले जाते हैं।

भरतवाक्य के साथ रूपक की समाप्ति हो जाती है।

__ऊरुभंगः__— प्रस्तावना के अनन्तर तीन योद्धा "एते स्मो भोः।" इत्यादि कहते हुए प्रवेश करते हैं। वे समरांगण की बीभत्सता का दीर्घ और अलंकृत वर्णन करते हैं। इसी बीच नेपथ्य में एक तुमुल ध्वनि उत्पन्न होती है। तीनों योद्धा कौतूहलाविष्ट होकर उसके हेतु जानने का प्रयास करते हैं और कुछ ही क्षणों में उन्हें ज्ञात होता है कि द्रौपदी के केशकर्षण से क्रुद्ध मध्यम पाण्डव भीम और भातृशत के वध से कुपित दुर्योधन, कौरव और पाण्डव के अवशिष्ट प्रधान पुरुषों के सम्मुख गदायुद्ध कर रहे हैं। वह तुमुल निर्घोष उन्हीं के गदाभिघात से उत्पन्न हुआ है। फिर तीनों योद्धा भीम और दुर्योधन के गदायुद्ध का विस्तृत वर्णन करते हैं। उनके वर्णन से ज्ञात

होता है कि भीम शक्तिशाली होने पर भी दुर्योधन की अपेक्षा कम निपुण हैं । एक बार तो भीम आहत होकर भूमि पर गिर पड़ते हैं । दुर्योधन उनका उपहास करके उन्हें युद्ध के लिए पुन: उत्तेजित करता है । किन्तु भीम युद्ध में दुर्योधन पर विजय प्राप्त नहीं कर सकता-ऐसा सोचकर श्रीकृष्ण अपने ऊरू को थपथपा कर भीम के प्रति कोई गुप्त संकेत करते हैं । भीम उस संकेत का अर्थ समझ कर धर्म को भूलकर दुर्योधन के ऊरू पर प्रचण्ड गदा-प्रहार करते हैं । दुर्योधन आहत होकर गिर पड़ता है । बलराम जी से इस अन्याय को देखना असह्य होता है । वे अपनी आँखें मूंद लेते हैं । श्रीकृष्ण बलराम के क्रोध की आशंका करके भीम को अपने हाथ का सहारा दे देते हैं और व्यास का संकेत पाकर पाण्डव भीम को लेकर वहाँ से चले जाते हैं । भगवान बलराम क्रुद्ध होकर भीम के वध की इच्छा से आगे बढ़ जाते हैं । इस प्रकार गदायुद्ध और उसकी परिणति का वर्णन करके तीनों योद्धा दुर्योधन को देखने के लिए चले जाते हैं । यहीं पर रूपक का विष्कम्भक समाप्त हो जाता है ।

तदनन्तर क्रुद्ध बलदेव रंगमंच पर प्रवेश करते हैं । वह भीम के दु:साहस पर क्रोध प्रकट करते हैं । वे भीम के विशाल वक्ष पर ही हल चला देने के लिए उद्यत हो जाते हैं । इसी समय आहत दुर्योधन अपने शरीर को किसी प्रकार घसीटता हुआ भगवान बलराम के समीप उपस्थित होता है । वह बलराम के क्रोध को शान्त करने का प्रयत्न करता है । कुरुवंश के पितृपुरुषों को जलांजलि देने के लिए वह उनसे पाण्डवरूपी बीज को जीवित रखने की प्रार्थना करता है । वह इस बात पर गर्व करता है कि न्यायत: युद्ध करने पर उसे कोई पराजित नहीं कर सकता था । तभी तो महाबली होकर भी भीमसेन को छल का आश्रय लेना पड़ा । दुर्योधन पुन: बलराम जी से अनुनय करते हुए कहता है कि उसकी दुर्दशा करने में भीम तो निमित्तमात्र है । उसकी मृत्यु के हाथों में किसने सौंपा , उसका वर्णन करके वह कहता है —

"येनेन्द्रस्य स पारिजातकतरुर्मानेन तुल्यं हृतो
दिव्यं वर्षसहस्रमर्णवजले सुप्तश्च यो लीलया ।
तीव्रां भीमगदां प्रविश्य सहसा निर्व्याजयुद्धप्रिय-
स्तेनाहं जगत: प्रियेण हरिणा मृत्यो: प्रतिग्राहित: ॥" (ऊरुभंग, श्लोक सं. ४५)

इसी समय नेपथ्य से कुछ आवाज आती है । बलदेव उस ओर देखकर दुर्योधन की अन्त:पुरवासी स्त्रियों के साथ गान्धारी के और धृतराष्ट्र के आगमन का आभास देते हैं ।

गान्धारी , धृतराष्ट्र तथा दुर्योधन की दो पट्ट महिषियाँ प्रवेश करती हैं । दुर्योधन का पुत्र दुर्जय उनको रास्ता दिखाकर ला रहा है । सब दुर्योधन को ढूँढ़ रहे हैं । सभी दुर्योधन को पुकार रहे हैं । दुर्योधन को यह दृश्य देखकर अत्यन्त दु:ख होता है । दुर्जय उसके पास जाता है और अपने अभ्यास के अनुसार उसकी गोद में बैठ जाता है । इससे दुर्योधन की यन्त्रणा बढ़ जाती है । वह दुर्जय को हटाकर खेद प्रकट करते हुए कहता है कि आज चन्द्रमा भी आग बन गया है । दुर्जय बालक सुलभ सरलता से पूछता है —' पिता जी, मुझे आप मना क्यों कर रहे हैं ?' दुर्योधन कहता है ' आज से इस आसन को तुम भूल जाना ।' दुर्जय पूछता है 'क्यों' आप कहाँ जायेंगे ?' दुर्योधन कहता है — ' सौ भाई जहाँ गये हैं, वहीं जाऊँगा ।' दुर्जय कहता है । 'फिर मुझे भी ले चलिये ।' दुर्योधन कहता है —' भीम से कहो ।' दुर्जय को कुछ समझ में नहीं आता, वह प्रसंग बदल कर कहता है' आपको सब ढूंढ़ रहे हैं ।' दुर्योधन को जाने में असमर्थ देखकर दुर्जय कहता है —' मैं आपको ले चलता हूं ।' दुर्योधन को अत्यन्त दु:ख होता है । दुर्जय अपनी माताओं को पुकारता है । धृतराष्ट्र, गान्धारी के साथ दुर्योधन की दोनों पत्नियाँ वहाँ आती हैं । फिर उनमें परस्पर बहुत ही करुण संवाद होता है । दुर्योधन अपने पुत्र को अन्तिम बार के लिए उपदेश देकर कहता है —' मेरे ही जैसे पाण्डवों की तू सेवा करना । कुन्ती की आज्ञा का पालन करना । अभिमन्यु की मां तथा द्रौपदी को अपनी मां समझ कर पूजा करना । हे पुत्र ! यह सोचकर तू अपना शोक त्याग दे कि मेरे वीरपिता अपने बराबर वाले भीम के साथ युद्ध करते हुए मृत्यु को प्राप्त हुए हैं । पाण्डवों के साथ तू भी युधिष्ठिर का दाहिना हाथ छूकर मेरे मरने पर मुझे जलांजलि दे देना।' इसी बीच नेपथ्य में अश्वत्थामा का दृप्त स्वर सुनायी पड़ता है । अश्वत्थामा अपने पराक्रम के प्रति सचेत करके अवशिष्ट नृपतियों को सावधान करता है । दुर्योधन के समीप जाकर वह पाण्डव-विनाश की प्रतिज्ञा करता है । दुर्योधन उसे भी मनाने का प्रयत्न करता है किन्तु अश्वत्थामा किसी भी प्रकार अपनी प्रतिज्ञा से विचलित नहीं होता । वह कहता है कि निशा-समर में वह पाण्डवों का अवश्य विनाश करेगा । बलराम को प्रसन्नता होती है । अश्वत्थामा दुर्जय को बिना अभिषेक के ही राजा बनने का आशीर्वाद देता है । क्रमशः दुर्योधन परम शान्ति से मृत्यु की गोद में सो जाता है । इन्द्र उसे ले जाने के लिए अपना विमान भेजते हैं । अप्सराएँ समर-भूमि में प्राण त्याग करने वाले वीर का स्वागत करती हैं । दुर्योधन उस विषम युद्ध का वर्णन करते-करते स्वर्ग की ओर प्रस्थान करता है । धृतराष्ट्र

राज्य का तिरस्कार करके वन में चले जाते हैं । अश्वत्थामा अपनी प्रतिज्ञा पूरी करने के लिए प्रस्थान करता है । भगवान बलराम के मुख से यह प्रशस्तिवाचक शब्द निकलते हैं — "शत्रु के दमन से स्वरक्षित नरपति पृथ्वी का पालन करें ।" इस वाक्य के साथ रूपक की समाप्ति हो जाती है ।

मध्यमव्यायोग :- रूपक के प्रस्तावना करने के अनन्तर सूत्रधार रंगमंच से निष्क्रान्त हो जाता है । तदनन्तर तीन पुत्रों तथा पत्नी के साथ वृद्ध ब्राह्मण केशवदास और उन सब के पीछे-पीछे घटोत्कच रंगमंच पर प्रवेश करते हैं । तीनों पुत्र क्रमश: घटोत्कच के उग्र रूप का वर्णन करके अपने पिता से पूछते हैं — "पिता जी यह कौन है ?" ब्राह्मणी भी पति से यही पूछती है । राक्षस घटोत्कच सब को रुकने के लिए कहता है । ब्राह्मण अपनी पत्नी तथा पुत्रों को आश्वासन देता है । घटोत्कच ब्राह्मणों की भयभीत मुद्रा को देखकर खेद प्रकट करता हुआ कहता है कि ब्राह्मण पृथ्वी में पूज्यतम हैं यह जानकर भी उसे माता की आज्ञा के अनुसार उन्हें संत्रस्त करना पड़ रहा है । ब्राह्मण को समझ नहीं आता कि वह क्या करे । वह सम्भ्रम में पड़ जाता है । ब्राह्मणी सहायता के लिए किसी को पुकारने का परामर्श देती है । उसका ज्येष्ठ पुत्र कहता है कि इस निर्जन वन में मनस्वी ऋषियों के अतिरिक्त और कोई निवास नहीं करता । अत: राक्षस से परित्राण पाने के लिए किसी को बुलाना अरण्यरोदन मात्र होगा । "मनस्वी" शब्द को सुनने से केशवदास को पाण्डवों का स्मरण होता है और वह यह विचार करते हैं कि पाण्डव-आश्रम निकट ही होगा । किन्तु ज्येष्ठ पुत्र कहता है कि पाँचों पाण्डवों में से चार तो ऋषि धौम्य के आश्रम में शतकुम्भ यज्ञ में सम्मिलित होने के लिए चले गये हैं । मध्यम पाण्डव भीम आश्रम की रक्षा के लिए यहीं रहते हैं, किन्तु इस समय वे भी व्यायाम के लिए कहीं दूर चले गये हैं । अत: आश्रम में इस समय कोई भी न होगा । केशवदास हताश हो जाता है । तब वह निरुपाय होकर घटोत्कच से ही मुक्ति का उपाय पूछता है । घटोत्कच कहता है कि उसकी मां ने उपवास के पारायण के लिए एक मनुष्य पकड़ कर लाने की आज्ञा दी है । यदि ब्राह्मण उसे एक पुत्र दे देते हैं तो उसका अवशिष्ट परिवार मुक्ति पा सकता है अन्यथा सभी को जीवन से हाथ धोना पड़ेगा । इस पर ब्राह्मण-परिवार में आत्मबलिदान के लिए स्पर्द्धा-सी हो जाती है । किन्तु घटोत्कच की मां को न तो स्त्री अभीष्ट है और न वृद्ध । अत: वह ब्राह्मण को तीनों पुत्रों में से एक को देने के लिए कहता

है । चारों ही पुत्र कुल की रक्षा के लिए अपने प्राणों का न्यौछावर करना चाहते
हैं किन्तु ज्येष्ठ पुत्र पिता को प्रिय है, अत: पिता उसे रोक लेता है । कनिष्ठ माता
को प्रिय है, अत: माता उसे रोक लेती है । मध्यम पुत्र ही निस्सहाय रह जाता है ।
वह प्रसन्नता के साथ अपने को राक्षस के हाथ में समर्पित करता है । मध्यम ब्राह्मण-
कुमार जीवितावस्था में ही अपने आप को जलांजलि प्रदान करने के उद्देश्य से राक्षस
की आज्ञा चाहता है । राक्षस की आज्ञा पाकर वह निकटस्थ सरोवर की ओर चल
देता है ।

उसका विलम्ब देखकर घटोत्कच केशवदास को उसे बुलाने के लिए कहता है ।
केशवदास उनकी बातों पर ध्यान नहीं देता । घटोत्कच उससे उसके पुत्र का नाम
पूछता है । ब्राह्मण वह भी नहीं बताता । तब घटोत्कच ब्राह्मण के ज्येष्ठ पुत्र से
उसका नाम पूछता है और उसे ज्ञात होता है कि उस द्वितीय ब्राह्मण कुमार का
नाम 'मध्यम' है । तब घटोत्कच 'मध्यम मध्यम' कहकर बुलाने लगता है ।

तदनन्तर भीमसेन प्रवेश करते हैं । वे कुछ कौतूहल-से , कुछ असन्तोष
से यह देखने के लिए आते हैं कि उनके व्यायाम में विघ्न उत्पन्न करके कौन उन्हें
'मध्यम मध्यम' कहकर पुकार रहा है । आह्वानकर्ता का स्वर उन्हें बहुत कुछ अपने
के स्वर से मिलता-जुलता प्रतीत होता है । इधर घटोत्कच को चिन्ता होती है ,
कहीं उसकी माँ की भोजन-वेला बीत न जाय । अत: वह पूर्वापेक्षा उच्चस्वर में
बुलाने लगता है । भीमसेन उसे देखते हैं और उसके भयंकर रूप से उनके मन में इस
बात का निश्चय हो जाता है कि यह किसी विपुल बलशाली योद्धा का राक्षसी
पत्नी से उत्पन्न पुत्र है । घटोत्कच पुन: पुकारता है —' अरे मध्यम ! शीघ्र
आओ ।' भीमसेन उसके पास जाकर कहते हैं —' लो यह मैं आ गया ।'
घटोत्कच उन्हें देखकर आश्चर्य में पड़ जाता है । वह सोचता है कि ऐसा तेजस्वी
रूप वाला अवश्य ही विष्णु हैं । घटोत्कच उनसे पूछता है —' क्या तुम भी
मध्यम कहलाते हो ?' इस पर भीमसेन अपने मध्यमत्व की व्याख्या करते हैं । उसे
सुनकर केशवदास को निश्चय हो जाता है कि यही भीमसेन हैं । उसे अतीव
प्रसन्नता होती है ।

इधर ब्राह्मण कुमार मध्यम भी अपनी तृष्णा को शान्त करके लौट आता
है । वह भी घटोत्कच के पास जाकर कहता है —' लो यह मैं आ गया ।' घटोत्कच
को वास्तविक मध्यम को पाकर हर्ष होता है । उसे लेकर वह चलने को उद्यत
होता है । तब वृद्ध ब्राह्मण भीमसेन से ब्राह्मण कुल की रक्षा करने की प्रार्थना

करता है । भीमसेन उसे प्रणाम करते हैं और उसका परिचय पूछते हैं । केशवदास
अपना परिचय देकर कहते हैं कि उद्यामक ग्राम में उनके मामा यज्ञबन्धु रहते हैं ।
उनके पुत्र के उपनयन संस्कार में सम्मिलित होने के लिए वह सपरिवार जा रहे थे
कि बीच में वे इस राक्षस के द्वारा संत्रस्त किये जा रहे हैं । यह सुनकर भीमसेन
राक्षस का तिरस्कार करते हैं । घटोत्कच कहता है कि मैं इसे कदापि छोड़ नहीं
सकता , चाहे मेरे पिता स्वयं आकर कहें तो भी मैं इसे नहीं छोड़ूँगा क्योंकि माँ
की आज्ञा से मैंने इसे पकड़ा है ।' भीमसेन उसके ओजस्वी रूप से प्रभावित होते हैं
और मन ही मन उसकी मातृभक्ति की प्रशंसा करके उसकी माँ का परिचय पूछते
हैं । घटोत्कच कहता है —' कौरवकुल के दीपक के समान भीमसेन ने जिसका
पाणिग्रहण किया है वही हिडिम्बा मेरी जननी है ।' भीमसेन तुरन्त अपने पुत्र
को पहचान लेते हैं । उन्हें अत्यन्त हर्ष होता है , किन्तु यह सोचकर वह
विस्मयापन्न होते हैं कि रूप और गुण में पिता के समान होकर भी इसका मन
इतना क्रूर क्यों है ? वे घटोत्कच से मध्यम ब्राह्मण कुमार को छोड़ देने के लिए
कहते हैं । घटोत्कच जब छोड़ने को तैयार नहीं होता तो वे कहते हैं —' ब्राह्मण !
तुम अपने पुत्र को ले लो इसके स्थान पर मैं ही इसके साथ जाता हूँ ।' मध्यम
ब्राह्मणकुमार मना करता है किन्तु भीमसेन कहते हैं कि मैं क्षत्रिय हूँ । ब्राह्मण सब
वर्णों में पूज्य हैं । अतः अपने शरीर के विनिमय से एक ब्राह्मण के शरीर की
रक्षा करना चाहता हूँ ।' घटोत्कच सोचता है कि यह क्षत्रिय है तभी इसका
इतना दर्प है । वह भीमसेन से कहता है —' यदि तुम इसे मेरे साथ जाने नहीं
देते तो तुम्हीं को मेरे साथ चलना होगा ।' इस पर भीमसेन कहते हैं कि यदि
तुममें बल हो तो मुझे बलपूर्वक ले चलो । घटोत्कच उन्हें सावधान करते हुए
कहता है —' क्या तुम जानते हो मैं कौन हूँ ?' भीमसेन कहते हैं —' मेरे पुत्र
हो ऐसा जानता हूँ ।' यह सुनकर घटोत्कच का क्रोध और भी बढ़ जाता है ।
तब भीमसेन उसे शान्त करते हुए कहते हैं कि क्षत्रिय के लिए सारी प्रजा पुत्र शब्द
से अभिहित की जाती है इसीलिए उन्होंने उसे पुत्र कहा । घटोत्कच कहता है —
'अब तो तुमने दुर्बलों का महाबल' बात करने में अपनी कुशलता दिखायी है । तुम
मुझसे भयभीत हो ।' भीमसेन कहते हैं —' मैं भय नाम का कोई पदार्थ जानता
ही नहीं , आप दिखा दें तो बड़ी कृपा हो ।' घटोत्कच कहता है —' तुम शस्त्र
हाथ में ले लो , मैं तुम्हें भय का स्वरूप बताता हूँ ।' भीमसेन शस्त्र के नाम पर
अपनी दोनों भुजाओं को दिखाते हैं । घटोत्कच विस्मय में पड़कर कहता है —' इस

प्रकार के निरर्थक वचन तो मेरे पिता जी ही कह सकते हैं । भीमसेन उसका पितृ-परिचय पूछते हैं । वह कहते हैं — ' ब्रह्मा, रुद्र , विष्णु, इन्द्र, कार्तिकेय और यम, इनमें से कौन तुम्हारे पिता के सदृश हैं । घटोत्कच उत्तर देता है — ' मेरे पिता में इन सभी से बराबरी करने की योग्यता है । भीमसेन उसका परिहास करके कहते हैं — ' यह तो तुम झूठ कह रहे हो । घटोत्कच अत्यन्त क्रुद्ध हो जाता है । वह भीम को कभी पर्वत शिखर उखाड़ कर मारता है , कभी उनसे द्वन्द्व युद्ध करता है और कभी माया पाश से उन्हें आबद्ध करने का प्रयास करता है, किन्तु किसी प्रकार भी वह भीमसेन को अपने अधीन नहीं कर पाता । भीमसेन अपने पुत्र के पराक्रम को देखकर मन ही मन प्रसन्न होते हैं । पराजित होकर घटोत्कच भीमसेन को उनकी प्रतिज्ञा का स्मरण करवाता है । भीमसेन भी अपने कथनानुसार उसके पीछे-पीछे चलते हैं । अपने निवासस्थान में पहुँचकर वह भीमसेन को द्वार पर खड़े रहने की आज्ञा देकर माँ को बुलाता है । हिडिम्बा पूछती है — ' कैसा मनुष्य लाये हो ?' घटोत्कच उत्तर देता है — ' जिसे पकड़ें लाया हूँ वह आकृति में ही मनुष्य है , शक्ति से नहीं ।' हिडिम्बा कहती है — ' तो क्या वह ब्राह्मण है ?' घटोत्कच कहता है — 'नहीं ।' हिडिम्बा पूछती है — ' तो क्या वह वृद्ध है ?' घटोत्कच कहता है — ' नहीं ।' हिडिम्बा पूछती है — ' तो क्या वह बालक है ?' घटोत्कच कहता है — ' नहीं ।' तब हिडिम्बा उत्सुकता से उस व्यक्ति को देखने के लिए अपने कुटीर से बाहर आती है । अपने पति भीमसेन को देखकर वह उनका स्वागत करती है और घटोत्कच को उनका अभिवादन करने के लिए आदेश देती है । घटोत्कच के पूछने पर वह भीमसेन का परिचय देती है । घटोत्कच पिता का अभिवादन करता है और अपने अपराधों के लिए क्षमा प्रार्थना करता है । भीमसेन के पूछने पर हिडिम्बा उनके कान में अपने इस क्रूर आचरण का कारण बताती है । भीमसेन को यह सोचकर हर्ष होता है कि हिडिम्बा केवल जन्म से राक्षसी है, किन्तु आचरण से नहीं । भीम को अपनी पत्नी तथा पुत्र से मिलकर अत्यन्त प्रसन्नता होती है । वे इस आनन्द का हेतु ब्राह्मण को ही समझ कर घटोत्कच से केशवदास का अभिवादन करने के लिए कहते हैं और स्वयं भी उनका अभिवादन करते हैं । केशवदास दोनों को आशीर्वाद देते हैं । भीम हिडिम्बा और घटोत्कच को साथ लेकर आश्रम के द्वार तक ब्राह्मण को पहुँचाने जाता है ।

भरतवाक्य के साथ नाटक समाप्त हो जाता है ।

<u>दूतघटोत्कच:-</u>

प्रस्तावना के अनन्तर एक योद्धा रंगमंच पर प्रवेश करता है। वह धृतराष्ट्र से अभिमन्यु-वध का समाचार निवेदन करने के लिए कहता है। तदनन्तर धृतराष्ट्र, गान्धारी, दुःशला और प्रतिहारी रंगमंच पर प्रवेश करते हैं। धृतराष्ट्र इस समाचार से अत्यन्त दुखी हो जाते हैं। धृतराष्ट्र और गान्धारी दोनों ही कुल के विनाश की सम्भावना देखकर आतंकित होते हैं। अभिमन्यु का स्मरण करके वे दोनों विलाप करते हैं। दुःशला कहती है — "जिसने इस समय वधू उत्तरा को विधवा किया है उसने अपना युवती के लिए भी वैधव्य लिखा लिया है।" किन्तु विधाता का ऐसा निष्ठुर परिहास है कि योद्धा जयत्रात के समाचार से ज्ञात होता है कि दुःशला के पति जयद्रथ ही अभिमन्यु-वध का निमित्त है। धृतराष्ट्र के मुख से सहसा यह निकल जाता है — "हाय! जयद्रथ तो मारा गया।" दुःशला रो पड़ती है। धृतराष्ट्र व्यथित होकर कहते हैं — "तुम्हारे पति को तुम्हारा यह सौभाग्य स्वीकार नहीं है। तभी तो उसने अपने को अर्जुन के बाणों का लक्ष्य बनाया है।" दुःशला पिता से उत्तरा के पास जाने के लिए अनुमति चाहती है। वह कहती है कि वहाँ जाकर वह उत्तरा से यह कहेगी कि आज जो वेश तुमने धारण किया है कल मैं भी उसे धारण करूँगी। गान्धारी इस अमंगल वचन से शंकित होती है। वह दुःशला को समझाती है। दुःशला कहती है — "माँ! मेरा ऐसा सौभाग्य कहाँ?" कृष्ण और अर्जुन का अपकार कर कौन जीवित रहने की आशा कर सकता है?

भट के मुख से धृतराष्ट्र को यह समाचार भी मिलता है कि अर्जुन अपने मृतपुत्र का शव देख ले। यह सोचकर अन्य चारों पाण्डव उसे चिता पर नहीं रख रहे हैं। इस समय वे अभिमन्यु के शरीर में जिन राजाओं ने शराघात किया है उनके नाम का विचार कर रहे हैं। इस पर धृतराष्ट्र अपने पुत्रों के शोक से निराश होकर गान्धारी से कहते हैं — "गान्धारी! तो आओ, हम सब गंगा के तट पर ही चलें।" गान्धारी सोचती है, सम्भवतः महाराज गंगा में स्नान करना चाहते हैं किन्तु धृतराष्ट्र की उक्ति से उनका भ्रम दूर हो जाता है। धृतराष्ट्र अपने पुत्रों को उनकी जीवितावस्था में ही जलांजलि प्रदान करने के लिए गंगा के तट पर जाना चाहते हैं। इसी समय दुर्योधन, दुःशासन और शकुनि वहाँ उपस्थित होते हैं। वे तीनों अभिमन्यु-वध की घटना से अत्यन्त प्रसन्न हैं। दुर्योधन अपने पिता को प्रणाम करके उनसे विजय-वार्ता का निवेदन करने की अभिलाषा करता है किन्तु शकुनि उससे कहता है कि धृतराष्ट्र सदा से ही पाण्डव पक्षपाती हैं अतएव वे इस समय

अभिमन्यु-वध की घटना से किसी भी प्रकार आनन्दित नहीं होंगे । फिर भी दुर्योधन धृतराष्ट्र को अभिवादन करने के लिए आग्रह प्रकट करता है । तीनों क्रमशः धृतराष्ट्र की चरणवन्दना करते हैं किन्तु धृतराष्ट्र उन्हें आशीर्वाद के रूप में कुछ भी नहीं कहते । दुर्योधन, दुःशासन और शकुनि तीनों ही धृतराष्ट्र के इस आचरण से क्षुब्ध होकर उसका कारण पूछते हैं । धृतराष्ट्र कहते हैं — ' श्रीकृष्ण और अर्जुन के प्रिय अभिमन्यु का वध करके जिन्होंने स्वयं ही अपने आपको मृत्यु के हाथों में पहुंचा दिया है उन्हें कौन-सा आशीर्वाद दिया जा सकता है । दुःशला की ओर संकेत करके वे कहते हैं कि अनेक पुत्रों वाले इस कुल में सौ पुत्रों से भी अधिक प्यारी एक ही कन्या क्या वह भी अपने भाइयों के प्रसाद से वैधव्य को प्राप्त करेगी । विनाशकारी अपने पुत्रों के प्रति धृतराष्ट्र आक्षेप प्रकट करते हैं । इस पर दुर्योधन और दुःशासन उनसे विवाद करते हैं । धृतराष्ट्र के पाण्डव पक्षपातित्व पर शकुनि कटाक्ष करता है । धृतराष्ट्र शकुनि को सारी अशान्ति का मूल कहकर फटकारते हैं ।

इसी समय एक प्रचण्ड शब्द सुनायी देता है । उस तुमुल शब्द से पृथ्वी काँप उठती है , आकाश उल्कापात से लाल हो जाता है । दुर्योधन की आज्ञा से भट उस शब्द का रहस्य जानने के लिए पाण्डवशिविर की ओर जाता है । वहां से लौटकर वह दुर्योधन को यह समाचार देता है कि संशप्तकों के साथ युद्ध करके लौटने पर अर्जुन ने अपने प्रिय पुत्र के निधन से क्रुद्ध होकर यह प्रतिज्ञा की है कि जिसने उनके पुत्र का वध किया है और जो-जो उससे सन्तुष्ट हुए हैं उन सब को वे कल सूर्यास्त के पूर्व ही मार डालेंगे ,अन्यथा गाण्डीव धनुष के साथ वे स्वयं ही चिता में प्रवेश करेंगे । यह सुनकर दुर्योधन अर्जुन की प्रतिज्ञा में बाधा डालने के लिए विचार-विमर्श करने लगता है । वह यह सोचकर प्रसन्न होता है कि यदि अर्जुन की प्रतिज्ञा पूरी न हुई तो उनका निधन अवश्यम्भावी है । धृतराष्ट्र दुर्योधन की योजना एवं उसके हर्षोल्लास दोनों को व्यर्थ बताते हैं ।

इसी समय श्रीकृष्ण का सन्देश लेकर घटोत्कच वहां उपस्थित होता है । वह धृतराष्ट्र का अभिवादन करने के अनन्तर श्रीकृष्ण का सन्देश सुनाता है कि एक पुत्र के वध से अर्जुन की ऐसी अवस्था हुई तो सौ पुत्रों के निधन से उनकी अवस्था क्या होगी । अतः उन्हें ऐसा प्रयत्न करना चाहिए ताकि पुत्रशोक की अग्नि उनका स्पर्श न कर सके । धृतराष्ट्र घटोत्कच के मुख से श्रीकृष्ण के इस सन्देश को सुनकर दुर्योधन आदि उनका उपहास करने लगते हैं और श्रीकृष्ण के प्रति अत्यन्त कठोर वचन कहते हैं । इस पर घटोत्कच क्रुद्ध होकर कौरवों से विवाद करता है । दुर्योधन घटोत्कच

के रूप और राक्षसत्व का भी उपहास करता है । घटोत्कच दुर्योधन के पाण्डवों के प्रति किये गये षड्यन्त्रों के क्रूराचरणों का उल्लेख कर उसे राक्षस से भी अधम बताता है । उधर दुर्योधन उसे दूत की मर्यादा का स्मरण दिलाता है । घटोत्कच अपने दूत-पद का परित्याग कर दुर्योधन को अपने साथ युद्ध करने के लिए आह्वान करता है । धृतराष्ट्र घटोत्कच को शान्त करके उसे पाण्डव-शिविर में भेज देते हैं । प्रस्थान करते समय घटोत्कच कौरवों को श्रीकृष्ण का अन्तिम सन्देश सुनाता है —

" धर्मं समाचर कुरु स्वजनव्यपेक्षां

यत्कांक्षितं मनसि सर्वमिहानुतिष्ठ ।

ज्ञात्योपदेश इव पाण्डवरूपधारी

सूर्यांशुभिः सममुपैष्यति वः कृतान्तः ।।" (दूतघटोत्कच श्लोक सं ५२)

नाटककार भरतवाक्य की अवतारणा किये बिना ही भगवान के उपर्युक्त सन्देश के साथ नाटक को इति कर देते हैं ।

'पंचरात्र'

प्रस्तावना के अनन्तर तीन ब्राह्मणों का प्रवेश होता है । तीनों दुर्योधन की यज्ञसमृद्धि की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं । उसी समय ब्रह्मचारी बालकों के चापल्य से यज्ञ मण्डप में आग लग जाती है और ऋत्विजों के अथक प्रयत्नों से बड़ी कठिनाई से वह निर्वापित की जाती है । उसके बाद दुर्योधन भीष्म,द्रोण के आगमन की सूचना देकर तीनों ब्राह्मण और साधुवाद देने के लिए रंगमंच से चले जाते हैं । यहाँ पर नाटक के प्रथम अंक का विष्कम्भक समाप्त हो जाता है ।

ब्राह्मणों के चले जाने के उपरान्त भीष्म-द्रोण प्रवेश करते हैं । दोनों ही दुर्योधन के सद् व्यवहार पर प्रसन्नता व्यक्त करते हैं । क्रमशः दुर्योधन,कर्ण तथा शकुनि का प्रवेश होता है । दुर्योधन के मन में भी यज्ञ की पवित्रता का प्रभाव पड़ा है । कर्ण के मुख से भी उदात्त-वाणी निःसृत होती है । सभी दुर्योधन का अभिनन्दन करते हैं । दुर्योधन भी सब का यथायोग्य अभिवादन करता है । तब यज्ञ में उपस्थित राजाओं एवं उनके प्रतिनिधियों के साथ दुर्योधन का परिचय करवाया जाता है । सभी दुर्योधन का अभिनन्दन करते हैं । उनमें श्रीकृष्ण के प्रतिनिधि के रूप में उपस्थित अभिमन्यु भी दुर्योधन का अभिनन्दन करता है । अभिनन्दन और अभिवादन कार्य समाप्त होने पर दुर्योधन विराट राज की अनुपस्थिति पर कौतूहल प्रकट करता है ।

यज्ञावसान में दुर्योधन द्रोणाचार्य से दक्षिणा ग्रहण करने का अनुरोध करता है । शिष्यवत्सल द्रोणाचार्य को पाण्डवों की दुर्दशा का स्मरण हो आता है और उनके नयन अश्रुसिक्त हो उठते हैं । उनका अश्रुपात दुर्योधन को विचलित कर देता है । वह सोचता है कि गुरु उसकी पूर्वकृत कुटिलता का ध्यान करके निराश हो रहे हैं और यह विचार कर रहे हैं कि वह कदापि मेरी इच्छा पूर्ण नहीं करेगा। अतः वह संकल्प-जल को हाथ में लेकर वह गुरु के सम्मुख उनको अभीष्ट दक्षिणा देने के लिए प्रतिज्ञा करता है । द्रोणाचार्य को विश्वास हो जाता है, वे दक्षिणा के रूप में पाण्डवों के लिए आधा राज्य मांगते हैं । शकुनि इसे प्रवंचना की आशंका देकर उसका विरोध करता है । शकुनि और द्रोण का वादानुवाद होता है । अन्त में शकुनि को प्रसन्न करने के लिए द्रोणाचार्य उसका अनुनय भी करते हैं । कर्ण और भीष्म के उद्योग से दोनों का कलह शान्त होता है ।

उधर दुर्योधन भी धर्मसंकट में पड़ जाता है । वह शकुनि से परामर्श चाहता है । शकुनि के परामर्श से दुर्योधन यह घोषणा करता है कि यदि पाँच रात के अन्दर पाण्डवों का पता लगा सकें तो वह राज्यार्द्ध दे देगा ।

इसी समय विराट नगर से दूत आकर सूचना देता है कि रात में किसी अज्ञात व्यक्ति के द्वारा रहस्यात्मक रूप से उनके सम्बन्धी कीचकों का सौ भाई बिना शस्त्रापात के ही वध किये गये हैं, इस वृत्तान्त से दुखी होकर विराटराज यज्ञ में सम्मिलित नहीं हुए । भीष्म इसे भीम का कार्य है — ऐसा अनुमान लगाते हैं ।अतः वे द्रोणाचार्य से दुर्योधन का शर्त मान लेने का गुप्त परामर्श देते हैं । द्रोणाचार्य भीष्म का अनुमान जानकर इतना प्रसन्न होते हैं कि भीष्म पितामह को शंका होने लगती है — कहीं सारी योजना पर तुषारपात न हो जाय । द्रोणाचार्य को किसी प्रकार शान्त करके भीष्म-पितामह दुर्योधन से कहते हैं कि विराट के साथ उनकी शत्रुता पहले से ही है, अतः उसके यज्ञ में अनुपस्थित होने के अपराध में उसका गोधन हरण कर लिया जाय । भीष्म की बात को असन्दिग्ध चित्त से मान कर दुर्योधन विराट राज्य पर आक्रमण करने की प्रस्तुति करता है । प्रथम अंक यहीं समाप्त हो जाता है ।

द्वितीय अंक के प्रवेशक में विराटराज के जन्म दिवस के उपलक्ष्य में पुरवासियों के द्वारा अनुष्ठित आनन्दोत्सव एवं सहसा कौरवों के गोधन-अपहरण करने का समाचार सूचित किया जाता है । गोपालक त्रस्त होकर विराट के शरण में आते हैं । विराटराज 'भगवान' नाम से परिचित छद्मवेशी युधिष्ठिर का अभिवादन करके युद्ध में कौरवों का सम्मुखीन होने के लिए अपने रथ को सज्जित

करने का आदेश देते हैं । परन्तु दूत कहता है कि राजा के सांग्रामिक रथ पर आरूढ़ होकर , बृहन्नला को सारथि बनाकर, कुमार उत्तर कौरवों का प्रतिरोध करने चले गये हैं । विराट अपने पुत्र की सहायता के लिए समरभूमि में जाने को उद्यत होते हैं , किन्तु भट आकर समाचार देता है कि कुमार का रथ श्मशान की ओर जा रहा है । युधिष्ठिर को इसका रहस्य ज्ञात हो जाता है, अतएव वह विराट को आश्वासन देने का प्रयत्न करते हैं । पुत्र के कल्याण पर शंका करने वाले विराट को यह आश्वासन अकालिक स्तोकवाक्य प्रतीत होता है । विराटराज की आज्ञा से भट पुन: युद्ध का समाचार सुनाता है कि कुमार का रथ श्मशान से लौटकर शत्रु-सेना के साथ भीषण युद्ध में प्रवृत्त हो गया है । कुछ काल के पश्चात् वह यह समाचार देता है कि कौरवों में सभी परास्त हो गये हैं , केवल अभिमन्यु युद्ध कर रहा है । इस पर युधिष्ठिर यह सोचकर उद्विग्न हो जाते हैं कि कहीं अर्जुन इतने दिनों बाद पुत्र को देखकर स्नेह से विह्वल न हो जाय । किन्तु इसी समय भट गोग्रहण में विराटराज की विजय तथा परास्त कौरवों के पलायन का समाचार देता है । विराटराज विनम्रता से छद्मवेशी युधिष्ठिर से कहते हैं —' भगवन् । यह आपकी वृद्धि हुई ।' उत्तर के सम्बन्ध में भट यह सूचना देता है कि वह युद्ध में निपुणता दिखाने वाले वीरों के उत्कृष्ट रण-कौशल को पुस्तक में लिख रहे हैं । विराट अपने पुत्र के कार्य की प्रशंसा करते हैं और बृहन्नला को बुलाकर युद्ध का विवरण पूछते हैं । इसी समय एक दूत आकर यह समाचार देता है कि युद्ध में अभिमन्यु बन्दी बनाकर ले आया गया है । यह सुनकर बृहन्नला एवं भगवान् मन ही मन शंकित एवं खिन्न हो जाते हैं किन्तु जब भट 'पाकशाला में नियुक्त अनुचर अभिमन्यु का अपहरणकारी है' —ऐसा समाचार देता है तब बृहन्नला और भगवान इसे भीमसेन का कार्य समझ कर प्रसन्न होते हैं । विराटराज अभिमन्यु को राजसभा में लाकर उचित सत्कार करने की अभिलाषा प्रकट करते हैं और भगवान से अभिमन्यु के निकट भविष्य में अपना जामाता बनने की सम्भावना व्यक्त करते हैं । भगवान वेशधारी युधिष्ठिर अर्जुन को पुत्र से मिलने का अवसर प्रदान करने के लिए उसे ही अभिमन्यु को राजसभा में लाने का आदेश देते हैं । छद्मवेशी भीम और अर्जुन अभिमन्यु के मुख से कुछ सुनने के उद्देश्य से अभिमन्यु को व्यंग्यपूर्ण वचनों से उत्तेजित करते हैं । अभिमन्यु क्रुद्ध हो जाता है । भीमसेन अर्जुन को गुप्तरूप से यह भी बता देते हैं कि "अभागिनी द्रौपदी पुत्र को देखकर प्रसन्न होगी" — ऐसा सोचकर वह युद्ध-स्थल से अभिमन्यु का अपहरण कर ले आये हैं । अर्जुन को पुत्र से मिलाकर भीम को अत्यन्त प्रसन्नता होती है । कुछ समय तक अभिमन्यु से इस प्रकार हास-परिहास करने के उपरान्त

बृहन्नला उसे विराटराज के पास ले आती है । वहाँ अभिमन्यु स्वाभिमानपूर्ण वचनों से विराटराज के प्रश्नों का उत्तर देता है ।

इसी समय कुमार उत्तर वहाँ उपस्थित होता है और अर्जुन का परिचय प्रकट करके कहता है कि आज के युद्ध में अर्जुन के कारण विजय हुई है ।तब अर्जुन अन्य भाइयों का परिचय देते हैं । विराटराज को अत्यन्त प्रसन्नता होती है । इसी समय युधिष्ठिर अज्ञातवास की अवधि की समाप्ति घोषित करते हैं । अभिमन्यु को अत्यन्त हर्ष होता है । वह अपने पिताओं से अपने अज्ञानतावश किये हुए अपराधों के लिए क्षमा प्रार्थना करता है । विराट राज को मन में उत्तरा और अर्जुन के घनिष्ठ सान्निध्य पर कुछ आशंका होती है, अतः वह गोग्रहण विजय की शुल्क के रूप में अर्जुन के चरणों में उत्तरा को समर्पित करने की इच्छा प्रकट करते हैं । युधिष्ठिर विराटराज की शंका का अनुमान कर लज्जित होते हैं किन्तु अर्जुन उत्तरा को अपनी पुत्रवधू के रूप में स्वीकार करके सभी की शंकाओं को दूर कर देते हैं । शुभ-नक्षत्र में उत्तरा- अभिमन्यु का विवाह सम्पन्न करने की इच्छा से युधिष्ठिर उत्तर को भीष्म-पितामह के समीप भेजते हैं । विराटराज पाण्डवों को साथ लेकर आनन्दपूर्वक अन्तःपुर में प्रवेश करते हैं । द्वितीय अंक समाप्त होता है ।

तृतीय अंक के प्रारम्भ में दूत अभिमन्यु के अपहरण का समाचार देता है । भीष्म-द्रोण तथा दुर्योधन उसे सुनकर अत्यन्त उद्विग्न होते हैं । दुर्योधन कहता है -- " दूत ! कहो कहो, किसने अभिमन्यु का अपहरण किया, मैं ही उसे मुक्त करूँगा क्योंकि उसके पिता से मेरी शत्रुता थी, अतः उसके अपहरण में मुझे ही संसार दोषी कहेगा । इसके अतिरिक्त एक बात और है -- अभिमन्यु मेरा पुत्र पहले है और पाण्डवों का बाद में , कुल में विरोध होने पर बालकों को उसमें सम्मिलित नहीं किया जाता ।" परन्तु अभिमन्यु के अपहरण का विस्तृत वर्णन सुनकर भीष्म कहते हैं -- इस प्रकार से अपहरण करना केवल भीमसेन का ही कार्य हो सकता है । शकुनि भीष्म का उपहास करते हुए कहता है " तब तो आप उत्तर को भी -- जिसने हम लोगों को पराजित किया है, अर्जुन ही समझेंगे ।"

द्रोण भी भीष्म का अनुमोदन करते हैं । वह भीम की वेगपूर्ण गति का दृष्टान्त देते हैं । भीष्म तथा द्रोण स्पष्टतः कहते हैं कि वैसा युद्ध केवल अर्जुन ही कर सकता है । इसी समय दूत भीष्म की ध्वजा में बिद्ध अर्जुन के नामांकित बाण को लाकर उपस्थित होता है । भीष्म बाणपुंख में अर्जुन का नाम पढ़कर शकुनि को पढ़ने के लिए कहते हैं । शकुनि अर्जुन का नाम पढ़कर क्रोध से बाण को फेंक देता है । बाण द्रोण के चरणों में जाकर गिरता है । शिष्यवत्सल आचार्य

प्रियशिष्य के बाण पर अपना सन्देह व्यक्त करते हैं । शकुनि कहता है —'आप लोगों के अनुसार तो चराचर में केवल अर्जुन ही एकमात्र अद्वितीय वीर है, संसार में दूसरा भी अर्जुन नाम का कोई हो सकता है ।' दुर्योधन भी उसका समर्थन करता है, किन्तु उसी समय युधिष्ठिर का सन्देश लेकर उत्तर वहाँ पर उपस्थित होता है । सब का सन्देह दूर हो जाता है ।

उत्तर अपने राज्य में पाण्डवों की अवस्थिति की सूचना देकर युधिष्ठिर का सन्देश सुनाता है । शकुनि कहता है —' अभिमन्यु का विवाह विराट के राज्य में हो ।' भीष्म की प्रेरणा से द्रोण दुर्योधन को पंचरात्र के समय का स्मरण दिलाते हैं । हार कर दुर्योधन पाण्डवों को राज्यार्द्ध देने की घोषणा करता है । प्रसन्न द्रोण की प्रशस्ति-वाक्य से रूपक की समाप्ति हो जाती है ।

'विक्रमोर्वशीयम्'

प्रस्तावना में केशी नामक दैत्य के द्वारा उर्वशी के अपहरण की एवं अप्सराओं के क्रन्दन की सूचना दी जाती है । तदनन्तर प्रथम अंक आरम्भ होता है और उसमें क्रन्दन करती हुई अप्सराओं का प्रवेश होता है । उसी समय अप्सराओं के सम्मुख रथ पर आरूढ़ पुरूरवा भी उपस्थित होते हैं । सूर्य की उपासना करके लौटते समय पुरूरवा अप्सराओं से सारा वृत्तान्त सुनकर उन्हें आश्वासन देते हैं और शीघ्र ही अपहरणकारी दैत्य के मार्ग का अनुसरण करते हैं । अप्सराएँ आशान्वित होकर हेमकूट पर्वत के शिखर पर राजा के निर्देशानुसार प्रतीक्षा करती हैं । कुछ ही क्षणों में उन्हें राजा के रथ की ध्वजा दृष्टिगोचर होती है । अप्सराओं को दृढ़ विश्वास होता है कि राजर्षि पुरूरवा कभी भी अकृतकार्य होकर नहीं लौटेंगे ।

तब गगन तल पर सारथि के साथ राजा एवं चित्रलेखा का हाथ पकड़े हुई भय से निमीलित नयना उर्वशी रथारूढ़ होकर प्रवेश करते हैं । राजा तथा चित्रलेखा उर्वशी को आश्वस्त करते हैं । क्रमशः उर्वशी की मूर्च्छा दूर होती है । आँखें खोलकर वह पुरूरवा को देखती है और अनायास ही अपने सौम्यदर्शन ,वीर उद्धारकारी के प्रति आसक्त हो जाती है । राजा भी उर्वशी की रूपराशि को देखकर विस्मय प्रकट करते हैं । हेमकूट पर्वत के शिखर तक पहुँचते-पहुँचते उर्वशी को राजा के आभिजात्य का परिचय मिल जाता है, जिससे उसकी आसक्ति को और भी प्रोत्साहन मिलता है । सारथि रथ रोकता है । असमतल भूमि में रथक्षोभ के कारण राजा का शरीर उर्वशी से छू जाता है । राजा इसे मनोभव अनंग का अनुग्रह मानकर

अपने को कृतार्थ समझते हैं । इस प्रकार अत्यन्त शीघ्र ही दोनों परस्पर के प्रति गम्भीर प्रेम के बन्धन में बंध जाते हैं ।

अपनी प्रियसखी को पाकर रम्भा आदि अप्सराएँ प्रसन्न होकर राजा को साधुवाद करती हैं । इसी समय गन्धर्वराज चित्ररथ वहाँ उपस्थित होते हैं । पुरूरवा उनका यथोचित सम्मान करते हैं । गन्धर्व राज के मुख से अपनी प्रशंसा सुनकर वे अत्यन्त नम्रता से समस्त साफल्य का श्रेय इन्द्र को ही देते हैं । वे गन्धर्वराज राजा की विनम्रता से अत्यन्त प्रसन्न होते हैं और उनसे उर्वशी को साथ लेकर इन्द्र के पास जाने का अनुरोध करते हैं । किन्तु राजा उनके इस आकर्षक प्रस्ताव का सविनय प्रत्याख्यान करके अपनी उदात्तता का परिचय देते हैं । चित्ररथ अप्सराओं को लेकर चले जाते हैं । प्रस्थानकाल में उर्वशी सव्याज विलम्ब करके राजा को देखती है और इस प्रकार उनके प्रति अपनी प्रच्छन्न आसक्ति को प्रकट करती है ।

उनके चले जाने के बाद पुरूरवा भी उर्वशी विषयक अभिलाषा को सूचित करते हुए स्वगतोक्ति करते हैं । सूत उनके वायव्य अस्त्र के प्रत्यावर्तन का समाचार देते हैं और वे रथ पर आरूढ़ होकर , उर्वशी की स्मृति से व्याकुल होकर राजधानी की ओर प्रस्थान करते हैं । प्रथम अंक का कथानक यहीं समाप्त होता है ।

द्वितीय अंक के प्रवेशक में विदूषक और पुरूरवा की ज्येष्ठा-महिषी औशीनरी की चेटी निपुणिका का संवाद है जिससे ज्ञात होता है कि सूर्योपस्थान से प्रत्यावर्तन किये हुए राजा की अन्यमनस्कता एवं उदासीनता को देखकर औशीनरी को सन्देह हो गया है । और पुरूरवा ने भी अपने वयस्य माणवक को उर्वशी-वृत्तान्त सुनाकर इस रहस्य को औरों से गुप्त रखने का अनुरोध किया है । अन्ततः चेटी बड़ी चातुरी के साथ विदूषक की वंचना करती है और उसके मुख से सब कुछ सुनकर रानी को सूचित करने के लिए चली जाती है । विदूषक भी राजकार्य से निवृत्त होकर आते हुए राजा का स्वागत करने के लिए चला जाता है ।

तब रंगमंच पर राजा और विदूषक प्रवेश करते हैं । राजा उर्वशी के विषय में अपनी उत्कण्ठा प्रकट करते हैं । राजा के साथ वार्तालाप करते हुए विदूषक को अपना भ्रम ज्ञात हो जाता है और उसे मन-ही-मन वंचनाकारिणी उस दुष्ट चेटी पर बड़ा क्रोध आता है किन्तु वह राजा को अपने भ्रम के विषय में कुछ नहीं कहता । राजा की अत्युत्कण्ठा देखकर वह राजा को यह कहकर आश्वासन देता है कि यदि उर्वशी ने उन्हें देख लिया है तो वह अवश्य ही दुर्लभ नहीं रहेगी । इस प्रकार आश्वासन देकर वह राजा के मनबहलाने के लिए उन्हें प्रमदवन में ले जाता है । राजा प्रमदवन के वृक्ष-लताओं में उर्वशी के अंगों

का साम्य देखकर और भी अधिक उत्कण्ठित होते हैं । विदूषक राजा की उत्कण्ठा को दूर करने की चिन्ता करता है ।

इसी समय पुरूरवा शुभनिमित्तों को देखकर प्रसन्न होते हैं । उन्हें समागम की कुछ आशा होती है । सचमुच ही कुछ ही क्षणों में उर्वशी चित्रलेखा को साथ लेकर अभिसरणार्थी स्वर्ग से आती है । दोनों तिरस्करिणी से अपने बाह्य रूप को छिपाकर राजा और विदूषक का वार्तालाप सुनती हैं । उर्वशी राजा को अपने प्रति आसक्त देखकर प्रसन्न होती है । जब विदूषक के समीप पुरूरवा अपनी कातरता को व्यक्त करते हैं और उर्वशी को 'कठोरहृदया' कहकर उपालम्भ देते हैं तब उर्वशी स्वहस्त से उत्पन्न भूर्जपत्र पर 'मदनलेख' लिखकर उनके सम्मुख रखती है । तिरस्करिणी के प्रभाव से उर्वशी और चित्रलेखा राजा को नहीं दिखतीं । अकस्मात् उस भूर्जपत्र को स्वयं ही राजा के समीप आविर्भूत होते देखकर विदूषक अत्यन्त भयभीत होता है किन्तु उसमें अक्षरविन्यास देखकर पुरूरवा उसे कौतूहल से उठाकर पढ़ते हैं और उर्वशी के प्रेम के विषय में निस्सन्देह होते हैं । चित्रलेखा की प्रेरणा से उर्वशी अपने अदृश्य रूप का परित्याग कर स्वाभाविक अवस्था में पुरूरवा के सम्मुख उपस्थित होती है । चित्रलेखा भी उर्वशी के साथ उनका अभिवादन करती है । विदूषक उर्वशी को प्रणाम करने के लिए बाध्य करता है । उसके वचनों को सुनकर उर्वशी स्मितहास्य करके उसे प्रणाम करती है । इसी हास-परिहास की वेला में ही नेपथ्य में देवदूत का कण्ठस्वर ध्वनित होता है । वे चित्रलेखा को उर्वशी को लेकर इन्द्र के सम्मुख उपस्थित होने का तथा भरतमुनि के निर्देशन में अभ्यास किए हुए ललिताभिनय के प्रदर्शन के हेतु आदेश देते हैं । चित्रलेखा देवदूत की आज्ञा के अनुसार उर्वशी को लेकर राजा का अभिवादन करके स्वर्ग की ओर प्रस्थान करती है ।

इधर विदूषक के हाथ से उर्वशी का मदनलेख अंकित भूर्जपत्र छूट जाता है । उसे इस बात का ध्यान भी नहीं होता । पुरूरवा के मांगने पर वह उसे ढूंढने लगता है । इसी समय चेटी के कथन की परीक्षा करने के लिए औशीनरी वहाँ उपस्थित होती है । वायु के झोंके से वह भूर्जपत्र उड़ता हुआ औशीनरी के नूपुर से लगकर रुक जाता है । वह उसे कौतूहलवश उठाकर पढ़ती है । उसे सारा वृत्तान्त ज्ञात हो जाता है । वह स्वयं ही पुरूरवा के हाथ में उस भूर्जपत्र को समर्पित करती है । राजा को अपनी रक्षा के लिए कोई भी उपाय नहीं मिलता । वह औशीनरी के चरणों पर गिरकर अनुनय करते हैं किन्तु औशीनरी उस पर ध्यान नहीं देती । अत्यन्त क्रुद्ध होकर पुरूरवा की महिषी निपुणिका के साथ चली जाती हैं । पुरूरवा

उनके कोप से आतंकित हो जाते हैं । इस प्रकार मध्याह्नकाल उपस्थित देखकर विदूषक उन्हें स्नानाहार का स्मरण दिलाकर प्रमदवन से ले जाता है । द्वितीय अंक यहीं समाप्त होता है ।

तृतीय अंक का प्रारम्भ चन्द्रोदय वर्णन से अत्यन्त रमणीय बन गया है । कंचुकी राजा को औशीनरी के व्रत का समाचार देता है । औशीनरी प्रियानुप्रसादन व्रत के व्याज से राजा को बुलाती है और रोहिणी सहित मृगांक चन्द्रमा को साक्षी बनाकर कहती है कि वे जिस स्त्री की अभिलाषा करेंगे अथवा जो राजा की समागमप्रणयिनी होगी उससे वह प्रीतिपूर्वक व्यवहार करेंगी । पुरूरवा एक कुशल नागरिक के समान देवी का सम्मान करके उनके इस सन्देह को एवं प्रतिज्ञा को व्यर्थ बताते हैं किन्तु औशीनरी उनके मिथ्योपचारों पर ध्यान न देकर चली जाती है । इधर उर्वशी प्रच्छन्न रूप में अभिसारिका का वेश धारण कर चित्रलेखा के साथ प्रायः आरम्भ से ही उपस्थित होकर सारी घटना को प्रत्यक्ष करती है । देवी के चले जाने के उपरान्त वह पुरूरवा के समीप उपस्थित होती है । चित्रलेखा पुरूरवा के हाथों में उर्वशी को समर्पित करते हुए कहती है -- "मेरी प्रियसखी । किसी प्रकार स्वर्ग का अभाव अनुभव न करे, आप ऐसा उपाय कीजियेगा ।" फिर वह उर्वशी से विदा लेकर स्वर्ग चली जाती है । प्रेमीयुगल परस्पर का सान्निध्य पाकर चिरवांछित फलों को पाकर प्रसन्न होते हैं । रात्रि अधिक बीतती हुई देखकर राजा उर्वशी को साथ लेकर अपने वासगृह में प्रवेश करते हैं । तृतीय अंक समाप्त होता है ।

चतुर्थ अंक के प्रवेशक में चित्रलेखा और सहजन्या प्रवेश करती हैं । उन दोनों के वार्तालाप से सामाजिक को उर्वशी और पुरूरवा के वियोग का समाचार मिलता है । उन्हें यह ज्ञात होता है कि मंत्री पर राज्यभार देकर अपने मिलनसुख का उपभोग करने के लिए राजा उर्वशी को लेकर गन्धमादन पर्वत पर विहार करने गये थे । वहाँ पर मन्दाकिनी के किनारे उदयवती नामक एक विद्याधर कुमारी सिकतापर्वत बनाकर क्रीड़ा कर रही थी । पुरूरवा उसे बहुत देर तक देख रहे थे । उर्वशी से पुरूरवा का यह आचरण सहा नहीं गया और वह क्रोध में विवेकहीन होकर राजा को वहीं छोड़कर स्त्रीजन के लिए परिहरणीय कुमारवन में प्रवेश करती है और वहाँ पर कार्तिकेय के नियम के अनुसार लता के रूप में परिणत हो जाती है । तदनन्तर चित्रलेखा राजा के विरहोन्मत्त दशा की सूचना देती है किन्तु वह कहती है कि इस प्रकार की मधुर आकृति मिलती है वह बहुत दीर्घकाल तक दुःखभोग नहीं करता । ऐसी भविष्यवाणी करके दोनों सखियाँ—"चित्रलेखा" और "सहजन्या" रंगमंच से निष्क्रान्त

हो जाती है ।

तदनन्तर यथानिर्दिष्ट उन्मत्तवेश में पुरूरवा प्रवेश करते हैं । वे कभी वर्षा-ऋतु के नवजलधरों को उर्वशी के अपहरणकारी दैत्य समझकर उनसे युद्ध करने को उद्यत होते हैं, कभी आकुल होकर प्रियतमा का वन में अन्वेषण करते हुए फिरते हैं । प्रकृति के अंग-अंग में विरहोन्मुख पुरूरवा को अपनी प्रियतमा के अंगों का आवेश दिखायी पड़ता है । वर्षाजल से पूरित कुसुमों में उन्हें प्रिया के अश्रुभरे दो नयनों का साम्य दिखायी पड़ता है । वन-स्थल पर एकत्रित हुए इन्द्रगोपों से उन्हें प्रिया के अधर-राग से रक्तवर्ण अश्रुबिन्दुओं से युक्त स्तनांशुक का भ्रम होता है । मयूर के कलापों में उन्हें प्रिया के केशों का साम्य दिखायी पड़ता है । हंस प्रिया के चाल का अनुकरण करते हुए दिखायी पड़ते हैं । पुरूरवा कभी नदी को देखकर उसे ही अपनी प्रियतमा समझ लेते हैं और कभी गिरिगह्वर में अपने वचन की प्रतिध्वनि में हिमालय के कलानुभूतिमिश्रित कण्ठस्वर सुनते हैं । इस प्रकार उर्वशी के अन्वेषण में विरही पुरूरवा उन्मत्त-सा वन में इतस्ततः विचरण करते हैं । अन्त में उन्हें 'संगमनीय' मणि का दर्शन होता है । नेपथ्य में ऋषि का अनुरोध सुनकर वह 'संगमनीय' को अपने पास रख लेते हैं । इसके अनन्तर जब वे प्रिया के अंगों का अनुकरण करने वाली एक माधवी लता का आलिंगन करते हैं, तब संगमनीय के प्रभाव से उर्वशी का लताभाव दूर हो जाता है । सम्मुख उसी प्रियानुकारिणी लता से उनकी प्रियतमा प्रकट होती है । दोनों एक-दूसरे से क्षमायाचना करते हैं । विरहाग्नि में दग्ध होकर दोनों के प्रेम की मनोरमता से कल्याण होती है । दीर्घकाल से परित्यक्त राजकार्य के लिए प्रजा कहीं उर्वशी को ही उत्तरदायी न समझे — ऐसा सोचकर उर्वशी राजा को प्रतिष्ठानपुर में चलने का परामर्श देती है । दोनों विमान पर बैठकर प्रतिष्ठानपुर की ओर प्रस्थान करते हैं । चतुर्थ अंक यहीं समाप्त हो जाता है ।

यहाँ यह बात द्रष्टव्य है कि किसी-किसी पाण्डुलिपि में विक्रमोर्वशीय के चतुर्थ अंक का कुछ भिन्न पाठ मिलता है । उसमें कुछ प्राकृत पद्यांश प्राप्त होते हैं । इनमें प्रावेशिकी आक्षिप्तिका और चर्चरिका, खण्डधारा, द्विपदिका इत्यादि नृत्य-निर्देश से युक्त प्राकृत श्लोक हैं । इन श्लोकों के कारण पुरूरवा की विरहोन्मत्तता की तीव्रता अधिक प्रतिभात होती है । इस रचना के स्वरूप की दृष्टि से भी अर्थात् रचना के 'त्रोटकत्व' की सिद्धि की दृष्टि से भी इस नृत्यगीत से युक्त पद्यांश की उपयोगिता अनुपेक्षणीय है । इन पद्यांशों में भी सखियाँ एवं पुरूरवा की अवस्था वर्णित है । अतः इनके संयोग से प्रसंगान्तर दोष की भी आशंका नहीं होती अपितु पद्यांशों में मिलकर वे उसकी प्रभावोत्पादकता

की वृद्धि में वह सहायक ही बनता है । कवि की प्रतिभा के निदर्शन की पराकाष्ठा भी इसी कथांश में निहित है ।

पंचम अंक के प्रारम्भ में विदूषक की उक्ति में राजा के अपत्यहीनताजनित दुःख की सूचना मिलती है । अन्तःपुर की स्त्रियों के साथ वे संगम के पुण्य सलिल में अवगाहन के लिए जाते हैं । इसी समय तालवृन्त पर रखी हुई रक्तवर्ण संगमनीय मणि को मांसखण्ड के भ्रम से एक गृध्र उठा ले जाता है । प्रिया के संयोगकारी , गौरीचरण के राग से उत्पन्न इस पवित्र मणि के अपहरण से पुरूरवा अत्यन्त विषाद करते हैं । वे गृध्र को मारने के लिए बाण-सन्धान भी करते हैं ,किन्तु वह पक्षी तब तक उनके बाणपथ से अतिक्रान्त हो चुका होता है । राजा नगराधिकारी को आज्ञा देते हैं कि जब सायंकाल में वह पक्षी अपने घोंसले में लौट जाते हैं उस समय वे इस मणि का पता लगायें ।

इसी समय कंचुकी मणि और एक बाण को हाथ में लेकर उपस्थित होता है । मणि को देखकर राजा अत्यन्त प्रसन्न हो गये । उन्हें बाणसंधानकारी के विषय में भी कौतूहल होता है । बाणपुंख पर धनुर्धर का परिचय पढ़कर उन्हें आश्चर्य की सीमा नहीं रह जाती क्योंकि उससे उन्हें यह ज्ञात होता है -- " बाण-संधानकारी उन्हीं का पुत्र है ।" राजा अब तक अपने को निःसन्तान ही जानते थे । उर्वशी ने भी कभी इस विषय में उनसे कुछ उल्लेख नहीं किया था और न ही उन्होंने उर्वशी में कभी मातृत्व के लक्षण देखे थे । उर्वशी ने पुत्र को उनसे किस तरह छिपाकर क्यों रखा , इस सन्देह का समाधान उनकी समझ में नहीं आ रहा था । राजा इस प्रकार तर्क-वितर्क कर ही रहे थे कि कंचुकी च्यवनाश्रम से एक तापसी और एक बालक के आगमन की सूचना देता है । राजा के आदेशानुसार कंचुकी दोनों को शीघ्र ही उनके सम्मुख उपस्थित करता है । तापसी उर्वशीपुत्र "आयु" को राजा के हाथों में समर्पित करती हुई कहती है कि किसी अज्ञात कारण से उर्वशी ने नवजात शिशु को उनके पास न्यासरूप में रखा था । महर्षि च्यवन ने स्वयं इनके सब संस्कार किये हैं और विद्याओं का उपदेश किया है।किन्तु आज इस बालक ने आश्रम की मर्यादा के विरुद्ध मांसखण्ड मुख में लिए हुए एक गृध्र को अपने बाण का लक्ष्य बनाया था । इस वृत्तान्त को जानकर महर्षि ने उसे उनके न्यास के प्रत्यर्पणार्थ आदेश दिया । पुरूरवा अपार हर्ष से पुत्र का आलिंगन करते हैं । और कंचुकी से उर्वशी को लाने का आदेश देते हैं । उर्वशी वहाँ उपस्थित होकर अपनी चिरपरिचित सत्यवती एवं अपने पुत्र आयु को देखती है । पुत्र को देखकर उसका वात्सल्य उमड़ पड़ता है । सत्यवती उर्वशी के हाथों में आयु का समर्पण करके

आश्रम में चली जाती है । पुरूरवा उर्वशी को कहते हैं —' तुम्हारे इस पुत्र को पाकर मैं अपने को पौलोमी-सम्पन्न जयन्त से युक्त इन्द्र के समान सौभाग्यशाली मानता हूँ ।' राजा के इस कथन में 'इन्द्र' शब्द के संकीर्तन से उर्वशी को इन्द्र के आदेश का स्मरण होता है और आसन्न-विच्छेद का ध्यान करके वह रोने लगती है । राजा के पूछने पर वह कहती है कि इन्द्र के आदेश के अनुसार पुत्रमुख दर्शन तक ही आपका और हमारा साथ है । इसीलिए मैंने अब तक आपसे आयु को छिपा रखा था । मेरे स्वर्ग में लौट जाने का समय उपस्थित हो गया है ।' यह सुनकर सभी शोकाकुल हो जाते हैं । राजा आयु पर राज्यभार देकर वानप्रस्थ में जाने का निश्चय करते हैं । उनके आदेश से आयु के अभिषेक की प्रस्तुति की जाती है । इसी समय आकाश मार्ग से देवर्षि नारद इन्द्र का सन्देश लेकर उपस्थित होते हैं । वे पुरूरवा और उर्वशी को शाश्वत मिलन-सुख के उपभोग का आशीर्वाद देकर इन्द्र का आदेश सुनाते हैं कि निकट भविष्य में देवासुर का संग्राम होने वाला है । पुरूरवा की सहायता उसमें अपरिहार्य है । अतएव उन्हें शस्त्र का परित्याग करना उचित न होगा । यह उर्वशी यावज्जीवन पुरूरवा की सहधर्मिणी बनकर रहेगी । इन्द्र का आदेश सुनकर सब के हृदय का विषाद दूर हो जाता है । अप्सराएँ आयु के यौवराज्य के अभिषेक की सामग्रियों को लेकर उपस्थित होती हैं । विधिवत् आयु की अभिषेक क्रिया सम्पन्न होती है । आयु सब को प्रणाम करता है । उर्वशी अपने पुत्र को ज्येष्ठ माता औशीनरी का अभिवादन करने के लिए आदेश देती है । नारद सब को आशीर्वाद देते हैं ।

भरतवाक्य के साथ नाटक की समाप्ति हो जाती है ।

'अभिज्ञानशाकुन्तल'

नान्दीपाठ एवं रूपक की प्रस्तावना नामक अंश की संयोजना करके सूत्रधार नटी को ग्रीष्म ऋतु पर एक गीत गाने का आदेश देते हैं । सूत्रधार के अनुरोध से नटी एक मनोहर गीत सुनाकर सामाजिकों को आनन्द प्रदान करती है । उसके गीत से समस्त रंगशाला चित्रार्पित-सी हो जाती है । सूत्रधार भी प्रस्तुत क्षण भर के लिए विस्मृत हो जाता है । बाद में नटी के द्वारा अनुबोधित होकर वह कहता है —' [illegible] भी तुम्हारी मनोहारी गीत की तान ने वैसे ही बलपूर्वक हर ले गया था जिस प्रकार यह सारंग दुष्यन्त को (अति वेगवान से)दूर ले आया है । इस प्रकार रूपक की प्रस्तावना करके सूत्रधार और नटी रंगमंच से निष्क्रान्त हो जाते हैं ।

तदनन्तर सारथी के साथ रथारूढ़ होकर मृगयानुसारी दुष्यन्त प्रवेश करते हैं । वे कृष्णसार की भयभीत भंगिमा का बड़ा ही स्वाभाविक वर्णन करते हैं । सारथी हरिण के पीछे-पीछे बड़े वेग से रथ को हाँकता है । अवकाश पाकर दुष्यन्त हरिण के प्रति बाणसंधान करते हैं किन्तु उसी समय नेपथ्य से तपस्वियों का स्वर सुनायी पड़ता है —"राजा यह आश्रम का हरिण है इसे न मारें, इसे न मारें ।" राजा तुरन्त विरत हो जाते हैं । तीन तपस्वी प्रवेश करके राजा को उनके कार्य के लिए आशीर्वाद देते हैं और निकट ही मालिनी-तीर पर अवस्थित कण्वाश्रम में आतिथ्य ग्रहण करने का अनुरोध करते हैं । उनसे दुष्यन्त को यह ज्ञात होता है कि जिस समय कुलपति कण्व अपनी दुहिता शकुन्तला पर अतिथिसत्कार का भार देकर उसी के प्रतिकूल दैव के शमन के लिए सोमतीर्थ गये हुए हैं । ऋषियों के अनुरोध के अनुसार राजा कण्वाश्रम में प्रवेश करते हैं । प्रवेश करने से पहले वे तपोवन के प्रति श्रद्धा व्यक्त करने के लिए अपने राजोचित वेश को यथासाध्य विनीत बनाकर अपने धनुष अलंकार इत्यादि सारथी के हाथ में देकर तब एकाकी आश्रम में जाते हैं ।

प्रवेश करते ही उनके दक्षिण बाहु में स्पन्दन होता है । यह शुभप्राप्ति का सूचक है । किन्तु राजा "तपोवन में इस शुभ निमित्त की सिद्धि का कहाँ अवकाश होगा" — ऐसा सोचते हैं । उस समय दक्षिण वृक्षवाटिका से कुछ वार्तालाप सुनायी पड़ता है । दुष्यन्त का ध्यान उस तरफ आकृष्ट होता है । वहाँ वे तीन अनिन्द्य सुन्दरी कन्याओं को वृक्षसिंचन करते हुए देखते हैं । तपोवन में इस प्रकार के रूपराशि राजा के विस्मय का कारण बनती है । वे वृक्ष की आड़ में छिपकर तीनों का विस्रम्भालाप सुनते हैं । क्रमशः राजा को उन तीनों कन्याओं का नाम ज्ञात होता है । उनमें से एक शकुन्तला और दो उसकी सखियाँ थीं । शकुन्तला को देखकर उसके निर्दोष रुचिर रूप पर वे अनायास ही आसक्त हो जाते हैं । राजा इस आसक्ति को अपने अन्तःकरण की प्रेरणा को प्रमाण मानकर इसमें अनौचित्य की आशंका करते से अपने हृदय को शान्त करते हैं । इतने में शकुन्तला एक भ्रमर से उत्पीड़ित होकर अपनी सखियों को पुकारने लगती है । इस वृत्तान्त से अवसर पाकर राजा भी वहाँ तक अपने को प्रकट कर देते हैं । सखियाँ अतिथि का स्वागत करती हैं । दुष्यन्त अपने राजभाव को गुप्त रखने का प्रयत्न करते हैं किन्तु प्रियम्वदा उनके वास्तविक स्वरूप को पहचान लेती है । शकुन्तला इस प्रभावशाली आगन्तुक के [illegible] से तपोवन-विरोधी भावनाओं का अधीन हो जाती है । दुष्यन्त [illegible] की आजन्म ब्रह्मचारी कण्व के दुहितृत्व पर कौतूहल प्रकट करके उसका [illegible] परिचय जानने की अभिलाषा व्यक्त करते हैं । अनसूया संक्षेप रूप से

उन्हें विश्वामित्र और मेनका के प्रणय प्रसंग एवं शकुन्तला की उत्पत्ति की घटना कहती है। राजा सब कुछ सुनकर शकुन्तला को क्षत्रिय कन्या जानकर अत्यन्त प्रसन्न होते हैं। वे सखियों से शकुन्तला के विवाह के सम्बन्ध में कण्व का विचार भी जान लेते हैं। शकुन्तला सखियों पर कृत्रिम क्रोध प्रकट करके वहाँ से जाने लगती है। इस पर प्रियम्वदा शकुन्तला को उसके ऋण का स्मरण दिलाती है। राजा अपने स्वभाव के अनुसार अपनी नामांकित अंगूठी देकर शकुन्तला को ऋणमुक्त करना चाहते हैं। चतुर प्रियम्वदा इसी दुष्यन्त का राजभाव जान लेती है। दुष्यन्त शकुन्तला के हाव-भाव से उसकी मनोगत अभिलाषा को जान लेते हैं। इसी समय नेपथ्य में तपस्वियों की सावधान वाणी उच्चारित होती है। तपस्वी मृगयाविहारी दुष्यन्त से भयभीत होकर भागते हुए एक मदमत्त हाथी के आगमन की सूचना देकर तपोवनवासियों को सावधान करते हैं। सखियाँ राजा से आज्ञा लेकर शकुन्तला को साथ लेकर अपने उटज की ओर प्रस्थान करती हैं। शकुन्तला प्रस्थानकाल में सव्याज विलम्ब करके राजा को बार-बार घूमकर देखती हुई निष्क्रान्त हो जाती है। राजा को अब नगरगमन की इच्छा नहीं रहती। वे अपने अनुचरों को तपोवन से दूर रहने का आदेश देने के लिए चले जाते हैं। प्रथम अंक समाप्त होता है।

द्वितीय अंक में विदूषक राजा के मृगयाशीलता [illegible] पर तथा शकुन्तला को देखने के पश्चात् राजा के नगरगमन की अनिच्छा पर खेद प्रकट करता है। इसी समय यवनीस्त्रियों से परिवृत होकर दुष्यन्त वहाँ उपस्थित होते हैं। वे सेनापति को बुलाकर तपोवन में शान्ति की रक्षा के लिए अपनी सेना को दूर रखने का आदेश देते हैं और मृगया के प्रति अपनी उदासीनता व्यक्त करते हैं।

सेनापति के चले जाने के बाद दुष्यन्त विदूषक के सम्मुख अपनी शकुन्तला विषयक अभिलाषा को प्रकट करते हैं। अनेक सुन्दरी स्त्रियों का उपभोग करने वाले दुष्यन्त को एक तापसी पर आकृष्ट होते देखकर विदूषक उनका उपहास करता है। दुष्यन्त विदूषक से तपोवन में पुनः प्रवेश करने का उपाय सोचने के लिए अनुरोध करते हैं। किन्तु इसी समय दो ऋषिकुमार उपस्थित होकर राक्षसों के अत्याचार से तपोवन की रक्षा की प्रार्थना करते हैं। राजा प्रसन्न होकर उनके वाक्य को शिरोधार्य कर लेते हैं। तपस्वियों की इस प्रार्थना को विदूषक राजा के लिए "अनुकूल गलहस्त" की व्याख्या देता है। इसी समय राजधानी से दूत आकर राजमाता का सन्देश सुनाता है कि आगामी चतुर्थ दिवस में वे व्रतोपवास करेंगी, अतः दुष्यन्त उस समय वहाँ अवश्य उपस्थित रहें।" दुष्यन्त विदूषक को समझा-बुझाकर माता के पुत्र-कार्य के सम्पादनार्थ भेज देते हैं। विदूषक सेना के साथ

युवराज-सदृश राजधानी जाना चाहता है । राजा इस प्रस्ताव पर और भी अधिक प्रसन्न होते हैं । विदूषक कहीं अन्तःपुर में शकुन्तला-वृत्तान्त को कह न दे -- इस आशंका से राजा विदूषक को यह मिथ्यावचन कहकर समझाते हैं कि शकुन्तला पर उनकी वस्तुतः कोई आसक्ति नहीं है, केवल मित्र के साथ परिहास करने के लिए राजा ने उल्लेख किया था । विदूषक को विदा करके राजा भी तपोवन में जाने के उद्देश्य से प्रस्थान करते हैं । द्वितीय अंक समाप्त हो जाता है ।

तृतीय अंक के आरम्भ में संक्षिप्त विष्कम्भक है । जिसमें कण्वशिष्य शकुन्तला की अस्वस्थता की तथा सखियों के द्वारा शकुन्तला के उपचार की सूचना देते हैं । तदनन्तर कामसन्तप्त राजा का प्रवेश होता है । वे प्रियादर्शन के लिए व्याकुल हैं । प्रिया की अवस्थिति का अनुमान लगाकर वे मालिनीतीरवर्ती वेतसलतागृह के निकट पहुँचते हैं । लतागृह के द्वार पर शकुन्तला की पदपंक्ति को पहचान कर राजा के हृदय में उसकी उपस्थिति के विषय में विश्वास होता है । विटपों के मध्य से झाँककर वे फूलों से आच्छादित शिलापट्ट पर लेटी हुई शकुन्तला को देखते हैं । सखियाँ उसकी सेवा कर रही थीं । राजा छिपकर तीनों का विश्रम्भालाप सुनते हैं ।

शकुन्तला सखियों के अत्यधिक अनुरोध करने पर लज्जा तथा संकोच के साथ अपने हृदयगत संताप का कारण कहती है । सखियों को पहले से ही कुछ आभास हो गया था , अतएव वे अपने अनुमान को सत्य देखकर प्रसन्न होती हैं । शकुन्तला उन दोनों से अनुरोध करती है -- "मैं उस राजर्षि की अनुकम्पनीया हो सकूँ उसका उपाय करो, नहीं तो मेरे लिए कभी तिलांजलि दो ।" यह सुनकर प्रियम्वदा उसे 'मदन लेख' लिखने के लिए प्रेरित करती है । प्रियम्वदा कहती है -- "तुम राजा के प्रति 'मदन लेख' लिखो मैं देवता के प्रसाद के बहाने उसे फूलों में छिपा कर उनके पास पहुँचा दूँगी ।" प्रियम्वदा का प्रस्ताव अनसूया को भी रुचिकर प्रतीत होता है । इस प्रकार दोनों सखियों की प्रेरणा से शकुन्तला नलिनी पत्र पर अक्षरविन्यासपूर्वक एक ललितपद्यबन्ध के माध्यम से राजा के कठोर हृदय के प्रति उत्कण्ठा व्यक्त करती है । जब वह उसे सखियों को पढ़कर सुनाने लगती है तो राजा स्वयं ही वृक्ष के ओट से प्रकट होकर उसके उपालम्भ का उत्तर देते हैं । अनसूया तथा प्रियम्वदा उनका स्वागत करती हैं और शकुन्तला के संताप के विषय में बताती हैं । इस समय शकुन्तला राजा के बहुपत्नीत्व पर कटाक्ष करती है । राजा अनसूया तथा प्रियम्वदा के सम्मुख प्रतिज्ञा करते हैं कि अनेक पत्नी होने पर

भी उनके कुल के लिए केवल दो प्रतिष्ठाएँ होंगी — 'एक तो चतुरंता पृथ्वी और दूसरी उन दोनों की प्रियसखी ।' राजा की इस प्रतिज्ञावचन से आश्वस्त होकर अनसूया और प्रियम्वदा बहाने से प्रेमीयुगल को एकान्त में छोड़कर चली जाती हैं । शकुन्तला भी उनके पीछे-पीछे चलने को उद्यत होती है । राजा उसे बलपूर्वक रोकने का प्रयत्न करते हैं । इस पर शकुन्तला राजा को बड़े कुपित शब्दों में निवृत्त करती है । शकुन्तला को गुरुजन-भीति के प्रशमनार्थ राजा उसे गान्धर्व रीति से विवाह करने के लिए अनुरोध करते हैं । प्रेमीयुगल का मिलन-सुख सहसा गौतमी के आगमन से विच्छेद के विषाद में परिवर्तित हो जाता है । सखियाँ संकेत करती हैं — 'चक्रवाक वधू ! अपने सहचर से विदा मांग लो । रात उपस्थित है ।' इस संकेत से दोनों सावधान हो जाते हैं । दुष्यन्त विटपान्तरित होकर गौतमी के दृष्टिपथ से अपने को छिपा लेते हैं । गौतमी शकुन्तला से उसका कुशल पूछकर उसे साथ लेकर उटज की ओर प्रस्थान करती है । प्रस्थानकाल में शकुन्तला सन्तापहारक लतावलय के बहाने राजा को पुनः परिभोगार्थ आमन्त्रित करती है ।[1]

इसके बाद किसी-किसी पाण्डुलिपि में शकुन्तला के पुनरागमन एवं दुष्यन्त और शकुन्तला के शृंगारिक-मिलन वर्णित हैं । किन्तु इस प्रकार का दृश्य एक तो नाट्यशास्त्र के नियमों का उल्लंघनकारी होने के कारण आपत्तियोग्य है । दूसरी बात संभोगशृंगार का ऐसा उग्र चित्र कालिदास की प्रतिभा एवं उनके प्रेमादर्श दोनों का विरोध करने वाला है । इससे रूपक की नायिका के मुग्धत्व की रक्षा भी नहीं हो पाती । कामवश स्वयं प्रेमी का अभिसरण करना कुलटा नायिका का लक्षण है । अतएव इन सब कारणों से यह पाठ चिन्तनीय प्रतीत होता है । इस विषय में अगले अध्याय में भी विशेष प्रकाश डाला जायगा ।

शकुन्तला के चले जाने के बाद दुष्यन्त उस एकाकी वेतसलतागृह में उसके द्वारा परित्यक्त उपचार-सामग्रियों को देख-देखकर खेद प्रकट करते हैं । इसी समय नेपथ्य में पुनः राक्षसों के उत्पात की घोषणा होती है । दुष्यन्त राक्षस-दमन करने के लिए शीघ्र ही वहाँ से चले जाते हैं । तृतीय अंक यहीं समाप्त होता है ।

चतुर्थ अंक के विष्कम्भक में पुष्पचयनरता अनसूया और प्रियम्वदा का सम्वाद है । इससे ज्ञात होता है कि निर्विघ्नरूप से यज्ञसमाप्ति होने के उपरान्त ऋषियों की आज्ञा पाकर दुष्यन्त आज राजधानी जा रहे हैं । दोनों सखियाँ

शकुन्तला के इस विवाह के विषय में कण्व के सम्भाव्य अनुकूल अथवा प्रतिकूल विचार पर परामर्श करती हैं । इसी समय नेपथ्य में किसी अतिथि का कण्ठस्वर सुनायी पड़ता है । दोनों सखियाँ सोचती हैं कि शकुन्तला तो कुटीर में है ही अतः वह अतिथि का सत्कार कर लेगी । किन्तु शकुन्तला दुष्यन्त की चिन्ता में इतनी लीन थी कि उसे अतिथि का आह्वान सुनायी ही नहीं दिया । अतिथि के रूप में और कोई नहीं, स्वयं दुर्वासा उपस्थित थे । दुर्वासा ने क्रुद्ध होकर शकुन्तला को अभिशाप दिया कि जिसे तू अनन्यमन से चिन्ता करके मेरे आगमन की उपेक्षा कर रही है, वह तुझे याद दिलाने पर भी वैसे ही नहीं पहचानेगा, जैसे मद्यपान से उन्मत्त हुआ पुरुष पहले कही हुई अपनी बात को याद दिलाने पर भी याद नहीं कर पाता ।"
प्रियम्वदा ने देखा, दुर्वासा शकुन्तला को शाप देकर चले जा रहे हैं । तब वह शीघ्रता से उनके पास जाकर उनके चरणों पर गिरकर शकुन्तला की ओर से क्षमा मांगती हुई बोली — "हमारी प्रिय सखी बालिका है । उसके इस प्रथमकृत अपराध को आप क्षमा कीजिए ।" अन्त में दुर्वासा ने प्रसन्न होकर कहा — "कोई आभूषण अभिज्ञान के रूप में दिखाने पर सारी बात स्मरण हो जायगी ।" प्रियम्वदा दुर्वासा को शान्त करके लौटती है और अनसूया से सारा वृत्तान्त कहती है । अनसूया सोचती है कि राजा ने जाते समय शकुन्तला को अपनी अंगूठी दी है । अतः उसी से शकुन्तला का कार्य सिद्ध हो जायगा । इसके बाद दोनों सखियाँ प्रकृतिपेलवा शकुन्तला से इस वृत्तान्त को गुप्त रखने की मन्त्रणा करके रंगमंच से निष्क्रान्त हो जाती हैं । यहीं पर विष्कम्भक समाप्त होता है ।

तदनन्तर कण्व-शिष्य रंगमंच पर प्रवेश करता है । वह कुलपति के प्रत्यागमन का समाचार देता है । इसी समय अनसूया भी प्रवेश करती है । वह दुष्यन्त के आचरण पर क्षोभ प्रकट करती है । शिष्य कुलपति से होमवेला निवेदन करने के लिए चला जाता है । अनसूया एकाकी दुष्यन्त के आचरणों पर विचार करके उत्कण्ठित होती है । वह राजा के समीप उस अभिज्ञानांगुलीय को भेजने का विचार करती है किन्तु उसे यह समझ में नहीं आता कि कौन राजा के पास जायगा । वह पुण्य कार्य से दुष्यन्त और शकुन्तला के मिलन और शकुन्तला की आपन्नसत्त्वता का समाचार देने में संकोच अनुभव करती है किन्तु इसी समय प्रियम्वदा के आगमन से एवं उसके मुख से देववाणी का वृत्तान्त सुनकर अनसूया की उत्कण्ठा शान्त होती है । प्रियम्वदा कहती है कि कण्व को देववाणी से सारा वृत्तान्त ज्ञात हो गया है और अब वे श्वशुरकुलगामिनी शकुन्तला का अभिनन्दन करके उसे पतिकुल भेजने का विचार कर रहे हैं । नेपथ्य में कण्व का स्वर सुनकर

प्रियम्वदा कहती है —' सखी ! जल्दी करो । वे तात कण्व हस्तिनापुर जाने वाले ऋषियों को पुकार रहे हैं ।'

इसके बाद शकुन्तला के प्रस्थान कौतुक की प्रस्तुति दिखायी जाती है । तपोवन की वृक्षराजि शकुन्तला के लिए वस्त्र, आभरण, प्रसाधन इत्यादि प्रदान करती हैं । अनसूया और प्रियम्वदा उन सामग्रियों से शकुन्तला को सजाकर विदा करती हैं । कण्व शकुन्तला को आशीर्वाद देकर उसे कालोचित उपदेश देते हैं । वन के लता-पादपों से विदा लेकर शकुन्तला तपोवन को सूना करके पतिगृह की ओर यात्रा करती है । ऋषि होकर भी कण्व एक गृही-पिता के समान ही शोकातुर हो जाते हैं । सखियाँ शकुन्तला के विरह में कातर होती हैं । मृगछौना शकुन्तला का आँचल खींचता है । इस प्रकार सब को विसर्जित करके शकुन्तला कण्व को प्रणाम कर भारी मन से विदा लेती है । सखियाँ उस समय उसे कहती हैं —'यदि राजा तुम्हें पहचानने में शिथिल हों, तो तुम उन्हें उनकी दी हुई अंगूठी दिखा देना ।' शकुन्तला सखियों की इस सावधान वाणी से अत्यन्त शंकित होती है, किन्तु सखियाँ उसे आश्वस्त करती हैं । गौतमी, शार्ङ्गरव तथा शारद्वत शकुन्तला को पतिगृह तक पहुँचाने जाते हैं ।

पंचम अंक के आरम्भ में राजा और विदूषक का सम्वाद है । नेपथ्य में हंसपदिका का संगीत सुनायी पड़ता है । राजा उस संगीत के माध्यम से ध्वनित उसके उपालम्भ को सुनकर विदूषक को उसके पास यह कहकर भेजते हैं —' सखा ! मेरी ओर से हंसपदिका के पास जाकर कहो कि मैं बड़ी ही निपुणता के साथ उसके द्वारा उपालम्भ किया गया हूँ ।' विदूषक हंसपदिका के भय से बड़ी अनिच्छा के साथ चला जाता है । उस संगीत से राजा का चित्त अकारण ही उत्कण्ठित हो उठता है । तभी समय कंचुकी आकर कण्वाश्रम से आगन्तुकों का समाचार देता है । राजा सभी उन लोगों को आदरपूर्वक लाने का आदेश देते हैं और स्वयं अमात्यों के साथ साक्षात्कार करने योग्य स्थान 'अग्निशरणगृह' में प्रवेश कर उनके स्वागत की प्रतीक्षा करते हैं ।

तदनन्तर शकुन्तला को लेकर गौतमी शार्ङ्गरव तथा शारद्वत का प्रवेश होता है । शकुन्तला की दायीं आँख फड़कने लगती है । वह किसी अज्ञात अमंगल की आशंका से व्याकुल होती है । गौतमी उसे सान्त्वना देती है । शकुन्तला को देखकर राजा कुछ उत्सुक होते हैं किन्तु शीघ्र ही परस्त्री के प्रति अपने औत्सुक्य का अनौचित्य समझकर अपने मन को शान्त करते हैं । ऋषि राजा को आश्रम का सन्देश सुनाते हैं किन्तु दुर्वासा के शाप के कारण राजा शकुन्तला को नहीं पहचानते

शकुन्तला अंगूठी दिखाने का प्रयत्न करती है, किन्तु वह भी शक्रावतार तीर्थ में नहाते समय गिर चुकी थी । शकुन्तला राजा को पूर्व की एक घटना कहकर याद दिलाने का प्रयत्न करती है किन्तु राजा को उसके कथन में स्त्रीसुलभ धूर्तता प्रतिभात होती है । राजा गौतमी से कहते हैं —" स्त्रीजाति स्वभाव से ही वंचनापटु होती है —" इसपर शकुन्तला क्रुद्ध होकर राजा की भर्त्सना करती है । उसकी भर्त्सना से राजा का चित्त सन्देह से दोलायमान होता है । शकुन्तला अपने दुर्भाग्य पर क्षुब्ध होकर रो पड़ती है । शार्ङ्गरव शकुन्तला का तिरस्कार करते हैं । दोनों ऋषि शकुन्तला को यह कह कर छोड़ कर चले जाते हैं कि यदि राजा का कथन सत्य है तो तुम्हारी जैसी दुराचारिणी से महर्षि कण्व का कोई सम्बन्ध नहीं और यदि तुम अपने को पवित्र समझती हो तो पतिकुल में दासी होकर रहना भी तुम्हारे लिए श्रेयस्कर है । राजा अपनी धर्मनिष्ठता की दुहाई देकर शार्ङ्गरव से शकुन्तला को ले जाने के लिए कहते हैं । शार्ङ्गरव उनके वचन पर ध्यान न देकर क्रुद्ध होकर चले जाते हैं । राजपुरोहित राजा को परामर्श देते हैं— 'साधुओं की भविष्यवाणी के अनुसार आपको चक्रवर्ती पुत्र उत्पन्न होगा । अतएव प्रसवकालपर्यन्त यह स्त्री मेरे गृह में रहे । यदि इसका पुत्र चक्रवर्ती के लक्षणों से युक्त होता है तो इसका अभिनन्दन कीजियेगा, अन्यथा इसे पिता के पास भेज दीजियेगा ।" पुरोहित का प्रस्ताव सुनकर शकुन्तला पृथ्वी से प्रार्थना करती है —" हे वसुन्धरे ! अपने अंक में स्थान दो ।" पुरोहित शकुन्तला को लेकर ज्यों ही राजप्रासाद से बाहर जाने लगते हैं वैसे ही एक दिव्य ज्योति उसे उठा ले जाती है । पुरोहित घबड़ाकर राजा से यह सूचित करते हैं । राजा कहते हैं —" जिस अर्थ का हमने प्रत्याख्यान कर दिया, उसके विषय में सोचना व्यर्थ है । पुरोहित चले जाते हैं । राजा भी परिश्रान्त होकर शयनगृह की ओर प्रस्थान करते हैं । पंचम अंक समाप्त हो जाता है ।

षष्ठ अंक के प्रवेशक में धीवर-वृत्तान्त है । तदनन्तर अंगुरीय-दर्शन से राजा के द्वारा शकुन्तला की प्रत्यभिज्ञा उसके प्रत्याख्यानजनित वियोग दुःख, शकुन्तला का चित्र-अंकन, इसी प्रसंग में राजा के अपने निःसंतानत्व पर क्षोभ इत्यादि का वर्णन है । षष्ठ अंक के अन्त में मातलि के आगमन का वर्णन है । मातलि इन्द्र का सन्देश सुनाकर कहते हैं कि आपके सखा इन्द्र के लिए दुर्जय नामक दानव अवध्य है। अतएव आप युद्ध में उसका वध कीजिए । राजा इन्द्र की आज्ञा को शिरोधार्य करके, अमात्य पर राज्यभार देकर स्वर्ग की ओर प्रस्थान करते हैं । षष्ठ अंक यहीं समाप्त हो जाता है ।

सप्तम अंक में मातलि-सारथिचालित रथ पर राजा के प्रत्यावर्तन का

वर्णन है । दुर्जय का वध करके वे स्वर्ग में अत्यन्त प्रशंसाभाजन बन गये । आते समय मातलि ने उन्हें दिखाया कि किस प्रकार सुर सुन्दरियाँ कल्पलता के अंशुक पर अपने प्रसाधन अवशेष से सुन्दर ललित पदबन्धों में राजा के चरित को लिख रही हैं । मार्ग में मातलि मारीच आश्रम में अपना रथ रोकते हैं । मातलि मारीच को दुष्यन्त के आगमन की सूचना देने के लिए चले जाते हैं । राजा एकाकी रह जाते हैं । इसी समय उनका दक्षिण बाहु स्पन्दित हो उठता है । राजा इस स्पन्दन के संकेत को व्यर्थ समझते हैं । इसी समय दो तापसियाँ सिंह-शिशु के साथ क्रीड़ारत एक बालक को निवृत्त करती हुई प्रवेश करती हैं । वे राजा की सहायता की प्रार्थना करती हैं । राजा के कहने पर बालक उससे निवृत्त हो जाता है । तापसी उन दोनों के रूप साम्य पर विस्मय प्रकट करती है । राजा उसका वंश-परिचयादि पूछते हैं । तापसी किसी प्रकार भी बालक के निर्दय पिता का नामोच्चारण नहीं करती । बालक दूसरा खिलौना लेने के लिए जब अपना हाथ प्रसारित करता है तब राजा उसके हाथ में चक्रवर्ती के सारे लक्षणों को देखकर चकित हो जाते हैं । तापसी जब मृत्तिका-मयूर को दिखाकर बालक से कहती है —" वत्स शकुन्तलावण्यं पश्य ।" तब बालक सहसा कह उठता है —" मेरी माँ कहाँ है ?" इस पर तापसी हँसकर राजा से कहती है कि नाम साम्य से इसे भ्रान्ति हो रही है । राजा को सन्देह होता है , पर वह परस्त्री-चर्चा के दोष की आशंका से अपने हृदय को शान्त करते हैं । इसी समय सर्वदमन के गिरे हुए रक्षाबन्धन को जब राजा उठाकर उसके हाथों में बांध देते हैं, तब दोनों तापसियों को आश्चर्य होता है, क्योंकि यह रक्षाबन्धन माता अथवा बालक के अतिरिक्त अन्य किसी के स्पर्श से सर्प बनकर दंशन करता था । परन्तु दुष्यन्त के विषय में उसका व्यतिक्रम होते देखकर उन दोनों के आश्चर्य की सीमा नहीं रह जाती । वे शकुन्तला को इसकी सूचना देने चली जाती हैं ।

अब दुष्यन्त को पूरा विश्वास हो जाता है कि सर्वदमन उन्हीं का पुत्र है । वह बालक को गोद में उठा लेते हैं । सर्वदमन कहता है —" मुझे छोड़ दो मैं माँ के पास जाऊंगा ।" राजा कहते हैं —"पुत्र मेरे ही साथ माँ का अभिनन्दन करना ।" इसपर बालक कहता है —" मेरे पिता दुष्यन्त है, तुम नहीं ।" — बालक के इस कथन से दुष्यन्त का विश्वास और भी दृढ़ होता है । इसी समय एक वेणीधरा शकुन्तला वहां प्रवेश करती है । उसे तापसियों के कथन पर विश्वास नहीं होता । विरहव्रतधारिणी शकुन्तला के नियमयुक्त तेजस्वी मुख को देखकर दुष्यन्त का मस्तक अपने आप अवनत हो जाता है । शकुन्तला पहले तो राजा को

नहीं पहचानती । बाद में राजा के यह कहने पर --' प्रिये ! आज मैं तुम्हारे द्वारा प्रत्यभिज्ञात होना चाहता हूँ ।' -- राजा उनके चरणों पर गिर कर क्षमा प्रार्थना करते हैं । तदनन्तर दुष्यन्त पत्नी तथा पुत्र को साथ लेकर मारीच और अदिति को प्रणाम करते हैं । मारीच उनसे दुर्वासा-शाप की घटना कहते हैं । शकुन्तला का सारा क्षोभ दूर हो जाता है, दुष्यन्त के अनुरोध से मारीच ऋषि कण्व को भी यह सूचना भेजते हैं । पुत्र तथा पत्नी के साथ दुष्यन्त मातलि के रथ में बैठकर अपनी राजधानी की ओर प्रस्थान करते हैं ।

भरतवाक्य के साथ रूपक की समाप्ति हो जाती है ।

'वेणीसंहार' :-

नान्दीपाठ के अनन्तर प्रस्तावना करते समय सूत्रधार को नेपथ्य की ओर से सहसा यह सुनायी पड़ता है कि पाण्डवों के दूत बनकर भगवान श्रीकृष्ण ,व्यास आदि महर्षियों के साथ कौरवों के पास सन्धिप्रस्ताव लेकर जा रहे हैं । यह सुनकर सूत्रधार प्रसन्न होकर कहने लगते हैं कि यह सन्धिप्रयास सफल हो और पाण्डव भगवान श्रीकृष्ण के साथ सुखी रहें तथा कौरव भी स्वस्थ रहें । उनका यह कथन अभी समाप्त भी नहीं हुआ था कि नेपथ्य से भीम का क्रोधोद्दीप्त स्वर सुनायी पड़ता है । वे सूत्रधार के कथन के अन्तिम अंश को क्रोध के साथ दुहराते हुए भर्त्सना कर रहे थे और धार्तराष्ट्रों को स्वस्थ देखने की अभिलाषा करने वाले सूत्रधार को 'वृथामंगलपाठक' कहकर तिरस्कार कर रहे थे । उनकी भर्त्सना सुनकर भयभीत सूत्रधार पारिपार्श्विक के साथ रंगमंच से निष्क्रान्त हो जाते हैं । तदनन्तर नेपथ्य में कही हुई उक्ति को दुहराते हुए क्रुद्ध भीम और उनके पीछे-पीछे सहदेव प्रवेश करते हैं । भीम धार्तराष्ट्रों को अपने हाथ से विनाश करने के लिए अत्यन्त अधीर हैं । उन्हें युधिष्ठिर की उदार नीति पर अत्यन्त खेद है । सहदेव ने जब कहा था कि युधिष्ठिर के कहने पर श्रीकृष्ण पाँच ग्राम पर सन्धि करने के लिए कौरवों के पास गये हैं तब उनका क्रोध चरम सीमा पर पहुँच जाता है । वे युधिष्ठिर की उदारता को निर्वीर्यता की आख्या देकर अपने को एक दिन के लिए समग्र परिवार से पृथक करने की अभिलाषा व्यक्त करते हैं । वे कहते हैं --' उसी एक दिन में जब उनके लिए न कोई आज्ञा देने वाला होगा और न कोई आज्ञाकारी होगा।तब स्वतन्त्रतापूर्वक वे धार्तराष्ट्रों का संहार करके अपने अपमान का प्रतिशोध लेंगे । क्रोध के कारण भीम क्रुद्ध हो अस्त्रागार के स्थान पर द्रौपदी के निवास में पहुँच जाते हैं । उसी

धृष्टद्युम्न के दुःसाहस पर अत्यन्त क्रोध होता है । वह पाण्डवों के विनाश की प्रतिज्ञा करता है । कृप उसे लेकर वहाँ पहुँचते हैं जहाँ कर्ण और दुर्योधन वार्तालाप कर रहे थे । कर्ण ने दुर्योधन को द्रोण का अनुत्तरदायित्व और राज्यलोभ का मिथ्या समाचार देकर उसे द्रोणविरोधी बना दिया था । अतएव कृप के कहने पर भी दुर्योधन अश्वत्थामा को सेनापति का पद देकर कर्ण को उस पद में अभिषिक्त करता है । कर्ण और अश्वत्थामा का विवाद होता है । अश्वत्थामा कर्ण के वध तक शस्त्र-परित्याग करने की प्रतिज्ञा करता है । इसी समय नेपथ्य में दुःशासन का रक्तपान करते हुए भीम की घोषणा सुनायी पड़ती है । भीम के हाथों से उसकी रक्षा करने के लिए अश्वत्थामा को छोड़कर शेष सभी उस ओर दौड़ पड़ते हैं । तृतीय अंक समाप्त होता है ।

चतुर्थ अंक में सूत दुःशासन के वध से मूर्छित हुए दुर्योधन को लेकर प्रवेश करता है । सुन्दरक आकर दुर्योधन को वृषसेन की वीरता एवं उसकी वीरगति का विस्तृत समाचार देकर कर्ण का पत्र दिखाता है, जिसमें कर्ण ने बड़े करुण शब्दों में भ्रातृवध से व्याकुल दुर्योधन को सान्त्वना दिया था । इसी समय सूत दुर्योधन को संजय के साथ गान्धारी और धृतराष्ट्र के आगमन का समाचार देता है । दुर्योधन माता-पिता की चरण-वन्दना करने के लिए उनके समीप चला जाता है ।

पंचम अंक के आरम्भ में दुर्योधन के प्रति गान्धारी, धृतराष्ट्र तथा संजय के उपदेशपूर्ण संवाद हैं । दुर्योधन संजय का अपमान करता है । इसी बीच भीम और अर्जुन वहाँ पर उपस्थित होते हैं । वे दोनों धृतराष्ट्र तथा गान्धारी का अभिवादन करते हैं । अभिवादन करते समय भीम धृतराष्ट्र को दुर्योधन-वध के लिए अपनी प्रतिज्ञा का समाचार भी दे देता है । दुर्योधन उनका तिरस्कार करता है । भीम और दुर्योधन का विवाद होता है । इतने में नेपथ्य से युधिष्ठिर के आदेश की घोषणा सुनकर भीम और दुर्योधन वहाँ से चले जाते हैं । कर्ण-वध का समाचार मिलता है । अश्वत्थामा भी वहाँ पर आते हैं । गान्धारी तथा धृतराष्ट्र दुर्योधन को अश्वत्थामा को सेनापति बनाने का परामर्श देते हैं, किन्तु दुर्योधन अपने मित्र के विरोधी अश्वत्थामा को सेनापति का पद न देकर शल्य को उस गौरव से भूषित करता है । आगामी युद्ध की प्रस्तुति में दुर्योधन समरांगण की ओर प्रस्थान करता है । पंचम अंक यहीं समाप्त होता है ।

षष्ठ अंक में युधिष्ठिर, दुर्योधन-वध के लिए भीम की प्रतिज्ञा का कुछ निश्चय करके अपनी उत्कण्ठा व्यक्त करते हैं । भीम ने यह प्रतिज्ञा की है कि यदि वे आज ही दुर्योधन का वध न कर पाये तो वे अपने को ही समाप्त करेंगे ।

युधिष्ठिर माद्रेयों के प्रति अपना गंभीर स्नेह व्यक्त करते हैं । वे सहदेव को इस बात की घोषणा करने को कहते हैं कि सभी दुर्योधन की अवस्थिति का पता लगाने का प्रयत्न करें । इतने में पांचालक आकर दुर्योधन की अवस्थिति का समाचार देकर भीम और दुर्योधन के गदायुद्ध की सूचना देता है । उसी समय चार्वाक नामक दुर्योधन का मित्र राक्षस आकर युधिष्ठिर को भीम और अर्जुन के वध का मिथ्या, समाचार देकर उन्हें आत्महत्या की प्रेरणा देता है । यही नहीं, वह स्वयं ही अदृश्य रूप से युधिष्ठिर और द्रौपदी की आत्माहुति के लिए चिता लगाता है । युधिष्ठिर तथा द्रौपदी दोनों ही माद्रेयों के लिए बहुविध विलाप करके उस प्रज्ज्वलित चिता की ओर अग्रसर होते हैं । वे उनमें प्रवेश करने ही जा रहे थे कि दुर्योधन का वध करके उसके रुधिर से लिप्त भीम प्रवेश करते हैं । भीम के उग्र रूप को देखकर सब को भ्रान्ति होती है । सभी उसे दुर्योधन समझने लगते हैं किन्तु अन्त में सारी भ्रान्तियाँ दूर हो जाती हैं और युधिष्ठिर का समर्थन पाकर भीम द्रौपदी का वेणीबन्धन करते हैं । यही नहीं, वे नकुल के द्वारा वंचक चार्वाक के विनाश की सूचना भी देते हैं । श्रीकृष्ण युधिष्ठिर को आशीर्वाद देते हैं । युधिष्ठिर के मुख से उच्चारित भरतवाक्य एवं श्रीकृष्ण के द्वारा उसके अनुमोदन के साथ रूपक की समाप्ति होती है ।

'बालभारत' अथवा प्रचण्ड पाण्डव :-

प्रस्तावना में ही सूत्रधार व्यास और वाल्मीकि की प्रावेशिकी ध्रुवा की सूचना देते हैं । तदनन्तर यथानिर्दिष्ट व्यास और वाल्मीकि का प्रवेश होता है । वाल्मीकि और व्यास परस्पर की एवं परस्पर की कृतियों की प्रशंसा करते हैं । वाल्मीकि नवीन इतिहास-रूप महाभारत के महत्त्व की व्याख्या करके उसके ऐसम्प्रदायी की प्राप्ति के विषय में व्यास से पूछते हैं । व्यास कहते हैं कि आचार्य ने स्वयम्बरार्थ पाण्डवों के प्रवेश के वृत्तान्त तक सुन चुके हैं । वाल्मीकि उपस्थित सन्ध्या की वन्दना आदि क्रियाओं से निवृत्त होकर आगे सुनने की अभिलाषा प्रकट करते हैं । सन्ध्या वर्णन के साथ विष्कम्भक समाप्त हो जाता है । व्यास और वाल्मीकि रंगमंच से निष्क्रान्त हो जाते हैं ।

इस संक्षिप्त विष्कम्भक के अनन्तर ब्राह्मणों का वेश धारण किये हुए पाण्डवों का प्रवेश होता है । पाँचों पाण्डवों के कुतूहल की प्राप्ति की उत्कण्ठा है । नकुल के परामर्श से वे मंच पर अन्य ब्राह्मणों के साथ बैठ जाते हैं । नेपथ्य में धृष्टद्युम्न और द्रौपदी के आगमन की वार्ता घोषित होती है । युधिष्ठिर उत्सुक

हो उठते हैं । धृष्टद्युम्न द्रौपदी तथा उसकी सखी को लेकर प्रवेश करते हैं । धृष्टद्युम्न नवीनमत स्वयम्वर सभा में उपस्थित याज्ञवल्क्य,विश्वामित्र,वसिष्ठ आदि महर्षियों का अभिवादन करते हैं, द्रौपदी भी उन्हें प्रणाम करती है । तदनन्तर धृष्टद्युम्न उपस्थित राजमण्डली का स्वागत करते हैं । पाँचों पाण्डव द्रौपदी को देखकर अभिलाषा-पूर्वक स्वागतोक्ति करते हैं । चारण द्रौपदी-स्वयम्वर के लक्ष्यवेध रूप पण की घोषणा करता है । सारा नृपतिमण्डल द्रौपदी की रूपराशि से आकृष्ट होकर स्पर्धापूर्वक लक्ष्यवेध के लिए प्रयत्न करते हैं । चारण द्रौपदी को पूज्य भीष्म,तथा द्रोण का परिचय देता है । द्रौपदी उन्हें प्रणाम करती है । इसके बाद चारण राधासुत कर्ण के लक्ष्यवेध के उद्योग का वर्णन करता है । सखी कर्ण की दानशीलता का वर्णन करती है,किन्तु द्रौपदी कर्ण की उपेक्षा करती है । कर्ण के बाद दुःशासन शकुनि,जयद्रथ,दुर्योधन,सात्यकि, जरासन्ध आदि अनेक नृपति लक्ष्यवेध का प्रयत्न करते हैं । किन्तु कोई सफल नहीं होता । चारण विषाद के साथ पाण्डवों का स्मरण करके कहता है :-

> 'हा मन्त्रं शकुनिः कुलक्षयकरं दुर्योधनं हा नृपं
>
> हा भीष्मं च पितामहं गुरुमपि द्रोणं सपुत्रं च हा ।
>
> दग्धा मन्त्यातुताग्नि पाण्डुतनया जीवेत्स चेदर्जुनो
>
> राधावेधमविज्ञाय न भवेत्कन्या च द्रौपदी ।। 'बालभारत' प्रथम अंक २०१५ (पृ.७१)

इसके बाद ब्राह्मणों की मण्डली में से ब्राह्मणवेशधारी अर्जुन उठकर अनायास ही लक्ष्यवेध करते हैं । 'एक ब्राह्मण द्रौपदी को प्राप्त करेगा --' यह सोचकर उपस्थित राजमण्डली पहले तो उसके लक्ष्य-वेध की निन्दा करते हैं और बाद में सामूहिक रूप से उनपर आक्रमण करने को उद्यत होते हैं । यह देखकर भीमसेन एक तालवृक्ष उखाड़ कर उसी से राजमण्डल के विनाश के लिए उद्यत हो जाते हैं । अर्जुन अपनी ओजस्वी वाणी से उक्त राजमण्डल को सावधान करते हैं । चारण को दो विप्रों की ऐसी अभूतपूर्व वीरता को देखकर आश्चर्य होता है । अर्जुन के शब्दों का अनुमोदन करके युद्ध के लिए भीम राजाओं को युद्ध के लिए आह्वान करते हैं । 'राधावेध' नामक प्रथम अंक यहीं समाप्त हो जाता है ।

द्वितीय अंक के प्रारम्भ में विदुर और उसके पश्चात् द्यूत क्रीड़ा की सामग्री को लेकर कनकाक्ष नामक अनुचर प्रवेश करते हैं । विदुर द्यूतक्रीड़ा के दोषों का विचार करके चिन्तित होते हैं । वे युधिष्ठिर की प्रशंसा एवं दुर्योधन की निन्दा करके दुर्योधन के षड्यन्त्र की भी सूचना देते हैं । इतने में नेपथ्य से क्रमशः

युधिष्ठिर तथा दुर्योधन के चारणों की स्तुति सुनायी पड़ती है । विदुर द्यूत-सभा में दुर्योधन , युधिष्ठिर आदि पात्रों के प्रवेश की सूचना देकर वहीं सम्मिलित होने के लिए रंगमंच से वण्डालक के साथ निष्क्रान्त हो जाते हैं ।

इसके बाद द्यूतक्रीड़ा का वर्णन है । युधिष्ठिर पहले अपना बहुमूल्य हार पण के रूप में रखते हैं और पराजित हो जाते हैं । तदनन्तर युधिष्ठिर कहते हैं --' मैंने सुहृज्जनों की बात मान ली है , अब आगे नहीं खेलूँगा । इस पर शकुनि उनका उपहास करके कहता है --' अभी तो आपने प्रतिज्ञा की कि द्यूत के लिए अथवा युद्ध के लिए बुलायें जाने पर मैं कभी भी पीछे नहीं हटूँगा ,तो इस समय दुर्योधन के खेलते रहने पर भी आप विरत क्यों हो रहे हैं ?' विवश होकर युधिष्ठिर पुनः पण रखते हैं और हार जाते हैं । इस प्रकार युधिष्ठिर क्रमशः अपने वारांगनाओं के समूह को, गजराजों को , रथों को , घोड़ों को पण में रखते हैं और हार जाते हैं । तब शकुनि उन्हें सम्पूर्ण पृथ्वी को पण में रखने की प्रेरणा देता है । उस समय नेपथ्य से यह सावधान वाणी उत्थित होती है --

'द्यूतं न युक्तमुचितं ननु निन्दनीयं च

कः पार्थिवोऽभिमतवी पणिता पुराणैः ?' ('बालभारत' द्वितीय अंक,श्लोक सं. २७)

परन्तु सत्यतान्ध युधिष्ठिर उसपर ध्यान नहीं देते और पूर्ववत् द्यूतक्रीड़ा में तन्मय हो जाते हैं । युधिष्ठिर को अपने राज्य से भी हाथ धोना पड़ता है । इसके बाद वे अपने को तथा अपने चारों भाइयों को क्रमशः पण में रखकर हार जाते हैं । शकुनि फिर भी विरत नहीं होता । वह युधिष्ठिर से द्रौपदी को पण में रखने के लिए प्रेरणा देता है । युधिष्ठिर द्रौपदी को पण में रखकर हार जाते हैं । तब दुर्योधन दुःशासन को आज्ञा देता है कि द्यूतदासी द्रौपदी को सभा में उपस्थित करो । युधिष्ठिर के निम्नलिखित पण पर पुनः द्यूतक्रीड़ा के लिए आमन्त्रण दिया जाता है --

'वर्षाणि द्वादशारण्ये सह तिष्ठन्तु निष्ठया ।

अज्ञातवर्षं वर्षमथायोद्धृषि बीयते ।।' ('बालभारत' द्वितीय अंक,श्लोक सं.३६)

युधिष्ठिर वैसा ही करते हैं और उसमें भी हार जाते हैं । इधर दुःशासन द्रौपदी के केशों को पकड़ कर घसीटता हुआ लाता है । दुर्योधन दुःशासन के इस आचरण पर बहुत प्रसन्न होता है । द्रौपदी की चेटी सुनन्दा दुःशासन के हाथ से द्रौपदी को मुक्त करने का प्रयत्न करती है । द्रौपदी कातर स्वर में कहती है --'वत्स दुःशासन! मेरे केशों को छोड़ दो । मैं एकवस्त्रा होकर गुरुजनों के सम्मुख इस किस प्रकार उपस्थित होऊँगी ।' दुःशासन यह सुनकर द्रौपदी के उस एक वस्त्र को भी उतार

लेने का प्रयत्न करता है, किन्तु श्रीकृष्ण की महिमा से उस एकवस्त्र के स्थान पर अनेक वस्त्र निकल कर द्रौपदी को आवृत करते हैं। दु:शासन द्रौपदी के वस्त्र खींचते खींचते परिश्रान्त होकर कहता है -- "यह अवश्य ही चित्रमोहिनी विद्या जानती है।" वह द्रौपदी के पंचपाण्डवों की पत्नी होने के लिए उपहास करता है, और कहता है-- "अपनी मुकुलित उँगलियों से तू दुर्योधन की बायीं जाँघ को पवित्र कर" द्रौपदी हाथ जोड़कर सभासदों से इस प्रश्न का निर्णय देने के लिए अनुरोध करती है कि "धर्मपुत्र युधिष्ठिर ने अपने को हारने के पश्चात् अथवा उससे पहले मुझको पण में हारा है?" द्रौपदी के इस प्रश्न का न्यायत: निर्णय केवल विकर्ण देता है। वह दु:शासन का तिरस्कार करके कहता है कि तेरा यह दुराचार किसी नहीं सहेगा। "दु:शासन, दुर्योधन सब चाचाट इत्यादि कहकर विकर्ण का अपमान करते हैं। युधिष्ठिर भाइयों तथा द्रौपदी को लेकर वन की ओर प्रस्थान करते हैं। प्रस्थान करने के पहले द्रौपदी दु:शासन से कहती है कि भीमसेन तेरा वक्ष विदीर्ण करके उस रक्त से मेरे इन उन्मुक्त केशों को बाँधेगा। तदनन्तर भीम दु:शासन के रक्तपान धृतराष्ट्र के शतपुत्रों का वध एवं दुर्योधन के ऊरुभंग एवं मस्तक पर पदाघात करने की प्रतिज्ञा करते हैं। यह सब सुनकर शकुनि उनका उपहास करके कहता है -- "जाओ वनवास के लिए उद्योग करो। द्यूत में जीते हुए व्यक्तियों से मूर्खतावश कौन उद्विग्न होता है।" यहीं पर बालभारत के उपलब्ध द्वितीय अंक की भी समाप्ति हो जाती है।

-- • --

पन्चम अध्याय

महाभारतीय उपाख्यानों से नाटकीय कथानकों का वैशिष्ट्य

तथा

उनके महत्व का सूक्ष्म विवेचन

मिलिन्द-पञ्हो[1] के एक छोटे से सुन्दर उपाख्यान में राजा मिलिन्द ने भदन्त नागसेन से यह प्रश्न किया था-" जो पुनर्जन्म ग्रहण करता है, वह क्या वही है — जो अभी मर गया था, या वह कोई अन्य जीव है ?" नागसेन ने उत्तर दिया था—" ठीक वह नहीं, किन्तु पूर्णतः भिन्न भी कोई नहीं ।" इस संक्षिप्त उत्तर की व्याख्या करते हुए उन्होंने कितनी ही उपमाएं प्रस्तुत की थीं कि जो भूमि में एक आम के बीज का रोपण करने से उसमें से वृक्ष उद्भिन्न होता है और एक समय उसमें आम भी लगने शुरू हो जाते हैं, किन्तु ये आम वह नहीं जिसका रोपण किया गया था, पर पूर्णतः उससे पृथक् भी नहीं — दोनों के मध्य में एक आश्चर्य बन्धन है, एक अनिवार्य परम्परा क्रमागत अद्भुत योगसूत्र है; - जैसे छः महीने की शिशुकन्या जब वयस्का युवती में परिणत हो जाती है, तब उसके दोनों रूप एक नहीं, परन्तु सम्पूर्ण पृथक भी नहीं—वैसे ही इसे भी समझना चाहिए ।

मानव-समाज की सभ्यता तथा साहित्य के इतिहास में भी इस चिरन्तन सत्य का दर्शन होता है । अतीत भाग का जो कुछ है वह पूर्ण रूप से पृथक् नहीं रह सकता, वर्तमान के गठन में उसकी अन्तःसलिल धारा की उपस्थिति को अस्वीकार कौन कर सकता है । एक ही कन्या की शैशव और यौवन अवस्था के समान अतीत और वर्तमान में एक अनिवार्य और आश्चर्य सम्पर्क है । वर्तमान अतीत के साथ एकाकार नहीं, किन्तु पूर्णतः पृथक भी नहीं । यह सत्य उपजीव्य और उपजीवी रचनाओं के विश्लेषण से और भी अधिक स्पष्ट रूप से अनुभूत होता है । भास का "दूतवाक्य" तथा "उरुभङ्ग" महाभारत के "भगवद्यानपर्व" तथा "गदायुद्धपर्व" के तुल्य नहीं, किन्तु पूर्णरूप से पृथक् भी नहीं । कालिदास जिस "शाकुन्तल" की रचना करके चिरस्मरणीय हो गये, वह महाभारत के "शकुन्तलोपाख्यान" की हूबहू प्रतिकृति नहीं, किन्तु सम्पूर्ण भिन्न भी नहीं । अतीत के साथ वर्तमान का तादात्म्य सम्बन्ध नहीं, किन्तु अतीत की आधारशिला से पृथक् होकर वर्तमान का अस्तित्व भी नहीं—उपजीवी का स्वरूप भी उपजीव्य के साथ एकाकार

१- मिलिन्द - पञ्हो, पृ० ४२ [Ed. R.D. Vadekar Published by University of Bombay 1940]

नहीं, पूर्णत: स्वतन्त्र भी नहीं। दोनों के मध्य में एक आन्तरिक योगसूत्र है। इस योगसूत्र का अन्वेषण न मिलने पर, अथवा मिलने पर भी उस पर विचार-विमर्श न करने पर — उपजीवी ग्रन्थों की न तो उचित समीक्षा हो सकती है और न उनके रचयिताओं की प्रतिभा को उचित सम्मान प्राप्त हो सकता है। भास अथवा कालिदास अथवा भट्टनारायण अथवा राजशेखर — महाभारत-मूलक नाटकों के रचयिताओं में से किसी की भी प्रतिभा तब तक हृदयंगम नहीं की जा सकती, जब तक महाभारत और उनकी रचनाओं के आभ्यन्तरिक संयोग-सूत्र का अन्वेषण न कर लें — जब तक दोनों के साम्य और वैषम्य का निर्धारण न कर सकें।

रामायण और महाभारत संस्कृत-साहित्य के दो अक्षय रत्नभण्डार हैं। रामायण की अपेक्षा महाभारत में उपाख्यानों की बहुलता के कारण उसका भाण्डार और भी विशाल है। व्यास और वाल्मीकि के ये दोनों रत्न-भण्डार प्रार्थी के लिए सदैव उन्मुक्त हैं। प्राय: इन्हीं में से एक एक रत्न का चयन करके आगामी कवियों ने नये नये आभूषणों से साहित्यदेवता का शृंगार किया। भास ने महाभारत का आधार लेकर छ: रूपकों की रचना की, कालिदास ने पुरुवंशजननी उर्वशी की और भरत-जननी शकुन्तला की कथा पर दो दृश्य-काव्यों की रचना की, भट्टनारायण ने द्रौपदी के उन्मुक्त केशों का वेणी-बन्धन करने के लिए 'वेणीसंहार' का रूपक बांधकर दुराचारी कौरवों का संहार दिखाया। राजशेखर ने महाभारत के आधिकारिक इतिवृत्त का आधार लेकर 'बालभारत' की रचना की। इस प्रकार विक्रमीय प्रथम शताब्दी तक के प्रमुख नाटककारों को भगवान् वेदव्यास की प्रतिभा ने बहुत प्रभावित किया।

किसी कवि की प्रतिभा के ऊपर पूर्ववर्ती अथवा समसामयिक रचनाओं के प्रभाव का वर्णन करते समय कुछ संकोच अनुभूत होता है। ऐसा आभास होता है कि कवि की प्रतिभा, उसकी मौलिकता मानो कुछ दुर्बल, कुछ कम हो गयी हो। परन्तु, प्रभाव-ग्रहण से एक ओर जैसे प्रतिभा में दुर्बलता आ सकती है, वैसे ही दूसरी ओर यह कवि-प्रतिभा की बलिष्ठता की कसौटी भी बन सकता है — इस बात का ध्यान कभी होता ही नहीं। कोई किसी से प्रभावित है तो अवश्य ही उसकी मौलिकता क्षुण्ण हो चुकी है — केवल यही धारणा मन में बद्धमूल रहती

है । वस्तुत: प्रतिभासम्पन्न अथवा उत्तम कवि की रचना में प्रभावग्रहण उसकी चौर्यवृत्ति को अनायास ही प्रकट कर देता है । जो निकृष्ट प्रकार का साहित्यिक है,—उसकी रचना में यह प्रभाव-ग्रहण कवि की अन्धानुकरण प्रवृत्ति को स्पष्ट कर देता है, किन्तु सबल और उत्कृष्ट सहृदय कवि की रचना में यह प्रभाव-ग्रहण उसकी प्रतिभा में एकात्म होकर पुरातन को एक गौरवमय नवीन रूप प्रदान करता है । अतएव सार्थक स्वीकरण से प्रतिभा में दैन्यभाव का उद्भव तो होता ही नहीं, अपितु उसकी प्रतिभा में गम्भीरता एवं बलिष्ठता का भी सन्धारण होता है । उससे कवि की ग्रहण-शक्ति एवं परिपाक-शक्ति के प्राचुर्य का परिचय मिलता है । प्राचीन के सार्थक स्वीकरण में संकोच नहीं है, वर्तमान को तो उसका न्यायत: अधिकार मिला ही हुआ है ।

विक्रमीय प्रथम सहस्राब्दी तक के महाभारतमूलक नाटकों के रचयिताओं ने भगवान् वेदव्यास की कृति से कथासूत्र को अथवा कहीं-कहीं पात्रों को भी उससे ग्रहण किया है । त्रुटि-विच्युति रहने पर भी इन रचनाओं में नाटककारों ने अपने को व्यास का योग्य उत्तराधिकारी सिद्ध किया । उत्तराधिकार को श्रद्धाभाव से ग्रहण करके अपनी साधना एवं प्रचेष्टा से उसे बहुविध रूप से उत्तरोत्तर समृद्ध करना ही योग्य उत्तराधिकारी का लक्षण है । इन कवियों की प्रतिभा में यह क्षमता थी । तभी तो वे व्यास के योग्यतम उत्तराधिकारी के रूप में समादृत हुए । महाभारत के उपाख्यानों अथवा महाभारत की आधिकारिक कथावस्तु को लेकर तो इस खृष्टीयविंश-शताब्दी तक अनेक नाटकों की रचना हुई, किन्तु जो हृदयहारी भावभंगिमा और जो नाट्यसौष्ठव विक्रमीय प्रथम सहस्राब्दी तक के इन आलोच्य नाटकों में है, वह अन्यत्र कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होता । उदाहरणार्थ, परमार श्री प्रह्लादनदेव-विरचित 'पार्थपराक्रमव्यायोग' और भास के 'पंचरात्र'— दोनों रूपकों में ही विराट्पर्व के 'गोग्रहण' की घटना को रूपक की केन्द्रीय-घटना के रूप में प्रस्तुत किया गया है । किन्तु 'पंचरात्र' की तुलना में 'पार्थ-पराक्रमव्यायोग' सर्वथा निष्प्रभ है । उसमें न तो मौलिकता है और न कवि-प्रतिभा का चमत्कार ही है । मूलकथा को उद्देश्यहीन रूप से ग्रहण करने के कारण घटना-संघात में कोई रोचकता नहीं आ पायी है, किसी प्रकार के वैचित्र्य की उद्भावना नहीं हो पायी है । कवि के द्वारा महाभारत का सतत अन्धानुकरण

परिलक्षित होता है- जिससे कवि-प्रतिभा का दौर्बल्य सर्वत्र प्रकट हो गया है। भास ने महाभारत से 'गोग्रहणपर्व' की कथा को ग्रहण किया है, किसी एक विशेष उद्देश्य की सिद्धि के लिए। अपनी प्रतिभा-प्रसूत 'पञ्चरात्र' की अभिनव कल्पना को मूर्त रूप देने के लिए, उस कल्पना की सार्थकता के लिए। तभी तो उन्होंने रूपक के नाम में भी उस नूतनता का संकेत कर दिया है। किन्तु 'पार्थपराक्रम-व्यायोग' के रचयिता ने महाभारत का अन्धानुकरण करके, मूलकथा में किसी प्रकार की नूतनता का संयोग न करके अपनी प्रतिभा के बन्ध्या-रूप को लोक-चक्षु के सम्मुख प्रकट कर दिया है। भास ने महाभारत से कथाभाग ग्रहण करके उसे अपनी कल्पना और प्रतिभा के मनोहर रंगों से सजा दिया, किन्तु श्री प्रह्लादनदेव ने महाभारत से कथाभाग ग्रहण करके उसे ज्यों का त्यों लौटा दिया। नवम अध्याय में भी इसकी यत्किंचित् आलोचना की जायेगी। किन्तु उससे पहले इतना तो दृढ़ता के साथ कह ही सकते हैं कि विक्रमीय प्रथम शताब्दी तक का समय ही नाट्य-साहित्य का स्वर्णकाल है जिसमें नाटककारों ने प्रख्यात इति-वृत्त को अपनी प्रतिभा से सिंचित करके उसके जीर्ण-कलेवर में एक अपूर्व यौवनो-ज्ज्वल सौन्दर्य भर दिया।

महाभारतीय कथा से भास के रूपकों की तुलना करने पर स्पष्ट होता है कि उन्होंने स्वरूपकों की रचना के लिये महाभारत का बहुविध उपयोग किया है। 'बहुविध' इसलिए कहा है क्यों कि उन्होंने किसी रूपक में महाभारत की आधिकारिक कथावस्तु में से किसी विशेष घटना का आधार लेकर उसे अपनी प्रतिभा से कांट-छांट कर, उसके चारों ओर नवीन घटनाओं को सजाकर — उस पावन कथा को एक अभिनव कलेवर प्रदान किया है, किसी में केवल महाभारतीय पात्रों का ग्रहण किया है, और अपनी प्रतिभा एवं महाभारत के गंभीर अध्ययन के संस्कार से एक अपूर्व महाभारतीय परिवेश की सृष्टि करके उन पात्रों को अपनी इच्छा के अनुसार कार्य करवाया है। इनमें से 'दूतवाक्य' 'कर्णभार', 'ऊरुभंग', एवं 'पंचरात्र' तो प्रथम प्रकार में आते हैं और 'मध्यमव्यायोग' तथा 'दूतघटोत्कच' अन्तिम प्रकार में। 'मध्यमव्यायोग' और 'दूतघटोत्कच' में पात्र केवल महाभारतीय हैं, शेष सब कुछ भास का अपना है।

प्रथम प्रकार की रचनाएँ जिनमें महाभारतीय घटनाओं का अवलम्बन ग्रहण किया गया है- उनमें भी महाभारतीय कथांश के उपयोग में तारतम्य प्रस्तुत किया गया है। `दूतवाक्य` ,`कर्णभार`, और `ऊरुभंग` में `पंचरात्र` की अपेक्षा महाभारतीय कथांश का उपयोग अधिक हुआ है। इनमें से भी `दूतवाक्य` में अन्य चारों की अपेक्षा महाभारत का उपयोग अधिक हुआ है।

`दूतवाक्य` में श्रीकृष्ण का दौत्य,दुर्योधन का विरुद्ध आचरण और परिणामतः श्रीकृष्ण का विश्वरूप धारण— ये घटनाएँ जैसा कि तीसरे अध्याय में लिखा चुके हैं— महाभारत के वनपर्व पर आधारित है। फिर भी उद्योगपर्व का `भगवद्यानपर्व` और भास के `दूतवाक्य` में पर्याप्त वैषम्य है। श्रव्य-काव्य के आधार को दृश्यरूप प्रदान करने के लिये भास ने अनेक काट छाँट की है। घटना-ऐक्य पर नाटकीयता बहुलांशतः निर्भर रहती है अतः, भास को अवान्तर घटनाओं का परित्याग करना पड़ा है, दीर्घ वर्णनों की अति-संक्षिप्त ध्वनिमात्र प्रस्तुत करना पड़ा है। इसके लिए उन्हें उपयुक्त घटनाओं की कल्पना करके उनकी सहायता से अपनी इष्ट-सिद्धि का उपाय निकालना पड़ा है। उदाहरणार्थ,मंत्रणागृह का दृश्य जो रूपक की पृष्ठभूमि है,वह सर्वथा भास की अपनी उद्भावना है। प्रस्तावना में मंत्रणागृह के निर्माण की सूचना मात्र से भास ने महाभारत की अनेक घटनाओं में ध्वनित दुर्योधन की युद्धेच्छा को प्रकाशित कर दिया है। `दूतवाक्य` के मंत्रणागृह के दृश्य में भीष्म और द्रोण भी उपस्थित हैं, परन्तु भास ने महाभारत के इन दो प्रधान पात्रों को अन्त तक मौन रक्खा है। पूरे रूपक में इनके प्रवेश एवं आसन-ग्रहण की सूचना को छोड़ कर इनके विषय में और किसी प्रकार का ध्यान नहीं दिया गया है,एक भी शब्द इनके मुख से नहीं कहलाया गया है। महाभारत के `भगवद्यानपर्व` की कथा में भीष्म और द्रोण का व्यक्तित्व अत्यन्त सक्रिय है। वहाँ पर उन दोनों को हम अनेकशः दुर्योधन को उपदेश देते हुए देखते हैं, उसका कटु तिरस्कार करते हुए भी देखते हैं। महाभारत में कौरवों के सभी प्रधान पुरुषों की अपनी अवस्था का गौरव प्राप्त है, उन्हें दुर्योधन को समझाने अथवा तिरस्कार करने का भी अधिकार प्राप्त है। अतएव ऐसे महत्वपूर्ण पात्रों को मौन रखने का अभिप्राय क्या हो सकता है — यही बात यहाँ पर द्रष्टव्य है। इसका कारण एक यही

हो सकता है कि रूपक का कलेवर छोटा है, उस नातिदीर्घ कलेवर में 'भगवद्यानपर्व' के प्रधान प्रतिपाद्य विषय का दृश्यरूप प्रस्तुत करना है, अतएव महत्त्वपूर्ण पात्रों की संख्या जितनी कम हो, उतनी ही अधिक नाटकीयता की उद्भावना को एवं कवि के मन्तव्य को स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करने में सुविधा होगी— यही सोचकर संभवत: रूपककार ने भीष्म तथा द्रोण को मूक ही रखा। वस्तुत: इस संक्षिप्त नाटकीय कलेवर में भीष्म,द्रोण के सुदीर्घ उपदेश के लिये अवकाश भी तो नहीं है। किन्तु इस पर कोई प्रश्न कर सकता है कि सुदीर्घ उपदेश न हो सही, संक्षेप में एक,दो वाक्य कहलवाकर भी तो भीष्म-द्रोण के महाभारतीय व्यक्तित्व का उद्घाटन किया जा सकता था, फिर आरम्भ से अन्त तक उन्हें एक भी वाक्य कहने का अवसर क्यों नहीं दिया गया ? इसका संभवत: यही समाधान है- कि भीष्म और द्रोण को मूक रखने से उनके असहाय भाव का प्रदर्शन तो हो जाता है, साथ ही दुर्योधन की निरंकुशता – जिसका व्यक्तीकरण कवि का प्रमुख उद्देश्य है— वह भी अधिक प्रभावोत्पादक रूप में सामने आ जाती है। महाभारत में भी यह देखा जाता है कि भीष्म तथा द्रोण कितना ही उपदेश क्यों न दें, निरंकुश दुर्योधन ने कभी भी उस पर ध्यान नहीं दिया, उल्टा कितनी ही बार दुर्योधन ने अत्यन्त कटु व शब्दों में उनका अपमान किया, फिर भी भीष्म और द्रोण को उसके साथ ही रहना पड़ता था, क्यों कि कुछ भी हो वे दोनों वृद्ध उसके आश्रित ही थे। भास ने उन्हें मूक रख कर महाभारत की इन सब बातों को अत्यन्त कुशलता के साथ व्यञ्जनात्मक रूप में प्रस्तुत कर दिया है। इससे दुर्योधन-चरित्र की दुर्जनता एवं दु:शीलता अल्प समय में ही और भी अधिक स्पष्ट होकर सामने आ जाती है। 'भगवद्यानपर्व' के विदुर,गान्धारी इत्यादि पात्रों को भी इन्हीं कारणों से रंगमंच पर प्रस्तुत नहीं किया गया। भीष्म और द्रोण को उस रूप में उपस्थित करके उन्हीं के माध्यम से भास ने कौरव-पक्ष के सभी विवेकी पात्रों की असहायता पर प्रकाश डाल दिया।

महाभारत में 'दूतवाक्य' के समान ही कौरव-राजसभा में भगवान् श्रीकृष्ण के दौत्य का वर्णन है, किन्तु इस साम्य में भी परिस्थिति की अनेक भिन्नता प्रस्तुत की जाती है। महाभारत में श्रीकृष्ण की आगमन-वार्ता किसी को अविदित नहीं थी। भास के 'दूतवाक्य' के वासुदेव के समान वे सहसा उपस्थित

नहीं हुए थे । महाभारत में धृतराष्ट्र ने श्रीकृष्ण के आगमन-पथ को बड़े यत्न के साथ सुसज्जित करवाया था । श्रीकृष्ण एक दिन पहले ही विदुर के गृह में पहुँच कर विश्राम कर रहे थे । वहीं वे कुन्ती से भी मिले थे । महाभारत में तो श्रीकृष्ण को राजसभा में लाने के लिए स्वयं दुर्योधन ही विदुर के गृह में उपस्थित हुआ था । दुर्योधन ने श्रीकृष्ण को अपने रथ पर बैठाकर राजसभा तक पहुँचाया था। इन सब घटनाओं का परित्याग कर वासुदेव को सहसा कौरव-राजसभा में उपस्थित करवाने के पीछे संभवत: घटना-ऐक्य एवं एकांकीत्व के निर्वाह का ही उद्देश्य रहा होगा ।

श्रीकृष्ण को बन्दी करने की योजना भी महाभारत के दुर्योधन ने बहुत पहले से ही बना ली थी । श्रीकृष्ण जब वृकस्थल से लौटकर हस्तिनापुर की ओर अग्रसर हो ही रहे थे तभी दुर्योधन ने उन्हें बन्दी कर लेने का संकल्प कर लिया था ।अत: दुर्योधन की इस दुरभिसंधि के विषय में महाभारत और `दूतवाक्य` में पर्याप्त साम्य होने पर भी,दोनों के स्वरूपगत भेद होने के कारण काल की दृष्टि से भिन्नता प्रस्तुत की गयी है । काल-ऐक्य नाटक के लिए एक उत्कर्षाधायक तत्त्व है । भारतीय नाटकों में तो इतना नहीं, किन्तु पाश्चात्य नाटकों में अन्विति-त्रय पर बहुत ध्यान दिया जाता है । भास के प्राय: एकांकियों में यह गुण प्राप्त होता है । इससे नाटकीयता की अभिवृद्धि होती है । अत: एक कुशल नाटककार होने के नाते भास ने दूतवाक्य` में महाभारतीय घटना के विपरीत वासुदेव को सहसा सभागृह के द्वार पर उपस्थित होते हुए दिखाया है और उनके आगमन के विषय में सबको अनभिज्ञ रखा है ।

किन्तु श्रीकृष्ण के आगमन के काल की दृष्टि से वैषम्य रहने पर भी दोनों ही स्थलों में दुर्योधन के षड्यंत्र के पीछे एक ही उद्देश्य रखा गया है । इस विषय में भास ने समस्त अन्त:करण से महाभारतकार का ही अनुसरण किया है। यहाँ तक कि दोनों में दुर्योधन की उक्ति प्राय: समान है, यहाँ उसका उल्लेख करना संभवत: अप्रासंगिक न होगा --

" तस्मिन्बद्धे भविष्यन्ति वृष्णय: पृथ्वी तथा ।
पाण्डवाश्च विधेया मे स च प्रातर्हिष्यति ।।"

(महाभारत उद्यो० ८८।१४ ।।)

और 'दूतवाक्य' में --

> 'ग्रहणमुपगते तु वासुभद्रे
>
> हृतनयना इव पाण्डवा भवेयुः।
>
> गतिमतिरहितेषु पाण्डवेषु
>
> क्षितिरखिलापि भवेन्ममासपत्ना॥'

महाभारत का दुर्योधन श्रीकृष्ण को विश्वपूज्य मानता है[1]। किन्तु उन्हें विश्वपूज्य मानकर आदर प्रदर्शित करने के अनन्तर उन्हें बन्दी बनाने का संकल्प करना कुछ असंगत प्रतीत होता है। भास ने इस असंगति को दूर कर दुर्योधन के इस संकल्प को अत्यन्त स्वाभाविक ढंग से प्रस्तुत करने के लिए अपने रूपक में दुर्योधन को श्रीकृष्ण के विश्वपूज्य पुरुषोत्तम रूप का उपहास करते हुए दिखाया है।[2] वह श्रीकृष्ण को विश्वपूज्य नहीं मानता, किन्तु उन्हें केवल पाण्डवों के 'गति-मति का 'नियन्ता' एवं सहायक मानता है। इसीलिए वह न केवल कृष्ण को बन्दी बनाने का प्रयास करता है, अपितु उनके विश्वरूप धारण से भी भयभीत न होकर उनका वध तक करने का उद्योग करता है। इस दृष्टि से महाभारत के दुर्योधन से भी 'दूतवाक्य' का दुर्योधन अधिक निकृष्ट है। वह इतना पापी और मूढ़ है कि वह श्रीकृष्ण के पुरुषोत्तम रूप पर भी अविश्वास प्रकट करता है और प्रत्यक्ष प्रमाण मिलने पर भी उस विराट पुरुष को 'मायावी' और 'छल करने वाला' समझता है। भास ने उसके औद्धत्य एवं उसकी दुःशीलता की पूर्व-पीठिका प्रस्तुत करके उसकी वध्यता को बड़े स्वाभाविक रूप से अवश्यंभावी प्रतिपन्न किया है। भगवान के परम-कारुणिक रूप का भी इससे बड़ा सुन्दर चित्रण हो सका है।

श्रीकृष्ण के विश्वरूप-धारण की घटना महाभारत विश्रुत है, किन्तु महाभारत वीक्ष्य [illegible] घटना का दृश्यरूप प्रस्तुत करने के लिए उस घटना में पर्याप्त परिवर्तन उपस्थित किया (गया) है। श्रव्यकाव्य में कवि [illegible] अपनी इच्छानुसार वर्णन कर सकता है, किन्तु दृश्यकाव्य के कवि के पास ऐसी स्वतंत्रता नहीं होती। उसे पग पग पर घटना के दृश्यत्व का एवं रस-निर्वाह का ध्यान रखना पड़ता है। महाभारत में

1- 'हरिपूज्यतमो लोके कृष्णः पृथुललोचनः ।' - महाभारत,उ०प०

2- आ: तावद् भो बादरायण । किं किं संवृत्तो दामोदरस्तव पुरुषोत्तमः।-- इत्यादि ।(दूतवाक्य)

श्रीकृष्ण के विराट रूप के दर्शन से दुर्योधन भी कुम्पित हो जाता है । भगवान् के विराट् रूप के तेज का दर्शन उसे भी हुआ, क्यों कि वह हृदय से भगवान के विश्वपूज्य विराट-रूप पर विश्वास करता था । `दूतवाक्य` के दुर्योधन को उसका दर्शन नहीं होता, क्यों कि उसे भगवान के विराट रूपपर कोई आस्था नहीं है । फिर इसमें नाटकीयता का भी प्रश्न है — यदि उसे भी कुम्पित दिखा दिया जाता तो नाटककार के पास और कुछ कहने को नहीं रह जाता ,अपनी विस क ललित-कल्पना का प्रकाशन उन्होंने भगवान् के प्रहरणों के आविर्भाव के विषय में किया है,उसका अवकाश न होता । इसलिये भी कवि ने दुर्योधन-चरित्र की चरम दुर्जनता को दिखाने के लिए, साथ ही अपनी कल्पना की संयोजना के अवकाश के लिए, दुर्योधन पर भगवान के विश्वरूप का प्रभाव नहीं दिखाया है । प्रहरणों का आविर्भाव बड़ा नाटकीय है, इसमें भावों का लालित्य भी बहुत है ।इस घटना के काव्यत्व से नाटकीय -कथानक अत्यन्त आकर्षक बन गया है । सच पूछा जाय तो कवि की मौलिक-प्रतिभा से समृद्ध इसी घटना में`दूतवाक्य` की समस्त रमणीयता निहित है । नेपथ्य से वृद्ध धृतराष्ट्र की पुकार एवं पुत्रोंकी ओर से उनकी क्षमा-प्रार्थना, - इस रौद्र-रस-प्रधान रूपक की समाप्ति के क्षणों को अपूर्व विनम्रता से भर देती है ।

पात्रों के कथनोपकथन महाभारतीय कथा में भी है किन्तु प्रत्येक पात्र का पृथक् पृथक् सुदीर्घ व्याख्यान है । बीच-बीच में अवान्तर उपाख्यानों के उल्लेख से भी महाभारत के पात्र अपने वक्तव्य को स्पष्ट करते हैं । दुर्योधन को समझाने के लिए ऐसे कई उपाख्यानों का दृष्टान्त प्रस्तुत किया गया है । प्रवचनकर्ता वैशम्पायन भी बीच बीच में अपने वक्तव्य से कथा को आगे बढ़ाते हैं । - परन्तु रूपक होने के कारण `दूतवाक्य` के नाटकीय कथानक में इनकी अवतारणा का कोई अवकाश नहीं है । ऐसे दीर्घ व्याख्यान अथवा अवान्तर कथाओं से तो उल्टा कथानक में शैथिल्य-दोष उत्पन्न होता एवं उस दोष से परम्परया अंगीरस के पोषण में व्याघात होने की आशंका होती ।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से महाभारतकार ने दुर्योधन के मुख से बहुत कुछ कहलवाया है,किन्तु भास ने दुर्योधन से उतना अधिक न कहलवा कर भी उसके चरित्र की सारी दुर्बलता को प्रकट कर दिया है । आगे अष्टम अध्याय में इस विषय पर विस्तृत विवेचन किया जायेगा ।

'कर्णभार' में भास ने प्रख्यात महाभारतीय पात्र कर्ण के जीवन की कुछ महत्वपूर्ण घटनाओं को एकसूत्र में पिरोकर उसके जीवन की एक संवेदनशील झाँकी प्रस्तुत की है। चूँकि उन्होंने कर्ण को नायक के पद पर अधिष्ठित किया है, इसलिए महाभारत से उन्हीं घटनाओं का चयन किया है, जिससे कर्ण-चरित्र का गौरव अक्षुण्ण रह सके। ठीक भी है, क्यों कि आचार्य ने कहा है-'यत्तत्रानुचितं किञ्चिन्नायकस्य रसस्य वा। विरुद्धं तत्परित्याज्यमन्यथा वा प्रकल्पयेत्[1]।'- भास ने इस नियम का सर्वथा अनुसरण किया है, तभी उन्होंने कर्ण-चरित्र की दु:शीलता-सूचक घटनाओं की अत्यन्त सावधानी से उपेक्षा की है।

उत्सृष्टिकाङ्क प्रकार के रूपक होने के कारण इसका अंगीरस करुण है। अङ्गीरस के पोषण का ध्यान कवि को बराबर रहा है। प्रस्तावना के अनन्तर भट्ट की उक्ति में ही अङ्गीरस का बीजारोपण किया गया है। भट युद्ध के लिये प्रस्थान करते हुए कर्ण को देख कर उसके संतापग्रस्त[2] रूप का जो वर्णन करता है, वह महाभारत में उपलब्ध सेनापति के पद में अभिषिक्त कर्ण के वर्णन[3] का सर्वथा विरोध प्रदर्शित करता है। इसके लिए वस्तुत: इ रूपक का अंगीरस ही उत्तरदायी प्रतीत होता है। नाटककार का प्रमुख ध्येय है- कवच-कुण्डलदान का दृश्य उपस्थित कर कर्ण की दानशीलता का वर्णन करना। इसीलिए युद्धयात्री कर्ण के साथ इन्द्र की वंचना के दु:खद प्रसंग की अवतारणा के लिए उन्होंने कर्ण के इस मनोवैज्ञानिक भावान्तर की सूचना प्रारम्भ में ही दे दी और आगे कर्ण की प्रत्येक उक्ति में इसका प्रभाव दिखाया। 'आज कुछ दुर्घटना घटने वाली है'- इसका आभास कर्ण के मन में पहले से ही हो गया था, उनका यह वितर्क ही इसका प्रमाण है --

'क्या बात है कि भयंकर युद्ध में क्रुद्ध यमराज की शक्ति से समता करने वाले मेरे मन में आज, युद्ध का समय उपस्थित होने पर विकलता उत्पन्न हो रही है।'

-- इसी वितर्क को बड़े कौशल से प्रस्तुत करके नाटककार ने कर्ण के जीवन के अन्य संवेदनशील घटनाओं के समावेश करने के पथ को प्रशस्त कर लिया। कर्ण के द्वारा अपना

१- दशरूपक, ३।२४

२-'प्राच्ये निदाघसमये घनराशिरुद्ध:
सूर्य:स्वभावरुचिमानिव भाति कर्ण:।।४।। कर्णभार

३-'दृष्ट्वा कर्णं महेष्वासं रथस्थं रथिनां वरम्।
भानुमन्तमिवोद्यन्तं तमो घ्नन्तं दुरासदम्।।महाभारत। (गी. प्रे. गोरखपुर) कर्णपर्व ११।११

परिचय-कथन, अस्त्रशिक्षा-वृत्तान्त एवं परशुराम के शाप का उल्लेख — इसी विकर्ष की परिणति है ।

जननी कुन्ती के आचरण के प्रति कर्ण ने रूपक के ७ वें श्लोक में जो क्षोभ व्यक्त किया है, उसकी कथा महाभारत के उद्योगपर्व के एक विस्तृत अंश में प्राप्त होती है । किन्तु महाभारत की कथा में कुछ बातों में असंगति अनुभूत होती है । कुन्ती के मुख से अपना परिचय जान लेने के बाद कभी एक बार के लिए भी उनके मन में अपनी माँ से उस साक्षात्कार की घटना की प्रतिक्रिया न होना कुछ अस्वाभाविक-सा प्रतीत होता है । महाभारत की कथा से इसका समाधान भी नहीं होता कि उस घटना के बाद भी, 'सूतपुत्र' कह कर उपहास करने वालों के कथन से उनके मन में कोई क्षोभ क्यों उत्पन्न नहीं हुआ? दुर्योधन आदि कौरवों के साथ पाण्डवों के वध की मंत्रणा करते समय उनके मन में कभी एक बार के लिए भी यह विचार क्यों नहीं आया कि ये पाण्डव उनके अपने ही छोटे भाई हैं । यह आवश्यक नहीं कि इन बातों को सोचकर कर्ण को अपनी विवशता से व्याकुल ही दिखाये जाता, किन्तु किसी भी रूप में सही — उस घटना की प्रतिक्रिया का उल्लेख करना तो आवश्यक ही था । उन्होंने एक दिन माता को जो वचन दिया, उसे युद्ध के समय एक भी बार उसका स्मरण करके वे उद्विग्न क्यों नहीं दिखाये गए ? — भास ने इन सब त्रुटियों और असंगतियों का अनुभव करके, युद्ध के लिए प्रस्थान करने वाले कर्ण के मन में इन सब बातों की प्रतिक्रिया दिखायी । युद्ध में जिस दिन उन्हें 'सेनानायक' की पदवी मिली वह दिन इन बातों के चिंतन करने का सबसे उपयुक्त और स्वाभाविक समय था — इसीलिए भास ने युद्ध के लिए प्रस्थान करने वाले पहले से ही किसी अज्ञात कारण से खिन्न हुए कर्ण के मुख से कुछ-कुछ स्वगतोक्ति के रूप में कहलवाया है — 'हाय महान् कष्ट है । कुन्ती से उत्पन्न होने पर भी मैं 'राधापुत्र' के रूप में परिचित हूँ । ये युधिष्ठिर आदि पाँचों पाण्डव मेरे ही छोटे भाई हैं[1] ।' आज मेरा चिराकांक्षित दिवस उपस्थित है, किन्तु आज ही मेरी अस्त्र-शिक्षा व्यर्थ हो रही है और माँ के वचनों से भी बन्धन में डाल दिया गया हूँ[2] ।' — इन दो श्लोकों में ही नाटककार भास ने महाभारत के एक सुविस्तृत कथा का संकेत दे दिया है । इससे महाभारतीय असंगति का शमन तो हुआ है, अपितु इस संवेदनशील

१- 'कर्णभार' श्लोक संख्या ७

२- ,, ,, ८

घटना के समावेश से अङ्गीरस करुण में भी अभूतपूर्व तीव्रता आ गयी है ।

अस्त्रशिक्षा-वृत्तान्त का उल्लेख भी पूर्वोक्त दृष्टि से ही किया गया है । अस्त्रशिक्षा का सम्बन्ध युद्ध से है, अतएव उसके विषय में किसी प्रकार के विचार-विमर्श करने के लिए युद्ध का समय ही उपयुक्त है । उसके विषय में चिन्तन की अपरिहार्यता की अनुभूयमानता उस दिन और भी अधिक स्वाभाविक होगी, जिस दिन योद्धा पर ही सेना के संचालन का उत्तरदायित्व आ जाय । इस घटना के उल्लेख से एवं तदनन्तर कर्ण के द्वारा अस्त्रों पर परशुराम के अभिशाप के प्रभाव के परीक्षण से अंगीरस का भी पोषण हुआ है ।

अस्त्रशिक्षा -वृत्तान्त के विषय में और भी एक बात दर्शनीय है । महाभारत में परशुराम से कर्ण स्पष्टतः ब्राह्मण के रूप में अपना परिचय देते हैं-`ब्राह्मणो भार्गवोऽस्मीति गौरवेणाभ्यगच्छत् ।` किन्तु`कर्णभार` का कर्ण अपने को`नाहं क्षत्रिय इति` कहकर परिचय देते हैं ।इस वैषम्य की उद्भावना चरित-नायक के गौरव को अक्षुण्ण रखने के लिए ही की गयी है । इससे कर्ण पर असत्यभाषण का आरोप भी बहुत अंशों तक लघु हो जाता है, क्यों कि कर्ण उस समय तक अपने को सूतपुत्र अर्थात् अ-क्षत्रिय के रूप में ही जानते थे । इससे भास की संवाद-शैली का अपूर्वकौशल भी व्यक्त होता है, क्यों कि कर्ण के द्वारा `नाहं क्षत्रियः` कहलाने से परशुराम भी आश्वस्त हुए और कर्ण भी असत्यभाषण से अलग बचा लिये गये ।

`अलर्क`नामक कीड़ा जो कर्णभार में `वज्रमुख` नाम से अभिहित किया गया है,महाभारतीय कथा में उपलब्ध उसका संवाद एवं उसकी शापमुक्ति की घटना नाटकीय कथानक की दृष्टि से अनुपयोगी होने के कारण इनको समाविष्ट नहीं किया गयी।

अब तक महाभारतीय कथा से`कर्णभार` की जिन घटनाओं का साम्य एवं वैषम्य प्रस्तुत किया गया, रूपक में इन घटनाओं की अवतारणा रस एवं औचित्य की दृष्टि से प्रशंसनीय होने पर भी नाटकीयता की उद्भावना में उनका विशेष सहयोग नहीं है । संवाद में एक ही पात्र के प्राधान्य से नाटकीयता की सृष्टि नहीं हो पाती है । कथानक की गति भी इससे कुछ शिथिल पड़ गयी ।नाटकीयता का समावेश हुआ याचक-वेशी इन्द्र के प्रवेश के अनन्तर । नेपथ्य में सहसा याचक के `महत्तरां भिक्षां याचे` —कहकर पुकारने से रूपक में अब तक छायी हुई समरसता नष्ट

हो जाती है और कौतूहल उत्पन्न होने के कारण कथानक की गति में तीव्रता आ जाती है। इस घटना का मूल-महाभारतीय रूप वनपर्व के 'कुण्डलाहरण' पर्व में प्राप्त होता है, जिसका उल्लेख तृतीय अध्याय में किया जा चुका है। उस घटना की अवतारणा कर्ण की युद्ध-यात्रा के अवसर पर करके नाटककार ने घटना-चयन एवं अपनी शैली की संघटना-शक्ति का उत्कृष्ट परिचय दिया है। 'कुण्डलाहरण' पर्व को नाटकोपयोगी बनाने के लिए भास ने अनेक काट-छाँट की है। महाभारतीय कथा में कर्ण को इन्द्र के आगमन का समाचार पहले से ही ज्ञात हो गया था, किन्तु नाटकीयता की अभिवृद्धि के लिए भास ने कर्ण को इस समाचार से अनभिज्ञ ही दिखाया है। नायक को निःस्वार्थ दानवीर के रूप में चित्रित करने के उद्देश्य से उन्होंने महाभारतीय कर्ण के समान स्वेच्छा से प्रतिदान ग्रहण करते हुए नहीं दिखाया है। महाभारत का कर्ण इन्द्र से कवच-कुण्डल के विनिमय में न केवल एकघ्नी शक्ति माँग लेते हैं, किन्तु कवच-कुण्डल काटने के कारण अपने विकृत हुए शरीर के सौन्दर्य की अक्षुण्णता का वर भी माँग लेते हैं। वस्तुतः इससे महाभारत के कर्ण के दानव्रत की महिमा बहुत अंशों में न्यून हो गयी है। इन घटनाओं का परित्याग करके भास ने नायक के दान-व्रत की महिमा को अम्लान रखा है। उपर्युक्त वैषम्य रहने पर भी इन्द्र की भिक्षा-याचना दोनों में प्रायः एक ही रूप में वर्णित है। शब्दसाम्य भी दोनों में बहुत है। 'कर्णभार' में इन्द्र की ग्लानि के वर्णन में अच्छा मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। देवदूत के द्वारा ऐन्द्री शक्ति भेज कर और ब्राह्मण के अनुरोध के पालन के लिये धार्मिक कर्ण को उसको ग्रहण करने में विवश दिखाकर नाटककार ने महाभारतीय कथा में अपूर्व आस्वाद्यता भर दी है।

'कर्णभार' में सारथि शल्य के प्रति कर्ण का — 'जहाँ अर्जुन है वहाँ मेरे रथ को ले चलो।' — ऐसा वीरोचित वाक्य महाभारत के कर्ण के अनुरूप ही है, किन्तु शल्य का व्यक्तित्व महाभारत से भिन्न है। महाभारत में शल्य पहले तो कर्ण का सारथि बनना ही अपना व अपमान समझते हैं, बाद में दुर्योधन के बहुत अनुनय करने पर किसी तरह कर्ण का सारथ्य स्वीकार कर लेने पर भी, वे श्रीकृष्ण के पास की हुई अपनी प्रतिश्रुति के अनुसार युद्ध के समय कर्ण के चित्त में अवसाद उत्पन्न करने के लिए उसके पौरुष का बारम्बार तिरस्कार करते हैं। शल्य के

व्यक्तित्व को महाभारत से भिन्न रूप प्रदान करने का यही कारण हो सकता है कि यदि कर्णभार में शल्य को महाभारतीय शल्य के समान कर्ण-विरोधी दिखाया जाता ,तो शल्य-कर्ण के संवाद से प्रस्तुत रूपक में जिस संवेदना का संचार हुआ है वह असंभव होता । उस दशा में कर्ण-शल्य के विवाद में रौद्र-रस की अवतारणा करनी पड़ती ,जिससे प्रसंगान्तर-दोष की आशंका के लिए भी अवकाश हो जाता ।

इस प्रकार`कर्णभार` में भास ने महाभारतीय कथा का आधार लेकर भी घटना-चयन में एवं उन घटनाओं को दृश्यरूप में प्रस्तुत करने में अपूर्व सहृदयता का परिचय दिया है ।

महाभारत के`शल्य-पर्व` से लेकर`स्त्री-पर्व` तक विस्तृत कथांश का आधार लेकर भी भास ने`ऊरुभंग` में पूर्व-निर्दिष्ट दोनों रूपकों की तुलना में महाभारत कथा का कम उपयोग किया है । विष्कम्भक में`गदायुद्ध` की सूचना दी गयी है । इस घटना के वर्णन में भास ने अधिकांशत: महाभारत का अनुसरण किया है, फलत: काव्यमय अंश की बहुलता से नाटकीय-कथानक की गति प्राय: अवरुद्ध हो गयी है । गदायुद्ध वर्णन में केवल एक ही वैषम्य प्रस्तुत किया जायाहै -- महाभारत में श्रीकृष्ण के परामर्श से अर्जुन भीम को दुर्योधन के ऊरु पर आघात करने का संकेत देते हैं, किन्तु `ऊरुभंग` में श्रीकृष्ण स्वयं ही भीम को ऐसा संकेत दे देते हैं । आपाततः इस सूक्ष्म वैषम्य का कोई विशेष उद्देश्य प्रतिभात नहीं होता, किन्तु दुर्योधन की मृत्यु में श्रीकृष्ण के इस अपेक्षाकृत अधिक सक्रिय भूमिका ग्रहण करने से आगे दुर्योधन की उक्ति `तेनाहं जगत: प्रियेण हरिणा मृत्यो: प्रतिग्राहित: ।` की संगति बैठ जाती है । दुर्योधन भीम को अपना अपकारी मानता ही नहीं,वह जानता है कि भीम को निमित्त रूप में प्रस्तुत करके श्रीकृष्ण ने ही उसका प्राणा-पहरण किया है । श्रीकृष्ण को अपना संहारकारी व जानकर भी उनके लिए `जगत: प्रियेण हरिणा` - ऐसे शब्दों का प्रयोग कर भास के दुर्योधन ने श्रीकृष्ण के प्रति अपनी भक्ति को प्रकट किया है । इससे दुर्योधन के साथ सामाजिक की सहानुभूति और भी बढ़ जाती है ।

महाभारत में ऊरुभंग की घटना के अनन्तर दुर्योधन और बलराम में किसी प्रकार के कथोपकथन का वर्णन नहीं है । दुर्योधन के प्रति भीम के इस अन्यायपूर्ण

आचरण से बलराम क्रुद्ध अवश्य होते हैं, किन्तु श्रीकृष्ण के द्वारा शान्त किए जाने पर वे द्वारकापुरी की ओर प्रस्थान करते हैं । दुर्योधन के साथ उनका कोई संवाद नहीं होता । भास को दुर्योधन के चरित्र को ऊंचा उठाना था, उसे अपने रूपक के नायक के पद पर प्रतिष्ठित करना था,- अत: उन्होंने दुर्योधन के हृदय की उदात्तता का प्रकाशन करने के लिए गदायुद्ध के अवसर पर दुर्योधन के हितैषी महाभारतीय पात्र बलराम को रोक लिया । मुमूर्षु दुर्योधन के प्रति इतनी अधिक सहानुभूति दिखाने वाले एवं भीम के आचरण से क्रुद्ध होकर उसका संहार करने के लिए उद्यत होने वाले बलराम को छोड़कर अन्य किसी पात्र के उपस्थित किये जाने पर दुर्योधन की इन उदात्त उक्तियों के लिए अवकाश न होता ।

(दुर्योधन -चरित्र को ऊंचा उठाने की प्रेरणा भास को संभवत: महाभारत से ही मिली होगी । ऊरुभंग की घटना के अनन्तर महाभारत में दुर्योधन श्रीकृष्ण के सम्मुख अपने सुकृत्यों की घोषणा करता है, उस समय अन्तरिक्षलोक से उस पर पुष्प-वृष्टि होती है । दुर्योधन की ऐसी महिमा देख कर युधिष्ठिर आदि पाण्डव कुछ दु:खी होते हैं । -- इस प्रकार महाभारत का यह स्थल यदि भास को दुर्योधन के उदात्त गुणों के प्रकाशन के लिए प्रेरणा दे तो आश्चर्य की बात नहीं है । भास ने महाभारत के इस सूक्ष्म संकेत मात्र का आधार लेकर ऊरुभंग की घटना के बाद दुर्योधन के चरित्र का ऐसा उदात्त चित्रण किया कि वह महाभारत के दुर्योधन से कहीं अधिक ऊपर उठ गया । भास का ऐसा दृष्टिकोण `कर्णभार` के कर्ण के विषय में भी परिलक्षित हुआ था, किन्तु इस दृष्टिकोण की परम सफलता उन्हें `ऊरुभंग` की रचना में मिली । रंगमंच पर अपने आहत और रुधिराप्लुत शरीर को घसीटता हुआ दुर्योधन का प्रवेश अत्यन्त नाटकीय है । स्वाभिमानी राजा की इस परम दुर्दशा से पहले ही सामाजिक अथवा पाठक का हृदय द्रवीभूत होता है और आगे जब वे उसके मुख से इस प्रकार की उदात्त उक्तियों को सुनते हैं, तब भास के इस रूपक का चरित्र-नायक जनसाधारण की सहानुभूति का पात्र बन जाता है । भास का प्रयास सफल होता है, क्योंकि बहुविध दुर्बलताओं और असफलताओं से समन्वित अपने चरित्र-नायक को उसकी सहानुभूति एवं स्नेह का पात्र बना देना ही कुशल कलाकार का प्रधान कौशल रहता है ।

दुर्योधन की मूर्च्छित अवस्था में देख कर अश्वत्थामा का क्षोभ महाभारत सदृश ही है, परंतु अश्वत्थामा के रोष को शान्त करने वाले दुर्योधन के अनुनय-भरे वचन महाभारत में नहीं हैं। इसलिए 'ऊरुभंग' में अश्वत्थामा और दुर्योधन के बीच जो संवाद होता है वह महाभारत से भिन्न है। महाभारत में अश्वत्थामा केवल पाण्डवों के आचरण पर ही आक्षेप करते हैं, किन्तु यहाँ उन्हें दुर्योधन की उदारता पर भी आक्षेप करना पड़ रहा है —

" भो कुरुराज !

संयुगे पाण्डपुत्रेण गदापातकचग्रहे ।

सममूरुद्वयेनाद्य दर्पोऽपि भवतः कृतः ।।" ('ऊरुभंग' श्लोक सं. ६२)

यहाँ अश्वत्थामा अकेले हैं, उनके साथ कृप और कृतवर्मा नहीं हैं। दुर्योधन के हृदय में कवि ने पहले ही उदारता भर दी थी, इसीलिए उन्होंने कृप और कृतवर्मा की उपस्थिति को आवश्यक नहीं समझी। कृप और कृतवर्मा महाभारत में अश्वत्थामा के रोष को शान्त करने का प्रयत्न करते हैं, यहां वह कार्य दुर्योधन ही कर रहा है।

'ऊरुभंग' में अश्वत्थामा निशा-समर में पाण्डवों का वध करने के लिए जो प्रतिज्ञा करते हैं वह महाभारत ~~की सम्मति भी~~ का ही अनुसरण करता है, किन्तु महाभारत में उन्हें इस विषय में दुर्योधन की सम्मति भी मिली थी, यहाँ पर दुर्योधन की सम्मति न मिलने के कारण उन्हें दुर्जय को राजा के रूप में अभिषिक्त करना पड़ता है।

दुर्योधन की मृत्यु का दृश्य महाभारत में वर्णित नहीं है। वहाँ केवल इतनी ही वार्ता का उल्लेख है कि अश्वत्थामा के द्वारा उसके सम्मुख पाँच पाण्डवों के पुत्रों के सिर उपस्थित किये जाने पर कुरुराज दुर्योधन शान्ति से प्राण-त्याग करता है, किन्तु 'ऊरुभंग' में दुर्योधन स्वयं ही पाण्डवों को जीवित देखना चाहता है, इस अवस्था में उसे अश्वत्थामा के कार्य से सन्तोष होने के स्थान पर कष्ट ही होता। इसीलिए कवि ने अश्वत्थामा के निशा-समर में प्रस्थान करने से पूर्व ही उसके परलोक-गमन का दृश्य दिखाया है। महाभारत के दुर्योधन की तुलना में भास का दुर्योधन देव-तुल्य ही कहा जायेगा। भास ने बड़े यत्न से उसके चरित्र में उदारता, क्षमाशीलता इत्यादि दिव्य गुणों की स्थापना की है, अतएव भास अपने चरित-नायक को इन्द्र के भेजे हुए दिव्य-विमान में अप्सराओं के द्वारा अभिनन्दित करके स्वर्ग की ओर प्रस्थान करवाते हैं।

'पंचरात्र' में जैसा कि तृतीय अध्याय से स्पष्ट हो गया है कि केवल गो-ग्रहण
की घटना को छोड़कर शेष घटनाएं कवि की अपनी उद्भावना है । जिस परिस्थिति
में भारत-समर का निवारण किया जा सकता था, उसके एक सम्भाव्य हेतु की कल्पना
करके उन्होंने इस रूपक में उसका दृश्य-रूप प्रस्तुत किया है । इसके लिए उन्होंने पाण्डवों
के उभय हितैषी दो महाभारतीय पात्र भीष्म और द्रोण का आश्रय लिया । उन्होंने
कल्पना की कि यदि दुर्योधन को द्रोणाचार्य किसी रूप में वचन-बद्ध कर सकते तो
उसी से आचार्य पाण्डवों को राज्यार्द्ध दिलवाकर भारतयुद्ध का प्रतिरोध कर सकते थे,
किन्तु इसके लिए दुर्योधन में कुछ सरलता एवं धार्मिकता की अपेक्षा होती ।
धर्मभावापन्न होने पर वह अवश्य ही धर्मानुष्ठान में आचार्य की पूजा करता और
सरलता का गुण होने पर आचार्य उसे आसानी से वचनबद्ध कर सकते । अतः रूपककार
को महाभारतीय दुर्योधन की अपेक्षा अपने रूपक के दुर्योधन के चरित्र को ऊँचा उठाना
था, इसके लिए नाटककार ने रूपक के आरम्भ में ही दुर्योधन के द्वारा अनुष्ठित एक
महान यज्ञ का वर्णन किया । इस यज्ञानुष्ठान से दुर्योधन के अन्तःकरण की उत्कृष्टता
दिखाया । कवि ने दुर्योधन के प्रधान सहायकों में से दुःशासन का ग्रहण किया, कर्ण
को उनके स्वभाव की अपेक्षा अधिक उदात्त चित्रित किया । इस प्रकार दुर्योधन के
दुर्बुद्धिदाताओं में केवल शकुनि को ही रखा है । यज्ञान्त-दक्षिणा ग्रहण करने के
लिए दुर्योधन के द्वारा द्रोणाचार्य की अभ्यर्थना करवायी । इस प्रकार अपनी कल्पना
के अनुसार पूर्वपीठिका प्रस्तुत करके द्रोणाचार्य के द्वारा पाण्डवों के लिए राज्यार्द्ध
की प्रार्थना करवायी । शकुनि को इस पर अपने स्वभाव के अनुकूल इसमें विघ्न
उत्पन्न करने के लिए पंचरात्र का शर्त रखते हुए दिखाया है ।

इसी पंचरात्र के शर्त की पूर्ति के लिए महाभारत के गो-ग्रहण के पर्व का
अवलम्बन किया गया है । आपात दृष्टि से गो-ग्रहण का उद्देश्य दोनों रचनाओं
में एक ही है । विराटराज्य में पाण्डवों की अवस्थिति जानना ही दोनों में
गोग्रहण का प्रधान उद्देश्य रहा है । परन्तु वैषम्य इस बात में है कि महाभारत
में दुर्योधन पाण्डवों की अवस्थिति को जानकर उन्हें पुनः वनवास के लिए भेजने की
तीव्र परिकल्पना करता है और 'पंचरात्र' में भीष्म और द्रोण पाँच रातों के
भीतर विराट राज्य में पाण्डवों की अवस्थिति दिखाकर दुर्योधन को पाण्डवों के
साथ राज्यार्द्ध बाँटने की योजना करते हैं ।

इसी प्रकार विराट के गोग्रहण की महाभारतीय घटना को प्रस्तुत में निष्प्रयोजन
समझ कर भी [illegible]-भेद का ध्यान रखकर भास ने अपने रूपक के कथानक में इसे स्थान

नहीं दिया है। केवल शकुनि को छोड़ कर और किसी को प्रतिनायक के रूप में चित्रित करने के संकल्प के कारण अथवा दूसरे शब्दों में शकुनि को छोड़ कर सभी को पाण्डवपक्षपाती दिखाकर आचार्य की इस प्रार्थना में वंचना की आशंका को दूर करने के उद्देश्य के कारण कवि ने उत्तर, विराट आदि पात्रों को महाभारत की अपेक्षा अधिक उदार एवं विनयी दिखाया है। दुर्योधन-चरित्र को ऊँचा उठाने के लिए अभिमन्यु के अपहरण की घटना की कल्पना की है। इससे कथानक में वात्सल्यभाव के उत्कर्षचित्रण के लिए भी अवकाश लो गया है। घटना-ऐक्य के निर्वाह के कारण गोग्रहण-विजय के दिन ही पाण्डवों को अपना परिचय प्रकट करते हुए दिखाया गया है।

भास में यह अपूर्व प्रतिभा थी कि वे महाभारत का आधार न लेकर भी ऐसा महाभारतीय वातावरण प्रस्तुत कर सकते थे कि सहसा देखने पर उनके अ-महाभारतीयत्व पर विश्वास ही नहीं होता। `मध्यमव्यायोग` और `दूतघटोत्कच` में कवि की रचना-शैली का यही वैशिष्ट्य सर्वाधिक मात्रा में दृष्टिगोचर होता है। तृतीय अध्याय में कहा जा चुका है कि इन दोनों रूपकों के पात्र केवल महाभारतीय हैं, कथा महाभारतीय नहीं है, किन्तु भास ने पात्रों के आचरण में, उनकी विचारधारा में तथा उनके आसपास के वातावरण में ऐसी महाभारतीयता भर दी कि सहसा देखने पर ये नाटकीय कथानक महाभारत-प्रसूत ही प्रतीत होते हैं।

चतुर्थ अध्याय में `मध्यमव्यायोग` की नाटकीय कथावस्तु का वर्णन हो चुका है। इस समय उस कथावस्तु की सृष्टि के पीछे भास की प्रेरणा के उत्स-स्वरूप सम्भाव्य उत्स परिस्थिति पर यत्किंचित् विचार करना आवश्यक प्रतीत हो रहा है।

महाभारतकार ने सुभद्रा, द्रौपदी आदि पाण्डव-महिषियों के सुख, दु:ख, क्षोभ इत्यादि पर पर्याप्त ध्यान दिया और समय-समय पर बड़े यत्न के साथ उनका वर्णन भी किया, किन्तु भीम-पत्नी हिडिम्बा के नारी-हृदय की अभिलाषाओं पर उनका ध्यान एक बार के लिए भी आकृष्ट नहीं हुआ। राक्षसी होने पर भी हिडिम्बा के पास एक सुकोमल नारी का हृदय था- इस बात को महाभारतकार ने हृदयंगम नहीं की-ऐसी बात नहीं। महाभारत की हिडिम्बा बलवान् भीम के उग्र रूप पर एक साधारण नारी के समान ही आकृष्ट हुई थी, और अन्तत: अपने प्रेम की निष्ठा से भीम की सहधर्मिणी बनने में सफल भी हुई थी। वस्तुत: भीम के उग्र और अतिबली व्यक्तित्व

के लिए हिडिम्बा ही उपयुक्त अर्द्धांगिनी थी । उसने भीम के अनुरूप बलशाली पुत्र घटोत्कच को जन्म दिया था । द्रौपदी से भी भीम को एक पुत्र उत्पन्न हुआ था किन्तु शक्ति तथा उग्रता में वह भीम का उतना अनुरूप नहीं था, जितना घटोत्कच था । अतएव ऐसे वीर पुत्र की जननी हिडिम्बा के लिए महाभारतकार की लेखनी को एक बार भी क्यों कुछ कहने का अवसर नहीं मिला— यह समझ में नहीं आता। दीर्घकाल तक पति से वियुक्त रह कर उसकी क्या मनोदशा हुई, क्या मनोव्यथा अनुभूत हुई-इसका वर्णन यदि महाभारतकार की इच्छा होती, तो कर सकते थे । इतिहासकार भले ध्यान न दें, किन्तु कवि उससे कहीं अधिक सहृदय होता है । उसका हृदय अधिक संवेदनशील होता है- इसीलिए वह इतिहासकार के द्वारा उपेक्षित किन्तु वर्णन की दृष्टि से महत्वपूर्ण प्रसंगों अथवा पात्रों का सम्भाव्य चित्र खींचकर उन्हें कृतकृत्य कर देते हैं । 'मध्यमव्यायोग' और 'दूतघटोत्कच' की रचना के पीछे भास का संवेदनशील भावुक हृदय ही हेतुरूप में विद्यमान था ।

'दूतघटोत्कच' के कथानक की सृष्टि में भी भास ने अत्यन्त सहृदयता से काम किया है । अभिमन्यु के वध के अनन्तर ऐसी घटना महाभारत में नितान्त दुर्लभ है । अभिमन्यु वध के अनन्तर भगवान वेदव्यास केवल पाण्डव-शिविर में इसकी क्या प्रतिक्रिया हुई- यही दिखाने में व्यस्त रहे । भीष्मवध के बाद कौरवों को इस सफलता पर कितना हर्ष हुआ, संजय के मुख से अपने वंश के एक अर्द्धस्फुटित जीवन को अकाल में विनष्ट होते सुनकर वृद्ध धृतराष्ट्र की कैसी मानसिक उत्कण्ठा हुई, अपने पति को कृष्ण एवं अर्जुन के प्राणतुल्य अभिमन्यु के वध में निमित्तभूत जानकर दु:शला के सुकोमल हृदय क्या दशा हुई- इत्यादि बातों के उल्लेख का अभाव प्रत्येक सहृदय पाठक को अनुभूत होता है। भास ने महाभारतीय कथा की इसी कमी को पूरा करने के लिए कौरव पक्ष में अभिमन्यु-वध की सम्भाव्य प्रतिक्रिया का दृश्य-रूप प्रस्तुत किया ।

महाभारत में व्यास ने धृतराष्ट्र पर इसके प्रभाव का जो संक्षिप्त वर्णन किया है वह पर्याप्त नहीं है । भास ने धृतराष्ट्र पर इसके प्रभाव का जो दृश्यरूप प्रस्तुत किया है वह भी संक्षिप्त है, किन्तु उसी संक्षिप्त वर्णन में उन्होंने इतनी मार्मिकता भर दी है कि उसे पढ़ लेने अथवा देख लेने के बाद पाठक अथवा सामाजिक को उसमें किसी प्रकार की न्यूनता का आभास नहीं होता । पुत्रवत्सल पिता के मुख से निःसृत -'अद्यैव दारयामि वक्षं [illegible]' --यह पंक्ति अत्यन्त मर्मस्पर्शी है । दु:शला के मुख से उच्चरित -' [illegible] वधूं उत्तरायै वैधव्यं दत्वं, तेनात्मनो युवतिजनाय वैधव्यमादिष्टम्-

-इस पंक्ति को पताकास्थान के रूप में प्रयुक्त कर रूपककार ने अपने नाट्यकुशलता का परिचय दिया है । महाभारत में अभिमन्युवध के अनन्तर भयभीत जयद्रथ की व्याकुलता का यत्किंचित् वर्णन फिर भी प्राप्त होता है, किन्तु महाभारतकार को जयद्रथ-पत्नी दु:शला के प्रति ध्यान देने का अवकाश ही नहीं हुआ । उनकी लेखनी केवल कुरुक्षेत्र के योद्धाओं और समरांगण के वर्णन में ही व्यस्त रही,-अकाल-वैधव्य प्राप्त करने वाली अन्त:पुर की ललनाओं के आँसू देखने का उन्हें समय ही नहीं। अर्जुन की भीषण प्रतिज्ञा को सुनकर व्याकुल जयद्रथ की उत्कण्ठा के वर्णन में महा-भारतकार ने पूरा एक अध्याय लिखा, किन्तु दु:शला के लिए एक वाक्य भी उन्होंने नहीं लिखा । भास की सहृदय दृष्टि उसकी उपेक्षा न कर सकी । क्रन्दनरता दु:शला के मुख से भास ने अधिक नहीं केवल तीन ही चार वाक्य[1] कहलवाये हैं, किन्तु इन्हीं अल्पसंख्यक वाक्यों के माध्यम से भास ने अभागिनी राजदुहिता के हृदय का समस्त वैक्लव्य, उत्तरा के प्रति उसकी समानुभूति, अभिमन्यु-वधकारी पति के प्रति उसका क्षोभ—सब कुछ व्यक्त तो कर ही दिया, अपितु जयद्रथ को नेपथ्य में रखकर भी उसकी असहायता का महाभारत से भी अधिक मार्मिक चित्र खींच दिया ।

इसी स्थल पर वेदव्यास और भास के व्यक्तित्व का भेद स्पष्ट होता है । व्यास इतिहासकार और कवि दोनों ही थे । यहीकारण है कि उनके इतिहास में काव्यमयता भी दृष्टिगोचर होती है, किन्तु जहाँ जहाँ उनके इतिहासकार वाला रूप प्रधान हो गया है, वहाँ-वहाँ काव्योपयोगी स्थल कुछ अवहेलित हो गए हैं । यह स्थल उसी का एक उदाहरण है । इतिहासकार व्यास से अनुप्राणित होने पर भी भास का केवल एक ही व्यक्तित्व था । भास केवल कवि थे, व्यास के समान इतिहास-कार और कवि दोनोंनहीं । केवल कवि होने के कारण वे सदा ही मार्मिकता के प्रति सजग रहते थे । इसीलिए व्यास के इतिहास में जहाँ कहीं भी उन्हें संवेदनशीलता के प्रदर्शन के लिए सम्भावना दीखी, वहीं पर कल्पना के रङ्ग के लिये उन्होंने एक अपूर्व संसार की सृष्टि कर दी । `दूतघटोत्कच` में अभिमन्यु की मृत्यु के बाद पाण्डवों के

१-`तेन हि मुहूर्तमात्रं मां तात:, अहमपि गमिष्यामि वत्साम् उत्तरायाः सकाशम् । ++++ तात । एवं च रोदिष्यामि -अकालिकं च ते वैधव्यमभ्युपधारयिष्यामि।+ + + वत्से । पुत्रो मे हतावन्ति पाण्डवानि ।जनार्दनसहायस्य धनंजयस्य विप्रियं कृत्वा को हि नाम जीविष्यति ।` ------`

हृदय में उसका स्थान लेने वाले घटोत्कच का दौत्य,दु:शला का विलाप,`मध्यम-व्यायोग` में भीम और घटोत्कच का संवाद,भीम और हिडिम्बा का साक्षात्कार-आदि इसके प्रमाण हैं ।

भास ने प्रख्यात रूपकों की सृष्टि के लिए अधिकांशत: महाभारत का आधार ग्रहण किया था । अपने पूर्ववर्ती भास की प्रतिभा के प्रति श्रद्धा व्यक्त करने वाले[2] कालिदास ने भी उन्हीं की पद्धति अपना कर अपने तीन रूपकों में से दो रूपकों की रचना के लिये महाभारतीय आधार को ही स्वीकार किया । उनकी `विक्रमोर्वशी` एवं`अभिज्ञान-शकुन्तलम्` दोनों ही कृतियों की कथा महाभारत-प्रसूत है,इसका विवेचन द्वितीय अध्याय में किया जा चुका है ।

`विक्रमोर्वशी` के महाभारतीय स्रोत की परीक्षा करने पर स्पष्ट होता है पुरूरवा ,उर्वशी और आयु— ये तीनोंपात्र महाभारतीय हैं ।पुरूरवा चन्द्रवंश के प्रख्यात नृपति हैं, महाभारतकार ने भी उन्हें अतुल-विक्रमी के रूप में वर्णित किया है ।महाभारत की पुरूरवा से भी इन्द्र का विशेष अनुग्रह दृष्टिगोचर होता है । पुरूरवा और उर्वशी के अनन्य प्रेम के विषय में भी व्यास ने महाभारत में कई स्थानों पर संकेत किया है ।उर्वशी को`वंशजननी`[2] का गौरव मिला हुआ है ।उसने पुरूरवा के ६ पुत्रों को जन्म दिया । उन्हीं में ज्येष्ठ आयु है,जिसका वर्णन कालिदास ने भी किया है ।

`आदिपर्व` के पुरूरवा-उपाख्यान में पुरूरवा को`ऐल` अर्थात् इला का पुत्र कहा गया है, कालिदास ने भी पुरूरवा के लिए कई स्थलों पर इसी शब्द का प्रयोग किया है । विक्रमोर्वशी के पंचम अंक में आयु के बाणपुङ्ख पर उसका परिचय लिखा हुआ था-`उर्वशीसंभवस्यायमैलसूनोर्धनुष्मत:` । पुरूरवा के पितृ-कुल का वर्णन महाभारत में इस प्रकार वर्णित है—`सोमस्य तु बुध: पुत्रो बुधस्य तु पुरूरवा:` कालिदास के`विक्रमोर्वशी` की निम्नलिखित पंक्ति में उपर्युक्त उद्धरण का सर्वथा अनुकरण करके कहा गया है -`संवृत्तं खलु सोमादीनामन्तरस्य` ।

१- `प्रथितयशसां भासकविसौमिल्लकविपुत्रादीनां प्रबन्धानतिक्रम्य वर्तमानकवे: कालिदासस्य क्रियायां कथं बहुमान:` — `मालविकाग्निमित्र` की प्रस्तावना

२- `उर्वशी वंशजननी ---` वनपर्व ४६ वें अध्याय में अर्जुन की उक्ति

उल्टा स्वयं ही उस राजर्षि के प्रति इतना अधिक आकृष्ट हुई कि गन्धर्वराज की उपस्थिति में ही अपने हाव-भाव से उन पर अपनी अभिलाषा व्यक्त कर दी ।

इस प्रकार कालिदास ने महाभारत के वीर्यान्वित नृपति में कनुशील और संयम का समावेश करके उसके स्वरूप में धीरोदात्तता भर दी, जिससे मानवी क्यों दिव्य-नारी के लिए भी वह प्रेमास्पद बन गये । प्रेम की आधारभूमि कालिदास की सभी रचनाओं में उदात्त है,विक्रमोर्वशी के उर्वशी और पुरुरवा का प्रेम उसमें अपवाद नहीं है ।

महाभारत के दिवोदास और माधवी के प्रसंग में संकेतित उर्वशी और पुरुरवा केप्रणय सम्बन्ध का पूर्ण चित्र खींचने के लिए कालिदास ने कल्पना का आश्रय लिया। प्रेम के विकास को रमणीयता के साथ चित्रित करने के लिए उन्होंने उर्वशी की सखी चित्रलेखा की सृष्टि की,प्रेम-पथ की असफलता पोषित करने के लिए औशीनरी की कल्पना की,नाटकीयता कीपराकाष्ठा प्रस्तुत करते हुए उर्वशी को लता-रूप में परिणत करवा दिया । जैसे पहले भी कहा जा चुका है महाभारत में उर्वशी के इस लता-भाव में परिणत होने का कोई उल्लेख नहीं है,संभवत:इस विप्रलम्भ की कल्पना के लिए कालिदास ऋग्वेद अथवा शतपथ ब्राह्मण के ऋणी हैं । यदि ऐसा हो तो भी इस विप्रलम्भ में कालिदास की प्रतिभा का स्पर्श- स्पष्ट दर्शनीय है ।यह विप्रलम्भ का दृश्य ही 'विक्रमोर्वशी' का सर्वस्व है । इस दृश्य की नाटकीयता, इसकी काव्यमयता और इसकी गीतात्मकता की प्रशंसा में पाश्चात्य विद्वानों की लेखनी भी मुखर हो उठी है । इस दृश्य से कालिदास का प्रेमादर्श भी प्रतिष्ठित हुआ है । विरहानल में उर्वशी-पुरुरवा के प्रेम को तपाकर उन्होंने उन्हें'संगमनीय' का पुरस्कार दिया और अन्त में प्रेम के प्रतिष्ठा-स्वरूप आयु के वृत्तान्त की संयोजना की । इन्द्र के आदेश का ध्यान कर प्रेमी-युगल दूसरी बार की अग्निपरीक्षा देने के लिए प्रस्तुत हुए किन्तु भी वे अपने कर्तव्य को नहीं भूले ।पुरुरवा ने प्रजा का ध्यान करके आयु के अभिषेक का उद्योग किया और उर्वशी इन्द्र के द्वारा स्वयं दिए हुए आदेश का स्मरण कर विवश होकर प्रियतम को छोड़ स्वर्ग की ओर प्रस्थान करने को उद्यत हुई । प्रेम में कर्तव्य की ऐसी निष्ठा होने के कारण ही इन्द्र को भी अपने शब्द लौटा लेने पड़े । महाभारत के पुरुरवा को ऋषियों का अभिशाप मिला था, कालिदास के पुरुरवा को देवर्षि ने आशीर्वाद दिया-'अविरहितो दम्पती भूयास्ताम्'।--कालिदास को महाभारत से कथा का अल्पभाग मिला था और उन्होंने उसको ऐसा अपूर्व रूप प्रदान किया- इसका विचार करके कौन उनकी प्रतिभा पर मुग्ध न होगा।

'शाकुन्तल' की रचना में कालिदास ने व्यास से पूरा वायभाग ग्रहण किया है। 'विक्रमोर्वशी' के समान 'शाकुन्तल' महाभारत के कुछ बिखरे हुए स्वल्पसंख्यक श्लोकों से ध्वनित प्रेमकथा पर आधारित नहीं है, किन्तु महाभारत के एक विशिष्ट उपाख्यान पर आधारित है। फिर भी वैशिष्ट्य यह है कि पूरा उपाख्यान सामने रहने पर भी उन्होंने अपनी 'अपूर्व-वस्तु निर्माणक्षमा प्रज्ञा' रूप प्रतिभा की नव-नव उन्मेषशालिनी शक्ति का उपयोग कर उस प्राचीन उपाख्यान को एक अभिनव और रमणीयतर कलेवर प्रदान किया है। प्राचीन समस्त उपादानों को अपनी आनन्दघन हृदयवृत्ति की सहायता से पूर्णरूपेण अपना बना लिया है। यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि मुनि वेदव्यास की अपेक्षा कवि कालिदास की लेखनी मानव की रागात्मक चित्तवृत्ति पर अधिक रमी है। इसीलिए कालिदास-कृत प्रेमी-हृदयों के विश्लेषण में भी वेदव्यास के विश्लेषण से अधिक स्वाभाविकता आ पायी है।

महाभारत के 'शकुन्तलोपाख्यान' के साथ 'शाकुन्तल' की तुलना करने पर कालिदास के अपूर्व रचनाकौशल एवं कलाभिज्ञत्व का ज्ञान स्वतः ही हो जाता है। किन्तु इतना होने पर भी महामहोपाध्याय मिराशी जी ने महाभारतीय कथा पर जो आक्षेप प्रकट किया है, वह भी ग्राह्य प्रतीत नहीं होता। मिराशी जी का कहना है कि महाभारत की सीधी-सादी, वैचित्र्यहीन कहानी बांचने पर यदि किसी से कहा जाय कि उसमें से संसार की एक उत्कृष्ट नाट्य-कृति की रचना हुई है तो उसे इस पर विश्वास न होगा। महाभारतकार की प्रतिभा पर इतना बड़ा आक्षेप तो कुछ अतिरंजित ही प्रतीत होता है। जिस लोकस्रष्टा मुनि ने पंचमवेद-स्वरूप पुण्य ग्रन्थ की रचना की, उनकी प्रतिभा के विषय में ऐसा सन्देह कदापि नहीं हो सकता। जिसकी विशाल कृति ने अगणित साहित्यसेवियों को कृतार्थ कर दिया है, उस विराट प्रतिभावान् के साथ तो किसी की तुलना ही नहीं हो सकती। 'शकुन्तलोपाख्यान' 'शाकुन्तल' से अधिक रमणीय सृष्टि भले न हो किन्तु सर्वथा वैचित्र्यहीन भी नहीं है। जो कुछ न्यूनता है, वह इसलिये है कि शकुन्तलोपाख्यान महाभारत की आधिकारिक कथा नहीं है, इस तरह के असंख्य उपाख्यान महाभारत में भरे पड़े हैं। यदि यह आधिकारिक कथा में अन्तर्भुक्त होती तो महाभारतकार उस पर अवश्य ही अधिक ध्यान देते, अधिक दत्तचित्त होते। 'महाभारत का दुष्यन्त लम्पट है' - ऐसा

कटाक्ष प्राय: प्रत्येक आलोचक ने किया है, किन्तु महाभारत के आदिपर्व के अन्तर्गत संभवपर्व के जिस अध्याय से 'शकुन्तलोपाख्यान' प्रारंभ होता है, कम से कम उसमें तो दुष्यन्त के गुण ही गुण दृष्टिगोचर होते हैं। यही नहीं, कई गुणों के सम्बन्ध में तो कालिदास भी महाभारतकार का अनुसरण करते ही दिखायी पड़ते हैं। दुष्यन्त के सुशासन[1] की जो ध्वनि शाकुन्तल के प्रथम अंक के 'क: पौरवे वसुमतीं शासति ---' इत्यादि श्लोक से मिलती है, वह महाभारत की 'न पापकृत्कश्चिदासीत्तस्मिन्राजनि शासति'-इत्यादि पंक्ति का ही अनुसरण करती है। शकुन्तला क्षत्रिय कन्या है अथवा नहीं, उस सम्बन्ध में दुष्यन्त का वितर्क, और अन्त में आत्मप्रत्यय से उसका निर्णय—इत्यादि बातों[2] में भी 'शाकुन्तल' महाभारत के 'शकुन्तलोपाख्यान' से प्रभावित प्रतीत होता है। शाकुन्तल में दुष्यन्त की वीरता, सहिष्णुता आदि के जो निदर्शन मिलते हैं, उसका संकेत महाभारत में भी है। महाभारत के शकुन्तलोपाख्यान के सठिक मूल्यांकन के लिए ही तृतीय अध्याय में उसका यथासंभव विस्तृत विवरण दिया गया है, उससे महाभारत के दुष्यन्त के सम्बन्ध में प्रचारित भ्रान्त धारणाओं का भी उन्मूलन हो जायेगा। 'शाकुन्तल' महाभारतीय कथा से उच्चतर साहित्यिक रचना तो है ही, उसके लिए महाभारतीय कथा को अनावश्यक रूप से हेय प्रतिपन्न करने की आवश्यकता नहीं। कालिदास की गौरवमयी कृति अपनी महिमा से स्वत: ही मण्डित है, उसके लिए महाभारतीय कथा के गुणों को छिपाकर केवल असंगतियों का उल्लेख करना व्यर्थ है। यदि कालिदास की भावधारा में महाभारत का कुछ भी प्रभाव है, उसे मुक्तकण्ठ से स्वीकार करके भी कालिदास की अतुल महिमा का वर्णन किया जा सकता है। इस अध्याय के प्रारम्भ में ही कहा जा चुका है कि प्रभावग्रहण उत्तम कवि की प्रतिभा के लिए दुर्बलता का परिचायक नहीं है, वह उस कवि की ग्रहण-शक्ति एवं परिपाक शक्ति की बलिष्ठता को प्रमाणित करने वाली कसौटी है।

१- द्रष्टव्य - शाकु० १।२१ ।।

२- ,, - महाभारत -आ०५०० श्लोक संख्या १२ तथा 29 (Edited by T.R. Krishnacharya and T.R. Vyasacharya Nirnay Sagar Press Bombay 1906)

महाभारत का दुष्यन्त कामुक है, यह सत्य है किन्तु कालिदास का दुष्यन्त कामुक नहीं है -- ऐसी घोषणा भी दृढ़तापूर्वक नहीं की जा सकती। कालिदास के दुष्यन्त की कामुकता के प्रमाण यदि देखना हो तो स्व० द्विजेन्द्रलालराय[1] की आलोचना पढ़ना ही पर्याप्त है। इतना अवश्य है कि कालिदास का दुष्यन्त आपात दृष्टि से महाभारत के दुष्यन्त से कम कामुक प्रतीत होता है। इस प्रतीति के पीछे दोनों रचनाओं के रुचिगत एवं काल-सम्बन्धी पार्थक्य के हेतु विद्यमान हैं। व्यास प्रधानतः इतिहासकार थे, उनका युग भी कालिदास के युग की अपेक्षा कम कृत्रिम था, किन्तु कालिदास मुख्यतः कवि थे और कवियों में भी कवि-कुलगुरु थे,- अतः अत्यन्त सहृदयता के साथ उन्होंने दुष्यन्त की कामुकता पर रागानुभूति का एक आवरण चढ़ाने का प्रयत्न किया। महाभारत में काव्यतत्त्व बहुत है, तभी उसकी गणना श्रव्यकाव्य में भी हो जाती है, किन्तु उसका प्रमुख परिचय इतिहास के रूप में ही है। उसके इस इतिहास-स्वरूप के अन्तर्गत राजनीति आयी है, समाजनीति आयी है, धर्मनीति आयी है और उन्हीं के बीच उसका काव्यत्व भी प्रस्फुटित हुआ है। अतएव काव्यत्व महाभारत का प्रमुख तत्त्व नहीं है। इतिहास होने के नाते उसमें वर्णित घटनाओं के सत्य पर ही अधिक ध्यान दिया गया है, वर्णना-सौन्दर्य पर इतना नहीं। इतिहास का प्रयोजन व्युत्पत्ति है, किन्तु साहित्य का प्रयोजन इससे उच्चस्तर का है। साहित्य की तुलना तो केवल पुष्प से हो सकती है--पुष्प के समान वह सत्य है, सुन्दर है। देवता के चरणों में अपने को न्योछावर कर कृतकृत्य होने वाले पुष्प के समान साहित्यकी चरम [illegible] सार्थकता 'शिवम्' में है। 'शाकुन्तल' की गणना साहित्य के सर्वोत्तम पुष्प के रूप में होती है, अतः महाभारतीय उपाख्यान से उसके केवल बाह्य कलेवर में ही नहीं, आदर्श में भी तारतम्य होना स्वाभाविक है।

यदि महाभारत को काव्य मान भी लें, तो भी 'शाकुन्तल' और शकुन्तलोपाख्यान' की बराबरी नहीं हो सकेगी, क्यों कि दृश्यकाव्य होने के कारण उसकी शिल्पविधि में भिन्नता होगी और 'काव्येषु नाटकं रम्यम्' इस रीति से वह उच्चतर साहित्य में परिगणित होगा। फिर नाटकों में भी 'शाकुन्तल' की ख्याति से 'तत्रापि च रम्या शकुन्तला' वाली उक्ति तो सर्वजनविदित है ही।

१- द्रष्टव्य-'कालिदास और भवभूति' लेखक -स्व०द्विजेन्द्रलाल राय

विविध रूपों के रूपगत तथा रचयिताओं की वैयक्तिक प्रतिभा सम्बन्धी पार्थक्य के अतिरिक्त एक और पार्थक्य है- वह है युग-धर्म का पार्थक्य। जिस युग की कथा का आधार लेकर कालिदास ने अपने रूपक की रचना की है, उस युग के जीवन के साथ कवि का निविड़-सम्पर्क नहीं था, फलस्वरूप शाकुन्तल की कथावस्तु को प्रस्फुटित करने के लिए जो वातावरण प्रस्तुत किया गया है, उसमें उनके अपने युग का प्रभाव स्वाभाविक रूप से ही आ गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि कालिदास ने जान-बूझकर ही अपने युगधर्म के साथ उस प्राचीन युगधर्म का संमिश्रण कर दिया है। प्राचीन को अपने काव्य में अपनाते समय उनके जैसे प्रतिभावान् एवं सहृदय के लिये समसामयिक जीवन की पटभूमि की उपेक्षा करना संभव न था। प्राचीनता के अंगों पर नवीनता का ऐसा आवरण चढ़ाना आसान नहीं है। परन्तु कालिदास उसमें भी आशातीत सफल हुए। हाँ, कहीं-कहीं इसके कारण दोष भी उत्पन्न हो गया है, उदाहरणार्थ-`विक्रमोर्वशी` में पुरूरवा की परिचारिका के रूप में यवनी स्त्री[1] के उल्लेख से काल-दोष` का प्रसंग हो गया है। इसी प्रकार दुष्यन्त की राजधानी के रूप में `हस्तिनापुर` का उल्लेख भी असंगति उत्पन्न करता है। दुष्यन्त की बहुत बाद की पीढ़ी में `हस्ती` नामक एक सोमवंशीय नृपति ने[2] प्रतिष्ठानपुर को छोड़कर नवीन राजधानी की स्थापना की। उन्हीं के नाम से वह `हस्तिनापुर` कहलाती थी।

व्यास के युग से कालिदास के युग तक आते आते साहित्य की धारा अधिक परिमार्जित हो गयी थी। कालिदास का युग व्यास के युग की अपेक्षा अधिक संवारा हुआ था, उसमें नागरिकता अधिक थी। कालिदास की रचनाओं पर उनके युगधर्म का प्रभाव पड़ा। उधर महाभारत `आरण्यक` साहित्य के निकटवर्ती युग में रचित हुआ था, उस युग में विचार अथवा शैली को सजाने-संवारने की अधिक आवश्यकता नहीं समझी जाती थी। जीवन अकृत्रिम था, भावाभिव्यक्ति भी सीधी-सादी हुआ करती थी, दूसरे शब्दों में नागरिकता की मात्रा कम थी। इसीलिए महाभारत के `शकुन्तलोपाख्यान` और कालिदास के शाकुन्तल नाटक की भावाभिव्यक्ति की शैली में महान् अन्तर है। एक ही बात व्यास ने भी कही और कालिदास ने भी,-

---

१- द्रष्टव्य- विक्रमोर्वशी पञ्चम अंक पृ.सं. 122 (Ed. By Dr. H. N. Karnik and Prof. S. G. Desai) (Bombay 1959)

२- ,, - महाभारत आदिपर्व ९५ अध्याय - "दुष्यन्तः खलु विश्वामित्रदुहितरं शकुन्तलां नामोपयेमे तस्यामस्य जज्ञे भरतः ॥२७॥ ---- भरतः खलु काशेयीमुपयेमे सार्वसेनीं सुनन्दां नाम तस्यामस्य जज्ञे भुमन्युः ॥३२॥ भुमन्युः खलु दाशार्हीमुपयेमे विजयां नाम। तस्यामस्य जज्ञे सुहोत्रः ॥३३॥ सुहोत्रः खल्विक्ष्वाकुकन्यामुपयेमे सुवर्णां नाम तस्यामस्य जज्ञे हस्ती; य इदं हास्तिनपुरं स्थापयामास। तदस्य हास्तिनपुरत्वम्।"

परन्तु जहाँ व्यास ने अपने वक्तव्य को सीधे-सादे ढंग से अधिकतर वाच्य रूप में ही कह दिया, वहाँ कालिदास ने उसी को व्यंजना से, मद्गुणीभणित से कह कर उसमें एक अभूतपूर्व चमत्कार भर दिया । इसीलिए महाभारत के आदि-पर्व के ५८८ श्लोकों में परिव्याप्त 'शकुन्तलोपाख्यान' में हमें यत्र-तत्र अनावश्यक पुनरावृत्ति, अप्रासंगिक वर्णन, दीर्घ और अनाकर्षक वाद-विवाद, कही हुई बातों का विरोध तथा असम्भाव्य एवं अरमणीय प्रसंगों का दर्शन होता है । दुष्यन्त के वन से वनान्तर में मृगया के वर्णन में तथा राजसभा में दुष्यन्त के साथ शकुन्तला के विवाद में अनावश्यक पुनरावृत्ति दृष्टिगोचर होती है । दुष्यन्त और शकुन्तला का वाद-विवाद दीर्घ होने के साथ-साथ अनाकर्षक भी है । शकुन्तला को तपस्या के तेज से युक्त एक संयमी तापसी के रूप में वर्णन कर[1] आगे उसका तादृश प्रेम-व्यापार, उसकी राजमाता बनने की लालसा एवं उसका शर्त इत्यादि कुछ परस्पर विरोधी सी प्रतीत होते हैं । दुष्यन्त के साथ परिणय के तीन वर्षों के बाद शकुन्तला की पुत्रोत्पत्ति की घटना असम्भव-सी प्रतीत होती है । इसी प्रकार शकुन्तला के मुख से उसी के जनक और जननी की प्रेमलीला का दीर्घ और नग्न वर्णन अरमणीय प्रतीत होता है । —कालिदास ने महाभारतीय कथा की इन त्रुटियों को तथा इन असंगतियों को दूर कर, उसी की रूपरेखा में एक नवीन जीवन का संचार किया । कालिदास की प्रतिभा का स्पर्श पाकर महाभारत के 'शकुन्तलोपाख्यान' का जीर्ण[2] कलेवर यौवनोज्ज्वल और रमणीय बन गया । महाभारत में जनमेजय के पूछने पर वैशम्पायन को उनके कौतूहल-प्रश्न के लिए भरत की उत्पत्ति तथा दुष्यन्त-शकुन्तला की प्रेम-गाथा सुनानी पड़ी । अतः उनके पास अपने वक्तव्य में कल्पना-सौन्दर्य का समावेश करने के लिए न अवसर था और न वह अभीष्ट ही था । केवल जनमेजय का कौतूहल मिटाना ही ध्येय था । किन्तु कालिदास का ध्येय दूसरा था । उन्हें इस कथा का आश्रय लेकर एक नाटक लिखना था, और परमानन्द-रूप रसास्वादन नाटक का प्राण होने के कारण उसे कल्पना-सौन्दर्य से सरस भी

१- [illegible] तपसा च दमेन च

२- जनमेजय उवाच-

संभवं भरतस्याहं चरितं च महामतेः ।
शकुन्तलायाश्चोत्पत्तिं श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ।।
दुष्यन्तेन च वीरेण यथा प्राप्ता शकुन्तला ।
तं वै पुरुषसिंहस्य भगवन्विस्तरं त्वया ।
श्रोतुमिच्छामि तत्त्वज्ञ सर्वं मतिमतां वर ।। महाभारत-(Ed. T. R. Krishnachary) आदिपर्व ६८ अध्याय

[illegible] बनाना था,-उनकी अनन्य प्रतिभा को भी यही अभीष्ट था । उन्होंने महाभारतीय उपाख्यान के नायक-नायिका के जीवन के कटु सत्य पर सहानुभूति का मधुर प्रलेप चढ़ाकर उन्हें सहृदय सामाजिक के सम्मुख `नाटक` प्रकार के उत्कृष्ट दृश्यकाव्य के आदर्श नायक-नायिका के रूप में प्रस्तुत किया । अपने ध्येय की सिद्धि के लिए उन्होंने `अभिज्ञान` और `दुर्वासा-शाप` की कल्पना की ।

जिस प्रकार महाभारत के उपाख्यान में शकुन्तला के चरित्र को प्राधान्य दिया गया है, उसी प्रकार कालिदास के नाटक में भी नायिका को ही प्रधानता मिली है । महाभारत में व्यास ने इस उपाख्यान का नाम दिया था `शकुन्तलो-पाख्यान`, कालिदास ने अपने रूपक का नामकरण किया-`अभिज्ञान-शाकुन्तलम्`। महाभारतीय उपाख्यान के समान ही कालिदास के नाटक का केन्द्रबिन्दु शकुन्तला ही है, उसी के सहारे कथावस्तु आगे बढ़ती है और अन्त तक पहुँचती है । चूँकि अंगूठी की घटना कालिदास की अपनी उद्भावना है, इसलिए महाभारत के शीर्षक के साथ उन्होंने `अभिज्ञान` शब्द को जोड़कर अपनी रचना का नाम [illegible] `अभिज्ञान-शकुन्तला` रखा। इस `अभिज्ञान` शब्द के संयोजन के माध्यम से उन्होंने उस प्राचीन कथा के अभिनव वैशिष्ट्य को सूचित किया । सच है, `शाकुन्तल` नाटक में जो कुछ नूतनत्व अथवा वैशिष्ट्य है, सब इसी अभिज्ञान की घटना पर आधारित है । महाभारत का `शकुन्तलोपाख्यान` `शाकुन्तल` नाटक के पाँच ही अंकों का आधार बन सकता है षष्ठ और सप्तम अंक की आधारशिला तो यही अभिज्ञान की घटना है । सहृदय सामाजिक इस अभिज्ञान वृत्तान्त की संयोजना के कारण ही चिरपरिचित कथा में भी `विगलित वेद्यान्तर` होकर नूतनता के आनन्द का आस्वादन करते हैं ।

अभिज्ञान के समान ही दुर्वासा-शाप की कल्पना भी कालिदास की अनन्य प्रतिभा की देन है । दुर्वासा के शाप के कारण दुष्यन्त ने अपनी पत्नी को नहीं पहचाना। गम्भीरता जो धीरोदात्त नायक का महान लक्षण है, उसी के कारण संशयमग्न होकर उसने परस्त्री की प्राप्ति से अपनी विवाहिता पत्नी को ग्रहण करने में विमुखता दिखायी । इस प्रकार, दुष्यन्त के द्वारा शकुन्तला के प्रत्याख्यान की घटना दोनों रचनाओं में विद्यमान होने पर भी कालिदास के नाटक में दुर्वासा शाप की कल्पना के कारण नायक की धीरोदात्तता अक्षुण्ण रही और उसके अभाव में महाभारतीय उपाख्यान के नायक के चरित्र को प्रत्याख्यान की घटना से धीरोदात्तता

का आरोप लगा । दुर्वासा-शाप की संयोजना से कालिदास ने अपने चरित नायक को असत्य-भाषण के दोष से बचा लिया । यहीं पर इतिहास और नाटक के संविधान की भी बातें आ जाती हैं । दुर्बलचरित दुष्यन्त के चरित्र की न्यूनता के प्रदर्शन से भी महाभारतीय कथा में कोई क्षति नहीं पहुँचती, क्यों कि व्यासने अपने `शकुन्तलोपाख्यान` के शुरू के अध्याय में दुष्यन्त के अलौकिक गुणों का वर्णन करने के बाद उसका पतन दिखाने के माध्यम से इस सत्य का उद्घाटन किया कि महापुरुषों को भी प्रमाद हो जाया करता है, उनके भी चरण कहीं कहीं स्खलित हो जाते हैं । अत: महाभारत में दुष्यन्त-चरित्र का यथातथ्य वर्णन करना सम्भव हुआ । परन्तु नाटक में यह संभव नहीं, क्यों कि रसप्राण नाटकों के आधार-स्वरूप नायक की दु:शीलता से रसास्वादन में बाधा उपस्थित होती है । अतएव जिन बातों से रसास्वादन में विघ्न उत्पन्न होता है उनका परित्याग कर कथान्तर की कल्पना करने का विधान है । इस विषय में ध्वनिकार की उक्ति दर्शनीय है --

`इतिवृत्तवशायातां कथंचिद्रसाननुगुणां स्थितिं त्यक्त्वा पुनरुत्प्रेक्ष्याप्यन्तराभीष्टरसोचितकथोन्नयो विधेय । यथा कालिदासप्रबन्धेषु यथा च सर्वसेनविरचिते हरिविजये । यथा च मदीय एवार्जुनचरिते महाकाव्ये । कविना प्रबन्धमुपनिबध्नता सर्वात्मना रसपरतन्त्रेण भवितव्यम् । तत्रेतिवृत्ते यदि रसाननुगतां स्थितिं पश्येत् तां भंक्त्वाऽपि स्वतंत्रतया रसानुगुणं कथान्तरमुत्पादयेत् ।`

दुर्वासा के शाप की घटना केवल दुष्यन्त के चरित्र को ही ऊँचा नहीं उठाती, अपितु दोनों के प्रेम को वासनायुक्त करने में भी सहायक सिद्ध होती है । दुर्वासा-अभिशाप के ताप ने ही शकुन्तला के प्रेम को तपाकर उसे हेमकूट पर्वत पर उसके कल्याणमयी भरत-जननी के रूप में प्रकट होने में सहायता की है । शकुन्तला अब तक दुष्यन्त की प्रिया और प्रेयसी थी, परन्तु दुर्वासा-शाप के अनन्तर वह क्षमाशीला, व्रतशीला, उदारहृदया, दुष्यन्त के वंश की अधिष्ठात्री देवी बन गयी । दुर्वासा के शाप से पहले शकुन्तला अपने प्रेम में इतनी निमग्न हो गयी थी कि उसके तन-मन दुष्यन्त के अतिरिक्त और कुछ जानते ही नहीं थे । उसका चित्त केवल दुष्यन्त पर लगा हुआ था, जिससे सारा जगत् उससे उपेक्षित हो गया था । उपेक्षित अतिथि-देवता के क्रोध की अग्नि में तप कर उसका प्रेम विशुद्ध हुआ, दृष्टि प्रसारित हुई और हृदय उदार हुआ । अन्त में जब इसी शाप के निवारण में दोनों अवनत हुए तब उसका पारस्परिक दोष दूर

रोपण करने के स्थान पर उसमें सहानुभूति भावापन्न होकर दैव की दुर्निवार गति पर आक्षेप करने में विवश हो जाते हैं । प्रथम अंक में सखियों का विश्रम्भालाप ,दुष्यन्त का आविर्भाव,दुष्यन्त-शकुन्तला की परस्पर के प्रति प्रेमाभिव्यक्ति, द्वितीय अंक में नायक और विदूषक का संवाद,तृतीय अंक में मदन लेख की घटना एवं प्रेमीयुगल का मिलन , चतुर्थ अंक में शकुन्तला की पतिगृह की ओर यात्रा करना, पंचम अंक में राजा के समक्ष गौतमी शार्ङ्गरव और शारद्वत से परिवृत होकर शकुन्तला का आगमन --आदि घटनाओं के माध्यम से कालिदास ने महाभारतीय कथा को अपना कर उसमें एक अभूतपूर्व नवीनता ला दी है ।

पात्रों की संख्या में महाभारतीय कथा से वैषम्य है । मूलकथा में केवल चार ही पात्र हैं- दुष्यन्त,शकुन्तला,भरत तथा काश्यप । नाटकीयता लाने के लिए इनमें इन चार पात्रों के अतिरिक्त और भी पात्रों की आवश्यकता थी । अत: कालिदास ने नायिका की दो सखियाँ--अनसूया और प्रियम्वदा की कल्पना की,कण्व की अनुपस्थिति में तपोवन में प्रौढ़ा गौतमी की कल्पना करके तपोवन की मर्यादा को अक्षुण्ण रखा,निर्दोष कन्या शकुंतला को शाप देने के लिए चिरपरिचित कोपनशील दुर्वासा का उचित नियोजन किया,शकुन्तला को पतिगृह तक पहुँचाने के लिए शार्ङ्गरव और शारद्वत जैसे दो विशिष्ट चरित्रों की कल्पना की,दुष्यन्त के हृदय के गोपनतम अन्तर्द्वन्द्व को स्वाभाविक रूप से व्यक्त करने के लिए तथा नाट्यशास्त्र के नियमानुसार माधव्य नामक विदूषक चरित्र की अवतारणा की ।अपने समसामयिक युग की झाँकी दिखाकर लोकरुचि को आह्लादित करने के लिए तथा पुरातन में नूतनत्व का समावेश करने के लिए सेनापति,धीवर,पुलिस,के अधिकारी तथा राजश्यालक आदि पात्रों की अवतारणा की । जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि षष्ठ और सप्तम अंक की कथावस्तु पूर्णत: अभिज्ञान की घटना पर आधारित है, अत: इन दोनों अंकों के प्राय: सभी पात्र प्रख्यात न होकर कालिदास के कल्पना-प्रसूत ही दृष्टिगोचर होते हैं । मातलि,मारीच,अदिति, दोनों तापसी कालिदास के ध्येय को सुसम्पन्न करने की सहायता से ही रंगमंच पर अवतरित होते हैं ।दुर्वासा-शाप की परिणति तथा पार्थिव प्रेम की अपार्थिवता का साक्षात्कार कराने वाली कालिदास के प्रेमादर्श की सरणि के निर्माण के लिए इन पात्रों की आवश्यकता अपरिहार्य थी ।

पात्रों के प्रसंग में एक और तत्व का उल्लेख अनिवार्य है। उस तत्व ने संयोग इस नाटक को विश्व-विश्रुत करने में बहुत सहयोग दिया है, रंगमंच पर गतिशील देहधारी पात्र न होकर भी उसके पात्रत्व का उल्लेख उपेक्षणीय ही नहीं, किन्तु अनिवार्य है - वह है प्रकृति। ऐसा प्रतीत होता है कि कालिदास की रचनाएँ जिन महान् गुणों के कारण पाठक अथवा दर्शक के हृदय को आकृष्ट करती हैं,- उनमें से सबसे प्रधान गुण है उनकी रचनाओं में वर्णित बहि:प्रकृति के साथ मानव के अन्त:करण की गंभीर आत्मीयता। भारतीय-मन के साधारण विश्वास में बहि:प्रकृति पूर्णत: जड़ कभी नहीं रही है। प्राचीन भारतीय मनीषियों ने भी प्रकृति के पीछे सदा चेतन की लीला का अन्वेषण किया है, प्रत्येक जड़ मूर्ति के पीछे एक देवता की कल्पना की है। वास्तव में यह भारतीय अद्वयवाद का ही एक विशिष्ट प्रकाशन है। यह अद्वयवाद केवल दार्शनिक विचारधारा के माध्यम से ही अभिव्यक्त नहीं हुआ, किन्तु कवियों की काव्य-दृष्टि में भी इसकी अतीव रमणीय अभिव्यक्ति परिलक्षित होतीहै। अद्वयवाद का प्रथम सूत्रपात वैदिक साहित्य में हुआ, उसका प्रथम विवर्तन आरण्यक और उपनिषदों में दिखायी पड़ा-- और तत्पश्चात् रामायण-महाभारत तथा कालिदास प्रमुख कवियों की कृतियों से लेकर आधुनिक युग की प्रान्तीय भाषाओं के साहित्य में भी उसका बराबर विकास दृष्टिगोचर हो रहा है। भारतीय-विश्वास के अनुसार जड़प्रकृति भी सुख-दु:ख से युक्त है। इस विश्वास के पीछे भारतीय मन की दार्शनिक विचारधारा हेतु रूप में विद्यमान है, जिस विचारधारा में सारी सृष्टि को उसी एक से उत्पन्न और उसी के विवर्तन के रूप में देखा जाताहै। कालिदास के काव्यगत प्रकृति-चित्रण का प्रेरणास्थल संभवत: उनका यही आत्म-दृष्टिकोण ही था। शाकुन्तल के नान्दी श्लोक में ही उनकी इस दार्शनिक दृष्टिकोण की व्याख्या हो जाती है --" जल रूपी आदि सृष्टि, विधिहुत हवि को वहन करने वाले अग्नि, होता, दिवा-रात्रि रूप काल को धारण करने वाले चन्द्र-सूर्य, श्रुति का विषयभूत, विश्वव्यापी आकाश, सर्वबीज की प्रकृति-स्वरूपा क्षिति, जिससे प्राणी प्राणवन्त हो उठते हैं, ऐसी वायु-- ये आठों उसी एक के आठ प्रत्यक्ष प्रत्यक्ष तनु हैं। इसी विचारधारा से प्रेरित होकर कालिदास ने अपने नाटकों में विश्वप्रकृति का मानवीकरण किया है। अपने नाटकों में उन्होंने अन्यान्य पात्रों के समान ही कथावस्तु की प्रगति में प्रकृति का भी

योगदान दिखाया है । शाकुन्तल की नायिका निसर्गकन्या है, अत: प्रकृति की इस नाटक में कोई भूमिका न हो-- यह बात कैसे हो सकती है ।प्रकृति के साथ नायक अथवा नायिका की गम्भीर आत्मीयता कालिदास की दोनों नाट्यकृतियों में दृष्टि-गोचर होती है । अभिज्ञान-शाकुन्तल के चतुर्थ अंक में आश्रम-प्रकृति सजीव होकर एक नाट्यवर्णित चरित्र का ही रूप धारण करती है ।एक ओर आश्रम-प्रकृति चेतन धर्म से उज्जीवित होती हुई चित्रित की गयी है, दूसरी ओर कवि के द्वारा शकुन्तला भी जितना हो सके प्रकृति के निकट लायी गयी है । नाटक के प्रथम अंक में जहाँ आश्रम की तरु-लताओं के आलवाल में जल-सेचन करती हुई शकुन्तला कहती है-- `ण केवलं तादणिओओ एव्व, अत्थि मे सोदरसिणेहो एदेसु` - वहीं पर चतुर्थ अंक की पूर्वपीठिका प्रस्तुत हो जाती है । प्रकृति के अंक में परिवर्द्धित तरुलता, पशु-पक्षी सभी के साथ वल्कल-परिहिता शकुन्तला का आरम्भ से ही एक सजातीयत्व, एक सोदरत्व ध्वनित हुआ है। शकुन्तला के रूप-वर्णन में भी कवि उसे जितना हो सके प्रकृति के निकटतम सान्निध्य में ला देते हैं । वह नवमल्लिका के समान ही कोमल है, वह उद्यानलता को म्लान कर देने वाली एक वनलता है, उसके पास खड़े होने पर केसर वृक्ष लता-सनाथ सा दीखने लगता है । वह अपने प्रियतम की आँखों में भी एक पुष्पित लता-सी ही प्रतिभासित होती है ।दुष्यन्त कहते हैं--

> `अधर: किसलयराग: कोमल-विटपानुकारिणौ बाहू ।
> कुसुममिव लोभनीयं यौवनमङ्गेषु संनद्धम् ।।`

वायु-चालित पल्लव-रूपी उँगलियों से केसरवृक्ष उसे बुलाता है, उसके पतिगृह जाते समय आश्रम-प्रकृति उसके शोभन-शृंगार के लिये क्षौमवसन, अलक्तक और विविध आभूषण का उपहार देती है, जब वह पति-गृह की ओर चल पड़ती है तब वनदेवता स्नेहपूर्ण मंगल-वचन कहते हैं, कोकिल-विरुत के माध्यम से आश्रम प्रकृति उसकी मंगल-यात्रा का अनुमोदन करती है, मृगशावक वसनाञ्चल खींचता है और विच्छेद-कातर होकर प्रकृति अश्रु-मोचन करती है ।

`विक्रमोर्वशी` में तो नायिका कुछ देर के लिये लता ही बन जाती है, तो एक नाटकीय पात्र के रूप में उसमें प्रकृति का महत्त्व कैसे न होता ।`विक्रमोर्वशी` के चतुर्थ अंक में रंगमंच पर दो पात्रों की उपस्थिति मानी जायेगी- एक नायक पुरूरवा और दूसरी प्रकृति , जिसमें नायिका अपना अस्तित्व विलीन कर उसी की

ही अंगभूता की गयी है । रंगमंच पर पुरूरवा को एकाकी समझने पर ही उस अंक की मनोज्ञता ही समाप्त हो जाती है ।इस अंक के शुरू में ही देखते हैं उर्वशी -सखी चित्रलेखा सहचरी के विरह के दु:ख में व्याकुल होकर द्विपदिका के ताल-लय में गा रही है - ` सहअरिदुक्खालिध्दअं सरवरम्मि सिणिद्धअं ।

वाहोवग्गिअणअणअं तम्मइ हंसीजुअलअं ।।`

यहाँ चित्रलेखा और सहजन्या ही सरोवर के स्नेही हंसीयुगल हैं, जो सहचरी उर्वशी के विरह में आंसू बहाकर व्याकुल हो रही है । उसके बाद जब उनके हृदय में पुन: उर्वशी-प्राप्ति की आशा होती है तब वह `खण्डधारा` में गाने लगती है --

` चिन्तादुम्मिअमाणसिआ सहअरिदंसणलालसिआ ।

विअसिअकमलमणोहरए विहरइ हंसी सरवरए ॥`

फिर जब विरहोन्मत्त पुरूरवा ने प्रवेश किया, तब उसकी सूचना दी गयी--

` हिअआहिअपिअदुक्खओ सरवरए धुदपक्खओ ।

वाहोवग्गिअणअणओ तम्मइ हंसजुआणओ ।`

यह प्रियदु:खकातर बाष्पाकुल-नयन हंसयुवा पुरूरवा ही है । इन ही गीतों को कवि ने पूरे अंक के बीच बीच में इस प्रकार सजा रखा है कि उनसे पूरे अंक में नेपथ्य संगीत का एक मनोरम तान गूंजता रहता है । ये ताल-लय-विशिष्ट संगीत पूरे अंक में एक स्वप्निल वातावरण सा बुन देते हैं ,उससे आच्छादित होकर विश्वप्रकृति की मनोज्ञता और विरही पुरूरवा की मनोव्यथा कुछ घुल-मिल सी गयी है । दोनों एक दूसरे के बहुत निकट आ गये हैं ।विरहोन्मत्त राजा विश्वप्रकृति में अपनी प्रियतमा को खोज रहे हैं ।वर्षाजल के स्पर्श से मलिन-गर्भ,आरक्त,नवकन्दली कुसुम विरही राजा को कोपकलुष अन्तर्वाष्प से आरक्तिम प्रिया के दो नयनों का स्मरण दिलाते हैं , इन्द्रगोपों से युक्त अचिरोद्गत तृणराजि को देख कर राजा को प्रिया के शुकोदर-श्यामल स्तनांशुक का भान होता है, जिससे प्रिया की आंसू की बूंदें अधर-राग से रञ्जित होकर टपक पड़ी हैं,तरङ्गभ्रूभङ्गा तटिनी तो पूर्णरूप से उनकी मानिनी प्रिया का ही अनुकरण कर रही है,- इस प्रकार प्रिया-विरह की गम्भीरता के कारण पुरूरवा की आँखों से जड़-चेतन का भेद दूर हो गया है । विश्वप्रकृति के अंग अंग में उन्हें प्रिया की छवि ही दिखाई पड़ रही है । चतुर्थ अंक में-इन श्लोकों से विश्व-प्रकृति के साथ मानव-मन की गम्भीर आत्मीयता की जो अभिव्यंजना हुई है-उसी में

उस अंक मनोज्ञता और श्रेष्ठता प्रतिष्ठित है । वाच्यार्थ के प्रति ध्यान देने पर तो राजा अथवा उर्वशी की सहचरी के मुख से उच्चारित अधिकांश श्लोक निरर्थक और असत्प्रलाप प्रतीत होंगे । कालिदास की ऐसी अपूर्व सफ उनकी अपनी प्रतिभा की देन है । यह उनके नाटकों के महाभारतीय स्रोतों में कैसे मिल सकती है ?ऐसा प्रतीत होता है कि कालिदास के नाटकों में प्रकृति-चित्रण की बात कह दी तो उसी से महाभारतीय स्रोतों से उनके वैषम्य की सारी बातें कह दी गयीं।शाकुन्तल` कवि की सर्वोत्तम रचना होने के कारण इसमें प्रकृति-चित्रण के अतिरिक्त उनकी प्रतिभा के अनेक निदर्शन हैं किन्तु विक्रमोर्वशी की जो कुछ भी ख्याति है, उसका सारा श्रेय चतुर्थ अंक के प्रकृति-चित्रण में है ।

भट्टनारायण का`वेणीसंहार`जैसा कि तृतीय अध्याय में देखा जा चुका है-- प्रमुख रूप से भारतयुद्ध की कथा पर आधारित है । भगवान वेदव्यास ने इस युद्ध के वर्णन में असंख्य श्लोकों की रचना की । एक ही घटना में प्रभावोत्पादकता लाने के लिए उसका बहुविध वर्णन किया- यहाँ तक कि योद्धाओं की साज-सज्जा, मुख-भाव आदि का वर्णन भी सूक्ष्मता से किया । फलत: व्यास का भारतयुद्ध-वर्णन बड़ा स्वाभाविक और सजीव प्रतीत होता है । पाठक उसे पढ़ते पढ़ते एक अपूर्व वीर-रस-प्लावित जगत् में पहुँच जाता है और धृतराष्ट्र के समान ही तन्मय होकर भारत-युद्ध के विराट रूप का मानस-प्रत्यक्ष करता है । इसकी कथा विशाल है । वेदव्यास की विराट प्रतिभा ने उसका सूक्ष्मातिसूक्ष्म वर्णन करके उसके स्वरूप को और भी विराट बना दिया है ।इसकी विषय-वस्तु ही ऐसी है कि इसके काव्यमय स्वरूप में भी नाटकीयता कूट-कूट कर भरी है । इसी नाटकीयता से ही संभवत: भट्टनारायण की लेखनी को`वेणीसंहार` की रचना की प्रेरणा दी ।

भट्टनारायण ने अधिकांशत: महाभारत का ही अनुसरण किया है । फिर भी समान घटनाओं में भी महाभारत से स्थान और कालगत वैषम्य परिलक्षित होता है । नाटक की प्रस्तावना में भट्टनारायण ने विशाखदत्त की शैली का अनुकरण किया है ।`वेणीसंहार` की प्रस्तावना से`मुद्राराक्षस` की प्रस्तावना का ही स्मरण होता है । प्रस्तावना में इस अनुकरण के कारण भट्टनारायण को प्रथम अंक की कथा में महाभारतीय स्रोत से पर्याप्त वैषम्य प्रस्तुत करना पड़ा है । भीम को स्वभावत: ही दुर्योधनादि कौरवों से वैर था तथा द्रौपदी का अपमान

उस क्रोधाग्नि को द्विगुण रूप से प्रज्वलित करने में सहायक हुआ था--ये बातें महाभारत से साम्य रखती हैं,किन्तु जिस समय की घटना का निर्देश प्रथम अंक में हुआ है,उस समय की घटना का रूप महाभारत में पूर्णत: भिन्न रूप में मिलता है । प्रथम अंक का आधार महाभारत का`उद्योगपर्व` है ,उद्योगपर्व में ही श्रीकृष्ण के सन्धि-प्रस्ताव लेकर कौरव-राजसभा में जाने का वर्णन है ।`उद्योगपर्व` के इस स्थल पर भीम के अभूत पूर्व सौम्यरूप का चित्रण हुआ है । अतएव महाभारत के उद्योगपर्व की उस परिवेश में वर्णित भीम की प्रतिज्ञा ,भीम के प्रति सहदेव का अनुनय इत्यादि बातें नितान्त विपरीत प्रतीत होती हैं ।

`वेणीसंहार` के प्रथम अंक में भीम सहदेव से श्रीकृष्ण के सन्धि-प्रस्ताव के विषय में पूछते हैं ।जब सहदेव के मुख से उनके पांच ग्राम-वाली सन्धि की बात सुनते हैं तो अत्यन्त क्षुब्ध होकर युधिष्ठिर के उदार आचरण के प्रति आक्षेप करते हैं ।--परन्तु महाभारत में पहले- से ही सन्धि के पक्ष के विषय में अवगत थे । महाभारत में युधिष्ठिर की साम्नीति का समर्थन भीम,अर्जुन और नकुल-- तीनों ने ही किया था । एकमात्र सहदेव ने ही सन्धिप्रस्ताव के विषय में मन्तव्य करने के लिए अपनी बारी आने पर नि:शंक होकर युद्ध-नीति का समर्थन किया था। `वेणीसंहार`में भीम का जिस उग्र और युधिष्ठिर की उदारनीति के प्रबल विरोधी रूप का भट्टनारायण ने चित्रण किया है ,महाभारत के`उद्योगपर्व` की कथा में सहदेव में ही उसका दर्शन होता है,भीम में नहीं । महाभारत में तो इस अवसर भीमसेन ने श्रीकृष्ण से उभयपक्ष की स्थापना के लिए अनुरोध किया था । वह बार-बार श्रीकृष्ण को सावधान करके कह रहे थे-`सौम्य दुर्योधनो वाच्य:साम्नैवैनं समाचरे: ।` --भीम के इस आचरण का उल्लेख तृतीय अध्याय में किया जा चुका है ।अतएव यहाँ पर उसकी पुनरावृत्ति न करके इस बात पर विचार करना आवश्यक प्रतीत हो रहा है कि भट्टनारायण ने`उद्योगपर्व` का आधार लेकर भी भीम के इस आचरण पर कोई संकेत क्यों नहीं किया ? इस प्रश्न पर विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि`वेणीसंहार`के प्रथम अंक में भीम के चरित्र में जो वैषम्य प्रस्तुत किया गया है उसका कारण संभवत: यह हो सकता है कि रूपककार को महाभारतयुद्ध की विशाल कथा को दृश्य रूप में प्रस्तुत करना था,उसके लिए यदि वह भीम के सौम्य रूप श्रीकृष्ण के द्वारा उस मोह के दूरीकरण के विषय में वर्णन

करने बैठते तो अनावश्यक रूप से उन्हें रूपक के कलेवर को बढ़ाना पड़ता, उससे कथानक की प्रगति रुक जाती, रस-परिपाक में भी इसके उल्लेख से कोई श्रीवृद्धि न होती। इसके अतिरिक्त भीम इस नाटक का नायक न सही पताका-नायक तो अवश्य है -- अत: उनमें इस प्रकार का मोह दिखाना शास्त्रीय दृष्टि से भी प्रशंसनीय नहीं होता। पाठक अथवा दर्शक साधारणत: भीम के उग्र रूप से ही परिचित हैं, अर्जुन के मोह के विषय में भले ही उन्हें ज्ञान हो--किन्तु भीम के मोहग्रस्त रूप के विषय में बहुत कम ही लोगों का ज्ञान है। भीम के उग्र अमर्षणशील रूप का वर्णन ही अधिकांश पाठक एवं दर्शक को स्वाभाविक प्रतीत होता है। फिर यदि भट्टनारायण भीम में वैसा उग्र व्यक्तित्व न भर देते तो वे प्रस्तावना में विशाखदत्त की शैली का अनुकरण भी न कर पाते। -- संभवत: इन्हीं सब बातों का ध्यान करके भट्टनारायण ने महाभारत का आधार लेकर भी भीम के मोहग्रस्त रूप की उपेक्षा की।

`वेणीसंहार` के प्रथम अंक की घटनाओं में महाभारत से और भी कई वैषम्य दृष्टिगोचर होते हैं। भट्टनारायण ने युधिष्ठिर की उदासीनता से दु:खी द्रौपदी को भीम के क्रोधपूर्ण वचनों पर हर्ष प्रकट करती हुई दिखाया है- किन्तु महाभारत में तो द्रौपदी को युधिष्ठिर की उदासीनता से भी अधिक दु:ख भीम के वचनों से हुआ था[१]। उन्होंने अपने उन्मुक्त केशों की ओर संकेत करके श्रीकृष्ण से इस अपमान के प्रतिकार की प्रार्थना की थी। द्रौपदी ने यहाँ तक कहा कि यदि पाण्डव शान्ति चाहते हों तो युद्ध न करें, किन्तु उन्होंने तेरह वर्षों तक जो दु:ख झेला है, उसके प्रतिकार के लिए उनके वृद्ध पिता द्रुपदराज स्वयं ही कौरवों से युद्ध करेंगे।-- `वेणीसंहार` में भट्टनारायण ने भीम में पहले से ही भिन्न व्यक्तित्व भर दिया,-- अतएव द्रौपदी को इस प्रकार के क्षोभ के प्रकाशन के लिए अवसर ही नहीं हुआ। प्रथम अंक में वर्णित भानुमती से द्रौपदी की भेंट एवं भानुमती का द्रौपदी के प्रति उपहास-- इत्यादि घटनाएँ भट्टनारायण की अपनी सूझ है। इनका आधार महाभारत में नहीं है। भीम के क्रोध में चरित्र अंगीरस के प्रस्फुटन के उद्देश्य से इन घटनाओं का समावेश किया गया है। द्रौपदी का वेणीसंहार जो भट्टनारायण की अपनी

१- `किरीटिना ते पुरुषं भीमबाहुश्त्यपीडितम् ।
सोऽयम् महाबाहुर्धर्मेणानुपश्यति ॥` ८२।४१ (उद्योगपर्व गी० प्रे० गोरखपुर संस्करण)

कल्पना है, उसकी सिद्धि के लिए ही इन घटनाओं का उल्लेख हुआ है । भानुमती के उपहास से क्रुद्ध होकर ही तो भीमसेन द्रौपदी के वेणी-बन्धन की प्रतिज्ञा करते हैं । प्रथम अंक में एक अन्य स्थान पर भी महाभारत से पार्थक्य है । वेणीसंहार में युधिष्ठिर के द्वारा मांगे गये पाँच ग्रामों के नाम निम्नलिखित हैं :-

'इन्द्रप्रस्थं वृकप्रस्थं जयन्तं वारणावतम् ।
प्रयच्छ चतुरो ग्रामान्कंचिदेकं चापंचमम् ।।' १।१५"

महाभारत में युधिष्ठिर ने कौरवों से निम्नलिखित प्रार्थना की थी :-

'अविस्थलं वृकस्थलं माकन्दी वारणावतम् ।
अवसानं च गोविन्द कंचिदेवात्र पंचमम् ।। ६५।१६ उद्योगपर्व (गीता प्रेस गोरखपुर)
पंच नस्तात दीयन्तां ग्रामा वा नगराणि वा ।।' ६५।१८

'वेणीसंहार' में दुर्योधन के द्वारा श्रीकृष्ण को बन्दी करने का प्रयत्न करना तथा श्रीकृष्ण के मुख से सारी बातें सुनकर युधिष्ठिर का क्रोध-- इत्यादि घटनाओं का उल्लेख महाभारत से साम्य रखता है ।

वेणीसंहार का द्वितीय अंक महाभारत-प्रसूत नहीं है । पत्नी के साथ दुर्योधन के श्रृंगारिक कथोपकथन के लिए उस समय महाभारत में कोई अवसर ही नहीं था । अभिमन्यु-वध के बाद की घटना महाभारत के द्रोणपर्व की घटना है । उस समय दुर्योधन के लिए अपने प्रासाद में रहना और अभिमन्युवध का समाचार पाकर रणभूमि में जाकर राधेय आदि के अभिनन्दन करने का विचार करना--इत्यादि जो बातें वेणीसंहार के द्वितीय अंक के प्रारम्भ में उल्लिखित हैं, महाभारत के द्रोणपर्व में उनका प्रश्न ही नहीं उठता था । महाभारत में अभिमन्युवध के समय दुर्योधन समरांगण में ही उपस्थित था । अभिमन्यु के संहार से दुर्योधन का प्रसन्न होना स्वाभाविक था किन्तु उसकी परिणति ऐसे श्रृंगारिक चेष्टा में नहीं हो सकती थी - क्योंकि अभिमन्यु ने मरने से पहले दुर्योधन के सम्मुख ही उसके प्रिय पुत्र का वध किया था । 'वेणीसंहार' में अन्तःपुर में निश्चिन्त होकर विहार करने वाले दुर्योधन को जयद्रथ की माँ तथा दुःशला अर्जुन की प्रतिज्ञा का समाचार सुनाती है, किन्तु महाभारत में अर्जुन की प्रतिज्ञा के समाचार से भयभीत होकर जयद्रथ ने स्वयं ही दुर्योधन से अपनी रक्षा की प्रार्थना की थी । दुर्योधन ने भी दूसरे दिन (जिसके लिए नाटक में 'कल' शब्द का प्रयोग हुआ है)--रणभूमि में जयद्रथ की रक्षा के लिए

१- इन्द्रप्रस्थं वृकप्रस्थं जयन्तं वारणावतम् प्रयच्छ चतुरो ग्रामान्कंचिदेकं च पंचमम् तस्य च: प्रतिज्ञात: । (वेणी, प्रथम अंक)

यथासाध्य प्रयत्न किया था । उस दिन समरांगण छोड़कर उसे अन्त:पुर आने का अवसर ही नहीं था । जयद्रथ के प्राण की रक्षा के लिए दुर्योधन ने उस दिन अद्भुत वीरता से युद्ध किया था। श्रीकृष्ण ने दुर्योधन की वीरता देख कर अर्जुन से कहा था- `अत्यद्भुतमिमं मन्ये नास्त्यस्य सदृशोऽन्यः।`[1] --इस प्रकार भट्टनारायण `वेणी-संहार` के द्वितीय अंक में अपनी कल्पना से महाभारत से भिन्न कथा की संयोजना करके भी किसी प्रकार की प्रतिभा का परिचय न दे सके । महाभारतकार ने अभिमन्यु वध के दूसरे दिन की परिस्थिति की गम्भीरता को[2] धृतराष्ट्र के मुख से उच्चरित निम्नलिखित उत्कण्ठापूर्ण शब्दों में अभिव्यक्त किया था -

` संजय । संग्रामभूमि में दुर्योधन पर क्या बीत रहा है ? इन दिनों में मेरे महान विलाप-ध्वनि सुनी है । आमोद-प्रमोद के शब्द मेरे कानों में नहीं पड़े---। मेरे पुत्रों के शिविर में अब स्तुति करने वाले सूतों,मागधों एवं भट्टों के शब्द बिलकुल सुनाई नहीं पड़ते ।`

इन मार्मिक पंक्तियों के सम्मुख भट्टनारायण के`वेणीसंहार`के द्वितीय अंक का कथानक सर्वथा निकृष्ट प्रतीत होता है ।सम्भवत:भट्टनारायण ने सन्ध्यंगों के समावेश के उद्देश्य से तथा शृंगार के चित्रण में अपनी निपुणता के प्रकाशन के उद्देश्य से स्थान-काल आदि का ध्यान न रख कर इस अंक की सृष्टि की । पांडित्य-प्रदर्शन ही इस अंक की प्रेरणा होगी- ऐसा प्रतीत होता है । इससे नाटकीय कथानक एवं गम्भीरता को बड़ी क्षति पहुँची है ।आचार्य मम्मट ने[3]`वेणीसंहार` के द्वितीय अंक को `अकाण्डे प्रथनम्` कहा है ।

वेणीसंहार के तृतीय अंक में पिता के कुशल समाचार जानने के लिए अश्वत्थामा की उत्कण्ठा, पितृ-वध का समाचार सुनकर उसका रोष महाभारतीय कथा के ही अनुसरण पर ही वर्णित है-किन्तु कर्ण-अश्वत्थामा के विवाद में महाभारत की कथा से कोई साम्य नहीं है ।महाभारत में अश्वत्थामा ने स्वयं ही दुर्योधन को कर्ण को सेनापति -पद पर अभिषिक्त करने का परामर्श दिया था - अतएव अश्वत्थामा का की

१- द्रष्टव्य- महाभारत द्रोणपर्व १०२।१११ (गी. प्रे. गोरखपुर संस्करण)

२- ,, ,, ,, ८५।५११(,, ,, ,, ,,)

३- ,, काव्यप्रकाश सप्तम उल्लास 'अकाण्डे प्रथनं यथा - वेणीसंहारे द्वितीयेऽङ्केऽनेकवीरक्षये प्रवृत्ते भानुमत्या सह दुर्योधनस्य शृंगारवर्णनम् ।' [पृ. सं. २६६ विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला सं. १५ डा. सत्यव्रतसिंह

चरित्र 'वेणीसंहार' के तृतीय अंक में दिखायी पड़ता है- वह महाभारत के अश्वत्थामा -चरित्र के ठीक विपरीत है । कर्ण और अश्वत्थामा का वाक्-कलह महाभारत में वर्णित कर्ण -शल्य के वाक्कलह से साम्य रखता है । भट्टनारायण ने संभवत: रौद्र रस की अवतारणा करने के लिए ही कर्ण और अश्वत्थामा के विवाद के दृश्य को उपस्थित कियाहै । वे इसके लिए कर्ण और शल्य के विवाद को भी प्रस्तुत कर सकते थे किन्तु उससे एक पात्र की संख्या और बढ़ जाती और उसकी अवतारणा की भूमिका बांधने के लिए अन्यान्य घटनाओं का समावेश करना पड़ता-- संभवत: उन्होंने प्रसंगत: रंगमंच पर उपस्थित हुए कर्ण और अश्वत्थामा से उस विवाद-दृश्य को प्रस्तुत करके रौद्र-रस के चित्रण के लिए अनुकूल परिस्थिति की उद्भावना की । इस दृश्य से प्रतिनायक के पक्ष की दुर्बलता भी अभिव्यक्त हुई है । अश्वत्थामा जैसे वीर के शस्त्रत्याग की घटना के संयोजन से दुर्योधन के पराजय की सम्भावना और भी दृढ़ हो जाती है । तृतीय अंक में हिडिम्बा के निवेदन से दु:शासन के रक्तपान के समय भीम के शरीर में राक्षस के प्रवेश की सूचना भट्टनारायण की प्रतिभा-प्रसूत है। भट्टनारायण की यह अभिव्यक्ति अभिनव-कल्पना नाटकीय संविधान की दृष्टि से एवं भीम-चरित्र को निष्कलुष बनाये रखने की दृष्टि से सर्वथा उपयोगी है ।

'वेणीसंहार' के चतुर्थ अंक में दु:शासन-वध, वृषसेन-वृत्तान्त इत्यादि घटनाओं के चित्रण में भट्टनारायण ने अधिकांशत: महाभारत का ही अनुसरण किया है। भट्टनारायण ने वृषसेन के युद्ध एवं उसकी मृत्यु का जो वर्णन सुन्दरक के सूत्रधार-संवाद के माध्यम से किया है, वह महाभारतानुसारी होने पर भी नाटकीय -व्यापार के लिए सर्वथा अनुपयुक्त है । इससे नाटककार की घटना-चयन-शक्ति की दुर्बलता ही प्रकट हुई है । इससे नाटकीय कथावस्तु की प्रगति एवं रसास्वादन में विघ्न उत्पन्न हुआ है । इस अंक में कर्ण के द्वारा अपने रुधिर से दुर्योधन को पत्र लिखकर भेजने का वर्णन कुछ अति-नाटकीय ही प्रतीत होता है ।

पंचम अंक में दुर्योधन के प्रति कहे गये गान्धारी और धृतराष्ट्र के अनुरोध-पूर्ण वचन, महाभारत के कर्णपर्व के ८५ वें अध्याय के २१ वें श्लोक से लेकर इस अध्याय की समाप्ति तक वर्णित दुर्योधन और अश्वत्थामा के कथोपकथन का

अनुसरण करते हैं । अश्वत्थामा को नाटककार ने पहले ही दुर्योधन के प्रति रुष्ट दिखाया है, अतः महाभारतीय कथा का अनुसरण करने के लिए उन्हें धृतराष्ट्र ,गान्धारी तथा सञ्जय को रंगमंच पर उपस्थित करना पड़ा । इस अंक में कर्णवध के अनन्तर दुर्योधन का विलाप महाभारत के अनुकरण पर ही वर्णित है ।

`वेणीसंहार` के षष्ठ अंक में जो चार्वाक-वृत्तान्त मिलता है वह महाभारत में दुर्योधन के वध के बहुत बाद में शान्तिपर्व के राजधर्मानुशासनपर्व के ३८ वें अध्याय में वर्णित है । संभवतः कथानक में नाटकीयता का समावेश करने के लिए तथा युधिष्ठिर के चरित्र की व्याख्या के लिए इस घटना को रूपककार ने दुर्योधन के साथ भीम के गदायुद्ध के समय ही प्रस्तुत किया है, किन्तु इसमें उन्हें बहुत अधिक सफलता नहीं मिली । युधिष्ठिर का भ्रातृप्रेम इससे अवश्य व्यंजित होता है, किन्तु साथ ही उनकी निर्बलता का भी आभास होने लगता है । जहाँ तक नाटकीयता का प्रश्न है,- यह दृश्य अति-नाटकीय होने के कारण कुछ अस्वाभाविक हो गया है । करुण-रस का आधिक्य भी कुछ अरुचिकर प्रतीत होता है ।

इस प्रकार भट्टनारायण का `वेणीसंहार` उसके महाभारतीय स्रोत की तुलना में कुछ निकृष्ट ही सिद्ध होता है किन्तु इससे भट्टनारायण की प्रतिभा पर सन्देह करना अनुचित होगा । भट्टनारायण की प्रतिभा का माहात्म्य तो इसी से स्पष्ट होता है कि द्रौपदी के उन्मुक्त केशों को बांधने के लिये उन्होंने जिस वेणीसंहरण (संयमन) की कल्पना की, उस कल्पना की इतनी ख्याति हुई कि आगे चल कर वह जैसे महाभारतीय कथा का ही एक अंग बन गयी । आगामी नाटकों में इस कल्पना का कितना अधिक समादर हुआ -- इसका विवेचन प्रस्तुत निबन्ध के नवम अध्याय में किया जायेगा । पापकर्मा दुःशासन ने जिस दिन [illegible] अवभृथ-स्नान से पवित्र याज्ञसेनी के केशों का स्पर्श किया, उस दिन के पश्चात् महाभारत में द्रौपदी के केश-विन्यास का कोई उल्लेख नहीं हुआ । महाभारत में `द्यूतपर्व` (सभापर्व) के अनन्तर जहाँ भी द्रौपदी के केशों का वर्णन किया गया, केवल उसके उन्मुक्त रूप की ओर ही संकेत किया गया । उद्योगपर्व में पाण्डवों की शान्तिप्रियता से क्षुब्ध द्रौपदी का वर्णन करते हुए महाभारतकार ने लिखा है --

सर्वलक्षणसम्पन्नं महाभुजगवर्चसम् ।
केशपक्षं वरारोहा गृह्य वामेन पाणिना ॥ ८२।३४
अश्रुपूर्णेक्षणा कृष्णा कृष्णं वचनमब्रवीत् । ८२।३५
अयं ते पुण्डरीकाक्ष दुःशासनकरोद्धृतः ।
स्मर्तव्यः सर्वकार्येषु परेषां सन्धिमिच्छता ॥[1] ८२।३६॥

किन्तु आश्चर्य की बात यह है कि महाभारत में कहीं भी पाण्डवों को उनके जीवित रहते हुए ही पत्नी के केशों को उन्मुक्त देख कर क्षोभ प्रकट करते हुए नहीं दिखाया गया है, किसी को द्रौपदी के वेणीबन्धन के लिए आग्रह करते हुए भी नहीं दिखाया गया है। भट्टनारायण ने महाभारत की इसी कमी को पूरा करने के लिए द्रौपदी के 'वेणीसंवरण' की कल्पना की है। एक नारी का सभा में केशाम्बर-कर्षण सम्भवतः किसी जाति के पतन की चरम सूचना है, संभवतः यह किसी जाति के आसन्न विनाश का चरम संकेत है। भट्टनारायण ने इसीलिए द्रौपदी के उन्मुक्त केशों को ही कौरवों के संहार का निमित्तभूत चित्रित किया है। 'वेणीसंहार' के चतुर्थ अंक में रूपककार ने भ्रातृशत-वध से कातर एकादश अक्षौहिणी सेनाओं के स्वामी दुर्योधन को एकाकी भूमि पर उपविष्ट दिखाकर सुन्दरक के मुख से स्पष्टतः कहलवाया है- 'अथ वा तस्य खल्विदं पांचालीकेशग्रहकुसुमस्य फलं परिणमति।' -महाभारत में भीमसेन को ही द्रौपदी की व्यथा के प्रति सर्वाधिक सहानुभूति भावापन्न दिखाया गया है। द्रौपदी के अपमानकारियों का दमन वे अपने ही हाथों से करते थे, वनपर्व में जयद्रथ-दमन, विराटपर्व में कीचक-वध एवं आगे दुःशासन तथा दुर्योधन का वध इसके प्रमाण हैं। अतएव भट्टनारायण ने द्रौपदी के उन्मुक्त केशों के क्षोभ से सतत व्यथित होने वाले भीमसेन से[1] दुर्योधन के रक्त से हाथों को रंग कर द्रौपदी के वेणीबन्धन की प्रतिज्ञा करवा कर साहित्य-जगत् में अक्षय ख्याति प्राप्त की।

दुर्योधन की पत्नी का 'भानुमती' नामकरण भी भट्टनारायण ने ही किया है। महाभारत में दुर्योधन-महिषी का नाम उल्लिखित नहीं है। भास ने भी

१- द्रष्टव्य- महाभारत-उद्योगपर्व (गी॰ प्रे॰ गोरखपुर संस्करण।) ८२वां अध्याय

'पौरवी' और 'मालवी' नाम की दुर्योधन की दो पत्नियों की कल्पना की थी, किन्तु ये दोनों नाम भट्टनारायण -प्रदत्त नाम के आगे टिक नहीं सके। राजशेखर ने भी भानुमती नाम को ही अपनाया। ये सब बातें साहित्यजगत् में भट्टनारायण की अतुल प्रतिष्ठा-प्राप्ति की ही सूचना देती हैं। अतएव महाभारत की तुलना में भट्टनारायण की कृति निम्न होने पर भी भट्टनारायण एक प्रतिभासम्पन्न कवि थे-इसमें कोई सन्देह नहीं होता। भगवान् वेदव्यास की कृति के आधिकारिक कथानक के वैशिष्ट्य की समता केवल भट्टनारायण ही क्यों, कोई भी करने में समर्थ नहीं होगा। वेदव्यास की विराट् जैसी प्रतिभा के क्षणिक स्पर्श से ही अगणित साहित्यिक कृतकृत्य हो गये, अतएव उनसे किसी एक साहित्यिक की प्रतिभा की तुलना का प्रसंग ही नहीं उठता। वस्तुतः भट्टनारायण ने बहुत दीर्घ योजना बनायी, यदि वह कोई अल्पविस्तृत आधार लेते तो संभवतः अपनी प्रतिभा का अधिक परिचय दे सकते थे। महाभारत की आधिकारिक घटना को आधार रूप में ग्रहण करना ही दुस्साहसिक कार्य था। दूसरी त्रुटि उनमें यह है कि उन्होंने शास्त्रीय पद्धति का अन्धानुकरण करके अपनी स्वतःस्फूर्त कल्पनाओं की उपेक्षा की। उनमें पाण्डित्य प्रदर्शन कर यशस्वी होने की अभिलाषा संभवतः बहुत अधिक थी, तभी उन्होंने अपने हृदय-पक्ष की अपेक्षा शास्त्र-निर्दिष्ट नियमबद्धता पर अधिक ध्यान दिया-- फलतः उत्तरकालीन नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों में उनकी रचना का उपयोग तो बहुत हुआ, किन्तु जिन आचार्यों ने उनकी रचना से उद्धरण प्रस्तुत किया- प्रायः उन्होंने ही उनके पाण्डित्य की कटु आलोचना की[1]। उनकी इस त्रुटि के लिए संभवतः उनका युग भी उत्तरदायी रहा होगा, जिसमें सहृदयता की अपेक्षा पाण्डित्य पर ही अधिक महत्त्व दिया जाता था।

प्रस्तुत निबन्ध के तृतीय एवं चतुर्थ अध्याय से स्पष्ट हो जाता है कि राजशेखर के 'बालभारत' के उपलब्ध दो अंकों में महाभारत की तुलना में कोई वैशिष्ट्य नहीं है। राजशेखर[2] ने विदुर की उक्ति में महाभारत के एक श्लोक का उद्धरण भी प्रस्तुत किया है। प्रस्तावना में व्यास और वाल्मीकि की अवतारणा करके उन्होंने

१- द्रष्टव्य- साहित्यदर्पण, षष्ठ परिच्छेद काव्यप्रकाश सप्तम उल्लास इत्यादि

२- ,, -बालभारत - द्वितीय अंक श्लोकांक ५।।

नूतनता लाने का प्रयास अवश्य किया है, किन्तु दोनों मनीषियों को सम-कालिक दिखाने के कारण इतिहास की दृष्टि से यह प्रयास दोषपूर्ण ही हो गया है। प्रथम अंक में स्वयंवर सभा में भगवान हलधर का तांडव[1] चित्रण करना कुछ अप्रासंगिक एवं अग्राह्य प्रतीत होता है। प्रथम अंक में ८८ श्लोकों का समावेश हुआ है। गद्यात्मक संवाद की न्यूनता एवं श्लोकों का आधिक्य होने के कारण प्रथम अंक में नाटकीयता की उद्भावना नहीं हो पाती। द्वितीय अंक में महाभारत के 'द्यूत' और 'अनुद्यूतपर्व' की कथा का एक ही स्थल पर समावेश कर देने से रूपककार की सुगठित शैली का परिचय अवश्य मिलता है, किन्तु इस अंक में भी महाभारत के सतत अनुसरण से वैचित्र्य का अभाव अनुभूत होता है। अङ्कान्त में द्रौपदी के मुख से भीम के द्वारा उसके वेणीबन्धन की जो घोषणा की गयी है, उसमें भट्टनारायण के 'वेणीसंहार' का सुस्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। भीम की प्रतिज्ञा महाभारत के अनुरूप ही है किन्तु अर्जुन आदि की द्यूतक्रीड़ा में अनुपस्थिति दिखाकर नाटककार ने महाभारतीय कथा से जो वैषम्य उपस्थित किया है, उसका उद्देश्य प्रस्तुत रूपक की असम्पूर्णता के कारण ठीक से समझ में नहीं आता। वस्तुतः पूर्ण प्रति के अभाव में राजशेखर की इस कृति का समुचित विवेचन करना अथवा इस रूपक में अभिव्यक्त कवि की प्रतिभा पर भी कोई सुनिश्चित मन्तव्य करना संभव प्रतीत नहीं होता।

१- द्रष्टव्य - बालभारत - प्रथम अंक श्लोक सं० ६२ ।।

षष्ठ अध्याय

द्वितीय पूर्व शताब्दी तक के कथाधारमूलक नाटकों के कथानकों का नाट्यशास्त्रीय - विवेचन

को मान्यता प्रदान करते हैं ।[1]

परन्तु 'कर्णभार' शब्द का अर्थ 'कर्ण का भार' करने पर यह कथावस्तु की दृष्टि से निरर्थक प्रतीत होता है । कथावस्तु का प्रयोजन नायक कर्ण की दानशूरता तथा उदारता की महिमा का वर्णन करना है । स्वयं महामहोपाध्याय टी. ग. शास्त्री 'कर्णभार' की प्रमुख घटना कर्ण के कवच-कुण्डलों का दान ही मानते हैं ।[2] H. L. Hariyappa भी इस घटना के महत्त्व को स्वीकार करते हैं[3] । वस्तुतः युद्धवीर की अपेक्षा प्रस्तुत रूपक में दानवीर रस को अधिक महत्त्व दिया गया है और इसी को पुष्ट करने में रूपककार ने अधिक यत्न दिखाया है । कर्ण ने अपनी उक्तियों में भी दान की महिमा को ही बताया है[4] । अतः रूपक के प्रयोजन तथा नायक के चारित्रिक वैशिष्ट्य की दृष्टि से 'कर्णभार' शीर्षक का अर्थ 'कर्ण का भार' करना और उसे सार्थक बनाने के लिए एक और अंक की कल्पना करना अनावश्यक ही प्रतीत होता है । एक और अंक की सम्भावना करने पर एक समस्या उठ खड़ी होगी । यदि 'कर्णभार' शीर्षक का अर्थ 'कर्ण का भार' ही है तो उस सम्भाव्य अंक की विषयवस्तु अर्जुन और कर्ण का युद्ध और उस युद्ध में कर्ण की मृत्यु ही होगी । कवच-कुण्डल दान से भी पूर्व कर्ण अपनी अस्त्रशिक्षा और परशुराम के शाप की कथा कहते हैं, अतः युद्ध के समय उनकी अस्त्रशिक्षा का ज्ञान विलुप्त हो जाना तथा विकलास्त्र होकर उन्हें [illegible] का भोग करना होगा — इसका आभास यहीं से ही हो जाता है । महाभारतीय कथा पर आधारित होने के कारण रूपककार 'विमला' नामक शक्ति से अर्जुन का वध नहीं दिखा

१- द्रष्टव्य - "The Laws and Practice of Sanskrit Drama" by S. N. Shastri Part II ch. VII

२- द्रष्टव्य — ".....in the forth, Karna bestowing on Indra Kavacha and Kundala as boon" (T.S.S. XXII Preface)

३- द्रष्टव्य — "It may however be urged that the theme of the Play is the gift of the armour and ear-rings, not Karna's end. True that is the primary incident that is related in the piece; a large of which is taken up by the episo[illegible] (Rajah Sir Annamalai Chattiar Comm. Vol. Annamalai University 1941)

४- द्रष्टव्य — कर्णभार श्लोक संख्या २२

इतिवृत्त की दृष्टि से 'कर्णभार' शब्द की दूसरी व्युत्पत्ति ही सार्थक प्रतीत होता है । प्रो० ए०डी०पुसालकर[1] इस व्युत्पत्ति के प्रतिपादक हैं, कीथ महोदय[2] को भी यही व्युत्पत्ति मान्य थी — ऐसा प्रतीत होता है । प्रोफेसर देवधर[3] ने उसका विरोध किया है और भास की सामग्रियों के आधार पर इस व्युत्पत्ति को अधूरी कहा है । प्रो० बलदेव उपाध्याय[4] ने भी 'देय वस्तु कुण्डल न होकर कवच ही था और कवच का इस शीर्षक की व्याख्या में कोई स्थान नहीं है' — ऐसा कहकर वस्तुतः देवधर जी का ही समर्थन किया है । परन्तु इन मतों का खण्डन करना दुःसाध्य नहीं है । मूल महाभारतीय कथा में भी कुण्डल का महत्त्व स्पष्ट ही है । कवच के समान ही कुण्डल भी महत्त्वपूर्ण थे, यह बात निःसन्देह रूप से कहा जा सकता है । महाभारत के वनपर्व में भी इस कथा का नाम 'कुण्डलाहरणपर्व' ही है, 'कवचकुण्डलाहरण पर्व' नहीं । वस्तुतः लोक की दृष्टि स्वाभाविक रूप से पहले कुण्डलों की दिव्य आभा पर ही पड़ती होगी । कर्ण के जीवन को सुरक्षा से देखा करने वालों के मनों के सामने ये ही कुण्डल जगमगाकर उसके सुरक्षित जीवन की, युद्ध में अजेयता की घोषणा करते हुए उसमें संचार करते रहे होंगे । इस दृष्टि से प्रो० पुसालकर की अभिमत व्युत्पत्ति केवल सार्थक ही नहीं, अपितु सार्थकतापूर्ण होने के कारण ग्राह्य भी है । प्रो० बलदेव उपाध्याय जी का मत ग्राह्य प्रतीत नहीं होता, क्योंकि देय वस्तुओं में कुण्डल का स्पष्ट उल्लेख है ।[5]

केवल टिप्पणकार[6] ने 'भार' शब्द का अर्थ 'कवच' किया है । परन्तु जैसा कि देखा जा चुका है कि शब्दशक्ति की दृष्टि से तथा व्यास के महाभारतीय आख्यान के नामकरण की दृष्टि से 'भार' शब्द का अर्थ 'कुण्डल' लेना ही उत्तम होगा । प्रो० पुसालकर की अभीष्ट व्युत्पत्ति ही सर्वथा सार्थक प्रतीत होती है । कर्ण की दानशूरता का गौरव सर्वाधिक रूप से कवच-कुण्डलों के दान में ही

१- 'Bhasa - a study' - by A D. Pusalker p 188 (Ed. 1940)

२- 'Sanskrit Drama' - by A.B. Keith p. 96 (Ed 1954)

३- द्रष्टव्य कर्णभार की प्रो० देवधरकृत भूमिका पृष्ठ ३

४- द्रष्टव्य 'महाकवि भास: एक अध्ययन' पृष्ठ ३१ (प्रथम संस्करण)

५- द्रष्टव्य - "देयं तथापि कवचं सह कुण्डलाभ्यां.... ।।२१।। कर्णभार

६- द्रष्टव्य - श्री देवधर सम्पादित 'कर्णभार' की भूमिका पृष्ठ संख्या ३

प्रतिबिम्बित है । नाटक का प्रयोजन भी यही है । इसी का वर्णन रूपक में साक्षात्कार रूप से हुआ है । इस व्युत्पत्ति को मान लेने पर 'कर्णभार' की अपूर्णता की समस्या भी नहीं होगी और न एक और अंक की कल्पना करने की आवश्यकता होगी । अतएव द्वितीय व्युत्पत्ति प्रत्येक दृष्टि से सार्थक सिद्ध होती है ।

महामहोपाध्याय श्री गणपति शास्त्री की 'ख' संज्ञक पाण्डुलिपि में 'कवचांक' समाप्तम्' इस पाठ के आधार पर नाटक की अपूर्णता की कल्पना करना व्यर्थ प्रतीत होता है क्योंकि आधिकारिक इतिवृत्त को इस अंक में ही पूर्णता मिल गयी — यह बात तो पहले ही कही जा चुकी है । वस्तुत: 'कवचांक' इस रूपक का ही एक दूसरा शीर्षक है । इतिवृत्त की दृष्टि से यह दूसरा शीर्षक और भी अधिक स्पष्ट एवं प्रभावोत्पादक है । 'कवच' शब्द से कवच-कुण्डल का दान रूप मुख्य घटना का एवं 'अंक' शब्द नाटक की प्रकृति का सूचक है । संस्कृत साहित्य में एक ही रचना का दो पृथक् शीर्षक होना विरल नहीं है । राजशेखर[1] के भी एक रूपक के दो शीर्षक मिलते हैं । अत: 'कर्णभार' का भी एक और शीर्षक प्रचलित रहा हो, तो आश्चर्य की बात नहीं है ।

<u>रूपक का स्वरूप</u> :- रूपकों के दस भेदों में से 'कर्णभार' किस प्रकार के अन्तर्गत आता है, इस पर भी विद्वानों में मतभेद है । गणपति शास्त्री[2], ए०एस०पी० अय्यर[3] तथा ए०डी० पुसालकर[4] इसे उत्सृष्टिकांक प्रकार का रूपक मानते हैं ।

१- द्रष्टव्य — राजशेखर की चारों रचना 'बालभारत' अथवा 'प्रचण्ड पाण्डव'

२- द्रष्टव्य — त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज 'कर्णभार' की भूमिका

३- द्रष्टव्य — 'भास' — लेखक ए०एस०पी० अय्यर पृष्ठ संख्या ४८

४- " — 'Bhasa – a study' by A.D. Pusalker (Ed. 1940) p. 190

कीथ[1] इसे एक व्यायोग मानते हैं और डा० सुरेन्द्रनाथ शास्त्री[2] अपने शोध-निबन्ध में इसे संलापक नामक उपरूपक के लक्षणों को अधिकांश रूप से चरितार्थ करने वाला बताते हैं ।

सत्य तो यह है कि नाट्यशास्त्र के ग्रन्थों में एकांकी रूपक अथवा उपरूपकों के जो भेद उल्लिखित हैं, उनमें से किसी एक के भी सारे लक्षण इसमें पूर्णरूप से घटित नहीं होते । न तो उत्सृष्टिकांक के समस्त लक्षण घटित होते हैं, न व्यायोग के और न ही संलापक के । फिर भी इसका स्वरूप अन्य सब एकांकी नाटकों की अपेक्षा उत्सृष्टिकांक के अधिक निकट है । जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि 'ब' संज्ञक पाण्डुलिपि में प्राप्य 'एकांक' : शब्द भी इस रूपक के उत्सृष्टिकांकत्व की ओर स्पष्ट संकेत करता है । सम्भव है कि भास के समय उत्सृष्टिकांक का स्वरूप यही रहा हो ।

प्रस्तुत रूपक को व्यायोग की कोटि में किसी भी प्रकार से रख नहीं सकते । दशरूपक के 'अवलोक' में धनिक ने व्यायोग शब्द की जो व्युत्पत्ति की है[3], उसके अनुसार भी यह रूपक व्यायोग नहीं हो सकता — क्योंकि इसमें अनेक पुरुषों का 'व्यायोग' नहीं हुआ है । फिर व्यायोग का नायक[4] धीरोद्धत होता है, किन्तु 'कर्णभार' का नायक धीरोदात्त है । व्यायोग में 'अ-स्त्री' निमित्त संग्राम होता है परन्तु 'कर्णभार' में कर्ण को केवल युद्धभूमि की ओर जाता हुआ दिखाया गया है — युद्ध का वर्णन नहीं हुआ है । रस की दृष्टि से भी व्यायोग से इसका साम्य दृष्टिगोचर नहीं होता । व्यायोग में हास्य और शृंगार-रस कदापि नहीं होते — परन्तु 'कर्णभार' में शक्र की उक्तियों में हास्य का पुट है और कर्ण की अस्त्रशिक्षा के वृत्तान्त में परशुराम के प्रति कर्ण की श्रद्धा में रतिभाव निहित है । केवल प्रख्यात इतिवृत्त

---

1. 'Sanskrit Drama' by A.B Keith (1954) p. 96
2. 'The Laws and Practice of Sanskrit Drama' by S N Shastri (Part I) p 640
3. 'व्यायुज्यन्तेऽस्मिन् बहवः पुरुषा इति व्यायोगः' — अवलोक
4. 'ख्यातेतिवृत्तो व्यायोगः ख्यातोद्धतनराश्रयः' ।। दशरूपक ३।६०।।

एवं एक अंक की दृष्टि से यह रूपक व्यायोग से साम्य रखता है किन्तु केवल इन्हीं दो बातों के आधार पर इसे व्यायोग मान लेने से अतिव्याप्ति का दोष उत्पन्न होगा । अत: कीथ महोदय का मत मान्य प्रतीत नहीं होता ।

डा० सुरेन्द्रनाथ शास्त्री इसे संलापक नामक उपरूपक की कोटि में रखना चाहते हैं । दोनों के स्वरूप में वे केवल एक ही वैषम्य पाते हैं, वह यह है कि संलापक में तीन अंक होते हैं, किन्तु इस रूपक में केवल एक ही अंक है । परन्तु शास्त्री जी का मत मान्य प्रतीत नहीं होता । प्रथम अध्याय में रूपक और उपरूपक के प्रमुख भेदक तत्त्वों की चर्चा करते हुए यह देखा जा चुका है कि उपरूपकों में नृत्यतत्त्व की प्रधानता होती है, तभी वे 'उपरूपक' के नाम से अभिहित होते हैं । 'कर्णभार' में नृत्य-तत्त्व का सर्वथा अभाव है । अत: प्रथम दृष्टि में ही शास्त्री जी का मत धराशायी हो जाता है । फिर केवल अंकों की संख्या में ही नहीं नायक की दृष्टि से भी तो वैषम्य है[1] । संलापक का नायक पाषण्ड होता है परन्तु 'कर्णभार' के नायक को शास्त्री जी ने स्वयं ही धीरोदात्त माना है । संलापक में नगरावरोध, छल-संग्राम तथा विद्रव होते हैं किन्तु 'कर्णभार' में ये लक्षण घटित नहीं होते । संलापक में भारती और कैशिकी वृत्तियाँ नहीं होतीं, परन्तु डा० शास्त्री ने स्वयं ही वृत्तियों के विवेचन के प्रसंग में 'कर्णभार' में भारती वृत्ति की उपस्थिति स्वीकार की है[2] । इस प्रकार डा० शास्त्री यदि इसे संलापक मानते हैं तो वस्तुत: अपनी ही बातों का खण्डन करते हैं । अत: जिसका सिद्धान्त अपने ही पूर्वकथित मत का विरोध करता है, उसे कौन स्वीकार करेगा ?

'कर्णभार' का स्वरूप के निकटतम साम्य उत्सृष्टिकांक के लक्षणों में प्राप्त होता है । यद्यपि इसके भी सारे लक्षण प्रस्तुत रूपक में घटित नहीं होते, तथापि अन्य रूपकों के लक्षणों की अपेक्षा इसी का लक्षण अधिकांशत: चरितार्थ होता है । उदाहरणार्थ — उत्सृष्टिकांक में एक अंक होता है, 'कर्णभार' भी एकांकी है । उत्सृष्टिकांक में प्रख्यात इतिवृत्त होता है और कवि अपनी प्रतिभा से उसमें हेर-फेर कर देता है, 'कर्णभार' का इतिवृत्त भी प्रख्यात है और

१- द्रष्टव्य — संलापकेऽङ्काश्चत्वारस्त्रयो वा, नायक: पुन: । पाषण्ड: स्याद्रसस्तत्र शृंगार-करुणेतर: ॥ साहित्यदर्पण

२- द्रष्टव्य — सुरेन्द्रनाथ शास्त्री का पूर्वोल्लिखित शोध-निबन्ध पृष्ठ ४३७

नाटककार ने ब्राह्मण के रूप में कर्ण को युद्धयात्रा के समय छद्मवेशी इन्द्र से उसके कवच-कुण्डल का अपहरण करवाकर महाभारत-गत कथा में उल्लेखनीय रूप से परिवर्तन कर दिया है । उत्सृष्टिकांक के अंगीरस के समान इसका अंगीरस करुण तो नहीं है, परन्तु समग्र रूपक में करुण को स्थान अवश्य ही रहा है । अपने दानव्रत को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए एक विजयाकांक्षी युद्धयात्री को उसके देह के रक्षक, उसे युद्ध में अवध्य बनाने वाले, कवच-कुण्डलों का दान करते देखकर दानवीर रस का उत्कृष्ट आस्वादन भले ही होता हो, परन्तु करुण भी वहाँ पर फड़कने लगता है । परशुराम के शाप की कथा और युद्ध में बजती हुई रण-दुन्दुभि-ध्वनि की पृष्ठभूमि में विभासित कर्ण का यह दान अत्यन्त महिमामण्डित है, किन्तु करुण भी कम नहीं । वस्तुतः इस वातावरण में कर्ण के अन्तिम सम्बल, उसके जीवन के रक्षा-कवच को कष्टपूर्वक उतरते देखकर करुण की रागिनी ही बजने लग उठती है, परन्तु दाता कर्ण की अपूर्व दानवीरता को देखकर तथा उसके मुख से निःसृत 'शिरः दद्यां न प्रतिगृह्णामि' — इस वाक्य को सुनकर अलौकिक दानव्रत की पराकाष्ठा से प्रवाहित (दान) वीर रस की सरिता में अवगाहन करने लगते हैं । करुण की पूर्वस्थिति से दानवीर रस में और भी अधिक तीव्रता आ जाती है । इस प्रकार रूपक का अंगीरस न होकर भी करुण की महत्ता उल्लेखनीय है । इन्द्र की ग्लानि से भी इस भाव की पुष्टि होती है । उत्सृष्टिकांक के लक्षणानुसार इसमें निर्वेदवचन भी यथास्थानों में प्राप्त होते हैं । इसमें भी जय-पराजय उल्लिखित है । कर्ण के महान दानव्रत के सम्मुख इन्द्र का पराजय हुआ, तभी तो उन्हें पश्चात्ताप की ग्लानि से दग्ध होना पड़ा । दानव्रत के साफल्य का वर्णन कर्ण के मुख से ही सुनायी पड़ता है —'ब्राह्मणों के अनेक यज्ञों से पुष्ट हुआ, दानव-कुल-विनाशक, मुकुट धारण करने वाला इन्द्र, जिसकी अँगुलियाँ ऐरावत की पीठ थपथपाने से कठोर हो गयी हैं —आज मेरे द्वारा झुकाये हो गया ।'

सन्धियों की दृष्टि से भी उत्सृष्टिकांक से इसका साम्य है, क्योंकि इसमें भी दो ही सन्धियाँ मिलती हैं — (१) मुख और (२) निर्वहण । भिन्नता केवल वृत्ति के सम्बन्ध में मिलती है । उत्सृष्टिकांक के लक्षण के विपरीत इस रूपक में सात्वती वृत्ति की बहुलता है । इस प्रकार सिद्ध होता है कि रूपकों के किसी

डा० शास्त्री का यह मत है कि विमला-शक्ति प्रदान करके वस्तुत: इन्द्र ने नायक का उपकार ही किया है[1], अत: 'शक्र वृत्तान्त' को पताका मानने में कोई बाधा नहीं है। परन्तु प्रश्न यह है कि विमला शक्ति प्रदान करने से पूर्व क्या शक्र का कपट आचरण प्रतिनायकोचित नहीं है ? क्या कर्ण की 'किमु दत्तस्य न प्रतिगृह्णामि' यह उक्ति डा० शास्त्री के मत का विरोध नहीं करती ? यदि कर्ण को 'विमला' नामक शक्ति को प्रतिदान-रूप में पाकर अभीष्ट-सिद्धि का आनन्द होता तो अवश्य ही 'विमला' शक्ति के ग्रहण करने के उपरान्त उनके हर्षसूचक नाटकीय निर्देश अथवा हर्षसूचक उक्ति होती, — परन्तु नाटक में इनका अभाव है। दान करके कर्ण को सन्तोष होता है और उस सन्तोष का सूचक है कर्ण का यह कथन — 'मया कृतार्थ: खलु पाकशासन: ।' परन्तु यदि प्रतिदान ग्रहण करने में कर्ण को किसी प्रकार का सन्तोष मिलता तो कर्ण क्यों 'किमु दत्तस्य न प्रतिगृह्णामि' नहीं कहते, इसके विपरीत उनके मुख से हर्षसूचक उक्ति सुनायी पड़ती। परन्तु ऐसा इस रूपक में कहीं नहीं है। अतएव उपर्युक्त कारणों से शक्र-वृत्तान्त 'पताका' नामक अर्थप्रकृति की कोटि में किसी भी प्रकार नहीं रखी जा सकती।

अवस्थाएँ :- इस रूपक में कथानक की दो ही अवस्थाएँ प्राप्त होती हैं — आरम्भ और फलागम। कर्ण के विषादयुक्त हृदय से युद्धभूमि की ओर अग्रसर होने के वर्णन से लेकर उनके रथारोहण के समय विघ्न डालने वाले याचक के आविर्भाव तक 'आरम्भ' नामक अवस्था है। 'फलागम' की अवस्था वहाँ से शुरू होती है, जहाँ कर्ण शल्य से कहते हैं — 'उस ब्राह्मण को बुलाओ। नहीं, नहीं। मैं ही बुलाता हूँ। भगवन्! इधर आइए इधर।' यह अवस्था 'मया कृतार्थ: खलु पाकशासन:' कर्ण की इस उक्ति में चरमोत्कर्ष को प्राप्त होकर रूपक के अन्त तक उसी गौरव के साथ चलती है।

डा० सुरेन्द्रनाथ शास्त्री जी ने 'विमला' नामक शक्ति की प्राप्ति के सामने कर्ण के कवच-कुण्डल दान को तुच्छ कहा है[2]। केवल यही नहीं, उनकी दृष्टि में कवच-कुण्डल का दान कर्ण के लिए हानिकारक नहीं, उनकी दृष्टि में कवच-कुण्डल का दान कर्ण के लिए हानिकारक नहीं लाभकारक ही सिद्ध हुआ, क्योंकि कवच-कुण्डल के विनिमय में उन्हें अधिक महत्वपूर्ण 'विमला' शक्ति प्राप्त हुई। इसी विचार से डा. शास्त्री 'विमला' शक्ति की प्राप्ति

१ - द्रष्टव्य — शास्त्री जी का शोध-निबन्ध पृष्ठ संख्या ६३२

२ - द्रष्टव्य — "..... The acquisition of 'Vimala' is a greater asset than the retention of 'Kavacha'. Thus it is not a loss of 'Kavacha' but an exchange for something more effective" The Laws and Practice of Sanskrit Drama p 632

को ढाँक दो" — शक्र की इस उक्ति से लेकर आगे उन्हीं के द्वारा कर्ण को सूर्य, चन्द्र, हिमालय और सागर के समान महान् यश प्राप्त करने का आशीर्वाद देने तक ग्रथन नामक सन्ध्यंग है। इस अंग में रूपककार ने समस्त घटनाओं को मानो एक बिन्दु पर ग्रथित सा कर दिया है। जहाँ कर्ण ब्राह्मण के द्वारा दीर्घायु होने के आशीर्वाद न देने के हेतु का निर्धारण करते हैं, वहाँ निर्णय नामक सन्ध्यंग है। १७ वें श्लोक से लेकर शक्र की "अधिक। अधिक।" इस प्रकार की देवोक्ति तक 'परिभाषण' नामक अंग है। शक्र के कपट को समझ कर कर्ण के हृदय में क्षण भर के लिए सन्देह होता है, किन्तु दूसरे ही क्षण वे इस विचार के लिए अपने को ही धिक्कारते हैं। दान की महिमा का स्मरण कर हृदय में आविर्भूत शंकाजन्य दुःख भी तिरोहित हो जाता है। अतः यहाँ दुःख को समाप्त करने वाला 'समय' नामक अंग है। जहाँ कर्ण शल्य से कहते हैं — "ब्राह्मणों के अनेक यज्ञों के फल से तृप्त हुआ, दानव-समूह का विनाशक, किरीटवान्, ऐरावत के संचालन से कठोर उँगलियों वाला इन्द्र (आज) अवश्य ही मेरे द्वारा कृतार्थ कर दिया गया —" वहाँ पर 'भाषण' नामक सन्ध्यंग है। 'विमला' नामक अद्भुत शक्ति को लेकर देवदूत के प्रवेश करने के साथ-साथ अद्भुत वस्तु की प्राप्ति कराने वाला 'उपगूहन' नामक अंग का समावेश होता है। जब प्रतिदान ग्रहण करने में विमुख हुए कर्ण को देवदूत "ब्राह्मण का वचन मान कर इसे ग्रहण करो —" यह कहकर उस प्रतिदान को वरदान में बदल कर कर्ण को स्वीकृत कराते हैं, वहाँ पर उस वर की प्राप्ति कराने वाला 'उपसंहार' नामक अंग है। रूपक के चरम श्लोक में प्रशस्ति नामक निर्वहण सन्धि का अन्तिम अंग है, जो भरतवाक्य के नाम से भी निर्दिष्ट हुआ करता है।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि रूपक में भी दो सन्धियों का समावेश[1] है, चारों सन्धियों का नहीं। चार सन्धियों को जिन विद्वानों ने माना है, वे अवश्य ही रूपक के प्रयोजन, रस तथा इसकी नाटकीयता की अवहेलना की है, जिससे सन्धियों का यह प्रयोजन भी अनावश्यक रूप से उपेक्षित हो गया है।

१— द्रष्टव्य — "The Laws and Practice of Sanskrit Drama!" p.633

नुसार 'मध्यमव्यायोग' का अर्थ मध्यम पाण्डव भीम पर आधारित व्यायोग है । अपने मत की पुष्टि में उन्होंने यह युक्ति प्रस्तुत की है कि चूंकि प्रस्तुत नाटक में भीम का मध्यमत्व अनेक प्रकार से वर्णित हुआ है, इसलिए उसके आधार पर इसका नामकरण 'मध्यमव्यायोग' होना उपयुक्त ही है । परन्तु मध्यम शब्द से केवल भीम का अर्थ लेना उचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि ब्राह्मण केशवदास के द्वितीय पुत्र का नाम भी तो 'मध्यम' है और उसके भी त्याग के चित्रण में नाटककार ने बहुत उत्साह दिखाया है । इस प्रकार 'मध्यम' शब्द से केवल भीम का अर्थ लेने पर उसके प्रति अन्याय करना होगा । पं० बलदेव उपाध्याय ने[1] शीर्षक का अर्थ इस प्रकार किया है —'मध्यम पाण्डव भीम पर अथवा मध्यम ब्राह्मण कुमार पर आधारित व्यायोग नामक नाट्यप्रकार ।

व्यायोग शब्द से भी विद्वानों ने व्युत्पत्तिक अर्थ लिया है उनके आधार पर शीर्षक के भी भिन्न-भिन्न अर्थों की सम्भावना की गयी है । व्यायोग शब्द से व्यायोग नामक नाट्य प्रकार और विश्वायोग अर्थात् 'विशेष संयोग' — ये दो अर्थ लगाये जाते हैं । अन्तिम अर्थ के आधार पर शीर्षक की ऐसी व्याख्या भी की गयी है :—'मध्यम पाण्डव भीम का अपनी पत्नी हिडिम्बा से मिलन' । श्री जी०के० भट्ट को यही अभिप्रेत व्याख्या अभीष्ट है[2] ।

'मध्यम' शब्द रूपक के दो पात्रों के लिए प्रयुक्त हुआ है, इसका ध्यान रखके पुसाल्कर जी ने शीर्षक की व्याख्या इस प्रकार से की है —'जिस रचना में दो मध्यमों का संयोग हुआ है[3] ।'

श्री गणपति शास्त्री के मत की अनुपयुक्तता का उल्लेख पहले ही किया जा चुका है । श्री जी०के० भट्ट की व्याख्या भी ग्राह्य प्रतीत नहीं होती, क्योंकि भीम और हिडिम्बा का मिलन ही यदि आधिकारिक कथावस्तु होती तो रूपक का अंगीरस वीर न होकर शृंगार होता, नायक भीम होते और नायिका हिडिम्बा होती । नाटककार नायक-नायिका का मिलन दृश्य प्रस्तुत करने से पूर्व दोनों के

१- द्रष्टव्य —'महाकवि भास: एक अध्ययन' — पृष्ठ सं०५५(प्रथम संस्करण)

२- द्रष्टव्य :- " Madhyam Vyayoga seeks to develop a single theme of the reunion of Bhima and Hidimba." - G K Bhatt (Annal of Bhandarker Research Institute Vol 35 1955 "Problem of the Mahabharat Plays of Bhasa."

३- द्रष्टव्य — 'Bhasa — a study.' by A.D. Pusalker (1940) p. 201

ही नायक का प्रश्न स्वाभाविक रूप से आ जाता है । नायक के प्रकार पर ही नाट्य का प्रकार आधारित रहता है । नायक ही कथानक को फल-पर्यन्त पहुँचाता है, उसी के संकल्प से कथानक शुरू होता है और उसी की स्वार्थसिद्धि में वह समाप्त होता है ।

'मध्यमव्यायोग' के नायक-विषयक प्रश्न पर विद्वानों ने भिन्न-भिन्न मत प्रकट किया है । महामहोपाध्याय श्री टी० गणपति शास्त्री[1] तथा डा० आर० मानकड[2] स्पष्ट रूप से भीम को ही नायक मानते हैं । इसके विपरीत डा० सुरेन्द्रनाथ शास्त्री घटोत्कच को नायक मानते हैं[3] । प्रो० डी० आर० मानकड के भीम को नायक मानने का प्रधान कारण यह है कि उन्होंने इस रूपक को ईहामृग प्रकार का नाट्य माना है, परन्तु जैसा कि सिद्ध किया जायगा कि 'मध्यमव्यायोग' ईहामृग न होकर एक व्यायोग ही है — तो प्रो० मानकड जी के नायक सम्बन्धी मत का स्वतः ही खण्डन हो जायगा । महामहोपाध्याय जी का नायक-सम्बन्धी मत-स्ववचन-विरोध के दोष से दुष्ट है, क्योंकि वे स्वयं इस रूपक को ख्यातोद्धत नायक से युक्त होने के कारण 'व्यायोग' प्रकार का नाट्य मानते हैं, भीम की धीरता और क्षमा ही इस नाटक में वर्णित है । महाभारत में वह भले ही अपनी धीरोद्धत प्रकृति का परिचय देते हों किन्तु प्रस्तुत रूपक में कहीं भी उनकी उद्धतता का परिचय नहीं मिलता । अतः शास्त्री जी यदि भीम को नायक मानें तो स्ववचन का ही विरोध होगा । 'मध्यमव्यायोग' की टीका लिखते समय उन्होंने पहले ही कहा है 'ख्यातोद्धतनायकत्वात् ... रूपकमिदं व्यायोग इत्युच्यते ।' अतएव यदि उन्हें प्रस्तुत रूपक को व्यायोग मानना अभीष्ट है, और यदि वे ख्यातोद्धत नायकत्व को व्यायोग होने का प्रधान हेतु मानते हैं तो उन्हें भीम को नायक मानना कदापि उचित नहीं, क्योंकि भीम में उद्धतता कम से कम इस रूपक में तो देखने को नहीं मिलती ।

1- द्रष्टव्य — त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज से प्रकाशित पुस्तक संख्या मध्यमव्यायोग टीका पृ० 45
"नायकस्य भीमस्य बहुप्रकारं मध्यमत्वं वर्ण्यते । ख्यातोद्धतनायकत्वात् वीररसत्वात् स्त्रीनिमित्तसंग्रामत्वाभावात् ... बहुपुरुषप्रयुक्तत्वाच्च रूपकमिदं व्यायोग इत्युच्यते ।"

2- द्रष्टव्य — 'Types of Sanskrit Drama' by D R. Mankad (1936) Ch III p.61

3- द्रष्टव्य — 'The Laws and Practice of Sanskrit Drama' p 621

वस्तुत: जैसा पहले कह चुके हैं कि कथावस्तु को जो फलपर्यन्त पहुँचाता है, वही नायक होता है । उसी की इच्छा से कार्य का प्रारम्भ होता है, सारी घटनाएँ प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से उसी से सम्बन्धित होती हैं और फलागम की अवस्था में उसी को फल की प्राप्ति होती है । आगे इस रूपक की अवस्थाएँ सन्धि इत्यादि अंगों की विवेचना करते समय देखा जायगा कि उपर्युक्त सभी बातें घटोत्कच के विषय में ही पूर्णरूप से घटित होती हैं । इसके अतिरिक्त व्यायोग के नायक की धीरोद्धतता भी रूपक में उसी के चरित्र में दृष्टिगोचर होती है । इन सब कारणों से घटोत्कच को नायक मानना सर्वथा उचित है ।

नाट्यप्रकार :- प्रस्तुत रूपक व्यायोग के लक्षणों को प्राय: सभी दृष्टि से पूरा करता है । इसके शीर्षक में प्रयुक्त व्यायोग शब्द भी इसी का समर्थन करता है । व्यायोग के लक्षणानुसार कथानक प्रख्यात होना आवश्यक है । यहाँ पर सभी प्रमुख पात्रों के महाभारतीय होने के कारण इसकी प्रख्यातता बनी रहती है । नायक घटोत्कच धीरोद्धत है ही । सन्धियाँ भी तीन ही प्राप्त होती हैं । रस भी शृंगार और हास्य से भिन्न वीर, भयानक रौद्र आदि हैं । वीर रस अंगी है । शृंगार का अवकाश होने पर भी नाटककार ने सावधानी से उसकी उपेक्षा की है । यहाँ तक कि पिता-पुत्र के मिलन में वात्सल्य-रति के पर्याप्त अवसर होने पर भी रूपककार ने पुत्र के अभिवादन में और पिता के आशीर्वाद में वीरता-व्यंजक शब्दों का ही प्रयोग करवाया है । इन सब बातों को देखने से रूपक का व्यायोगत्व और भी स्पष्ट हो जाता है । इसमें भी 'अ-स्त्रीनिमित्त' संग्राम हुआ है । ब्राह्मणकुमार की रक्षा के लिए ही भीम घटोत्कच के साथ संग्राम करते हैं । एक ही दिन की घटना का वर्णन हुआ है तथा अंक भी एक ही है । धनिक ने व्यायोग की जो परिभाषा दी है — 'व्यायुज्यन्तेऽस्मिन् बहव: पुरुषा: इति व्यायोग:' — इसके अनुसार भी यह रूपक व्यायोग की कोटि में ही रखा जायेगा ।

प्रो० डी०आर०मानकड ने इसे ईहामृग की कोटि में रखा है, परन्तु यह मत मान्य नहीं है, क्योंकि ईहामृग का प्रमुख लक्षण 'मृगवत् अलभ्यां नायिकां नायकोऽस्मिन्नीहते इति ईहामृग:' — इसमें घटित नहीं होता । यद्यपि उन्होंने भीम को नायक और हिडिम्बा को नायिका माना है, तथापि उनका मत इस

आधार पर स्थिर नहीं होता । भीम नायक नहीं है, यह तो पहले ही देख चुके हैं । फिर भी यदि कुछ देर के लिए भीम को नायक मान भी लें तो भी उनका नायकत्व सिद्ध नहीं होता । भीम और हिडिम्बा पति-पत्नी हैं, प्रार्थी और प्रार्थिता नहीं । हिडिम्बा भीम से मिलने में अनिच्छुक नहीं है और न वह दिव्यस्त्री है । भीम उन्हें हरण करने का प्रयत्न भी नहीं करते । न इसमें शृंगाराभास है । ईहामृग में दिव्य पात्रों का समावेश किया जाता है उसमें चार अंक होते हैं — परन्तु इसमें सभी पात्र मर्त्य हैं और अंक भी एक ही है । इस प्रकार ईहामृग का कोई भी लक्षण इस रूपक में घटित नहीं होता[1] । प्रो०डी०आर०मानकड़ को तो व्यायोग और ईहामृग में केवल एक ही भिन्नता दिखायी पड़ी और उसके आधार पर ही वे अपना मत प्रतिष्ठित करना चाहते हैं — किन्तु भीम और हिडिम्बा के नायक-नायिकात्व असिद्ध xxxxxxxxxx हो जाने से उनका मत पूर्णतः निराधार हो जाता है ।

<u>आधिकारिक और प्रासंगिक इतिवृत्त</u> :- रूपक की आधिकारिक और प्रासंगिक इतिवृत्त के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है । अधिकांश विद्वानों ने भीम और हिडिम्बा की कथा को आधिकारिक और घटोत्कच के वृत्तान्त को प्रासंगिक इतिवृत्त माना है । परन्तु द्रष्टव्य है कि यदि भीम और हिडिम्बा की कथा आधिकारिक होती तो उसका सूत्रपात रूपक में इतने विलम्ब से न होता और न ही वह इतनी स्वल्पस्थायी होती । अंगीरस भी शृंगार अथवा उसी के अनुरूप कोई स्निग्ध रस होता । कोमल वृत्तियों का प्रयोग होता । नायक भीम होते और नायिका हिडिम्बा होती । परन्तु प्रस्तुत रूपक में भीम-हिडिम्बा की कथा इनमें से एक भी बात को पूरी नहीं करती । प्रो० ए०डी० पुसालकर ने पहले 'मध्यमव्यायोग' के शीर्षक की 'मध्यमस्य(भीमस्य) हिडिम्बया सह व्यायोगः' — इस व्याख्या के महत्त्व को अस्वीकार करके बाद में प्रो० ध्रुव का अनुसरण करके[2] भीम-हिडिम्बा की कथा[3] को आधिकारिक कथा कैसे मान लिया — इसका समाधान उनके • 'Bhas — A Study' • में नहीं मिलता । भीम और हिडिम्बा की कथा को आधिकारिक इतिवृत्त मानने पर इस रूपक का

१- द्रष्टव्य — दशरूपक 3/62-64

२- द्रष्टव्य — 'Bhasa — a study' by A.D Pushalker (1940) p.201

3. " — " " " " " " , " (") p.203

व्यायोगत्व का प्रतिष्ठित नहीं हो सकेगा । कीथ महोदय[1] इस नाटक को एक ओर तो 'भीम के प्रति हिडिम्बा के प्रेम की कथा' के रूप में उपस्थित करते हैं और दूसरी ओर व्यायोग[2] की कोटि में रखना चाहते हैं । परन्तु दोनों बातें परस्पर-विरोधी हैं, क्योंकि धनंजय ने 'दीप्ताः स्युः डिमवद्रसाः' कहकर व्यायोग के लक्षण में से प्रेमकथाओं का बहिष्कार कर दिया है । इसके अतिरिक्त पूर्वोक्त हेतुओं से भी भीम और हिडिम्बा की कथा को आधिकारिक कथा नहीं मान सकते ।

वस्तुतः घटोत्कच के वृत्तान्त में ही नाटक के अधिकांश अंश विकसित होते हैं । इसी में द्वितीय ब्राह्मणकुमार का अपूर्व आत्मत्याग, भीम का पराक्रम-प्रदर्शन तथा घटोत्कच के 'मातृसेवी पथ' का आदर्श परिनिष्ठित होता है । अतः रूपक के इस महत्त्वपूर्ण अंश को प्रासंगिक इतिवृत्त की कोटि में रखना अनुचित होगा । यही इसका आधिकारिक इतिवृत्त है । इस रूपक में प्रासंगिक इतिवृत्त का अभाव मानना ही श्रेयस्कर है । यदि प्रो० ए०डी० पुसाल्कर को इसकी अर्थप्रकृतियाँ सन्धियाँ आदि की आलोचना करके इसके व्यायोगत्व को प्रतिष्ठित करना होता तो वे कदापि इस रूपक के इतिवृत्त को आधिकारिक और प्रासंगिक में विभक्त करने की बात ही नहीं करते । फिर गर्भ और विमर्श सन्धि से हीन व्यायोग नामक नाट्यप्रकार में प्रासंगिक इतिवृत्त का न होना ही स्वाभाविक है क्योंकि इन्हीं दो अर्थप्रकृति-रूप कथांशों के संयोग से ही तो कथावस्तु में उपर्युक्त दोनों सन्धियों का आविर्भाव होता है ।

<u>अर्थप्रकृतियाँ</u> :- घटोत्कच के द्वारा ब्राह्मण-परिवार के अपहरण करने की सूचना से रूपक में बीज का न्यास होता है । १४ वें श्लोक के उपरान्त जहाँ समग्र ब्राह्मण-परिवार में आत्म-बलिदान की भावना स्पर्धा का रूप धारण कर लेती है, वहाँ पर रूपक का बीज कुछ अस्पष्ट होने लगता है, परन्तु अन्ततः घटोत्कच जहाँ द्वितीय ब्राह्मणकुमार से कहता है —'जो कुछ निश्चय चाहो । जाओ, मेरी माता का भोजन-काल व्यतीत होता जा रहा है, (अतः) शीघ्र लौट आना ।'— वहाँ पर अवान्तर कथांशों से विच्छिन्न हुई आधिकारिक कथावस्तु का पुनः संयोजन हो जाता है । अतः यहाँ बिन्दु नामक अर्थप्रकृति ही मानी जायगी ।

१- द्रष्टव्य — 'The Sanskrit Drama' by A. B. Keith (1954) p.106

दूतवाक्य

शीर्षक :- 'मध्यमव्यायोग' और 'कर्णभार' के समान इस रूपक का शीर्षक व्याख्यामूलक नहीं है । 'दूतवाक्य' -- इस शीर्षक से ही स्पष्ट हो जाता है कि इस रूपक में 'दूत' श्रीकृष्ण के 'वाक्य' अर्थात् सन्धि-प्रस्ताव की कथा वर्णित होगी । भगवान श्रीकृष्ण पाण्डवों के दूत बनकर, कौरव-राज के पास सन्धि का प्रस्ताव लेकर उपस्थित होते हैं । समस्त रूपक का केन्द्रबिन्दु दूतवेशधारी वासुदेव हैं और कथावस्तु की गति उनके सन्धि-प्रस्ताव पर निर्भर रहती है । अतः रूपक का नामकरण सार्थक है ।

नाट्यप्रकार :- यह रूपक एकांकी रूपकों के लक्षणों में से 'व्यायोग' के लक्षण से सर्वाधिक रूप से साम्य रखता है । महामहोपाध्याय श्री गणपति शास्त्री इसे 'वीथी' होने की सम्भावना करते हैं[1] और श्री ए०एस०पी० अय्यर भी इसे निश्चित रूप से 'वीथी' ही मानते हैं[2]। परन्तु ध्यान देने की बात है कि न तो [illegible] व प्रेमाख्यान है और न कैशिकी वृत्ति का बाहुल्य है । अतः वीथी के दो प्रमुख तत्त्वों की अनुपस्थिति से इसे वीथी की कोटि में रखने वाला मत निर्मूल सिद्ध हो जाता है ।

नायक कौन है ? यद्यपि प्रस्तुत रूपक में एकांकी नाट्यों में से किसी का भी लक्षण पूर्णतः घटित नहीं हो पाता, तथापि व्यायोग के लक्षण से सर्वाधिक निकट होने के कारण इसे व्यायोग कहना ही समीचीन है -- ऐसा तो पहले ही कहा जा चुका है । अब इस सम्बन्ध में एक प्रश्न मन में यह उठता है कि व्यायोग का नायक तो धीरोद्धत होता है, तो क्या 'दूतवाक्य' का नायक दुर्योधन है ?

स्वाभाविक रूप से व्यायोग के लक्षणानुसार तो धीरोद्धत दुर्योधन को ही इस रूपक का नायक होना चाहिए । परन्तु नायक शब्द का आशय इस रूपक में दुर्योधन की अपेक्षा श्रीकृष्ण पर अधिक पूर्णरूपेण से घटित होता है । दुर्योधन रूपक को अन्त तक ले जाने में असमर्थ है, उसके पूर्व ही वह पराजित होकर रंगमंच से तिरोहित हो जाता है । यदि दुर्योधन नायक होता तो कवि उसका [illegible] अन्त तक उसे उपस्थित रखने का अवसर अवश्य देते । अतएव

१- दूतवाक्य -- [illegible] प्रकाशित 'दूतवाक्य' की टीका (गणपतिशास्त्रीप्रणीत)
२- दूतवाक्य -- [illegible] ए०एस०पी० अय्यर पृ० सं ३४५

धृतराष्ट्र को 'पताका' एवं दुर्योधन को 'पताका नायक' मानना उचित होगा । पताका-नायक के सभी गुण दुर्योधन में उपलब्ध होते हैं । डा० विण्टरनित्ज[1] ने प्रस्तुत रूपक को किसी बड़े महाभारतीय नाटक का एक विच्छिन्न अंक माना है । परन्तु इस रूपक की रचना: सम्पूर्णता विण्टरनित्ज के मत को भ्रान्त सिद्ध करती है । यदि यह रूपक किसी वृहद् महाभारतीय नाटक का एक विच्छिन्न अंक होता तो अवश्य ही इसके आदि और अन्त में अपूर्णता का आभास होता । नाटक का आरम्भ समझने के लिए पिछले अंक के सन्दर्भ की आवश्यकता होती और अन्त में भी आगामी अंक के लिए प्रेरणा होती । परन्तु प्रस्तुत रूपक का आदि और अन्त स्वाभाविक है ।

<u>अर्थप्रकृतियाँ</u> :- सूत्र रूप में उपस्थित हुए वासुदेव के आगमन की सूचना में रूपक का बीज निहित है । इसके उपरान्त वासुदेव के प्रवेश से समस्त राजन्यवर्गों के स्वागतार्थ उठ खड़े होने में, चित्रपट को देखकर वासुदेव के क्रोध में तथा दुर्योधन और वासुदेव की पारस्परिक अभिवादन-क्रिया में बीज किंचित् अस्पष्ट हो जाता है, परन्तु दूत-रूपी वासुदेव के द्वारा युधिष्ठिर के सन्देश के कथन से न्याय-युक्त कथावस्तु पुनः अविच्छिन्न धारा में प्रवाहित होने लगती है — अतः यहाँ पर बिन्दु नामक अर्थप्रकृति है । रूपक के १८ वें श्लोक से कार्य नामक अर्थप्रकृति शुरू हो जाती है, जो रूपक के अन्त तक चलती है ।

<u>अवस्थाएँ</u> :- रूपक के १२ वें श्लोक के उपरान्त वासुदेव का प्रवेश होता है, जहाँ पर वासुदेव की उक्ति में रूपक की कार्यावस्थाओं में प्रथम आरम्भ नामक अवस्था का समावेश होता है । २८ वें श्लोक में यत्न नामक अवस्था है, जिसमें वासुदेव दुर्योधन को साम-वचनों से वशीभूत करने का यत्न करते हैं । ४४ वें श्लोक के उपरान्त जहाँ धृतराष्ट्र की भयपूर्णोक्ति सुनायी पड़ती है, वहाँ से फलागम नामक अन्तिम कार्यावस्था का सूत्रपात हो जाता है ।

<u>सन्धियाँ</u> :- प्रस्तुत रूपक में तीन ही सन्धियाँ हैं — मुख, प्रतिमुख और निर्वहण । पताका नामक अर्थप्रकृति के रहने पर भी उसका संयोग किसी अवस्था के साथ नहीं होता अतः गर्भ-सन्धि की सृष्टि भी नहीं हो सकती । गर्भ में तो अवस्था की विद्यमानता ही अधिक महत्त्वपूर्ण होती है । "पताका स्यान्न वा स्यात्प्राप्तिसंभवः" — इस उक्ति के अनुसार गर्भ-सन्धि में पताका का कुछ विशेष महत्त्व नहीं होता ।

१- द्रष्टव्य — विण्टरनित्ज हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर (अंग्रेजी में) पृ० सं० ३४४

वासुदेव के प्रति सुदर्शन की 'महाभारतकथनं कर्तुं वातव्य ब्रूते...' इत्यादि उक्ति में पुष्प नामक सन्ध्यंग का समावेश दिखायी पड़ता है ।

श्लोक संख्या ४७ से लेकर ५३ तक सुदर्शन की उक्ति में निर्णय नामक अंग है । रूपक के ५४ वें श्लोक में क्रोध का उपशमन होने के कारण सन्धि नामक निर्वहण का प्रथम अंग है । वासुदेव के 'यावदहमपि पाण्डवशिबिरमेव यास्यामि' — इस कथन से विबोध नामक सन्ध्यंग है । ५५ वें श्लोक में धृतराष्ट्र के अनुनय में प्रसाद नामक अंग है । धृतराष्ट्र के प्रति वासुदेव के 'किं ते भूयः प्रियमुपहरामि' में काव्यसंहार नामक अंग है और ५६ वें श्लोक में मंगलसूचक वाक्यों के प्रयोग होने के कारण प्रशस्ति नामक निर्वहण सन्धि का अन्तिम अंग है ।

सन्ध्यन्तर :- २१ सन्ध्यन्तरों में से साम, दण्ड, ओज, क्रोध, माया, दौत्य तथा चित्र का प्रयोग प्रस्तुत रूपक में सफलता के साथ किया गया है ।

कथावस्तु का दृश्य तथा सूच्य अंश :- प्रस्तुत रूपक में केवल 'चूलिका' को छोड़कर अन्य किसी प्रकार के अर्थोपक्षेपकों का प्रयोग नहीं हुआ है । इस प्रकार समग्र कथानक दृश्य रूप में पात्रों के संलाप के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है । जनान्तिक अथवा अपवारित प्रकार के नाट्यधर्मी संवादों का प्रयोग तो नहीं हुआ है, किन्तु सुदर्शन के द्वारा वासुदेव के आयुधपुरुषों के प्रति कही गयी उक्तियाँ अवश्य ही आकाशभाषित की कोटि में आयेंगी । अभिनेयता को अक्षुण्ण रखने के लिए इस प्रकार के संलापों का प्रयोग किया गया है । इसके अतिरिक्त रूपक के अन्य अंशों में भी इस प्रकार के आकाशभाषित का प्रयोग हुआ है ।

दूतघटोत्कच

शीर्षक :- 'दूतवाक्य' के समान ही प्रस्तुत रूपक के शीर्षक का अर्थ स्पष्ट एवं सुबोध है । व्युत्पत्ति आदि की दृष्टि से यह शीर्षक 'कर्णभार', 'मध्यमव्यायोग' आदि भास के अन्यान्य रूपकों के समान समस्याकारी नहीं है । घटोत्कच के दौत्य की घटना जो सर्वथा कवि-कल्पना-प्रसूत है, उसी के आधार पर रूपक का नामकरण किया गया है । भास की यह विशेषता है कि रामायण तथा महाभारतप्रसूत रूपकों की रचना करते समय जहाँ भी उन्होंने किसी उल्लेखनीय नवीन घटना का संयोजन किया है, वहाँ उसकी सूचना देने के लिए रूपक का नामकरण उस घटना के आधार पर कर दिया है । 'प्रतिमा', पंचरात्र, मध्यमव्यायोग एवं

घुत्कचोत्कच आदि शीर्षक इसी बात के प्रमाण हैं ।

नाट्यप्रकार :- प्रो० कीथ[1] इस रूपक को व्यायोग मानते हैं किन्तु व्यायोग की अपेक्षा यह उत्सृष्टिकांक के लक्षणों के अधिक निकट है । व्यायोग के विपरीत इसमें करुण रस अंगी है । व्यायोग में तीन सन्धियाँ होती हैं, किन्तु इसमें दो ही सन्धियों का समावेश किया गया है । दुःशला का क्रन्दन भी उत्सृष्टिकांक के लक्षण को ही पूरा करता है । गणपति शास्त्री को जो पाण्डुलिपि प्राप्त हुई थी, उसके अन्त में 'दूतघटोत्कचांक' शब्द भी इसके उत्सृष्टिकांकत्व को ही पुष्ट करती है । प्रो० ए०डी० पुसालकर,[2] ए०एस०पी० अय्यर[3] आदि विद्वान् इसे उत्सृष्टिकांक ही मानते हैं ।

अर्थप्रकृतियाँ :- रूपक के तृतीय श्लोक में जहाँ अभिमन्यु-वध की घोषणा की गयी है, वहाँ बीज नामक अर्थप्रकृति का समावेश हुआ है । घटोत्कच के द्वारा धृतराष्ट्र को अभिवादन करने के अनन्तर कार्य नामक अर्थप्रकृति शुरू होती है ।

अवस्थाएँ:- जहाँ घटोत्कच यह कहता है -- " मैं सुभद्रा-पुत्र अभिमन्यु के वध से प्रेरित होकर, श्रीकृष्ण का आदेश मानकर पापी कौरवों को देखने की इच्छा से जा रहा हूँ " -- वहाँ पर आरम्भ नामक अवस्था है । जहाँ घटोत्कच धृतराष्ट्र के सम्मुख श्रीकृष्ण का सन्देश सुनाता है और धृतराष्ट्र भी उसका आशय समझकर कहते हैं-- "क्रोध के साथ उपोनसीड श्रीकृष्ण ने ऐसा कहा है । मैं तो अर्जुन को समस्त क्षत्रियों का वध करते हुए देख रहा हूँ ।" -- वहाँ मानो घटोत्कच के दौत्य की सिद्धि हो जाती है । अतः वहाँ फलागम नामक अवस्था है ।

सन्धियाँ :- प्रस्तुत रूपक में दो ही सन्धियाँ हैं -- मुख और निर्वहण । वध की घोषणा से प्रारम्भ होकर घटोत्कच के द्वारा धृतराष्ट्र की अभिवादन-क्रिया तक मुख सन्धि विस्तृत है । रूपक के ३६ वें श्लोक से निर्वहण सन्धि शुरू हो जाती है और रूपक के अन्त तक उसी सन्धि का विस्तार है ।

सन्ध्यंग :- वध की घोषणा में रूपक का बीजन्यास होने के कारण उपक्षेप नामक सन्ध्यंग का समावेश होता है । "किसने मेरे कर्ण-पथ को दूषित किया ? कौन मेरा प्रिय जानकर अप्रिय बोल रहा है ? कौन ऐसा निर्भीक है जो हमारे शिशु के वध से कौरव कुल के विनाश की घोषणा कर रहा है ?" --इत्यादि धृतराष्ट्र की उक्ति में पूर्वप्रतिपादित बीजन्यास का ही बाहुल्य दृष्टिगोचर होता

१. द्रष्टव्य - The Sanskrit Drama' -(1954) p.96
2. " - 'Bhasa - a study' - (1940) p.193-194
3 " - 'Bhasa' (1952) p.345

~~होता है~~, अत: यहाँ 'परिकर' नामक मुख-सन्धि का द्वितीय अंग है । जहाँ धृतराष्ट्र को अभिमन्यु-वध के निमित्तभूत जयद्रथ के विनाश के सम्बन्ध में दृढ़ विश्वास हो जाता है वहाँ 'परिन्यास' नामक अंग है । धृतराष्ट्र के द्वारा अभिमन्यु के गुणों के वर्णन में विलोभन नामक अंग है । जहाँ वे गान्धारी से हेतु-निर्देश-पूर्वक अपने पुत्रों की जीवितावस्था में ही जलांजलि देने की बात करते हैं, — वहाँ 'युक्ति' नामक अंग है । दुर्योधन के विजयोल्लास में 'प्राप्ति' नामक अंग है । रूपक के १२ वें श्लोक से लेकर १६ वें श्लोक तक सुख-दु:खकारी 'विधान' नामक अंग है । रूपक के २५ वें श्लोक से लेकर २८ वें श्लोक तक अद्भुत भाव का वर्णन होने के कारण परिभाव नामक अंग है । घटोत्कच के प्रवेश के साथ-साथ बीज का उपादान होने के कारण समाधान नामक अंग है । रूपक के ३४ वें श्लोक से प्रस्तुत कार्य का आरम्भ होने के कारण 'करण' नामक अंग है ।

निर्वहण सन्धि में बीज से सम्बन्धित समस्त घटनाओं को जो अलसत: बिखर गयी हुई होती हैं, उन्हें एकत्रित कर एक निश्चित दिशा की ओर प्रेरित किया जाता है । प्रस्तुत रूपक में अभिमन्यु-वध के आधार से धृतराष्ट्र ने जिस भयंकर परिणाम की आशंका किया है, उनकी वह आशंका दुर्योधन,दु:शासन आदि के आश्वासन के मध्य भी बार-बार उद्बुद्ध होने लगती है । अन्त में श्रीकृष्ण का सन्देश लेकर घटोत्कच के उपस्थित होने पर वह आशंका सत्य बन जाती है । इस समय सारी घटनाएँ एकोन्मुख होकर घटोत्कच के दौत्य-कार्य पर केन्द्रित हो जाती हैं । अतएव घटोत्कच के आगमन से ही निर्वहण सन्धि शुरू हो जाती है । रूपक के ३६ वें श्लोक में घटोत्कच के प्रति धृतराष्ट्र की उक्ति में बीज की उद्भावना की जाती है, अतएव यहाँ सन्धि नामक निर्वहण का प्रथम अंग है । तदनन्तर घटोत्कच और धृतराष्ट्र के संवाद में कार्य की फिर से खोज की जाती है, अत: यहाँ विबोध नामक द्वितीय अंग का समावेश होता है । कार्य का उपक्षेप 'ग्रन्थन' कहलाता है । घटोत्कच जहाँ श्रीकृष्ण का सन्देश सुनाता है, वहाँ पर इस अंग का समावेश हुआ है । रूपक के ३८ वें श्लोक में निर्णय नामक अंग है । रूपक के ४० वें श्लोक में जहाँ घटोत्कच दुर्योधन के दुष्कर्मों का वर्णन करता है, वहाँ 'भाषण', नामक अंग है । रूपक के

४८ वें श्लोक से ५० वें श्लोक तक घटोत्कच की उक्ति में भाषण नामक अंग है । धृतराष्ट्र जहाँ घटोत्कच को मनाते हुए कहते हैं —" पौत्र घटोत्कच, क्षमा करो । क्षमा करो । मेरे वचनों पर ध्यान दो" — वहाँ प्रसाद नामक अंग है । रूपक के अन्तिम श्लोक का प्रारम्भ तो भरतवाक्य के समान होता है, किन्तु अंतिम अंशों में शुभ-शंसन न होने के कारण इसे प्रशस्ति नामक निर्वहण सन्धि का अन्तिम अंग माना नहीं जा सकता । इस श्लोक को पुसाल्कर महोदय प्रक्षिप्त मानते हैं । किन्तु कथानक की दृष्टि से विचार करने पर इसकी प्रक्षिप्तता का विश्वास नहीं होता । इसे निर्वहण सन्धि का अन्तिम अंग 'पूर्वभाव' माना जा सकता है । 'पूर्वभाव' का लक्षण 'कार्यदृष्ट् पूर्वभावो ~~ऽपसंहार~~:' है । इस दृष्टि से यह श्लोक पूर्वभाव कहने में सर्वथा समर्थ है ।

<u>सन्ध्यन्तर</u> :- इसमें दौत्य, दण्ड, ओज, क्रोध, दाम इत्यादि सन्ध्यन्तरों का सुन्दर समावेश हुआ है ।

<u>कथावस्तु का दृश्य तथा सूच्य अंश</u> :- केवल रूपक की प्रस्तावना में 'चूलिका' नामक सूच्य कथांश के प्रतिपादक अर्थोपक्षेपक का प्रयोग हुआ है । इसे छोड़कर सम्पूर्ण रूपक में कहीं भी अर्थोपक्षेपकों का प्रयोग नहीं हुआ है । इस स्थल को छोड़कर शेष कथानक दृश्यरूप में प्रस्तुत किया गया है ।

<u>ऊरुभंग</u>

<u>शीर्षक</u> :- इस रूपक का सम्पूर्ण कथासूत्र महायुद्ध में भीम द्वारा दुर्योधन के ऊरुभंग की घटना पर ही आधारित है । ऊरुभंग की घटना में इसके पूर्वापर सभी संवाद केन्द्रित हैं । रूपक के प्रारम्भ में तीनों भटों के संवाद में समन्तपंचक के जिस भयावह रूप का वर्णन हुआ है, उससे मुख्य घटना (ऊरुभंग) में अधिक तीव्रता आ गयी है । साथ ही रक्तप्लावित समर के निःशंककरुण रूप की पृष्ठभूमि में इस ऊरुभंग की घटना में अधिक प्रभावोत्पादकता आ गयी है । इसी प्रकार बलराम का क्रोध, धृतराष्ट्र-गान्धारी का करुण संवाद, दुर्जय की बालसुलभ आकांक्षा, मालवी और पौरवी का क्रन्दन, अश्वत्थामा का रौद्र रूप इत्यादि बाद की सारी घटनाओं का निमित्त भी दुर्योधन का ऊरुभंग ही है । इसी घटना का अवलम्बन करके ही रूपककार को अपने चरित-नायक के चरित्रांकन में सफलता मिली है । अतः सभी दृष्टियों से रूपक का 'ऊरुभंग'

नामकरण सार्थक होने के साथ-साथ यथार्थ भी प्रतीत होता है ।

<u>रूपक की पूर्णता</u> :- भास के किसी भी महाभारतीय रूपक को सुक्थंकर महोदय स्वतन्त्र रचना नहीं मानते, ऊरुभंग के विषय में उनकी यह धारणा और भी दृढ़ प्रतीत होती है । डा० सुक्थंकर जी के मतानुसार यह रूपक स्वयं सम्पूर्ण न होकर किसी वृहद् महाभारतीय रूपक का एक विच्छिन्न अंक मात्र है । किन्तु सुक्थंकर जी का मत कई कारणों से मान्य नहीं प्रतीत होता । पहली बात नाना प्रकार की कथा और उपकथाओं से पूर्ण महाभारत के महान विस्तार को देखकर यह धारणा स्वतः ही बन जाती है कि महाभारत का समग्र कथासूत्र किसी भी प्रकार एक नाटक का उपजीव्य नहीं बनाया जा सकता । फिर यदि कोई ऐसे नाटक की रचना में सफल भी हो तो वह नाटक स्थान-काल इत्यादि संकलनत्रय तथा पात्रों के सामञ्जस्य की दृष्टि से कदापि अभिनेय सिद्ध नहीं हो सकेगा । वह केवल पढ़ा जा सकेगा, उसका अभिनय करना सम्भव न होगा । सुक्थंकर जी के मत को भ्रान्त सिद्ध करने का प्रबलतम प्रमाण तो यह है कि यदि भास के सभी महाभारतीय रूपकों को एक ही वृहद् नाटक का अंग मान लें तो वे परस्पर विरोधी सिद्ध होंगे । कर्णभार, दूतघटोत्कच, दूतवाक्य तथा ऊरुभंग का पँचरात्र से विरोध होगा । दूतघटोत्कच का २७ वाँ श्लोक 'कर्णभार' की कथावस्तु को विकृत बना देगा ।

एक एकांकी रूपक और किसी रूपक के एक विशिष्ट अंक में महान अन्तर है । यदि इनमें भिन्नता न होती तो एकांकी कला का पृथक अस्तित्व ही न होता । 'दूतघटोत्कच' के सम्बन्ध में विंटरनित्ज़ के मत की आलोचना करते हुए भी इस पर कुछ प्रकाश डाला जा चुका है । 'ऊरुभंग' में कथा का चयन एवं कथा का निर्वाह दोनों ही सुक्थंकर जी के मत को निराधार सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है । यदि यह एक वृहद् नाटक का एक संक्षिप्त अंक मात्र होता तो भ महायुद्ध का आडम्बर वर्णन इस अंक में न होता । पिछले अंक के अन्त में इसकी सूचना देकर नाटककार सीधे दुर्योधन के प्रवेश से इस रूपक का आरम्भ करते । उदाहरणार्थ, भास के 'स्वप्नवासवदत्तम्' के पँचम अंक के अन्तिम अंश में आरुणि के आक्रमण की सूचना मिलती है और उसके प्रतिकार का कुछ

१- सुक्थंकर — "The Urubhanga is not a tragedy in one act, but a detached intermediate act of some drama ... it is the only surviving intermediate act of an epic drama" — Journal of the Bombay Branch of the Royal Asiatic Society Vol. I 1925 (Bhasa Riddle, A proposed solution by V.S. Sukathankar)

निष्क्रमण करके उदयन अपने सिंहासन से उठ खड़े होते हैं । इस स्थलों पर यह अंक समाप्त कर दिया जाता है । तदनन्तर षष्ठ अंक के आरम्भ में विजयी उदयन का प्रवेश होता है । अतः यदि 'ऊरुभंग' एक पूर्णांग रचना न होकर किसी वृहद् नाटक का एक संक्षिप्त अंक मात्र होता तो सम्भव है भास उसमें भी कथावस्तु का निर्वाह इसी प्रकार से करते । पुष्पंकर जी प्रस्तुत रूपक में उपसंहार के अभाव को अपने मत की पुष्टि के प्रमाण रूप में प्रस्तुत करते हैं किन्तु बलदेव जी के प्रशस्ति वाक्य में निश्चित रूप से रूपक का उपसंहार होता है । अतः ऊरुभंग को अपूर्ण मानना उचित प्रतीत नहीं होता ।

<u>रूपक दुःखान्त है अथवा सुखान्त</u> :- महामहोपाध्याय श्री गणपति शास्त्री, ए०एस०पी० अय्यर, श्री बलदेव उपाध्याय आदि विद्वानों ने प्रस्तुत रूपक को दुःखान्त माना है परन्तु कीथ तथा प्रो० जागीरदार इसे सुखान्त मानते हैं । कीथ का मत यह है कि दुर्योधन के समान पापकर्मा से दर्शक को कुछ भी सहानुभूति नहीं है, अतः उसका निधन सामाजिक को दुःखकारी प्रतीत नहीं होता[1] । कीथ तथा जागीरदार दोनों ही दुर्योधन को नायक नहीं मानते हैं । कीथ कहते हैं कि दुर्योधन इस नाटक का प्रमुख विषय अवश्य है किन्तु वह नायक नहीं हो सकता, क्योंकि एक दुष्ट को उसकी दुष्टता का फल-भोग करते दिखाना ही इस रूपक का उद्देश्य है । जागीरदार भी दुर्योधन के नायकत्व का विरोध करते हुए कहते हैं कि इस प्रकार[2] का दुःशील व्यक्ति कभी भी किसी संस्कृत के रूपक का नायक नहीं हो सकता ।

इन दोनों विद्वानों का मत चिन्तनीय प्रतीत होता है । संस्कृत के दसों प्रकार के रूपकों में से सभी में नायक का चरित्र उदात्त हो —ऐसा कोई विधान नहीं है । नाटक को छोड़कर धीरोदात्त नायक की आवश्यकता अन्य किसी रूपक में नहीं होती । भाण, व्यायोग, डिम में धीरोद्धत नायक का विधान किया गया है[3] । भास ने पतित दुर्योधन के चरित्र को जिस प्रकार चित्रित किया है, उससे यह तो स्पष्ट ही हो जाता है कि दुर्योधन को नायक की पदवी देना

१- द्रष्टव्य — "The wicked man who perishes is merely in the view of the Sanskrit Drama, a criminal undergoing punishment for whose sufferings we should feel no sympathy whatever ... Drama in Sans. Lit.

२- द्रष्टव्य — "..... Such a person is not a suitable hero for any drama." (Drama in Sans. Lit by R.V. Jagirdar)

३- द्रष्टव्य — दशरूपक ३।४६; ३।५०-५२॥, ३।६०॥

अवश्य ही अभीष्ट रहा होगा । यदि उन्हें दुर्योधन को नायक बनाना अभीष्ट न होता तो उसके चरित्र को ऊँचा उठाने के लिए वे इतना प्रयास क्यो न करते । दुर्योधन का चरित्र महाभारत में जो कुछ भी हो, परन्तु प्रस्तुत रूपक में उसका चरित्र नि:सन्देह श्लाघ्य है । उत्सृष्टिकांक का नेता प्राकृत पुरुष होता है, राम अथवा कृष्ण के समान पुरुषोत्तम नहीं । प्राकृत पुरुष का चरित्र दोष-गुण मिश्रित होता है । उससे अपराध भी प्राय: हो जाया करते हैं, परन्तु उस अपराध को मुक्तकण्ठ से स्वीकार करने पर तथा उसके मार्जन का प्रयत्न करने पर महान अपराध भी लघु हो जाता है । पश्चात्ताप की अग्नि में अपने को तपा कर प्राकृत पुरुष लोक का स्नेहपात्र बन जाता है । इस उत्सृष्टिकांक का नायक दुर्योधन भी इसी प्रकार का प्राकृत पुरुष है । वह महाभारत का दुरात्मा दुर्योधन नहीं, किन्तु दोष-गुण-मिश्रित एक प्राकृत पुरुष है । उसकी मृत्युकालीन उदात्तता उसे इस रूपक के नायक के पद पर अधिष्ठित होने के लिए सहायता करती है । दुर्योधन अपना अपराध स्वीकार करके तथा बलराम एवं अश्वत्थामा को शान्त करके नि:सन्देह अपने को दर्शक की सहानुभूति का पात्र बना लेता है । उसका वीरोचित स्वाभिमान, उसकी मातृभक्ति, पुत्र के प्रति उसका अन्तिम उपदेश एवं अन्त में उसका स्वर्ग-गमन यही सिद्ध करते हैं कि दुर्योधन को नायक की पदवी देना रूपककार को अवश्य अभीष्ट रहा होगा । उसके नायकत्व एवं उसके चरित्र के पूर्वोक्त वैशिष्ट्य के कारण उसका निधन अवश्य ही रूपक को दु:खान्त बना देता है । दर्शक को उसके प्रति पूरी सहानुभूति है । उसकी दुर्दशा को देखकर उन्हें दु:ख होता है । मृत्यु को इस प्रकार उदात्तता से आलिंगन करके करुणामय वह दुर्योधन दर्शक के हृदय पर अपना अमिट प्रभाव डाल देता है । अतः रूपक निश्चित रूप से दु:खान्त है ।)

<u>नाट्यप्रकार</u> :- यह रूपक उत्सृष्टिकांक प्रकार के एकांकी नाट्य का एक उत्तम उदाहरण प्रस्तुत करता है । इसे कोई-कोई विद्वान् व्यायोग की कोटि में रखना चाहते हैं । परन्तु व्यायोग की अपेक्षा यह उत्सृष्टिकांक के लक्षणों से अधिक साम्य रखता है । इसका इतिवृत्त प्रख्यात है । कवि ने इसमें अपनी प्रतिभा से नवीन घटनाओं का संयोजन किया है । इसका अंगीरस करुण है । स्त्रियों का रोदन भी है । इसमें दो ही सन्धियाँ हैं -- मुख और निर्वहण ।

व्यायोग के लक्षण में ये बातें नहीं पायी जातीं । व्यायोग का कौतूहल कारण कभी नहीं हो सकता । उसमें तीन सन्धियाँ होती हैं, दो नहीं । व्यायोग का नायक ख्यातोद्धत होता है, परन्तु इस रूपक के नायक दुर्योधन को कोई ख्यातोद्धत नहीं कहेगा । अतः इसे व्यायोग मानना अनुचित होगा । यह निश्चित रूप से एक उत्सृष्टिकांक है । काव्यानुशासन आदि अन्यान्य शास्त्रीय ग्रन्थों के अनुसार भी यह उत्सृष्टिकांक ही सिद्ध होता है । गणपति शास्त्री, विण्टरनित्स, कुलाल्कर, अय्यर तथा बलदेव उपाध्याय इसे उत्सृष्टिकांक ही मानते हैं ।

अर्थप्रकृति :- प्रथम अङ्क की निम्नलिखित उक्ति में नाटक का बीज निहित है 'अरे ! यह तो द्रौपदी के बालों के खींचने के कारण क्रुद्ध पाण्डवों का मध्यम भ्राता भीमसेन और सौ भाइयों के वध से अत्यन्त कुपित सम्राट दुर्योधन कौरवों और पाण्डवों के परमपूजनीय व्यास, बलराम, श्रीकृष्ण तथा विदुर के समक्ष गदायुद्ध आरम्भ कर रहे हैं ।'

यही गदायुद्ध कथावस्तु के कार्य(फल) का साधक है, अतः यहाँ पर 'बीज' नामक अर्थप्रकृति की उपस्थिति मानी जायगी । यह अर्थप्रकृति आगे आहत दुर्योधन के प्रवेश के अनन्तर बलदेव और दुर्योधन के संवादों में गान्धारी और धृतराष्ट्र के करुण विलापों में, दुर्जय की बालोचित आकांक्षा में तथा दुर्योधन-महिषियों के क्रन्दन में पल्लवित होकर दुर्जय के प्रति दुर्योधन के अन्तिम उपदेश में चरम उत्कर्ष को प्राप्त करती है । दुर्योधन के इस मार्मिक उपदेश से करुण कथाकुल में रस का चरम परिपाक होता है । मृत्युशय्याशायी नायक का स्वाभिमान और उदात्तता दोनों उत्कर्ष के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचते हैं । यहीं पर रूपक का कथाप्रवाह अपनी सीमान्त अवस्था को प्राप्त करके आगे बलराम की 'हाय, कुरुराज अब पश्चात्ताप में परिणत हो गयी ।' — इस उक्ति के साथ निर्वहणोन्मुख हो जाती है । यहाँ से रूपक की अन्तिम अर्थप्रकृति 'कार्य' शुरू हो जाती है ।

अवस्थाएँ :- जिस प्रकार प्रस्तुत रूपक में केवल दो ही अर्थप्रकृतियाँ हैं, उसी प्रकार दो ही अवस्थाओं का समावेश हुआ है — आरम्भ और फलागम । आहत दुर्योधन के रंगमंच पर प्रवेश करने के साथ कथानक में 'आरम्भ' नामक अवस्था का समावेश होता है । रूपक के अन्त में नायक को सब की सहानुभूति मिलती है, उसके मन में सन्तोष होता है और अन्त में उसे सब के चिर-आराध्य स्वर्गलोक की प्राप्ति होती है । अतः यहाँ 'फलागम' नामक अवस्था का आविर्भाव

होता है ।

सन्धियाँ :- प्रस्तुत कथानक में केवल दो ही सन्धियों की सृष्टि हुई है — मुख और निर्वहण । मुख सन्धि का सूत्रपात अङ्क के विष्कम्भक में हो ही जाता है । यह सन्धि अङ्क के ५३ वें श्लोक तक चलती है । इसके अनुसार निर्वहण सन्धि का आविर्भाव होता है जो अङ्क के अन्त तक चलती है ।

सन्ध्यंग :- जहाँ प्रथम भट भीम और दुर्योधन के गदायुद्ध के आरम्भ होने की सूचना देता है, वहाँपर बीज का न्यास होने के कारण उपक्षेप नामक मुखसन्धि का प्रथम अंग है । अङ्क के १६ वें श्लोक से १८ वें श्लोक तक भटों के संवाद में उसी की पुष्टि होने के कारण परिकर नामक सन्ध्यंग का समावेश होता है । अङ्क के २० वें तथा २१ वें श्लोक में भीम के मूर्च्छितप्राय होकर गिरने से बीजन्यास का बाहुल्य रूप परिकर अंग एक अत्यन्त परिपक्व अवस्था को प्राप्त कर लेता है, अतः यहाँ परिन्यास नामक अंग है । २२ वें श्लोक में दुर्योधन के शौर्य एवं नीति इत्यादि गुणों का वर्णन होने के कारण विलोभन नामक अंग है । बाहक दुर्योधन के प्रवेश से पुनः बीज का उपादान होता है । अतः यहाँ समाधान नामक सन्ध्यंग का समावेश होता है । जहाँ दुर्योधन-हेतु प्रदर्शन-पूर्वक पाण्डवों के वध के लिए उद्यत बलराम को रोकता है, वहाँ युक्ति नामक अंग है । बलराम के मुख से जब दुर्योधन यह सुनता है कि वह भीम के द्वारा अन्याय युद्ध में पराजित किया गया है, तब वह हर्षित होकर कहता है — "अहा ! तब तो मेरे प्राणों की कीमत अच्छी लगी है क्योंकि चारों तरफ से धधकती हुई आग से भयावह बने हुए लाक्षागृह से अपने को बुद्धिमानी से बचाने वाले, कुबेर के घर में पर्वत के कटानों के द्वारा तीव्रता के साथ प्रत्याघात करने वाले, हिडिम्ब नामक राक्षस का संहार करने वाले भीम के द्वारा यदि आप मुझे छल से पराजित हुआ समझते हैं, तब तो हे राम ! मैं पराजित नहीं हुआ ।" — यहाँ पर दुर्योधन का यह आशय है कि इतने अधिक बलशाली भीम को भी यदि छल का आश्रय लेकर उसे पराजित करना पड़ा तो उसका स्थान निश्चयी भीम से ऊपर है। इस बात का अनुभव करके मानो पराजित दुर्योधन को चिरवांछित आनन्द की प्राप्ति हो जाती है । अतः यहाँ प्राप्ति नामक सन्ध्यंग है । जब दुर्योधन बलराम से अपनी मृत्यु के रहस्य का उद्घाटन करते हुए कहता है "... जगत के प्रिय उसी श्रीकृष्ण ने भीम का मन में प्रवेश करके छल-रहित युद्ध के पुजारी मुझको अथवा मृत्यु के हाथों में

जहाँ दुर्योधन कहता है -- " अहा ! मेरे मन की बात पूरी हो गई । -- " वहाँ नायक के दुःख का निर्गम हो जाने से समय नामक अंग है । जहाँ दुर्योधन अपना स्वर्ग-यात्रा का वर्णन करता है, वहाँ कार्य का दर्शन होने के कारण पूर्वभाव नामक अंग है । जहाँ दुर्योधन कहता है " मुझे ले जाने के लिए धर्मराज के सहस्र हंसों से युक्त घोड़ों का वहन करने वाला विमान भेजा है, " वहाँ नायक को अद्भुत वस्तु की प्राप्ति होने के कारण उपगूहन नामक अंग है । धृतराष्ट्र की उक्ति में काव्यार्थ का उपसंहार होता है , अतः वहाँ उपसंहार नामक अंग है । और बलराम के मुख से उच्चारित रूपक की अन्तिम पंक्ति में शुभ वचन का कथन होने के कारण प्रशस्ति नामक निर्वहणसन्धि के अन्तिम अंग का समावेश होता है ।

कथावस्तु का दृश्य तथा सूच्य अंश :- प्रस्तुत रूपक के कथानक का एक बहुत बड़ा अंश अर्थोपक्षेपक के द्वारा सूचित किया गया है । रूपक की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटना भीम और दुर्योधन का गदायुद्ध जिसका उपयोग रूपककार ने दुर्योधन के हृदय-परिवर्तन करने तथा सामाजिक के हृदय में दुर्योधन के प्रति सहानुभूति भर देने के लिए किया है, उसका प्रतिपादन सूच्य रूप में हो हुआ है । इससे नाटककार की प्रतिभा ही अभिव्यक्त होती है, क्योंकि जिसने दुर्योधन की मृत्यु के घटना को नाट्यशास्त्र के नियम की अवहेलना करके रंगमंच पर दृश्य रूप में प्रस्तुत किया है, उसकी लेखनी से यह घटना भी दृश्य रूप में प्रस्तुत हो सकती थी -- किन्तु विष्कम्भक के माध्यम से इस घटना का सूच्य रूप प्रस्तुत करके वस्तुतः रूपककार ने अपनी प्रतिभा एवं कुशलता दोनों का परिचय दिया है ।

यदि रूपककार गदायुद्ध की घटना का दृश्य-रूप प्रस्तुत करते तो उनके इस रूपक की रचना का उद्देश्य ही विफल हो जाता । इससे एक तो उन्हें पुरुषोत्तम कृष्ण को इस अन्याय युद्ध के प्रधान प्रोत्साहक के रूप में दिखाना पड़ता, दूसरी बात -- गदायुद्ध के दृश्यरूप में रंगमंच पर प्रस्तुत किये जाने पर महाभारतीय-कथा से परिचित सामाजिक दुर्योधन की पराजय की कामना करके ही भीम की विजय देखने के लिए उत्सुक हो उठते । इस अवस्था में दुर्योधन का पतन सामाजिक के हृदय में किसी प्रकार की सहानुभूति का उद्रेक न कर पाता ।

<u>नाट्यप्रकार</u> :- प्रो० डी०आर० मानकड के अतिरिक्त प्रायः सभी विद्वानों ने इस रूपक को 'समवकार' माना है । केवल मानकड जी इसे 'व्यायोग' प्रकार का रूपक मानते हैं[1] । यद्यपि समवकार के निर्दिष्ट लक्षणों में से सब के सब इस रूपक में प्राप्त नहीं होते, तथापि व्यायोग की अपेक्षा यह समवकार के लक्षण से अधिक साम्य रखता है -- यह बात तो माननी ही पड़ेगी । व्यायोग का एकांकीत्व ही मानकड जी के मत को भ्रान्त सिद्ध करने के लिए सर्वाधिक प्रबल प्रमाण है । इस रूपक में तीन अंक हैं । कथावस्तु में गर्भसन्धि की उपस्थिति[2] भी व्यायोग कहने वाले मत का विरोध करती है । अतः प्रस्तुत रूपक को समवकार मानना ही उचित प्रतीत होता है । इसमें समवकार के लक्षणों के अनुकूल ही तीन अंक हैं, विमर्श को छोड़कर शेष सन्धियाँ हैं । वीररस का आधिक्य है, कपट और विद्रव भी है । इसका इतिवृत्त प्रख्यात तो है, किन्तु समवकार के[3] लक्षण के समान देवासुर से सम्बन्धित नहीं है । श्री टी० गणपति शास्त्री ने द्रोण, भीष्म आदि पात्रों को दैवकल्प मानकर इस अभाव को पूर्ण करने का प्रयत्न किया है, प्रो० ए०डी० पुसालकर जी ने इसका अनुमोदन या समर्थन भी किया है[4], ~~प्रो० ए०डी० पुसालकर जी ने~~ फिर भी यह प्रयास सामञ्जस्यक प्रतीत नहीं होता -- क्योंकि एक तो समवकार के लक्षण में 'दैवकल्पों' के लिए अवकाश नहीं है, 'ख्यातं देवासुरं वस्तु' तथा 'नेतारो देवदानवाः' इत्यादि स्पष्टरूप से साक्षात् देवता और दानवों का उल्लेख ही किया गया है । फिर गणपति शास्त्री जी ने तो केवल देवता वाले लक्षण के अभाव को ही पूर्ण करने का प्रयास किया है, किन्तु परिभाषा में असुरों का भी तो उल्लेख हुआ है । अतः केवल देवतावाली समस्या के समाधान से लक्षण पूरा नहीं होगा, उसके लिए असुरों की भी उपस्थिति दिखानी होगी । शकुनि में आसुरी प्रवृत्ति अवश्य है किन्तु उसे साक्षात् असुर तो नहीं कहा जा

१- द्रष्टव्य -- "पञ्चरात्र exhibits all the characteristics of a व्यायोग..." (Types of Sanskrit drama by D.R. Mankad) p. 58

२- द्रष्टव्य -- 'हीनगर्भविमर्शाभ्याम्...' ३।६१।।

३- द्रष्टव्य -- त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज़ से प्रकाशित 'पञ्चरात्र' की गणपति शास्त्री प्रणीत टीका

४- द्रष्टव्य -- 'Bhasa - a Study' by A.D. Pusalkar (1940) p. 209

सकता । जरासन्ध के पुत्र का उल्लेख हुआ है, किन्तु वह प्रत्यक्ष रूप से कथावस्तु के प्रवाह में कोई सहयोग नहीं देता, अतः केवल उल्लेख से लक्षण को घटित करने के लिए पर्याप्त नहीं है । वस्तुतः इस अभाव की पूर्ति का प्रयास करना ही व्यर्थ है । समाधान के लिए एक ही उपाय है, वह यह है कि इस रूपक को विशुद्ध समवकार न कहकर 'समवकार के लक्षणों से सर्वाधिक साम्य रखने वाला' कहा जाय । भास के किसी भी रूपक में नाट्यशास्त्र के निर्धारित लक्षणों का सांगोपांग रूप से अनुसरण नहीं किया गया है और यह बात भास जैसे मौलिक प्रतिभासम्पन्न कवि के लिए सर्वथा उचित एवं स्वाभाविक ही है । आगे दिखाया जायगा कि यह 'देवासुर' वाला एक ही लक्षण नहीं किन्तु समवकार के अन्य कई लक्षण भी भास के इस रूपक में घटित नहीं होते । इसी कारण से हमने बार-बार 'समवकार' न कहकर 'समवकार के लक्षणों से सर्वाधिक साम्य रखने वाला' ऐसा कहा जा रहा है ।

प्रस्तुत नाटक में समवकार के लक्षणों के अनुरूप धीरोदात्त नायक भी निर्दिष्ट संख्या में विद्यमान ही नहीं है । भीष्म, द्रोण, युधिष्ठिर, विराट आदि कई धीरोदात्त नायक अवश्य हैं किन्तु उनकी संख्या बारह नहीं हो सकती । इसमें शृंगार का भी प्रायः अभाव ही है । शृंगार का अभाव होना कोई बड़ी त्रुटि नहीं है क्योंकि प्रतापरुद्रीय में समवकार के लक्षण में शृंगार का उल्लेख ही नहीं हुआ है[1] । प्रस्तुत रूपक में कैशिकी वृत्ति भी नहीं मिलती । अंकों के लिए समय का जो विधान किया गया है, उसका पालन भी सम्भव नहीं हुआ है । समवकार में प्रवेशक का अभाव होने का नियम है, किन्तु प्रस्तुत रूपक में प्रवेशक का समावेश भी हुआ है ।

परन्तु इन पूर्वोक्त त्रुटियों के होने पर भी 'पंचरात्र' को दश प्रकार के रूपकों में से 'समवकार' मानना ही उचित होगा, क्योंकि शेष नौ प्रकार के रूपकों के लक्षण से तो इसका और भी अधिक वैषम्य है ।

इस रूपक में कई प्रधान पात्रों के प्रयोजनों का 'समवकरण' हुआ है । दुर्योधन का प्रयोजन था गुरु को उनकी अभीप्सित दक्षिणा देकर अपनी प्रतिज्ञा को पूर्ण करना, गुरु द्रोणाचार्य का प्रयोजन था अपने प्रिय शिष्यों

१-द्रष्टव्य — प्रतापरुद्रीय नाटकप्रकरणम् ॥ ४६ - ४९॥

(पाण्डवों) को आधा राज्य दिलवाना। उन्होंने इसके लिए शकुनि की स्तुति तक की, भीष्म का प्रयोजन था पाँच रातों के भीतर विराट राज्य में पाण्डवों की अवस्थिति को प्रकट कर देना, अतः उन्होंने विराट के गोग्रहण के लिए दुर्योधन को उत्तेजित किया, शकुनि का प्रयोजन था पाण्डवों के राज्यार्द्ध मिलने में किसी प्रकार से विघ्न उत्पन्न करना, भीम का प्रयोजन था अर्जुन को उनके पुत्र से मिलाना -- इसलिए उन्होंने अभिमन्यु का अपहरण किया -- इस प्रकार इसमें धनिक-निर्दिष्ट समवकार का यह लक्षण "समवकीर्यन्तेऽस्मिन्नर्था इति समवकारः" -- उचित रूप से घटित होता है। इस दृष्टि से त्रुटि-विच्युति रहने पर भी प्रस्तुत रूपक को समवकार की कोटि में रखना अनुचित न होगा। कीथ तथा श्री गणपति शास्त्री भी इसे समवकार ही मानते हैं।

अर्थप्रकृति :- रूपक के प्रथम अंक में अवभृथस्नान के अनन्तर दुर्योधन जहाँ द्रोणाचार्य को दक्षिणा-ग्रहण करने का अनुरोध करता है, वहीं पर कथानक में बीज का समावेश होता है। यद्यपि समवकार में बिन्दु नामक द्वितीय अर्थप्रकृति के अभाव का विधान है, तथापि रूपक के ४१ वें श्लोक में बिन्दु की झलक दिखायी देती है। यहाँ पर द्रोणाचार्य अवान्तर कथा से विच्छिन्न कथानक के प्रमुख प्रयोजन को यह कह कर पुनः जोड़ने का प्रयत्न करते हैं -- "यदि मैं तुम्हारे साथ वंचना करूँ तो दोष तुम्हारा नहीं होगा, यदि तुम्हें (दक्षिणा देने के लिए) पीड़ित करूँ तो इसमें तुम्हारा ही (प्रतिज्ञा-पालन रूप) लाभ है। उच्चकुल में उत्पन्न व्यक्तियों का पारस्परिक विरोध गुरुजनों के वचनों से शान्त हो जाया करता है।" गोग्रहण का वृत्तान्त प्रासंगिक इतिवृत्त में परिगणित होगा, इस घटना में तृतीय अर्थप्रकृति "पताका" का समावेश हुआ है। "प्रकरी" नामक चतुर्थ अर्थप्रकृति का इसमें अभाव है। नाटक के तृतीय अंक में "कार्य" नामक अन्तिम अर्थप्रकृति का प्रयोग हुआ है।

अवस्थाएँ :- महामहोपाध्याय श्री टी० गणपति शास्त्री ने[1] अवस्थाओं के लिए जिन स्थलों का निर्देश किया है, उन्हें स्वीकार करने पर रूपक में सन्धियों का उचित विभाजन कदापि सम्भव न होगा। यहाँ पर इस बात का उल्लेख करना

१- द्रष्टव्य -- त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज से प्रकाशित पञ्चरात्र की टी० गणपतिशास्त्री-प्रणीत टीका

आश्चर्यजनक है कि स्वयं गणपति शास्त्री जी ने इस रूपक में सन्धियों की अवस्थिति दिखाने का कष्ट ही नहीं किया है। उन्होंने इस रूपक की अवस्थाओं के सम्बन्ध में जो मत प्रकट किया है, वे अवस्थाओं के स्वरूप का ही विरोध करते हैं। यह बात ध्यान में रखना चाहिए कि अवस्थाओं का सम्बन्ध कार्य से है, जिस कार्य की सिद्धि के उद्देश्य से कथानक में बीजारोपण होता है, उसी कार्य की पाँच अवस्थाएँ होती हैं — आरम्भ,यत्न,प्राप्त्याशा,नियताप्ति और फलागम। अतएव इस दृष्टि से प्रस्तुत रूपक में निम्नलिखित रूप से अवस्थाओं का समावेश मानना उचित प्रतीत होता है :-

दक्षिणा-दान के लिए दुर्योधन का अत्यधिक आग्रह देखकर एवं इस सम्बन्ध में उसकी निष्कपटता को जानकर द्रोणाचार्य अपनी निम्नलिखित उक्ति से कार्य आरम्भ करते हैं —" सुनो पुत्र! बारह वर्षों से जिन निरापदों की अवस्थिति किसी को भी ज्ञात नहीं हुई, उन पाण्डवों को तुम आधा राज्य दे दो — यही मेरी भिक्षा तथा दक्षिणा होगी।" — इसके अनन्तर प्रयत्न नामक अवस्था आती है। इस अवस्था में भीष्म तथा द्रोण दोनों उद्योगशील दृष्टिगोचर होते हैं। द्रोण शकुनि को भी सामवचनों से सन्तुष्ट करने का प्रयत्न करते हैं और भीष्म दुर्योधन को विराट के गोग्रहण के लिए उत्तेजित करके कार्यसिद्धि का प्रयत्न करते हैं। तृतीय अंक के प्रारम्भ में अभिमन्यु के अपहरण से भीष्म, द्रोण आदि के हृदय में जहाँ नैराश्य की आशंका हुई है, वहाँ दूसरी ओर भट के मुख से अभिमन्यु के अपहरणकारी का वर्णन सुनकर आशा का भी संचार हुआ है — अतः यहाँ पर प्राप्त्याशा नामक अवस्था है। इसी अंक में जहाँ भीष्म भट के द्वारा लाये हुए बाण के पुंख पर अर्जुन का नाम उत्कीर्ण हुआ देखते हैं, वहाँ पर समग्र कथानक फलागम की ओर उन्मुख हो जाता है। यह अवस्था रूपक के अन्त तक चलती है।

<u>सन्धियाँ :-</u> रूपक के प्रारम्भ में दुर्योधन आदि पात्रों के प्रवेश के साथ-साथ मुखसन्धि शुरू हो जाती है। यह सन्धि द्रोणाचार्य की इस उक्ति तक विस्तृत है —" वत्स कर्ण! "ब्राह्मण तेजस्वी होते हैं", तुमने इस(बात) का समय पर स्मरण करा दिया। मैं तुम्हारी इच्छा का अनुसरण करूँगा।"

दुर्योधन जहाँ पर शकुनि से द्रोणाचार्य की अभीष्ट दक्षिणा के विषय में परामर्श करता है, वहाँ से प्रतिमुख सन्धि शुरू हो जाती है । युधिष्ठिर की निम्नलिखित उक्ति में गर्भसन्धि का आविर्भाव होता है, क्योंकि इसमें प्रतिमुख सन्धि में किंचित् लक्ष्य हुए बीज का पुन: अन्वेषण किया गया है । युधिष्ठिर इस प्रकार की वक्रोक्ति कहते हैं —"कुरुवंश के पितामह क्यों आये हैं, क्या मैंने अज्ञातवास की प्रतिज्ञा पूरी कर ली है, इस बात को याद दिलाने आये हैं ?" गर्भसन्धि का विस्तार तृतीय अंक के प्रारम्भिक अंशों तक है । तृतीय अंक के १० वें श्लोक तक यह सन्धि पूर्णत: विकसित हो जाती है । भीष्म की निम्नलिखित उक्ति से निर्वहण सन्धि शुरू हो जाती है —" यदि हाथ से ही रथ के वेग को समाप्त कर दिया, तो समझ लो कि अभिमन्यु भीम की गोद में ही है —पहले द्रौपदी का हरण करने वाले जयद्रथ को भी भीम ने बल से जीत लिया था । यह सन्धि द्रोण के मुख से उच्चारित प्रशस्ति वाक्य तक चलती है ।

सन्ध्यंग :- दुर्योधन के द्वारा द्रोणाचार्य को दक्षिणा-ग्रहण करने के लिए अनुरोध करने में बीज का न्यास होने के कारण उपक्षेप नामक मुखसन्धि के प्रथम अंग का समावेश होता है ।" हे आचार्य ! धर्म और धनुष के आचार्य आप दक्षिणा स्वीकार करें ।" — दुर्योधन के इस अनुरोध के प्रत्युत्तर में कही गयी द्रोण की इस उक्ति तक "परिकर" नामक अंग है —" रहने दो, मेरे कार्य की सिद्धि ही मेरे लिए सुखोदय होगी ।" जब दुर्योधन द्रोण के हाथ में संकल्प-जल देकर अभीष्ट दक्षिणा देने की प्रतिज्ञा करता है, तब द्रोणाचार्य को अपने कार्य की सिद्धि में पूरा विश्वास हो जाता है । यहाँ पर बीजन्यास के बाहुल्य-रूप परिकर नामक अंग की निष्पत्ति होने के कारण परिन्यास नामक अंग है । द्रोणाचार्य को अपनी कार्य-सिद्धि के इस विश्वास से जो हर्ष होता है, वह उनकी इस उक्ति से स्पष्ट हो जाता है —" वत्स ! मेरे हृदय में विश्वास हो गया है !...." द्रोण की इस हर्षयुक्त उक्ति में प्राप्ति नामक अंग का समावेश हुआ है । आगे द्रोण की निम्नलिखित उक्ति में बीज का उपादान होने के कारण समाधान नामक अंग का आविर्भाव होता है —" जिन निराश्रयों की गति बारह वर्षों से किसी को ज्ञात नहीं है, तुम उन पाण्डवों को आधा राज्य दे दो, यही मेरी भिक्षा और दक्षिणा होगी ।" — दुर्योधन के द्वारा दक्षिणा की बात उठायी जाने पर द्रोणाचार्य को एक ओर अपने कार्य को

सिद्धि का उपाय मिल जाने पर हर्ष होता है, दूसरी ओर अपने प्रिय शिष्यों की दुर्दशा का स्मरण करके शिष्यवत्सल गुरु की आँखें भर आती हैं — अत: यहाँ पर सुख-दु:खकारी विधान नामक अंग का समावेश होता है । पितामह भीष्म जहाँ पर दुर्योधन से शकुनि के कुचक्र-रूप का उद्घाटन करके, उसे शकुनि का विश्वास न करने का अनुरोध करते हैं, वहाँ पर उद्भेद नामक अंग है । श्लोक से ३८ वें (प्रथम अंक) श्लोक में युधिष्ठिर की महत्ता तथा भीम के पराक्रम का वर्णन होने के कारण विलोभन नामक अंग का समावेश हुआ है । जहाँ कर्ण द्रोणाचार्य को अप्रासंगिक बातों को छोड़कर उनके वास्तविक उद्देश्य की सिद्धि के लिए प्रोत्साहित करते हैं, वहाँ पर भेद नामक अंग है । कर्ण की इस प्रोत्साहना से द्रोणाचार्य प्रसन्न हो और पुन: यत्नवान होकर कहते हैं —"धन्य कर्ण ! ब्राह्मण तेजस्वी होते हैं, तुमने क्ष(बात) का समय पर स्मरण दिलाया है, मैं तुम्हारी ही इच्छा के अनुसार कार्य करूँगा ।"

कुचक्री शकुनि की प्रतीक्षा से जो संकट उपस्थित हो गया था, उसमें रूपक की पूर्वदृष्ट बीज रूप अर्थप्रकृति नष्ट हो गयी थी, किन्तु कर्ण के परामर्श से द्रोणाचार्य निम्नलिखित उक्ति में पुन: उसकी खोज करते हैं —" पुत्र ! दुर्योधन, क्या मेरा तुम पर कुछ अधिकार है ?" — यहाँ पर परिसर्प नामक प्रतिमुख सन्धि का द्वितीय अंग है । किन्तु जब दुर्योधन ने कहा—" इस विषय में मैं शकुनि का समर्थन चाहता हूँ" तब द्रोणाचार्य को कार्य की असफलता की आशंका करके उस विषय में कुछ निराशा अथवा उदासीनता होने लगती है — अत: यहाँ पर विधुत नामक अंग का समावेश हुआ है । परन्तु द्रोणाचार्य का यह [illegible] दुर्योधन की निम्नलिखित उक्ति में कुछ शान्त होता है । दुर्योधन कहता है —" मैं इस वाक्य को सत्य करना चाहता हूँ ।" — यहाँ पर शम नामक अंग है । आगे शकुनि की पंचरात्र वाली शर्त से आचार्य को पुन: खेद होता है, अत: यहाँ निरोध नामक अंग का समावेश होता है । शकुनि जहाँ यह कहकर दुर्योधन को फटकारता है —" यदि राज्य देना ही हो तो मुझसे परामर्श क्यों लेते हो ? पूरा राज्य दे डालो ।" — वहाँ वज्र नामक अंग है । भीष्म विराट राज्य में पाण्डवों की अवस्थिति का अनुमान लगाकर , उस अनुमान की वास्तविकता पर ज़ोर देकर आचार्य से "वत्स पश्यत ! कुलेषु ग्रान्तानां... ।।१।।५३।।" इत्यादि

दीगादि करते हैं । भीष्म का यह वाक्य आचार्य को विशेष आह्लादकारी प्रतीत होता है, अतएव यहाँ पर पुष्प नामक सन्ध्यंग है ।

भीष्म की इस कष्टपूर्ण उक्ति में उद्भेद नामक गर्भसन्धि के अंग का समावेश होता है -- " पौत्र ! दुर्योधन ! विराट के साथ मेरा पहले से ही अप्रकट वैरभाव रहा है । अब वह तुम्हारे यज्ञ में सम्मिलित होने भी नहीं आया -- अतः उसका गोधन हरण कर लो ।" नाटक के प्रथम अंक के ५४ वें श्लोक में मार्ग नामक सन्ध्यंग है । जहाँ फलप्राप्ति की प्रतीक्षा करते समय यह भय होता है कि कहीं उसमें कोई विघ्न न उत्पन्न हो जाय, वहाँ पर भय नामक सन्ध्यंग होता है । प्रस्तुत नाटक के भीष्म की निम्नलिखित स्वगतोक्ति में इस सन्ध्यंग का समावेश हुआ है -- " आचार्य का हर्ष सीमा का उल्लंघन करके प्रकट हो रहा है, अतः शंका हो रही है, कहीं वंचनाशील दुर्योधन के द्वारा आचार्य वंचित न किए जायँ ।"

द्वितीय अंक में कौरवों के द्वारा गोग्रहण करने से विराट राज के गोपालों में त्रास एवं भय का संचार होता है, अतः वृद्ध गोपालक और अन्यान्य गोपालकों के कथोपकथन में संभ्रम नामक अंग का समावेश हुआ है । जहाँ युधिष्ठिर उत्तर की रक्षा के लिए व्याकुल होकर विराटराज से कहते हैं-- " महाराज ! कुमार को रोकिए, रोकिए । बालक होने से कुमार युद्ध के गुण-दोषों को नहीं पहचानते हैं । युद्धाग्नि सन्निकृष्ट होने पर सभी को जला देती है । धार्तराष्ट्र किसी को जीवित नहीं छोड़ते । यह बातें मैं आपके परिचय के कारण नहीं कह रहा हूँ ।" -- यहाँ प्रस्तुत भय व्यक्त होने के कारण उद्वेग नामक सन्ध्यंग की संयोजना हुई है । द्वितीय अंक के १२ वें श्लोक में अनुमान नामक सन्ध्यंग है । विराट की विजय का समाचार सुनकर युधिष्ठिर विराटराज को बधाई देते हैं वहाँ उत्कर्ष की व्याख्या होने के कारण उदाहरण नामक सन्ध्यंग है । जहाँ भीमसेन अर्जुन से अभिमन्यु-हरण का उद्देश्य बताते हैं, वहाँ पर अधिबल नामक संन्ध्यंग है । अभिमन्यु के क्रोधयुक्त वचनों में तोटक नामक सन्ध्यंग का समावेश होता है । अभिमन्यु को राजसभा में उपस्थित करने का भार अर्जुन पर सौंपा जाता है । प्रसन्न होकर अर्जुन कहते हैं -- " बहुत दिनों के बाद अभीष्ट आदेश मिला है ।" -- यहाँ पर क्रम नामक अंग

है । अर्जुन की निम्नलिखित उक्ति में दोष का उद्घाटन होने के कारण आक्षेप नामक अंग का समावेश होता है — "महादेव के बाणों के घाव-चिन्हों से युक्त अंग वाला मैं यदि बृहन्नला अर्जुन हूँ तो निश्चय ही ये भीमसेन हैं और ये राजा युधिष्ठिर हैं ।" विराटराज की निम्नलिखित उक्ति में संग्रह नामक सन्ध्यंग है — "हे अर्जुन ! गोग्रहण-युद्ध की विजय के शुल्क रूप में आप उत्तरा को स्वीकार करें ।"

तृतीय अंक के प्रारम्भ में भट की घोषणा से सन्धि नामक निर्वहण के प्रथम अंग का समावेश होता है । इसी के आगे द्रोण, भीष्म, दुर्योधन एवं शकुनि के संवाद में कार्य का अन्वेषण होने के कारण विबोध नामक अंग का समावेश होता है । भीष्म की निम्नलिखित उक्ति में ग्रथन नामक सन्ध्यंग है —

"भीष्म — तब शस्त्र रख दिया जाय ।

सभी — क्यों ?

भीष्म — यदि हाथ से रथ के वेग को समाप्त कर दिया तो समझो कि अभिमन्यु भीम की गोद में है । पहले द्रौपदी का हरण करने वाले जयद्रथ को भी भीमसेन ने पैदल ही जीत लिया था ।"

भीष्म के इस कथन का समर्थन द्रोणाचार्य भी करते हैं और वे भी भीम के पराक्रम का उल्लेख कर अपने अनुभव का वर्णन करते हैं, अतः यहाँ निर्णय नामक सन्ध्यंग है । जब शकुनि के द्वारा क्रोधपूर्वक फेंका हुआ अर्जुन का नामांकित बाण द्रोण के चरणों पर आकर गिरता है, तब शिष्यवत्सल गुरु कार्य-सिद्धि के आनन्द से गद्गद होकर कहते हैं — "इस बाण को मेरे शिष्य अर्जुन ने भीष्म को प्रणाम करने के लिए चलाया था, अब यह क्रमशः मुझे प्रणाम करने के लिए मेरे चरणों पर आ पड़ा है ।" — यहाँ आनन्द नामक अंग है । द्रोण के मुख से उच्चारित रूपक के तृतीय अंक में के २४ वें श्लोक में पूर्वभाव नामक अंग है । रूपक के २५ वें श्लोक में उपसंहार नामक अंग है । अन्तिम श्लोक की (२६ वें) प्रथम पंक्ति से समय नामक अंग व्यक्त होता है और द्वितीय अंक पंक्ति में कल्याणमय वचनों के कथन होने के कारण प्रशस्ति नामक अंग का समावेश होता है ।

सन्ध्यन्तर :- एकांकी सन्ध्यन्तरों में प्राय: सभी प्रमुख सन्ध्यन्तरों का समावेश इस रूपक में हुआ है। साम, प्रत्युत्पन्नमति, ओज, साहस, संवृति, धी, हेत्ववधारण इत्यादि सन्ध्यन्तरों का समावेश अत्यन्त कुशलता के साथ किया गया है।

कथावस्तु के दृश्य तथा सूच्य अंश :- सूच्य कथावस्तु के पाँच प्रकार के प्रतिपादकों में से तीन प्रकारों का प्रयोग प्रस्तुत रूपक में हुआ है। इनमें से चूलिका प्रकार के अर्थोपक्षेपक का दो बार तथा विष्कम्भक एवं प्रवेशक प्रकार के अर्थोपक्षेपकों का एक बार प्रयोग हुआ है। गोग्रहण की घटना को सूचना रूप से प्रवेशक में प्रस्तुत करके रूपककार ने औचित्य का पूर्ण निर्वाह किया है। विष्कम्भक का संयोजन भी कवि की कुशलता का परिचय देता है, क्योंकि विष्कम्भक में वर्णित कथावस्तु रूपक के बीज के वपन के लिए एक अनुकूल क्षेत्र का काम करती है। कवि ने इस कथांश में यज्ञ का दृश्य-रूप प्रस्तुत करके न केवल द्रोणाचार्य को अभीष्ट दक्षिणा देने के लिए सुअवसर प्रदान किया है, अपितु दुर्योधन - चरित्र को ऊँचा उठाने के लिए एक साधन के रूप में इस पुण्य अनुष्ठान का प्रयोग किया है।

विक्रमोर्वशीयम्

शीर्षक :- कालिदास की यह रचना "विक्रमोर्वशीयम्" तथा "विक्रमोर्वशी" दोनों नामों से ही साहित्य-जगत् में समान रूप से प्रसिद्ध है। इनमें दो शब्द हैं — "विक्रम" तथा "उर्वशी"। इनमें "उर्वशी" शब्द रूपक की नायिका को सूचित करता है। कालिदास की नाट्यकला सर्वत्र नायिकाओं के चित्रण में ही अधिक निपुणता दिखाती है, उनकी प्रतिभा भी नायिकाओं के साथ ही पक्षपात करती हुई-सी प्रतीत होती है। अपने तीन नाटकों में से दो के शीर्षक में उन्होंने केवल नायिका का ही नामोल्लेख किया है। "मालविकाग्निमित्र" में ही केवल नायक के नाम को शीर्षक में नायिका के नाम के साथ स्थान प्राप्त हुआ है। इस प्रकार के पक्षपात से वस्तुत: कालिदास की नाट्यशैली के लालित्य को ही

अंकित होता है ।

शीर्षक का दूसरा शब्द 'विक्रम' है । इस शब्द के आशय पर विद्वानों का मतभेद है । प्रसिद्ध टीकाकार काटयवेम ने 'विक्रम' शब्द से विक्रमादित्य का अर्थ लिया है । उनके अनुसार पुरूरवा इस उपाधि से भी प्रसिद्ध थे । अतः काटयवेम ने शीर्षक का अर्थ किया है — 'विक्रम और उर्वशी ।' डा० सुरेन्द्रनाथ शास्त्री ने भी 'विक्रम' शब्द को पुरूरवा का पर्याय माना है । कुछ विद्वानों ने यह भी कल्पना की है कि कालिदास ने अपने आश्रयदाता विक्रमादित्य के नाम को अमर बना देने के उद्देश्य से शीर्षक में 'विक्रम' शब्द का प्रयोग किया है । इस विषय में के०जी० शंकर की दी हुई युक्ति में भी कुछ सार दिखायी पड़ता है ।[१]

'विक्रम' शब्द से 'पराक्रम' का अर्थ लेना ही उचित प्रतीत होता है । ऐसा करने पर शीर्षक का अर्थ होगा 'विक्रमेण लब्धा उर्वशी तामधिकृत्य कृतं नाटकम् इति विक्रमोर्वशीयम्' यही अर्थ कथावस्तु की दृष्टि से सार्थक होने के कारण ग्राह्य है । उर्वशी-पुरूरवा के मिलन तथा समग्र प्रेमोपाख्यान में ही विक्रम अर्थात् पराक्रम का महत्त्व बहुत अधिक है । समग्र नाटक को पढ़ लेने के पश्चात् पाठक शीर्षक 'विक्रमोर्वशी' में 'विक्रम' शब्द का अन्य कोई अर्थ न लगाकर 'पराक्रम' का अर्थ ही लगायेगा । 'अभिज्ञानशकुन्तला' — इस शीर्षक में अभिज्ञान शब्द का जो महत्त्व है, वही महत्त्व 'विक्रमोर्वशीयम्' 'विक्रम' शब्द का है । यदि कालिदास को शीर्षक में नायक का उल्लेख करना अभीष्ट होता तो वह 'मालविकाग्निमित्र' के समान स्पष्टतः पुरूरवा का उल्लेख करते । पुरूरवा 'विक्रम' नाम से प्रसिद्ध थे — इसका कोई प्रमाण भी महाभारत में नहीं मिलता ।

पुरूरवा अपने अतुल विक्रम से केशी के हाथों से अपहृता उर्वशी को मुक्त करके उसके प्रेमास्वाद करने में सफल हुए थे, इन्द्र ने भरतमुनि के द्वारा अभिशप्ता उर्वशी को पुरूरवा की प्रेमिका जानकर प्रसन्न मन से उसका जो

१— Indian Historical Quarterly Vol. I - Kalidasa's own testimony also seems to favour this tradition. Panini (4·3·88) requires the suffix 'iya' to be applied only to 'Dvandva Compounds. But we can construe the title of his Vikramorvaśīya only by 'Vikramēṇa labdha Urvaśī etc, as Vikrama was neither the name nor the title of Purūravas, Kalidasa evidently chooses to break a rule of Panini so that he may indicate his patron Vikrama sakari" (Date of Kalidasa by K.G. Shanker)

अभिनन्दन किया था, उसके पीछे भी पुरूरवा का विक्रम है, कारणस्वरूप था, अन्त में भी पुरूरवा के विक्रम का ध्यान करके ही देवराज ने उसे उसके शस्त्रों को लौटा लिया था और उन्हें उर्वशी के साथ आजीवन-संयोग का वरदान दिया था -- अतः `विक्रम से प्राप्त हुई उर्वशी` ही शीर्षक का स्वाभाविक और सार्थक व्याख्या है, ऐसा प्रतीत होता है ।

<u>नाट्यप्रकार</u> :- `विक्रमोर्वशी` की प्रस्तावना में एक पंक्ति ऐसी है, जिसका पाठ इसके उत्तरी एवं दक्षिणी संस्करण में भिन्न-भिन्न रूप में मिलता है । उत्तरी संस्करण में `सो ऽ हमध विक्रमोर्वशीयं नामापूर्वं नाटकं प्रयोक्ष्ये` और दक्षिणी संस्करण में `सो ऽ हमध कालिदासग्रथितं विक्रमोर्वशीयं नाम त्रोटकम्` -- मिलता है । इसी पाठभेद के कारण इसके नाट्यप्रकार के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद हो गया है । कुछ विद्वान् इसे नाटक मानते हैं और कुछ इसे त्रोटक प्रकार का उपरूपक मानते हैं । `विक्रमोर्वशी` के प्रसिद्ध टीकाकार काटयवेम ने इसे नाटक कहा है[1] और एस०पी० पण्डित[2], वी०वरदाचारी[3], वैद्यकर महोदय[8] तथा डा० भोलाशंकर व्यास[4] ने इनका अनुसरण किया है । इसके विपरीत आचार्य विश्वनाथ[5], सागरनन्दिन्[6] तथा विक्रमोर्वशी के दो प्रसिद्ध टीकाकार रंगनाथ और कोणेश्वर ने इसे त्रोटक माना है और मेकडोनेल एवं डा० सुरेन्द्रनाथ शास्त्री आदि विद्वानों ने इनका अनुसरण किया है ।

वस्तुतः नाटक और त्रोटक में बहुत अधिक भेद नहीं होता है । विश्वनाथ के अनुसार त्रोटक में पाँच, सात, आठ अथवा नौ अंक तक हो सकते हैं, इसमें दिव्य और मर्त्य दोनों प्रकार के पात्र होते हैं, इसके प्रत्येक अंक में विदूषक की उपस्थिति रहती है । वे त्रोटक के उदाहरण के रूप में `विक्रमोर्वशी` का उल्लेख करते हैं । इस विषय में सागरनन्दिन् की परिभाषा अधिक उत्तम प्रतीत होती है । वे अश्मकुट्ट, नखकुट्ट तथा बादरायण के मतों का उल्लेख करके निष्कर्ष के रूप में कहते हैं कि `दिव्या स्त्री के मानव के साथ संयोग ही त्रोटक की प्रमुख विशेषता है, प्रत्येक अंक में विदूषक का होना प्रधानलक्षण नहीं है -- वह तो केवल एक उपलक्षण मात्र है । इसी बात पर वह विक्रमोर्वशी का दृष्टान्त देकर कहते हैं कि त्रोटक प्रकार का रूपक होते हुए भी इसके प्रत्येक

1. द्रष्टव्य - Vikramorvaśīya (Bombay Sanskrit Series No. XVI, 1899) Edited with English notes containing extracts from two Commentaries of Ranganatha and of Kātyavema by S.P. Pandit and B.R. Arte
2. द्रष्टव्य - विक्रमोर्वशीय (Bombay Sanskrit Series No XVI, 1899)
3. " " - "The rhetoricians bring this under the Troṭaka type of उपरूपकs. The absence of Vidūṣaka in Act I & IV does not support this view" Hist. of Sans. Lit.

अंक में विदूषक की उपस्थिति नहीं है।

इस सम्बन्ध में "कौमेश्वरी" टीकाकार का मत भी उल्लेखनीय है। कौमेश्वरी टीका पर विद्वानों की दृष्टि बहुत कम आकृष्ट हुई है। त्रोटक के सम्बन्ध में कौमेश्वर की मान्यता दर्शनीय है।

"विक्रमोर्वशी नाम्ना नवेन त्रोटकेन। त्रोटकत्वा पात्र देवमानुषसंवादात्। तत्र चोक्तम् देवमानुषसंवादः पंचांकस्त्रोटको मतः। इति"

इन परिभाषाओं से त्रोटक का स्वरूप बहुत अधिक स्पष्ट नहीं होता विश्वनाथ की परिभाषा को तो छोड़ ही दें किन्तु सागरनन्दिन् और कौमेश्वर की मान्यताओं से भी विशेष लाभ नहीं होता। शेष दोनों आचार्यों का मत विश्वनाथ के मत से अधिक स्पष्ट अवश्य है किन्तु उससे भी त्रोटक के विषय में सुस्पष्ट धारणा बन नहीं पाती। बात यह है कि त्रोटक के सम्बन्ध में जो लक्षण दिये गये हैं, वे एक एक नाटक में भी बड़ी आसानी से मिल सकते हैं। अंकों की संख्या भी नाटक में मिल सकती है, प्रत्येक अंक में विदूषक की उपस्थिति भी नाटक में मिल सकती है। दिव्या का मानव के साथ मिलन भी कोई अनिवार्य लक्षण नहीं है क्योंकि यह लक्षण नाटक में दुर्लभ नहीं है। कुलशेखरवर्मन् के "तपतीसंवरण" में भी तो दिव्या तपती के मानव संवरण के साथ संयोग हुआ है, किन्तु वह तो त्रोटक नहीं है।

वस्तुतः विक्रमोर्वशी का नाट्यप्रकार उसके चतुर्थ अंक की प्रामाणिकता पर निर्भर है। त्रोटक और नाटक में कितने ही पार्थक्य किया दें, तथापि व्याख्या पूरी नहीं मानी जायगी, जब तक यह न कहा जाय कि नाटक रूपक है अर्थात् उसमें नाट्यतत्व की प्रधानता है और त्रोटक उपरूपक है अर्थात् उसमें नृत्यतत्व की विशेषता है। विक्रमोर्वशी के चतुर्थ अंक में नृत्यतत्व का सुन्दर प्रयोग है, अतएव उसकी उपस्थिति से त्रोटक प्रकार के उपरूपक में इसका परिगणन होना ही उचित प्रतीत होता है। चतुर्थ अंक के प्राकृत श्लोकों की प्रामाणिकता के विषय में सन्देह करना उचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि कालिदास की इस नाट्य रचना में यदि कुछ प्रतिभा का वैभव है, तो वह इसी चतुर्थ अंक में है, नहीं तो अवशिष्ट कथावस्तु में रखा ही क्या है? अवशिष्ट कथावस्तु नितान्त साधारण-सी है। यह किसी साधारण कवि की नहीं, कालिदास की रचना

पिछले पृष्ठ की अवशिष्ट पाद-टीकाएँ-

४. विक्रमोर्वशीय - Ed. by H. D. Velankar (Sahitya Akademy New Delhi) 1961 P. LIV.

५. दशरूपक - डा. भोलाशङ्कर व्यास द्वारा सम्पादित पृ. सं. १६४

६. साहित्यदर्पण ६/२७३

७. प्रत्यङ्कं विदूषकप्रवेशस्तुमलसतागू। यथा विक्रमोर्वशीयत्रोटकं न तथाभूतविदूषकम्। ... नाटकलक्षणरत्नकोश

है — इसका प्रमाण केवल चतुर्थ अंक से ही प्राप्त होता है । कालिदास ने इसकी प्रस्तावना में जिस अभिनवता का संकेत किया था, उसकी परिपुष्टि इन्हीं श्लोकों से होती है । चतुर्थ अंक को प्रामाणिक मानकर प्रस्तुत नाट्यरचना को त्रोटक मानना ही श्रेयस्कर प्रतीत होता है । बी० बरदाचारी[1] आदि विद्वानों ने प्रत्येक अंक में विदूषक की उपस्थिति न होने के आधार पर इस रचना के त्रोटकत्व का खण्डन कर नाटक वाले मत का मण्डन किया है । किन्तु जैसा कि पहले भी दिखाया जा चुका है कि प्रत्येक अंक में विदूषक का न होना कोई महत्त्वपूर्ण त्रुटि नहीं है, जिसके आधार पर इसके त्रोटकत्व को ही समाप्त कर दिया जाय । अलमकूद, नरकुट्ट[1] तथा कोणेश्वरी टीकाकार ने तो त्रोटक के लक्षण में इस बात की गणना ही नहीं की । अत: इस नाट्यरचना को नाटक की अपेक्षा त्रोटक मानना ही युक्तिसंगत प्रतीत होता है ।

अर्थप्रकृति :- प्रथम अंक में जहाँ उर्वशी मूर्च्छा दूर होने के अनन्तर आँखें खोलकर राजा को देखकर यह स्वगतोक्ति करती है —" देवों ने निश्चय ही उपकार किया है" — यहाँ अनुराग बीज का प्रथम दर्शन होने के कारण बीज नामक अर्थप्रकृति का समावेश होता है । प्रथम अंक में चित्ररथ के आगमन से तथा उर्वशी के स्वर्ग की ओर प्रस्थान करने से प्रमुख कथाप्रवाह विच्छिन्न सा हो गया, द्वितीय अंक में उर्वशी और चित्रलेखा के निम्नलिखित कथोपकथन में वह पुन: अविच्छिन्न धारा में प्रवाहित होने लगा —

"चित्रलेखा— हला, अनिर्दिष्टकारणं गम्यते ।

उर्वशी — सखि, तदा हेमकूटशिखरे लताविटपेन क्षणविघ्नितावलम्बनां मामुपाहस्य किमिदानीं पृच्छसि ।

चित्रलेखा— किं तस्य राजर्षेः पुरूरवसः सकाशं प्रस्थितासि ।

उर्वशी — अयं मामपहस्तिकावसायः ।"

अत: यहाँ पर बिन्दु नामक द्वितीय अर्थप्रकृति है । डा० सुरेन्द्रनाथ शास्त्री[2] के मतानुसार औशीनरी के प्रकरण में ही पताका नामक तृतीय अर्थप्रकृति का

१— द्रष्टव्य — नरकुट्टस्त्वाह — दिव्यमानुषसंयोगस्त्रोटकं नाटकार्थम् ।... तदेषा स्त्रिया या मानुषेण सह संगमो यस्तदेव महल्लक्षणम् ।"... नाटकलक्षणरत्नकोश

२— द्रष्टव्य — 'The laws and practice of Sanskrit Drama'. p. 466

समावेश है । किन्तु यह मत अनुचित प्रतीत होता है । औशीनरी किसी भी प्रकार पताका नामक कथावस्तु का नेतृत्व नहीं कर सकती, उसका चरित्र प्रतिनायिका के सदृश है । तृतीय अंक में 'लक्ष्मी स्वयम्वर' वृत्तान्त को ही पताका मानना अधिक उचित प्रतीत होता है । यही घटना उर्वशी-पुरूरवा के मिलन-पथ को प्रशस्त करती है । औशीनरी के 'प्रियानुप्रसादन' व्रत की अपेक्षा 'लक्ष्मी स्वयम्वर' का अभिनय कथावस्तु की दृष्टि से पताका बनने में अधिक समर्थ है । 'प्रियानुप्रसादन' व्रत में प्रतिनायिका की पराजय व्यक्त होती है, अतः उसे नायक के प्रेम-व्यापार में सहायक घटना के रूप में स्वीकार नहीं करना चाहिए । औशीनरी यदि 'प्रियानुप्रसादन' व्रत न भी करती तो भी कोई विशेष हानि न होती, क्योंकि इन्द्र ने स्वयं ही उर्वशी को पुरूरवा के साथ उसके पुत्र-दर्शन पर्यन्त रहने की अनुमति दे दी थी । निःसन्देह देवराज की अनुमति औशीनरी की दी हुई अनुमति से अधिक महत्वपूर्ण है । औशीनरी के 'प्रियानुप्रसादन' व्रत से कथानक में औचित्य का अधिक समावेश हो गया है, और उससे औशीनरी के चरित्र में उदारता का संयोग हुआ है — यही 'प्रियानुप्रसादन' व्रत का जाना हो माहात्म्य है । इसके बल पर इसे पताका की आशा दी नहीं जा सकती । पुरूरवा के द्वारा 'संगमनीय' की प्राप्ति में प्रकरी नामक अर्थप्रकृति है । पंचम अंक में कार्य नामक अर्थप्रकृति का समावेश हुआ है ।

<u>अवस्थाएँ</u> :- प्रथम अंक में जहाँ पुरूरवा और उर्वशी के संवादों में पहले-पहल परस्पर के प्रति औत्सुक्य ध्वनित हुआ है, वहाँ पर आरम्भ नामक अवस्था है । निम्नलिखित उद्धरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है :-

'राजा —(उर्वशी को देखकर).... हे सुन्दरि ! जिसके सफल नयन पथ पर तुम केवल एक ही बार संयोग से आ गयी हो, वह भी तुम्हारे बिना उत्कण्ठित हो उठता है, फिर तुम्हारे प्रति प्रगाढ़ स्नेह रखने वाली तुम्हारी सखियों का कहना ही क्या !

उर्वशी — (अपवारित) इनके वचन कितने आभिजात्यपूर्ण हैं ! अथवा चन्द्रमा से यदि अमृत निकलता हो, तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है ।'

द्वितीय अंक में जहाँ पुरूरवा विदूषक से अपनी इष्टसिद्धि के लिए कोई उपाय सोचने के लिए कहते हैं, वहाँ पर प्रयत्न नामक दूसरी अवस्था है । तृतीय अंक में जहाँ विदूषक राजा से कहता है —' आप अपने विरह-दुख अंगों से

और भी अधिक सुन्दर लग रहे हैं, अतएव मैं सोचता हूँ कि आज मेरे प्रिय-समागम
के दिन पास ही हैं" एवं विदूषक के कथन के साथ-साथ पुरूरवा शुभ-निमित्त को
देखकर हर्ष व्यक्त करते हैं — "सखे। तुम्हारे आशापूर्ण वचनों के समान यह
(मेरी) फड़कती हुई दक्षिण भुजा व्यथित मुझको आश्वासन दे रही है।" —
यहाँ पर एक ओर राजा का हृदय औशीनरी की ओर इष्टप्राप्ति में विघ्न की
बात सोचकर संशयाकुल है, दूसरी ओर ब्राह्मण माणवक से आशापूर्ण वचन सुनकर
तथा अपने शरीर में शुभ-निमित्तों का उदय देखकर आशान्वित है, अतएव इस
उपाय और अपाय से दोलायमान राजा की चित्तवृत्ति में प्राप्त्याशा नामक अवस्था है। चतुर्थ
अंक में राजकन्या की निम्नलिखित उक्ति में नियताप्ति नामक अवस्था है " सखि,
वैसी सुन्दर आकृति चिरकाल तक दुःख भोगने वाली नहीं होती। अवश्य ही किसी
के अनुग्रह से समागम का कोई न कोई उपाय प्राप्त होगा।" — पंचम अंक में
जब नारद उर्वशी को "अविरहित दम्पती" होने का आशीर्वाद देते हैं, तभी से
फलागम की अवस्था शुरू हो जाती है। बाद में नारद के मुख से इन्द्र का आदेश
सुनकर दोनों का हृदय फलप्राप्ति के आनन्द से भर जाता है। पुरूरवा को
उर्वशी आजीवन-संगिनी के रूप में प्राप्त होती है, अपुत्रक राजा का पुत्र-मुख-
दर्शन सफल हो जाता है, संगमनीय की पुनः प्राप्ति होती है, आयु के यौवराज्य-
अभिषेक के अनुष्ठान के लिए पुरूरवा को साक्षात् देवराज इन्द्र से भेजी हुई
सामग्री मिलती है। — इस प्रकार कथावस्तु के इस अंश में "समग्रफलसम्पत्तिः
फलयोगो यथोदितः" धनंजय की दी हुई फलागम की यह परिभाषा सार्थक
प्रतीत होती है। अतएव यहाँ पर "फलागम" नामक अन्तिम अवस्था का
समावेश होता है।

सन्धियाँ :- प्रथम अंक में जहाँ उर्वशी की मूर्च्छा दूर होने पर चित्रलेखा उससे कहती
है — "महेन्द्र के द्वारा नहीं, किन्तु वीरता में महेन्द्र की बराबरी करने वाले इस
राजर्षि के द्वारा"... वहीं से मुख सन्धि शुरू हो जाती है। यह सन्धि-क्रम
प्रथम अंक की समाप्ति तक चलती है। प्रतिमुख सन्धि द्वितीय अंक में शुरू होती है।
इस सन्धि के विषय में डा० एस०एन० शास्त्री जी जो हेतु उपस्थित करते हैं, वह
अपूर्ण प्रतीत होता है। डा० शास्त्री का कहना है कि इस द्वितीय अंक में चेटी-
विदूषक को नायक-नायिका के अनुराग-रूप बीज का ज्ञान हो जाने से एवं

औशीनरी हो या उसका मान हो जाने से वह बीज मानो उद्भिन्न हो जाता है, अतएव यहाँ पर प्रतिमुख सन्धि है[१]।

निःसन्देह शास्त्री जी की इस व्याख्या में और दशरूपक में प्रतिमुख सन्धि के अवसर पर रत्नावली का उदाहरण देने वाले धनिक की व्याख्या की शैली में अत्यधिक साम्य है। शब्द भी प्रायः एक ही हैं। किन्तु इस व्याख्या में धनंजयकृत प्रतिमुख-सन्धि के लक्षण घटित नहीं हो पाते क्योंकि धनंजय के अनुसार बीज का लक्ष्यालक्ष्य अवस्था में फूट पड़ना प्रतिमुख सन्धि का लक्षण होता है अर्थात् केवल लक्ष्यरूप में अथवा केवल अलक्ष्य रूप में नहीं। धनिक के दिए हुए रत्नावली के उदाहरण में अथवा उनका अनुसरण करने वाले शास्त्री जी की व्याख्या में बीज की केवल लक्षित अवस्था की ही सूचना मिलती है, अतएव यह अपूर्ण है। सम्भवतः इस बात का ध्यान करके ही धनिक ने पुनः वेणीसंहार का उद्धरण देकर बीज की लक्ष्यालक्ष्य अवस्था का पूरा विवरण दिया। अतएव विक्रमोर्वशी की कथावस्तु में प्रतिमुखसन्धि को निम्नप्रकार से विवेचना करना ही उत्तम होगा — ऐसा प्रतीत होता है। प्रथम अंक में पुरूरवा के हृदय में जिस अनुराग-बीज का वपन किया गया था, वह प्रस्थान काल में उर्वशी के सव्याज दृष्टिनिक्षेप से उद्भिन्न कर दिया गया। द्वितीय अंक में विदूषक चेटी इत्यादि पात्रों के ज्ञान होने पर लक्ष्य तो हो गया किन्तु उर्वशी की अनुपस्थिति उसकी परतन्त्रता एवं औशीनरी की सम्भाव्य कोप इत्यादि प्रतिकूल वातावरण में पड़कर कुछ अलक्ष्य हो गया — इस प्रकार द्वितीय अंक में बीज की ऐसी लक्ष्यालक्ष्य अवस्था में प्रतिमुख सन्धि का समावेश हुआ है।

तृतीय अंक में जहाँ पुरूरवा निम्नलिखित शब्दों में विदूषक के सम्मुख अपनी मनोव्यथा को प्रकट करते हैं, वहाँ पर एक बार दृष्ट होकर नष्ट हो जाने वाले बीज के पुनः अन्वेषण से गर्भसन्धि का समावेश होता है। राजा कहते हैं — "मेरे मन का संताप बहुत ही तीव्र है। जिस प्रकार ऊँची-नीची शिलाओं से प्रतिहत होने पर नदी का उद्दाम प्रवाह सौ गुना तीव्र हो जाता है, उसी प्रकार मिलन की सम्भावना में विघ्न आ पड़ने पर प्रेम भी सौ गुना बढ़ जाता है।"

चतुर्थ अंक में, प्रमदवन में उर्वशी की अभिलषित उक्ति के समागम की अत्यंताभिप्राप्ति का निवारण होने से एवं उसी के बाने उर्वशी का अन्वेषण

१- द्रष्टव्य — 'The laws and practice of Sanskrit Drama' p. 469

रहते हुए उन्मत्त अवस्था में पुरूरवा के प्रवेश से ही अवमर्श सन्धि का धनिककृत यह लक्षण "क्रोधादिभिस्तन्निकटप्राप्त्यवसायात्मा गर्भनिर्भिन्नबीजार्थसम्बन्धो विमर्शोऽवमर्शः" पूर्णतः घटित हो जाता है । अतः यहाँ अवमर्श सन्धि का प्रयोग समझना चाहिए ।

पंचम अंक में संगमनीय मणि को उठा ले जाने वाला गीध जब आयु के बाण से बिद्ध होकर मर जाता है और आगे बाण में उत्कीर्ण शब्दों को पढ़कर पुरूरवा को अपने पुत्र का परिचय मिलता है तब सारी घटनाएँ निर्वहणोन्मुख हो जाती हैं । अतः यहाँ पर निर्वहण सन्धि का समावेश होता है ।

सन्ध्यंग :- प्रथम अंक में राजा के मुख से उच्चारित "अन्याः सर्गविधौ..." इत्यादि श्लोक में उनकी सुखमय अभिलाषा के बीज का वपन हुआ है, अतएव यहाँ उपक्षेप नामक मुखसन्धि का प्रथम अंग है । प्रथम अंक के ११ वें श्लोक में परिकर नामक अंग है । इसी अंक के के १३ वें श्लोक में अद्भुतभाव का समावेश होने के कारण परिभाव नामक अंग है । "चतुर्भेकः खलु विक्रमालंकारः" — चित्ररथ की इस उक्ति में नायक के गुण का आख्यान होने के कारण विलोभन नामक अंग है । यहाँ चित्रलेखा, राजा की उर्वशी की ओर से कहती है — "वयस्य उर्वशी विज्ञापयति महाराजेनाभ्यनुज्ञातुमिच्छामि प्रियसखीमिव महाराजस्य कीर्तिं महेन्द्रलोकं नेतुमिति ।" — यहाँ उद्भेद नामक अंग है । उर्वशी के हावभाव से, उसके जान-बूझ कर विलम्ब करने से राजा के हृदय में अंकुरित प्रेम को अधिक प्रोत्साहन मिलती है, अतएव यहाँ भेद नामक अंग है । १६ वें श्लोक में राजा की उक्ति में "प्राप्ति" नामक सन्ध्यंग का[1] समावेश हुआ है । काटयवेम इसमें "परिन्यास" नामक सन्ध्यंग भी मानते हैं । डा०वी०एस० शास्त्री इस अंक में "प्राप्ति" अथवा[2] "परिन्यास" न मानकर "परिभावना" नामक अंग का समावेश मानते हैं । इस अंग का लक्षण देते हुए वे कहते हैं "जहाँ कुतूहलोत्तर वचन कहा जाय वहाँ पर परिभावना नामक अंग होता है ।" — परन्तु धनिक ने "परिभावना" का लक्षण "परिभावोऽद्भुतावेशः" किया है, जिसकी विवेचना पहले की जा चुकी है । यदि डा० शास्त्री का दिया हुआ लक्षण कुछ देर के लिए स्वीकार कर लिया जाय, तो भी इस स्थल पर उसकी उपस्थिति नहीं होगी, क्योंकि

१- द्रष्टव्य — विक्रमोर्वशी की टीका — (Bombay Sans. Series No. XVI)

२- द्रष्टव्य — 'The laws and practice of Sanskrit Drama p. 467

कथावस्तु के इस स्थल पर युक्त्युत्तर वचन नहीं है । यहाँ नायक के प्रेम हृदय की सुख की उपलब्धि हुई है जो "प्रियाचरितं उसे त्वया मे" इस अंश से स्पष्ट है । अतएव यहाँ पर सुखागम की अभिव्यंजना कराने वाली प्राप्ति नामक सन्ध्यंग की उपस्थिति को स्वीकार करना ही उचित प्रतीत होता है ।

प्रतिमुखसन्धि के अंग :- द्वितीय अंक के ८ वें श्लोक में विधुत नामक अरति को प्रकट करने वाला प्रतिमुख सन्धि का तृतीय अंग है । ६ वें श्लोक में शुभ-निमित्त को देखकर नायक की उत्कण्ठा एवं अरति की शान्ति होने के कारण शम नामक अंग है । "यहाँ पुरूरवा विदूषक से कहते हैं कोई उपाय सोचो जिससे मेरी प्रार्थना सफल हो" — यहाँ विलास नामक अंग है । चित्रलेखा के साथ प्रतिष्ठानपुर में पुरूरवा के राजप्रासाद में पहुँचकर उर्वशी सखी से पूछती है — सखि, यह बातों पर अनुकम्पा करने वाले कहाँ होंगे ?" — यहाँ एक बार दृष्ट होकर नष्ट हो गये उर्वशी के अनुराग का पुनः अन्वेषण होने के कारण परिसर्प नामक अंग है । द्वितीय अंक के ११ वें श्लोक के पूर्वार्द्ध में धनंजयकृत लक्षण के अनुसार प्रगमन नामक अंग है । यहीं पर साहित्यदर्पणकार के अनुसार वज्र नामक अंग है । उर्वशी के भवनलेख में उपन्यास नामक अंग का समावेश १४ वें श्लोक में विशिष्ट वाक्य के द्वारा बीज का उद्घाटन होने के कारण पुष्प नामक सन्ध्यंग है । द्वितीय अंक के १६ वें श्लोक में चित्रलेखा के मुख से उर्वशी की मनोदशा को जानकर राजा के हृदय में कुछ धैर्य होता है । यहाँ पर द्युति नामक अंग है । यहाँ चित्रलेखा उर्वशी से कहती है —" क्या मुझसे मैं जान जाऊँगी कौन किसे छोड़ेगी ?" — यहाँ परिहास वचन होने के कारण नर्म नामक अंग का समावेश हुआ है । उर्वशी के द्वारा कहे हुए "महाराज की जय हो" इस वाक्य से १७ वें श्लोक में राजा की उक्ति तक प्रगमन नामक अंग है । नायक-नायिका के प्रेम-व्यापार में विघ्न उत्पन्न करने वाले नेपथ्यभाषण में हित का रोध होने के कारण निरोध नामक सन्ध्यंग है । औशीनरी के रोषपूर्ण वचनों में वज्र नामक अंग है । देवी को मनाने के लिए कहे गये राजा के वचनों में पर्युपासन नामक सन्ध्यंग का समावेश हुआ है ।

१- द्रष्टव्य — "साहित्यदर्पण" षष्ठ परिच्छेद ॥ ६१ ॥

गर्भसन्धि के अंग :- तृतीय अंक में ब्राह्मण माणवक के आशापूर्ण वचनों से तथा अपनी दक्षिण भुजा के स्पन्दन से पुरूरवा को प्रियसमागम की आशा होने लगती है, अतएव ६ वें श्लोक में अनुमान नामक गर्भसन्धि का अंग है । जहाँ उर्वशी को चित्रलेखा यह कहकर दुःखी कर देती है " सखि, या तो मन ही मन प्रियसमागम के सुख का अनुभव करते हुए उत्कण्ठा के योग्य अवकाश काल को बिता रहे हैं ।" वहाँ अधूताहरण नामक अंग है । ११ वें श्लोक में रूप नामक अंग का समावेश हुआ है । नेपथ्य में औशीनरी के आगमन की सूचना पाकर जहाँ उर्वशी घबड़ाकर चित्रलेखा से पूछती है -- "सखि, अब क्या करना चाहिए" वहाँ पर शंकाभाव व्यक्त होने के कारण संभ्रम नामक अंग है । प्रियानुप्रसादन व्रत के नाम पर औशीनरी की प्रतिज्ञा में विश्वनाथ के अनुसार क्षिप्ति तथा धनंजय के अनुसार आक्षेप नामक गर्भसन्धि के अन्यतम महत्वपूर्ण अंग का समावेश हुआ है । आक्षेप नामक अंग में बीज का पूर्णतः उद्भेदन कर दिया जाता है । औशीनरी की प्रतिज्ञा में उर्वशी पुरूरवा के अनुराग बीज का अप्रतिहत रूप से उद्भेदन हो गया है । अतः यहाँ पर आक्षेप नामक गर्भसन्धि के अंग की सुन्दर संयोजना हुई है । उर्वशी के निम्नलिखित वाक्य में उद्वेग प्रकट होने के कारण उद्वेग नामक गर्भसन्धि के अंग का समावेश हुआ है -- " उर्वशी -- सखि, राजर्षि को पत्नी बहुत प्रिय है । मैं उनके हृदय को (उनसे) विमुख नहीं कर सकूँगी ।" तृतीय अंक के १५ वें श्लोक में पुरूरवा ने उर्वशी के जैसे समागम की इच्छा की थी, उर्वशी ठीक वैसा ही आचरण करती है । अतः यहाँ पर क्रम नामक सन्ध्यंग है । जहाँ अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति का चिन्तन करते हो वह सहसा उपस्थित हो जाय, वहीं पर क्रम नामक सन्ध्यंग का समावेश होता है ।

विमर्श सन्धि के अंग :- चतुर्थ अंक में राजा की निम्नलिखित रोषपूर्ण वाक्य में संफेट नामक अंग का समावेश हुआ है :-

"राजा -- अरे ! दुष्ट राक्षस ! ठहर-ठहर ! मेरी प्रियतमा को
लेकर कहाँ जा रहा है ?"

यहाँ पुरूरवा अपने सामर्थ्य की घोषणा करते हुए कहते हैं -- " मेरे सामने रहने पर देवताओं के शत्रु भी उसका हरण नहीं कर सकते" -- यहाँ पर व्यवसाय नामक अंग है । पुरूरवा निम्नलिखित उक्ति में अपने भाग्य पर खेद प्रकट

क

करते हैं, अतः यहाँ पर क्षमानना नामक सन्ध्यंग का समावेश हुआ है —" (दिशाओं को ओर देखकर दीर्घ सांस लेकर) अरे जिसका भाग्य विमुख हो गया है, उसके तो दुःखों की तांता लगी रही रहता है।" इस अंक के १० वें श्लोक में [अपहृत ... १६ वें श्लोक में] प्रति राजा का तर्जन व्यक्त होने के कारण "व्युति" नामक अंग है। ऋषि की नेपथ्योक्ति में प्ररोचना नामक अंग है।

यहाँ उल्लेखनीय है कि चतुर्थ अंक के "तन्वी मेघजलार्द्रपल्लवतया..." इत्यादि श्लोक में काल्केम ने विरोधन नामक गर्भसन्धि[1] का अंग माना है। डा० शास्त्री ने भी "धनंजय के लक्षणानुसार यहाँ विरोधन नामक सन्ध्यंग है" — ऐसा उल्लेख किया है[1]। फिर भी यहाँ इस अंग की अवस्थिति मान्य प्रतीत नहीं होती। धनंजय ने विरोधन का लक्षण "संरब्धानां विरोधनम्" किया है[2] किन्तु यहाँ संरब्ध ध्वनित नहीं हो रहा है। धनिक ने इस अंग के उदाहरण के रूप में वेणीसंहार[3] के जिस कथांश का उद्धरण दिया है, उसकी प्रकृति से भी विक्रमोर्वशी के इस कथांश का कोई साम्य नहीं है।

पुरूरवा की निम्नलिखित उक्ति में आचार्य के मतानुसार "आदान" नामक सन्ध्यंग का समावेश हुआ है —" कल्याणि! मुझे मनाने की आवश्यकता नहीं है। मेरा तन-मन तुम्हारे दर्शन-मात्र से ही प्रसन्न हो गया है। कहो, इतने दिनों तक तुम मेरे बिना कैसे रह सकी?"

निर्वहण सन्धि के अंग :- पंचम अंक में जहाँ पुरूरवा बाणपुंख पर उत्कीर्ण लेख को पढ़ते हैं, वहां पर बीजार्थ की उद्भावना होने के कारण सन्धि नामक अंग है। पुरूरवा अपने निम्नलिखित कथन में कार्य की फिर से खोज करते हैं —" मान लें कि जो आप कह रहे हैं, वही है। फिर भी तो पुत्र को छिपाकर रखने में उनका क्या उद्देश्य हो सकता है? — अतः यहां पर विबोध नामक अंग है। सत्यवती जहां पर पुरूरवा को आयु का परिचय देती है वहाँ पर ग्रथन नामक सन्ध्यंग है। इन्द्र के आदेश का स्मरण कर रोती हुई

१- द्रष्टव्य — ~~विक्रमोर्वशी की टीका~~ The laws and practice of Sanskrit Drama p. 469

२- द्रष्टव्य — दशरूपक, १।४७।।

३- द्रष्टव्य — दशरूपक (डा० भोलाशंकर व्यास द्वारा सम्पादित, चौखम्बा विद्या-भवन १९५५) पृ० सं० ५२

उर्वशी को राजा जहाँ पर मनाते हैं वहाँ पर प्रसाद नामक सन्ध्यंग है । उर्वशी जहाँ पर पुरूरवा से इन्द्र के आदेश का वर्णन करती है और आयु को अब तक छिपा रखने का कारण बताती है, वहाँ पर निर्णय नामक अंग है । नारद के आगमन में जिस अद्भुतभाव का वर्णन हुआ है, उसमें उपगूहन नामक अंग है । नारद के द्वारा "अविरहित दम्पती" का आशीर्वाद दिये जाने पर राजा मन में सोचते हैं " ऐसा ही हो " । यहाँ पर कार्य का अंत होने के कारण "पूर्वभाव" नामक अंग है । नारद के मुख से इन्द्र का आदेश सुनकर पुरूरवा को चिरकाल से प्राप्त उर्वशी के समागम रूप अर्थ के उपशमन के कारण कृति नामक अंग है । उर्वशी के निम्नलिखित वाक्य में दुःख के अवसान की अभिव्यक्ति होने के कारण समय नामक अंग है —" अहा ! मानो मेरे हृदय से (एक) शल्य निकाल लिया गया है ।" इन्द्र के आदेश को सुनकर पुरूरवा हर्ष के साथ कहते हैं " मैं सदा ही देवराज की सेवा के लिए प्रस्तुत रहूँगा ।" — यहाँ आनन्द नामक सन्ध्यंग का समावेश हुआ है । " तुम्हारे पुत्र आयु का यह यौवराज्याभिषेक मुझे इन्द्र के द्वारा सेनाध्यक्ष के रूप में महासेन के अभिषेक का याद दिला रहा है । " नारद के इस कथन में परिभाषण नामक अंग है । देवर्षि की निम्नलिखित उक्ति में "काव्यसंहार" नामक अंग है —" पाकशासन आपका और क्या प्रिय(कार्य) करें ?" पुरूरवा के मुख से उच्चारित भरतवाक्य में प्रशस्ति नामक निर्वहण सन्धि का अन्तिम अंग है ।

<u>सन्ध्यन्तर</u> :- प्रथम अंक में भयभीत अप्सराओं के करुण पुकार में भय नामक सन्ध्यन्तर है । पुरूरवा जब जब माणवक के सम्मुख अपनी उर्वशी-विषयक अभिलाषा को प्रकट कर रहे थे, छिपकर सुनने वाली उर्वशी को उनके वचनों से बहुत आश्वासन मिलता है, अतः यहाँ पर साम नामक सन्ध्यन्तर का प्रयोग दृष्टिगोचर होता है । गोत्रस्खलित की सूचना तृतीय अंक के विष्कम्भक में "लक्ष्मी स्वयम्वर" के वर्णन में मिलती है । चतुर्थ अंक में भ्रान्ति नामक सन्ध्यन्तर का सुन्दर प्रयोग हुआ है । पुरूरवा उर्वशी के प्रेम-व्यापार में चित्रलेखा के द्वारा अनुष्ठित दूती के कार्य में दौत्य नामक सन्ध्यन्तर का प्रयोग हुआ है । उर्वशी के मदनलेख में लेख नामक संध्यन्तर का प्रयोग हुआ है । प्रत्युत्पन्नमति नामक सन्ध्यन्तर का प्रयोग तृतीय अंक में हुआ है । यहाँ पुरूरवा माणवक से प्रियासमागम का उपाय

लौटने के लिए अनुरोध करते हैं, वहाँ पर धो नामक सन्ध्यन्तर का प्रयोग हुआ है। चतुर्थ अंक में राजा के इस वितर्क में प्रत्युत्पन्नमति नामक सन्ध्यन्तर का प्रयोग हुआ है :- "पुरूरवा के रहते हुए उर्वशी कभी सागर को अभिसाभिलाषिणी नहीं होगी, अतः यह उर्वशी नहीं, किन्तु एक नदी है।" तृतीय अंक के अन्त में उर्वशी के प्रति कहे गये पुरूरवा के मधुर वचनों में "साम" नामक सन्ध्यन्तर है।

कथावस्तु के सूच्य तथा मुख्य अंश :- इस नाट्य - रचना में अर्थोपक्षेपकों के प्रायः प्रत्येक प्रकार का प्रयोग हुआ है। कथावस्तु के सूच्य अंश के प्रतिपादन के लिए पाँच बार "चूलिका" का प्रयोग किया गया है। चतुर्थ अंक में कई बार "आकाशभाषित" का प्रयोग हुआ है। यद्यपि आकाशभाषित संवाद का ही एक प्रकार है, इसकी गणना भी अर्थोपक्षेपकों में नहीं होती, फिर इस प्रकार के नाट्यधर्मी संवाद में चूलिका के समान ही सूच्य अर्थ के प्रतिपादकत्व का गुण कुछ सीमा तक रहता ही है।

"प्रवेशक" नामक अर्थोपक्षेपक के माध्यम से दो बार सूच्य कथांश का प्रतिपादन किया गया है। पहली बार द्वितीय अंक के चेटी विदूषक के संवाद से युक्त प्रवेशक का प्रयोग हुआ है। दूसरी बार सहजन्या और चित्रलेखा के संवाद से युक्त प्रवेशक का प्रयोग चतुर्थ अंक के प्रारम्भ में हुआ है। इसमें वर्णित सूच्य कथांश की महत्ता बहुत अधिक है। इससे उर्वशी के लता रूप में परिणत हो जाने की सूचना मिलती है, साथ ही निकट भविष्य में उर्वशी और पुरूरवा के पुनर्मिलन के सम्बन्ध में भी आशा का संचार हो जाता है। नायक की आगामी विरह- दशा के वर्णन के लिए यह प्रवेशक एक सुन्दर पूर्वपीठिका प्रस्तुत करता है। तृतीय अंक के प्रारम्भ में भरत-शिष्यों के संवाद में मिश्र-विष्कम्भक का प्रयोग हुआ है।

न चास्य पताकात्वं समुद्दिष्ट कथा न प्रकरीति । फलप्रधानं पताका बाधं
तदभिप्रायेण ।" द्वितीय अंक में मृगया-वृत्तान्त से शकुन्तला-गत कथानक कुछ विच्छिन्न
हो गया था, किन्तु वह राजा के 'अनवाप्त चक्षुः फलोऽसि' इत्यादि वाक्य से
पुनः संयुक्त हो गयी, अतएव यहाँ पर 'बिन्दु' नामक अर्थप्रकृति मानी जायगी ।[1]
'पताका' नामक अर्थप्रकृति के विषय में सन्देह है । आचार्य विश्वनाथ ने शाकुन्तल
के विदूषक वृत्तान्त में पताका नामक अर्थप्रकृति माना है । किन्तु विश्वनाथ का
यह मत सन्दिग्ध है । यदि विदूषक-वृत्तान्त को पताका मान लिया जाय तो
विदूषक को पताका-नायक की पदवी देनी होगी -- परन्तु समग्र दुष्यन्त-शकुन्तला
के प्रेमव्यापार में विदूषक का कोई विशेष महत्व नहीं है । पूरे नाटक में विदूषक
को कहीं अपने सखा की प्रेयसी को देखने का सौभाग्य ही नहीं हुआ । कण्वाश्रम
के पास ही उपस्थित रहकर भी शकुन्तला के दर्शन से वह वंचित हो रहा और
पंचम अंक में जब राजसभा में शकुन्तला आती है, उस समय भी विदूषक को वहाँ
पर उपस्थित नहीं किया गया । यहाँ तक कि षष्ठ अंक के पूर्व तक उसे दुष्यन्त
और शकुन्तला के प्रेम सम्बन्ध के विषय में कुछ ज्ञान ही नहीं था । द्वितीय अंक
में विदूषक को इस विषय में यत्किंचित् आशंका हो जाती है, किन्तु राजा की
उक्ति को सत्य मानकर उसने वैसी आशंका को भी हृदय से निकाल दिया, तभी
तो पंचम अंक में हंसपदिका के गीत के समय अवकाश होने पर भी विदूषक ने
कण्वाश्रम की उस घटना का स्मरण भी नहीं किया । षष्ठ अंक में तो
उसने स्पष्टतः कह ही दिया -- " न विस्मरामि । किन्तु सर्वं कथयित्वाऽवसाने
पुनस्त्वया परिहासविजल्प एष न भूतार्थ इत्याख्यातम् । मयापि मृत्पिण्डबुद्धिना व
तथैव गृहीतम् ।" -- इस प्रकार आधिकारिक इतिवृत्त की गतिविधि में विदूषक
वृत्तान्त का कोई योगदान न होने के कारण विदूषक को पताका नायक की पदवी
नहीं दी जा सकती और न तो विदूषक-वृत्तान्त में पताका नामक अर्थप्रकृति मानना
उचित है । विश्वनाथ ने स्वयं पताका और पताका-नायक की जो परिभाषा दी
है, कम से कम उसी का ध्यान करके उन्हें विदूषक वृत्तान्त[2] को पताका की आख्या
देना उचित नहीं था । इस सम्बन्ध में रामभद्र का मत ही समीचीन प्रतीत होता

१- द्रष्टव्य -- साहित्यदर्पण षष्ठ परिच्छेद ॥६७॥ पृ. सं. १८२ (विमला व्याख्या) १९५६

२- द्रष्टव्य -- शाकुन्तल निर्णय सागर प्रेस से मुद्रित १९५२ पृष्ठ संख्या -- ११९ (तत्र पताकाया
अनित्यत्वादत्र पताका नास्ति।)

है, जिन्होंने शाकुन्तल में पताका नामक अर्थप्रकृति का अभाव माना है। धनिक, धनंजय तथा सिंहभूपाल आदि आचार्यों ने कथानक की सन्धियों का उल्लेख करते समय इस अर्थप्रकृति की अवस्थिति को अनिवार्य नहीं माना है। अतः यदि शाकुन्तल के कथानक में पताका नामक अर्थप्रकृति का समावेश न हुआ हो तो इसके अंगसौष्ठव में कोई कमी न होगी।

प्रकरी नामक अर्थप्रकृति का समावेश प्रस्तुत नाटक में कई बार हुआ है। चतुर्थ अंक में कण्व से सम्बन्धित कथांश, षष्ठ अंक में धीवर-वृत्तान्त एवं सानुमती वृत्तान्त, सप्तम अंक में मातलि-वृत्तान्त प्रकरी बनने के लिए सर्वथा समर्थ है। इनमें से कथा का कलेवर संक्षिप्त है, सभी में प्रकरी के लक्षण पूर्णरूप से घटित होते हैं — फिर भी सन्धियों की अनुगामिता को दृष्टि में रखकर धीवर एवं सानुमती-वृत्तान्त में ही प्रकरी नामक अर्थप्रकृति की सार्थक संयोजना मानी जायगी।

सप्तम अंक में प्रिया पुत्र के मिलन में कार्य नामक अर्थप्रकृति का समावेश हुआ है। शीर्षक की व्याख्या 'अभिज्ञानेन स्मृता शकुन्तला...' इत्यादि भी इसी बात को पुष्ट करती है कि शकुन्तला की प्राप्ति में ही कार्य नामक अर्थप्रकृति की अवस्थिति है।

अवस्थाएँ :- वैखानस के अनुरोध के उत्तर में दुष्यन्त कहते हैं 'भवतु तां द्रक्ष्यामि'। उनके इसी औत्सुक्य में ही आरम्भ नामक अवस्था है। द्वितीय अंक में दुष्यन्त विदूषक से कहते हैं — 'तापसैः कैश्चित्परिज्ञातोऽस्मि। चिन्तय तावत्केनापदेशेन सकृदप्याश्रमे वसामः।' — यहाँ प्रयत्न नामक अवस्था है। चतुर्थ अंक में फलप्राप्ति एक ओर दुर्वासा-शाप के कारण निराशा और दूसरी ओर अंगूठी रूप अभिज्ञान की विद्यमानता के कारण आशा के बीच दोलायमान अवस्था में रहती है। अतएव यहाँ पर प्राप्त्याशा नामक अवस्था है। धीवर वृत्तान्त के बाद अंगूठी देखकर राजा की शकुन्तलागत-विस्मृति दूर हो जाने पर फलप्राप्ति में स्थिरता एवं एक निश्चिन्तता आ जाती है, अतएव यहाँ नियताप्ति नामक अवस्था है।

'नियताप्ति' के विषय में राघवभट्ट का मत भी विवेचन सापेक्ष[1] है। वे पंचम अंक में शकुन्तला को देखकर राजा के कहे हुए 'इदमुपनतमेवं रूपमक्लिष्ट-कान्ति...' इत्यादि वाक्य में नियताप्ति की अवस्था मानते हैं। किन्तु

१- द्रष्टव्य — शाकुन्तल निर्णय सागर प्रेस से मुद्रित १९५८ पृष्ठ संख्या — १६४

रामचन्द्र का मत मान्य प्रतीत नहीं होता, क्योंकि उद्धृत स्थल में फलप्राप्ति अब भी स्पष्टरूप से दोलायमान अवस्था में ही वर्तमान है । राजा की उक्ति में उपाय और अपाय दोनों भाव ध्वनित हो रहे हैं, तब ऐसी दशा में नियताप्ति किस प्रकार मानी जाये? नियताप्ति का तो लक्षण "अपायाभावतः प्राप्ति-नियताप्तिस्तु सुनिश्चिता ।"[1] अंगूठी मिलने के अनन्तर विस्मृति-रूप अपाय नष्ट हो जाता है, अतएव वहीं से नियताप्ति मानना उचित प्रतीत होता है ।

सप्तम अंक के अन्त में फलागम नामक पंचम अवस्था का समावेश हुआ है ।

<u>सन्धियाँ</u> :- प्रथम अंक में जहाँ पर कृष्णसार के पीछे-पीछे धावमान रथ पर आरूढ़ होकर दुष्यन्त प्रवेश करते हैं, वहीं पर मुखसन्धि शुरू हो जाता है । यह सन्धि द्वितीय अंक में "उभौ परिक्रम्योपविष्टौ" -- इस निर्देश तक चलती है । द्वितीय अंक में जहाँ पर दुष्यन्त माधव्य से "अनवाप्त चक्षुःफलोऽसि" इत्यादि कहते हैं वहाँ से लेकर चतुर्थ अंक व के प्रथम श्लोक "विचिन्तयन्ती यमनन्यमानसा.." इत्यादि तक प्रतिमुख सन्धि का विस्तार है । इस श्लोक के अनन्तर गर्भसन्धि शुरू हो जाती है और पंचम अंक के अन्त तक यही सन्धि चलती है । षष्ठ अंक में अवमर्श सन्धि का समावेश हुआ है । सप्तम अंक के १३ वें श्लोक से निर्वहण सन्धि शुरू हो जाती है जो नाटक के अन्त तक चलती है ।

<u>सन्ध्यंग</u> :- (मुख सन्धि के अंग) -- प्रथम अंक में "इदानीमेव दुहितरं शकुन्तलामतिथिसत्काराय नियुज्य दैवमस्याः प्रतिकूलं शमयितुं सोमतीर्थं गतः" -- वैखानस की इस उक्ति में मुख सन्धि का प्रथम अंग उपक्षेप का समावेश होता है । वैखानस की इस उक्ति में प्रत्येक पद सारगर्भित है । इसकी प्रशंसा रामचन्द्र ने भी की है । आश्रम में प्रवेश करते ही दुष्यन्त की दक्षिण भुजा में स्पन्दन होने लगता है, दुष्यन्त इस शुभ-निमित्त को देखकर कहते हैं -- "शान्तमिदमाश्रमपदं स्फुरति च बाहुः..." इत्यादि -- यहाँ पर परिकर नामक सन्ध्यंग है । शकुन्तला को देखकर दुष्यन्त के मुख से उच्चारित "क्वेयं सा कण्वदुहिता..." इत्यादि उक्ति में विलोभन नामक सन्ध्यंग है । "कथमियं सा कण्वदुहिता..." इत्यादि, दुष्यन्त के कथन में परिन्यास नामक अंग है । भ्रमर के प्रति दुष्यन्त

---

[1] द्रष्टव्य -- साहित्यदर्पण षष्ठ परिच्छेद पृष्ठ संख्या १७८

को "कलापांगाँ दृष्टिं स्पृशसि..." इत्यादि उक्ति में प्राप्ति नामक सन्ध्यंग है । यहाँ पर कोई शंका उठा सकते हैं कि सुख की प्राप्ति तो भ्रमर को हो रहा है, नायक को नहीं, अतएव यहाँ पर प्राप्ति नामक सन्ध्यंग की उपस्थिति किस प्रकार मानी जायगी ? इस शंका का समाधान धनिक की व्याख्या से हो सकता है । धनिक ने निर्देश किया है —"साक्षात्पारम्पर्येण वा विधेयानि ।"

प्रियम्वदा जहाँ कहती है" आर्ये धर्मचरणे[1]ऽपि परवशोऽयं जन: । गुरो: पुनरस्या अनुरूपवरप्रदाने संकल्प: ।" — वहाँ युक्ति नामक सन्ध्यंग है । प्रियम्वदा की इस उक्ति से राजा के हृदय में विश्वास होता है । वह स्वगतोक्ति करते हैं —" भव हृदय साभिलाषं..." इत्यादि यहाँ पर समाधान नामक सन्ध्यंग का समावेश होता है । अंक के २५ वें श्लोक में दुष्यन्त के हृदय की जो अद्भुत दशा का वर्णन हुआ है, उसमें "परिभाव" नामक सन्ध्यंग का समावेश होता है । दुष्यन्त जहाँ अपनी अंगूठी देकर शकुन्तला को प्रियम्वदा से उऋण करने का प्रयत्न करते हैं, वहाँ पर "करण" नामक सन्ध्यंग है । अंगूठी में दुष्यन्त का नाम देखकर प्रियम्वदा को उनका वास्तविक परिचय ज्ञात हो जाता हं, अतएव "हला शकुन्तले । मोचितास्यनुकम्पिनार्येण, अथवा महाराजेन, गच्छेदानीम् ।" — प्रियम्वदा की इस उक्ति में उद्भेद नामक अंग का समावेश होता है । राघवभट्ट प्रथम अंक के अन्त में "भो भो तपस्विन: । संनिहितास्तपोवनसत्वरक्षायै भवत । प्रत्यासन्न: किल मृगयाविहारी पार्थिवो दुष्यन्त: ।" — इस उक्ति में भेद नामक सन्ध्यंग की उपस्थिति मानते हैं । उसके लिए वह यह कारण देते हैं "दुष्यन्त इति राजनामश्रवणाच्छकुन्तलाया: प्रोत्साहनाद्भेद लक्षणमंगमुपनिबद्धम् ।" किन्तु राघवभट्ट का मत बहुत ग्राह्य प्रतीत नहीं होता क्योंकि शकुन्तला के प्रेम को इस नेपथ्योक्ति में दुष्यन्त के नाम के उल्लेख से कुछ अधिक प्रोत्साहना मिली, ऐसा विश्वास नहीं होता । शकुन्तला दुष्यन्त के राजभाव से उनके प्रति आकृष्ट नहीं हुई थी । दुष्यन्त के प्रति उसकी आसक्ति का प्रधान कारण उनका प्रभावशाली व्यक्तित्व था । फिर दुष्यन्त के मिथ्यापरिचय देने पर भी तीनों सखियों को शीघ्र ही उनके वास्तविक परिचय का ज्ञान हो गया था ।उद्भेद नामक सन्ध्यंग के प्रसंग में जिस कथांश का उद्धरण किया गया है वही इस बात का प्रमाण है । वस्तुत: प्रस्थान काल में

१- द्रष्टव्य —"शाकुन्तल" निर्णय सागर प्रेस से मुद्रित (१९५८) पृ स ५१

शकुन्तला के हाव-भाव का जो निर्देश किया गया है, उससे दुष्यन्त के प्रेम को प्रोत्साहना मिलती है, अतएव उसमें भेद नामक सन्ध्यंग का समावेश मानना उचित है। नायिका के प्रेम को नायक के नाम-श्रवण से भी अधिक नायक के आचरण से, उसके प्रति नायक के विशेष कौतूहल से, उसे त्राण करने के लिए नायक के प्रयास इत्यादि से प्रोत्साहना मिलती है।

(प्रतिमुख सन्धि के अंग :-) द्वितीय अंक में विदूषक के प्रति दुष्यन्त की निम्नलिखित उक्ति में विलास नामक प्रतिमुख सन्धि के प्रथम अंग का समावेश हुआ है, "चिन्तय तावत्केनापदेशेन सकृदप्याश्रमे वसाम:..." इत्यादि। आचार्य विश्वनाथ ने "कामं प्रिया न सुलभा..." इत्यादि श्लोक में "विलास" नामक सन्ध्यंग माना है,[1] किन्तु "रत्यर्थेहा" जो विलास का लक्षण है, वह "कामं प्रिया सुलभा..." इत्यादि श्लोक में उतना घटित नहीं होता, जितना पूर्वप्रदर्शित स्थल में होता है। तृतीय अंक में दुष्यन्त शकुन्तला की अवस्थिति का अनुमान लगाते हुए कहते हैं — "यावदेनामन्विष्यामि..." यहाँ परिसर्प नामक द्वितीय अंग है। वेतसकुञ्जगृह में सखियाँ शकुन्तला से पूछती हैं "हला शकुन्तले। अपि सुखयति ते नलिनीपत्रवात: ?" शकुन्तला इन सब उपचारों के प्रति उदासीनता प्रकट करती हुई कहती है — "किं वीजयती मां सख्यौ ?" यहाँ विधूत नामक तृतीय अंग है। जहाँ पर सखियाँ उसकी उत्कण्ठा की शान्ति का उपाय बताती हैं और उनके अनुसार शकुन्तला मदनलेख लिखती है वहाँ शम नामक अंग है। राघवभट्ट शाकुन्तल में नर्म नामक सन्ध्यंग का अभाव मानते हैं,[2] किन्तु तृतीय अंक में शकुन्तला के प्रति सखियों की "पृथिव्या: य: शरणं स तव समीपे वर्तते" उक्ति में सुन्दर परिहास ध्वनित होता है — अतएव यह स्थल भी नर्म नामक सन्ध्यंग बनने के लिए सर्वथा उपयुक्त है। आगे सखियों और दुष्यन्त के संवाद में प्रगमण नामक सन्ध्यंग है। शकुन्तला के "पौरव, रक्ष विनयम्" इत्यादि वचन में वज्र नामक सन्ध्यंग का समावेश हुआ है। वैसे दुर्वासा के अभिशाप-वाक्य में "वज्र" नामक सन्ध्यंग का पुन: समावेश हुआ है। गौतमी के आगमन का संकेत पाकर शकुन्तला की "पौरव, अंकल मम शरीरवृत्तान्तोपलम्भायार्या गौतमीत एवागच्छति..." उक्ति में निरोधन नामक अंग का समावेश होता है। पुष्प नामक सन्ध्यंग की अवस्थिति के विषय में राघवभट्ट प्रदर्शित स्थल की अपेक्षा शकुन्तला की "उत्सर्पण वंशायकारक। आगमन्ति स्वां मुखरोपि परिमोचाय" यह उक्ति अधिक उपयुक्त प्रतीत होती है।[3]

1- साहित्यदर्पण- ६।८८

2- शाकुन्तल (Ed. N.R Acharya) 1958 p.117

3- " " " " " p.116

[illegible] नामक अंग है । मारीच के 'भवतु । किं ते भूयः प्रियमुपकरोमि' इत्यादि कथन में 'काव्यसंहार', तथा नाटक के अन्तिम श्लोक में प्रशस्ति नामक निर्वहण सन्धि के अंग का समावेश हुआ है ।

सन्ध्यन्तर :- शकुन्तला में २१ सन्ध्यन्तरों में से १७ सन्ध्यन्तर प्राप्त होते हैं । शेष चार सन्ध्यन्तर (भेद, मद, [illegible] तथा [illegible]) के प्रयोग के लिए वस्तुतः नाटक में कोई अवसर नहीं था । इन १७ सन्ध्यन्तरों में से मुख्य सन्ध्यन्तरों की अभिव्यक्ति निम्नलिखित है :-

'साम' :- तृतीय अंक में जहाँ शकुन्तला कहती है '[illegible] वाम् अन्तःपुर विरह-पर्युत्सुकेन राजर्षिणा उपरुद्धेन' — यहाँ से लेकर तृतीय अंक के २२ वें श्लोक तक इस सन्ध्यन्तर का विस्तार है ।

'दान' :- तपोवन से प्रस्थान करते समय दुष्यन्त के द्वारा शकुन्तला को अंगूठी देने में दान नामक सन्ध्यन्तर का समावेश हुआ ।

दण्ड :- रसार्णवसुधाकर में प्रथम अंक के 'कः पौरवे वसुमतीं....' इत्यादि श्लोक दण्ड नामक सन्ध्यन्तर के उदाहरण के रूप में उल्लिखित हैं किन्तु षष्ठ अंक में चित्रगत भ्रमर के प्रति दुष्यन्त की 'त्वां कारयामि कमलोदरबन्धनस्थम्' — इत्यादि उक्ति ही इस सन्ध्यन्तर के लिए अधिक उपयुक्त प्रतीत होती है ।

क्रोध :- षष्ठ अंक के अन्त में इसी सन्ध्यन्तर की योजना से दुष्यन्त के पश्चात्तापजन्य हृदय में क्रोध का संचार कर कथावस्तु को एक नया मोड़ दिया गया है जिससे फलप्राप्ति का मार्ग भी सुगम हो गया है ।

धी :- द्वितीय अंक में जहाँ दुष्यन्त विदूषक से आश्रम में प्रवेश करने का कोई उपाय बताने के लिए अनुरोध करते हैं, वहाँ पर "धी" नामक सन्ध्यन्तर है ।

वध :- सप्तम अंक में दानववध की सूचना में "वध" नामक सन्ध्यन्तर का प्रयोग हुआ है ।

भय :- प्रथम अंक में शकुन्तला की भ्रमरबाधा तथा षष्ठ अंक में अशरीरी के रूप में उपस्थित मातलि द्वारा पीड़ित विदूषक की भीति में इसका प्रयोग हुआ है ।

माया :- द्वितीय अंक के अन्त में दुष्यन्त की 'परिहासविजल्पितं सखे परमार्थेन न गृह्यतां वचः' इत्यादि उक्ति में 'संवृति' नामक सन्ध्यन्तर है ।

भ्रान्ति :- षष्ठ अंक में जहाँ दुष्यन्त चित्रगत भ्रमर को सम्बोधित करके उसकी प्रति तर्जना करते हैं, वहाँ पर 'भ्रान्ति' नामक सन्ध्यन्तर है ।

दूत्य :- शकुन्तला-लिखित मदनलेख को दुष्यन्त के हाथों में पहुँचाने के लिए प्रियम्वदा का उपाय सोचना दूत्य नामक सन्ध्यन्तर ह की सूचना देता है ।

हेत्ववधारण :- गौतमी के प्रति 'स्त्रीणामशिक्षितपटुत्वममानुषीषु...' इत्यादि दुष्यन्त के कथन में इस सन्ध्यन्तर का प्रयोग हुआ है ।

लेख :- तृतीय अंक में शकुन्तला के द्वारा मदनलेख लिखने में इस सन्ध्यन्तर का प्रयोग हुआ है ।

चित्र :- षष्ठ अंक में दुष्यन्त के द्वारा शकुन्तला के चित्रांकन में इस सन्ध्यन्तर का प्रयोग हुआ है ।

उसकी आज्ञा से भीम तथा सहदेव का युद्ध के लिए प्रस्थान करना प्रयत्न नामक अवस्था का सूचक है । वैसे प्रथम अंक के १२ वें श्लोक में जहाँ भीम '[illegible] ममापि न गुरुर्जाहं विधेयस्त्वं' इत्यादि कहकर कौरवों के द्वारा किए हुए अन्यायपूर्ण अत्याचारों के प्रतिकार के लिए प्रयत्न करते हैं, वहाँ पर भी प्रयत्न नामक अवस्था का आभास होने लगता है । किन्तु भीम के चरित्र में नायकत्व के अभाव के कारण यह प्रयत्न स्पष्ट नहीं होता -- अतएव वेणीसंहार के पूर्वनिर्दिष्ट कथांश से ही प्रयत्न नामक अवस्था का प्रादुर्भाव मानना चाहिए । यह अवस्था तृतीय अंक के प्रारम्भिक भाग तक चलती है । तृतीय अंक में अश्वत्थामा के प्रवेश के अनन्तर प्राप्त्याशा नामक अवस्था शुरू हो जाती है । यहाँ पाण्डवों की विजय भीष्म, द्रोण, जयद्रथ आदि के वध के कारण एक ओर जहाँ सुगम प्रतीत होती है, दूसरी ओर अश्वत्थामा, कर्ण, दुर्योधन आदि की वीरत्वव्यंजक उक्तियों से उस विजय में विघ्न की आशंका भी होने लगती है । अतएव धनिक के लक्षणानुसार फलप्राप्ति उपाय और अपाय के बीच दोलायमान स्थिति को प्राप्त करने के कारण यहाँ प्राप्त्याशा नामक अवस्था की सुन्दर योजना दृष्टिगोचर होती है । पंचम अंक में दुःशासन के वध के अनन्तर भीम और अर्जुन के प्रवेश से नियताप्ति की अवस्था का आविर्भाव होता है । यहाँ फलप्राप्ति की प्रायः सुनिश्चितता परिलक्षित होने लगती है । अर्जुन एवं भीम के आत्मविश्वासपूर्ण वचनों से इस अवस्था की पुष्टि होती है। अन्तिम अङ्क दुर्योधन के रुधिर से लथपथ भीम के प्रवेश से नाटक में फलागम की अवस्था का उदय होता है ।

यहाँ पर धनंजय का मत द्रष्टव्य है[1]। धनंजय "चंचद्भुजभ्रमित..." इत्यादि भीम की प्रतिज्ञा में समाधान नामक अंग की उपस्थिति मानते हैं। धनंजय प्रदर्शित इस स्थल की अपेक्षा पूर्वोक्त स्थल समाधान कहने के लिए अधिक योग्य है। धनंजय यहाँ समाधान नामक सन्ध्यंग की उपस्थिति का हेतु भीम के क्रोधबीज की पुनरुत्थापना में मानते हैं। परन्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि भीम इस नाटक का नायक नहीं है। वे इच्छानुसार कार्य नहीं कर सकते। युधिष्ठिर के उत्साह के बिना उनका उत्साह नाटक का बीज बनने में भी समर्थ नहीं है। अतएव भीम के क्रोध की पुनरुत्थापना को हेतु मानकर "चंचद्भुज....." इत्यादि में समाधान की अवस्थिति को दिखाने की अपेक्षा युधिष्ठिर की क्रोधाग्नि के विजृम्भण की घोषणा में बीज का आगमरूप समाधान नामक सन्ध्यंग मानना अधिक उचित प्रतीत होता है। समाधान का अर्थ है "सम्यक् आधान"। वेणीसंहार में बीज का सम्यक् आधान इसी घोषणा से होता है, इसके पूर्व तो बीज को केवल भीमसेन के क्रोध में पनपने के लिए अनुकूल एवं सुस्थिर वातावरण भी नहीं मिल रहा था। अतएव पूर्व-निर्दिष्ट नेपथ्योक्ति में इस अंगविशेष की उपस्थिति मानना समीचीन है।

जब भीम युद्ध के लिए प्रस्थान करने लगते हैं, तब द्रौपदी एक ओर अपने अपमान का प्रतिकारारम्भ देखकर प्रसन्न होती है, दूसरी ओर भीमसेन के कुशल के लिए वह चिन्तित भी हो उठती है। इस अवस्था में कथानक में "विधान" नामक अंग का समावेश होता है। प्रथम अंक में जहाँ नेपथ्य से उत्थित दुन्दुभिनाद को सुनकर द्रौपदी पूछती है, "नाथ ! किमिदानीमेष प्रलयजलधरस्तनितमांसलोद्घोषः क्षणे क्षणे समरदुन्दुभिस्ताड्यते" वहाँ परिभाव नामक अंग है। करण नामक सन्ध्यंग भी प्रकृत के आरम्भ को सूचित करता है, यहाँ है, जहाँ भीमसेन द्रौपदी से कहते हैं, "देवि गच्छामो वयमिदानीं कुरुकुलक्षयाय" भेद नामक सन्ध्यंग के विषय में मतभेद है। आचार्य सागर "भेदस्तु भिन्नता" मानकर एवं "भेदः संहतभेदनम्" का लक्षण अपनाकर वेणीसंहार के "अहं भिन्नो भवद्भ्यः" में भेदाख्य सन्ध्यंग मानते हैं। किन्तु यह मत मान्य प्रतीत नहीं होता। एक तो, भेद का "भेदः प्रोत्साहना मता" वाला लक्षण ही प्रसिद्ध है। दूसरा "भेदस्तु भिन्नता" मानकर "अहं भिन्नो भवद्भ्यः" के विषय में कोई निर्णय नहीं देना चाहिए क्योंकि यहाँ भिन्नता आपाततः है परमार्थतः नहीं। फिर यदि परमार्थतः भी भेद हो तो उसका साफल्य नहीं है। अतएव "भेदः प्रोत्साहना मता" वाला लक्षण अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। जहाँ भीम युधिष्ठिर के क्रोध का आधार पाकर प्रसन्नता के साथ कहते हैं "[illegible] क्रोध-ज्योतिः" वहाँ भेद नामक सन्ध्यंग का समावेश मानना

१- दशरूपक - १।२८।। का अवलोक

उचित है ।

वेणीसंहार के द्वितीय अंक में प्रतिमुख सन्धि की संयोजना की गयी है । द्वितीय अंक में युधिष्ठिर का क्रोधबीज भीष्म आदि के मरण से लक्ष्य हो गया है, किन्तु अभी कर्ण आदि के वध न होने से अलक्ष्य है । इस लक्ष्यालक्ष्य रूप में उसका उद्भिन्न होना ही प्रतिमुखसन्धि का लक्षण है । आचार्य कांदर[1] जी प्रथम अंक में भीम की "किं गंधभिस्तापि: सन्धि: ? मन्नामि.... " इत्यादि उक्ति में प्रतिमुख सन्धि का सूत्रपात मानते हैं — यह अनुचित है । भीम को नायक मानने पर तो उस तरह से प्रतिमुख सन्धि की सूचना हो सकती थी किन्तु जैसा कि दिखाया जा चुका है भीम इस नाटक का नायक नहीं हो सकता । अतएव भीम की पूर्व-निर्दिष्ट उक्ति से प्रतिमुख सन्धि का सूचना नहीं हो सकती । द्वितीय अंक से ही प्रतिमुख सन्धि का आविर्भाव मानना उचित होगा ।

इस अंक के प्रारम्भ में ही कंचुकी की व्यंग्यपूर्ण उक्ति में परिसर्प नामक अंग है । जब बीज एक बार दृष्ट होकर नष्ट हो गया हो और उसकी खोज की जाय तो वहाँ परिसर्प नामक प्रतिमुख सन्धि का अंग माना जाता है । वेणीसंहार के द्वितीय अंक में भीष्म आदि के मरण से बीज दृष्ट हो गया था किन्तु अभिमन्यु के वध से वह नष्ट हो गया । जनार्दन की सहायता प्राप्त करने वाले पाण्डवों का युद्ध रूप बीज की, बिन्दु तथा प्रयत्न के सम्पर्क से कंचुकी के मुख से उच्चारित द्वितीय श्लोक में पुन: खोज की गयी है, इसलिए वहाँ परिसर्प नामक प्रतिमुख सन्धि का अंग माना जायगा ।

द्वितीय अंक में दु:स्वप्न देखकर ,दुर्योधन के अनिष्ट एवं पाण्डवों के विजय की आशंका करके भानुमती के अन्तर्गत जहाँ अरति उत्पन्न हो जाती है, वहाँ विधूत नामक सन्ध्यंग है । दुर्योधन की उक्तियों में व्यक्त उसकी रति-विषयक इच्छाओं में विलास नामक अंग है । जहाँ पत्नी से परिहास करने के उद्देश्य से दुर्योधन चेटी के हाथ से अर्घ्य-पात्र लेकर भानुमती को देता है, वहाँ पर नर्म नामक सन्ध्यंग है । दुर्योधन को भानुमती के नियम-पालन में विघ्न उत्पन्न करने के लिए उद्यत देखकर सखी मन में कहती है ," कथं महाराजः आगतः । अन्य, कृतोऽस्याः प्रियतमा नियमंतो राजा ।" — यहाँ स्त्रियों के असंतोष होने से

१– वेणीसंहार की जगद्धर टीका "३८ प्रतिमुखरूप: सन्धि: । यदुक्तं तत्रैव – आनुषङ्गिक-कार्येण क्रियते यत्प्रकाशनम् । नष्टस्येवेह बीजस्य तद्धि प्रतिमुखं मतम् ।"

कारण निरोध नामक अंग है । भानुमती की निम्नलिखित उक्ति में अनुनय ध्वनित होने के कारण पर्युपासन नामक अंग का समावेश हुआ है —" आर्यपुत्र,अभ्यनुज्ञातया-त्वत्कामिन मे कस्मिन्नपि निषेधोऽभिलाषः ।" द्वितीय अंक के १७ वें श्लोक में पुष्प नामक सन्ध्यंग है । दुर्योधन के निम्नलिखित कथन में वज्र नामक अंग है—"धिङ् प्रलापिनि , वृद्धापसद, कोऽयमद्य ते व्यामोहः ।"—दुःशला को आश्वासन देने के लिए जहाँ दुर्योधन जयद्रथ की रक्षा के उपाय का वर्णन करता है, वहाँ पर उपन्यास नामक अंग है ।

तृतीय अंक में जहाँ सूत अश्वत्थामा को उसके पिता के निधन का समाचार देता है, वहाँ अभूताहरण नामक गर्भसन्धि का प्रथम अंग है । कपट-युक्त वचन को "अभूताहरण" कहते हैं । सूत के मुख से उच्चारित श्लोक में युधिष्ठिर के कपटयुक्त वचन का वर्णन है । इसी अंक में अश्वत्थामा के मुख से उच्चारित ३२ वें श्लोक में उदाहरण नामक अंग है । आचार्य विश्वनाथ धनंजय-निर्दिष्ट सन्ध्यंगों से भिन्न क्षिप्ति नामक एक पृथक सन्ध्यंग मानते हैं और रहस्य-अर्थ के भेदन को उसका लक्षण मानते हैं । उनके अनुसार सूत की निम्नलिखित उक्ति में क्षिप्ति नामक सन्ध्यंग मानते हैं —"एकस्य तावत्पाकोऽयं दारुणो भुवि वर्तते । केशग्रहे द्वितीयेऽस्मिन्नूनं निःशेषिताः प्रजाः ॥"[1] इसी अश्वत्थामांक में कर्ण और अश्वत्थामा के परस्पर कुद्ध वचनों में तोटक नामक अंग है ।[2] दशरूपककार तोटक का एक दूसरा उदाहरण देकर चतुर्थ अंक में दुर्योधन और सुन्दरक के निम्नलिखित कथोपकथन में उस उदाहरण को घटित करने का प्रयास करते हैं :-

"राजा — अये सुन्दरक । कच्चित्कुशलमंगराजस्य ।

पुरुषः—कुशलं शरीरमात्रेण

राजा — किं तस्य किरीटिना हता धौरेयाः , हतः सारथिः भग्नो वा रथः ।

पुरुषः—देव, न भग्नो रथः भग्नोऽस्य मनोरथः

राजा — (संभ्रमम्) कथम् ।"

"तोटक" का पहला उदाहरण ही सम्भवतः अधिक उपयुक्त है । द्वितीय उदाहरण में सन्ध्यंग का नाटक के बीज के साथ उतना प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है,

---

१- द्रष्टव्य — साहित्यदर्पण ६।९९॥

२- द्रष्टव्य — दशरूपक १।४१॥

जितना नाटक के लक्षण में विद्यमान है । अतः व पूर्वपदर्शित नीटक के लक्षण को ही अधिक महत्त्व देना चाहिए ।

उद्वेग नामक गर्भसन्धि का लक्षण आचार्य विश्वनाथ के अनुसार "नृपादिजनिता भीतिरुद्वेगः परिकीर्तितः" किन्तु इस विषय में दशरूपकार का दिया हुआ लक्षण "उद्वेगोऽरिकृता भीतिः" अधिक अच्छा है । जैसे विश्वनाथ ने वेणीसंहार में से दिए हुए अपने लक्षण के उदाहरण के रूप में जिस स्थल का उल्लेख किया, वह धनंजय-कृत परिभाषा के अनुसार भी उद्वेग का उदाहरण बनने में आती है । परन्तु धनंजय की परिभाषा अधिक स्पष्ट है । इस सन्ध्यंग का समावेश चतुर्थ अंक में सूत की निम्नलिखित उक्ति में होता है :-

"(श्रुत्वा सभयम्) कथमासन्न एवासौ कौरवराजपुत्रमहावनोत्पातमारुतो मारुतिरनुपलब्धसंज्ञश्च महाराजः, भवतु दूरमपहरामि स्यन्दनम् । कदाचिदयमनार्यो दुःशासन इवास्मिन्नप्यनार्यमाचरिष्यति ।"

इस सन्ध्यंग की पुनरावृत्ति विश्वनाथ-प्रदर्शित पंचम अंक की कथावस्तु में मानी जा सकती है । इस सन्ध्यंग का कई बार आविर्भाव प्रायः देखा जाता है । तृतीय अंक में जहाँ द्रोणवध के बाद सूत आकर अश्वत्थामा के चरणों में गिर कर कहता है —"परित्रायतां परित्रायतां कुमारः" वहाँ त्रास-भाव व्यंजित होता है और आगे नेपथ्य में भीम की दर्पोक्ति सुनकर अश्वत्थामा स्वयं दुःशासनवध की शंका करके कहते हैं —" (सशंकम्) मातुल ! मातुल ! कष्टम् । एष प्रायः प्रतिज्ञाभंगभीरुः किरीटी समं हस्तमर्जुनसैन्धवराजमभ्यवपद्यते । सर्वथा पीतं शोणितं दुःशासनस्य भीमेन" — इस प्रकार तृतीय अंक में कभी द्रोणवध के कारण उत्पन्न कौरवपक्ष के त्रास एवं कभी दुःशासनवध की शंका से पाण्डव विजय की प्राप्त्याशा अनिश्चित रहती है । अतएव इन स्थलों पर उद्वेग नामक गर्भसन्धि का अंग है । जहाँ गर्भसन्धि के बीच,उपाय-अपाय शंका में दोलायमान अवस्था में स्थित बीज को विघ्नरूप से उद्भिन्न कर दिया जाता है ,वहाँ गर्भसन्धि के अंतिम अंग आक्षेप का समावेश होता है । वेणीसंहार में जहाँ सुन्दरक —"अथवा किमित्थ देव्वं उवालहामि तस्स क्खु एवं णिब्भच्छिद विदुरवअणबीअस्स परिभूद-पिदामहहिदोवदेसंकुरस्स सउणिप्पोच्छाहणारूढमूलस्स जदुविसदाहिणी पंचालीकेसग्गहणकुसुमस्स फलं परिणमेदि ।" —इत्यादि आक्षेप करता है, वहाँ बीज फलोन्मुख होकर उद्भिन्न हो जाता है, अतएव वहाँ पर आक्षेप

१- साहित्यदर्पण ६।१००॥

नामक सन्ध्यंग है ।

षष्ठ अंक में जहाँ युधिष्ठिर और पांचालक में निम्नलिखित संवाद होता है, वहाँ दुर्योधन के दोष का कथन होने के कारण अपवाद नामक अवमर्श सन्धि के प्रथम अंग का दर्शन होता है ।

"युधिष्ठिरः-- पांचालक ! कच्चिदासादिता तस्य दुरात्मनः कौरवाधमस्य पदवी ?

पांचालकः -- न केवलं पदवी स एव दुरात्मा देवीकेशपाशस्पर्शपातक-प्रधानहेतुरुपलब्धः ।"

पंचम अंक में भीम के प्रति दुर्योधन की रोषपूर्ण उक्तियों में सम्फेट नामक अंग है ।

दशरूपककार के विद्रव नामक सन्ध्यंग के स्थान पर विश्वनाथ ने व्यवसाय नामक सन्ध्यंग माना है । वेणीसंहार के षष्ठम अंक में जहाँ भीम धृतराष्ट्र को प्रणाम करते समय कहता है -- "चूर्णिताशेषकौरव्यः क्षीबो दुःशासनासृजा । भङ्क्त्वा दुर्योधनस्योर्वोर्भीमोऽयं शिरसा नतः ॥" -- वहाँ पर इस सन्ध्यंग का समावेश होता है । वैसे वीर रसपूर्ण नाटक में धनंजय प्रतिपादित वध और बन्धन का सूचक विद्रव नामक सन्ध्यंग का भी अवकाश नहीं है । बलराम के आचरणों के प्रति युधिष्ठिर के किए हुए आक्षेप में गुरुओं के तिरस्कार-सूचक द्रव नामक सन्ध्यंग है ।

दुर्योधन के प्रति भीम की "जन्मेन्दोर्विमले कुले व्यपदिशस्यद्यापि धत्से गदां...." इत्यादि उक्ति में तर्जन और उद्वेजन पोषित होने के कारण "द्युति" नामक अंग है । पंचम अंक में युधिष्ठिर के "कुर्वन्त्वाप्ता हतानां रणशिरसि..." इत्यादि आदेश की घोषणा में, "भूमि और शत्रु दोनों वश हो गये" इस वाक्यांश से विरोध की शान्ति व्यक्त होने के कारण शक्ति नामक सन्ध्यंग है । अपमानजनक वचनों के अनेकशः प्रयोग होने के कारण छलन नामक सन्ध्यंग का भी अनेक बार समावेश परिलक्षित होता है । विरोधन नामक सन्ध्यंग का लक्षण धनंजय तथा विश्वनाथ ने भिन्न-भिन्न प्रकार से किया है । धनंजय "संरब्धानां विरोधनम्" कहते हैं । धनिक उसकी "संरब्धयोः स्वशक्त्युक्तिर्विरोधनम्" कहकर व्याख्या करते हैं । इसके विपरीत विश्वनाथ "कार्यात्ययोपगमनं विरोधनम्" कहते हैं । विश्वनाथ की परिभाषा अधिक उपयुक्त है । धनंजय ने व्यवसाय नामक अवमर्श सन्धि के एक अंग के विषय में "व्यवसायः स्वशक्त्युक्तिः" कह चुके हैं । अतएव पुनः विरोधन का

साहित्य दर्पण : -- ६।१०२।

के प्रवेशक के समान हो यदि चतुर्थ अंक में भी किसी प्रकार के अर्थोपक्षेपक से वृषसेन-वध की सूचना दी जाती, तो सम्भवतः कथानक की रोचकता बनी रहती ।

बालभारत :- राजशेखर के 'बालभारत' के केवल दो ही अंक उपलब्ध होने के कारण उसकी अर्थप्रकृति, अवस्थाएँ, सन्धियाँ, सन्ध्यंग इत्यादि अङ्गों का शास्त्रीय विवेचन करना सम्भव नहीं है । जो दो अंक प्राप्त हैं, उनका विवेचन चाहे कर भी लें, किन्तु वह विवेचन त्रुटिहीन होगा— ऐसा कहना कठिन है, क्योंकि अवस्था, सन्धि आदि का विस्तार एक ही अंक में सीमित नहीं होता । समग्र नाटक के अध्ययन के अनन्तर ही उन-उन नाट्यांगों की अवस्थिति एवं विस्तार का अनुमान किया जा सकता है । अतएव अब तक के अध्यायों में प्रस्तुत नाटक का मूल महाभारतीय स्रोत, उस स्रोत का गृहीत नाटकीय रूप एवं विविध रूपों के वैशिष्ट्य एवं उनके महत्त्व का सूक्ष्म विवेचन करने पर भी पूर्वनिर्दिष्ट कारण से इस अध्याय में उसके कथानक का शास्त्रीय विवेचन करने का साहस नहीं हुआ ।

दर्पणकार ने कथानक के शास्त्रीय तत्त्वों के विषय में अपने ग्रन्थ के षष्ठ परिच्छेद में कहा है कि जैसे अंगहीन मनुष्य काम करने के योग्य नहीं होता, वैसे ही अंगहीन काव्य प्रयोग के योग्य नहीं होता । अपने अनुभव आचार्य ने यह भी कहकर अपनी काव्य-मर्मज्ञता को प्रकट की है कि इन अंगों की स्थापना रसव्यक्ति के अनुसार ही होनी चाहिए, केवल शास्त्र की मर्यादा के पालन के लिए नहीं । जो लोग प्रतिभासम्पन्न नहीं हैं, वे इन अंगों का यथाक्रम पालन करते हुए लिख दें तो वह नाटक नहीं हो जायेगा । सन्ध्यंगों को भी रस के अनुसार ही अंगों का निवेश करना चाहिए । द्वितीय प्रथम सहस्राब्दी तक के महाभारताश्रित संस्कृत-नाटकों के कथानकों का नाट्यशास्त्रीय विवेचन करने के अनन्तर, दर्पणकार के इस बहुमूल्य निर्देश को ध्यान में रखते हुए इस निष्कर्ष में पहुँचा जा सकता है कि 'कथानक में नाटकीयता के समावेश के लिए इन अंगों का प्रयोग करना आवश्यक है'— इस तथ्य से भास, कालिदास, भट्टनारायण आदि परिचित थे । अतः उन्होंने अपने नाटकों के कथानक में इन शास्त्रीय तत्त्वों का प्रयोग करके अपनी प्रतिभा की कुशलता का परिचय दिया है । बाद के नाटकों के कथानकों में कहीं-कहीं शास्त्रीयता के निर्वाह के प्रति कुछ असावधानता परिलक्षित होने पर भी उनकी प्रतिभा के प्रति किसी प्रकार

का आरोप नहीं किया जा सकता, क्योंकि इस प्रांजल प्रतिभासम्पन्न कवि ने जहाँ कहीं भी शास्त्रीयता की उपेक्षा की है, उसके पीछे रसव्यक्ति ही कारणरूप में विद्यमान रही है । कथानक में रस-परिपाक का ध्यान रखकर ही उन्होंने आमुख, अर्थप्रकृति, सन्धि तथा सन्ध्यंगों के प्रयोग के विषय में उपेक्षाभाव दिखाया है । कथानक की सरलता एवं प्रभावोत्पादकता के सम्मुख उन्होंने नाट्यशास्त्र के नियमों के उल्लंघन करने में भी संकोच नहीं किया है । ये सब उनकी प्रतिभा के दूषण नहीं भूषण हैं । दर्पणकार ने जो यह कहा है "रसव्यक्तिमपेक्ष्यैषामङ्गानां संनिवेशनम् । न तु केवलया शास्त्रस्थितिसंपादनेच्छया ।" — भास की नाट्यकृति इस दृष्टि से सर्वथा निर्दुष्ट एवं श्लाघ्य है । भट्टनारायण ने शास्त्रीयता के निर्वाह में बहुत अधिक ध्यान दिया है । प्रत्येक सन्धि के अंग और उपांगों के सन्निवेश के लिए उन्होंने स्थान-स्थान पर नाट्यरस की भी उपेक्षा की है । प्रतिमुख सन्धि के विलास, परिसर्प, विधूत, शम, नर्म, धुति इत्यादि अंगों की संयोजना के मोह में पड़कर ही सम्भवतः उन्होंने नाट्यरस के औचित्यानौचित्य के ध्यान को भुलाकर दुर्योधन और भानुमती के प्रसंग को उपस्थित किया है । इस विषय में कालिदास ने शाकुन्तल में अत्यन्त प्रशंसनीय सन्तुलित दृष्टि का परिचय दिया है । शाकुन्तल के विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने कथानक में रस-निर्वाहिता एवं शास्त्रीयता दोनों गुणों का पालन ही समान योग्यता से किया है । सन्ध्यंगों, सन्ध्यन्तर आदि अंगों के प्रयोग करते समय उन्होंने कहीं भी रसाभिव्यक्ति की बात को भुला नहीं दिया है ।

कथानक के ये शास्त्रीय तत्व ही इसे महाभारतीय आधार से एक पृथक् स्वरूप देने में प्रधान हेतु बने हैं । द्वितीय प्रथम सहस्राब्दी तक के नाटककारों ने शास्त्रीय तत्वों के सांचे में महाभारतीय कथाओं को ढालकर उन्हें जो नवीन कलेवर प्रदान किया है, वह कलेवर निःसन्देह कमनीयतर है ।

सप्तम अध्याय

नाटकीय कथानक एवं रस-परिपाक

"आनन्दनिस्यन्दिषु रूपकेषु .... १।६॥" वाले श्लोक में धनंजय का यही तात्पर्य स्पष्ट होता है कि रूपक से केवल ज्ञान ही नहीं मिलता, वरन् उनसे ऐसा आनन्द भी मिलता है जो परमानन्द जैसा ही रसमय होता है । रस नाटक का प्राण है, जिस नाटक के कथानक में रस का जितना ही उत्तम परिपाक होता है, वह उतना ही भव्य माना जाता है । अतः विक्रमीय प्रथम सहस्राब्दी तक के महाभारत-मूलक संस्कृत नाटकों की उत्कृष्टता-अनुत्कृष्टता पर विवेचना करने के लिए उनके कथानकों में रसपरिपाक के स्वरूप का किंचित् दिग्दर्शन आवश्यक है ।

किन्तु रस परिपाक पर आलोचना करने से पूर्व हमें रस का स्वरूप, रस सिद्धान्त, रसों की संख्या तथा उनके भेदों पर भी एक बार विहंगम दृष्टि फेरनी होगी, क्योंकि इन सब बातों के सुनिश्चित निर्धारण के बिना रस की दृष्टि से प्रस्तुत नाटकीय कथानकों की विवेचना स्पष्ट न हो सकेगी ।

रस को काव्य की आत्मा कहा गया है, क्योंकि काव्य का मुख्य उद्देश्य आनन्द है और वह आनन्द रस रूप है । मम्मटाचार्य ने कविभारती को "ह्लादैकमयी" के रूप में वर्णित किया है । वह आह्लाद और आनन्द रस रूप है, तभी तो मम्मट ने "ह्लादैकमयी" के साथ "नवरसरुचिराम्" भी कहा है । अग्निपुराण में भी कहा गया है — "वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम् ।" अलंकार मत को मानने वाले आचार्यों को भी रस का तिरस्कार करने का साहस नहीं हुआ । अलंकारपन्थी रुद्रटाचार्य कहते हैं — "तस्मात्तत्कर्तव्यं यत्नेन महीयसा रसैर्युक्तम् ।" ध्वनिपंथी आचार्यवर आनन्दवर्धन कहते हैं कि जो सुकवि है उन्हें रस-विहीन काव्य की रचना कदापि नहीं करनी चाहिए — "अतः परिपाकवतां कवीनां रसादि तात्पर्यविरहे व्यापार एव न शोभते ।" और अभिनवगुप्तपादाचार्य ने ध्वनियों में रसध्वनि को ही काव्य की आत्मा मान कर कहा है "तेन रस एव वस्तुत आत्मा । वस्त्वलंकारध्वनी तु सर्वथा रसं प्रति पर्यवस्येते" । कविराज आचार्य विश्वनाथ ने भी स्पष्ट शब्दों में रस की महत्ता का उद्घोष करते हुए कहा है — रसात्मक वाक्य ही काव्य है — "वाक्यं रसात्मकं काव्यम् ।"

इस प्रकार रस के महत्त्व को सभी आचार्यों ने स्वीकार किया है । रस क्या है, यह है [illegible] । काव्य में आत्मा के रूप में यही रस अंगीकृत होता है । "रस्यते इति रसः" अर्थात् जो आस्वादन किया

जाय वही रस है। आस्वादन का अर्थ केवल चखना नहीं, चख कर आनन्द लेना -- उस आनन्द में विभोर हो जाना। सत्वगुण के उद्रेक से जब चित्त शुद्ध और निर्मल होता है, तब रस का आविर्भाव होता है। रस अखण्ड है, स्वप्रकाश है -- उसमें आस्वाद्य और आस्वादन में भेद नहीं रह जाता। वह आनन्दमय चिन्मय स्वरूप वाला है, उसमें आनन्द और बुद्धि सम्बन्धी चमत्कार दोनों रहते हैं। उसके आनन्दमय स्वरूप के प्रभाव से आस्वादन करते समय अन्य किसी वेद्य पदार्थ का ज्ञान नहीं रहता। मम्मटाचार्य कहते हैं -- " सकलप्रयोजनमौलिभूतं समनन्तरमेव रसास्वादनसमुद्भूतं विगलितवेद्यान्तरम् आनन्दम् "।

वेदान्ती लोगों के मत से आत्मा आनन्दस्वरूप है। उत्तम काव्य पढ़ने से चित्त एकाग्र हो जाता है और मन एक अपूर्व निश्चल अवस्था को प्राप्त करता है। उस अवस्था में आत्मा अपने स्वाभाविक आनन्द को प्राप्त करने में सफल होती है। चित्त की वैसी एकाग्र दशा ही आनन्द का कारण होती है, तभी तो करुण में भी एक अनिर्वचनीय आनन्दमयी तान सुनाई पड़ती है। साहित्य दर्पणकार कहते हैं कि करुणादि रसों में भी परम आनन्द की प्राप्ति होती है। इसका प्रमाण सहृदय जनों का अनुभव ही है। यदि उनको दु:ख होता तो उनकी उस ओर प्रवृत्ति न होती, और रामायणादि जो कि करुण रस प्रधान ग्रन्थ हैं दु:ख के हेतु समझे जाते। 'ऊरुभंग' के दुर्योधन की करुण दशा, आसन्नवैधव्य की शंका से आतंकिता क्रन्दनरता 'दूतघटोत्कच' की धृतराष्ट्रतनया दु:शला के उद्गारों से यदि केवल कोरे शोक की अनुभूति होती तो किसी को उतने अंश को पढ़ने की अथवा देखने की रुचि न होती। किन्तु इसके विपरीत प्रवृत्ति ही दृष्टिगोचर होती है। 'दूतघटोत्कच' अथवा 'ऊरुभंग' में कोई स्थल उल्लेखनीय है तो ये ही हैं -- ऐसा विचार सभी को होता है क्यों? क्या पाठक अथवा सामाजिक इतने निर्मम होते हैं कि किसी को रोते देख उन्हें खुशी होती है? नहीं, सहृदय को इन स्थानों की मार्मिकता आकृष्ट करती है। मार्मिकता वह भाव है जो मर्म को, सहृदय के हृदय को, छू ले। ऐसी शक्ति किसी अलौकिक भाव में ही हो सकती है। बात तो यही है कि काव्य में लौकिक चोला पहन कर अलौकिक भाव पहले हमारे अत्यन्त निकट आ जाते हैं और फिर हमारे मर्म को चुरा कर हमें एक अव्यक्त आनन्दमय जगत् में पहुँचा देते हैं, जहाँ हमारे चित्त और आनन्दस्वरूप हृदय पक्ष का ही अस्तित्व रह जाता है और बाकी सब तिरोहित हो जाते हैं। पाठक रामायण के राम वनवास के स्थल को बार-बार पढ़ता है। दोनों आँखों से विगलित अश्रु-धारा उसके पार्थिव जगत् के मलिन आवरण

को धो कर स्वच्छ कर देती है और पाठक तप्त- अश्रु बिन्दुओं का वैजयन्ती हार पहन कर एक अलौकिक जगत् के नन्दन कानन में आनन्द मग्न होकर झूम उठता है। इसीलिए पार्थिव लोक में तो दु:ख के कारण से कार्यरूप दु:ख का उदय होता है, परन्तु काव्यलोक में वैसा नहीं होता -- वहाँ जो हेतु रूप विभावादि हैं, वे आपात दृष्टि से दु:खरूप जान पड़ते हैं, किन्तु परमार्थत: वे आनन्दस्वरूप ही होते हैं। हमारे निकट आने के लिए वे ऐसा चोला पहन लेते हैं जिससे हम परिचित हैं। आचार्य विश्वनाथ ने इस बात को बहुत ही सुन्दर ढंग से समझाया है। वे कहते हैं कि लोक अथवा लोक के सम्बन्ध से वनवास आदि गमन, शोक-हर्षादि के कारण होते हैं। जब तक हम उनको लौकिक दृष्टि से देखते हैं, तब तक वे अवश्य दु:ख के कारण प्रतीत होते हैं। संसार में शोक-हर्षादि होते हैं, किन्तु वे जब काव्य के संसर्ग से काव्य के विषय बन जाते हैं, और अलौकिक विभाव कहलाने लगते हैं, तब उनसे सब को सुखानुभूति अथवा आनन्दानुभूति ही होती है।

भावों के आस्वादन को ही रस कहते हैं :-

"विभावानुभावेन व्यक्त: संचारिणा तथा।
रसतामेति रत्यादि: स्थायिभाव: सचेतसाम् ।।"

अर्थात् रति आदि स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव, संचारी भावों द्वारा व्यक्त होकर रसज्ञ के मन में रस की अवस्था को प्राप्त होते हैं। प्रत्येक मनुष्य में भावों से प्रभावित होने की योग्यता रहती है। यह योग्यता पूर्व जन्म एवं वर्तमान जन्म के संस्कारों से प्राप्त होती है। यह सब में एक-सी नहीं होती, परन्तु थोड़ी-बहुत अवश्य होती है। शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति हो जिसका हृदय जीवन में एक बार किसी भाव से द्रवीभूत न हुआ हो। यह द्रवीभूत अवस्था एक दिव्य अवस्था है, इसका साक्षात्कार जिसे जितना ही अधिक होता है वह उतना ही सहृदय समझा जाता है। काव्य सहृदयों की वस्तु है, वह सहृदय के हृदय से अनुस्यूत होता है और सहृदय के लिए ही केवल वह आस्वाद्य और आनन्दविधायक होता है। रस स्थायीभाव की परिपक्वावस्था है। वास्तविक अनुभव और रस के भाव में अन्तर है। वास्तविक अनुभव को लौकिक कहा जाता है और रस को अलौकिक। वास्तविक अनुभव संकुचित होता है, किन्तु लौकिक अर्थात् व्यक्तिगत रति अथवा उत्साह का भाव जब काव्य का विषय बनता है तब वह व्यक्ति की सीमा को छोड़ सर्वसाधारण का बन जाता है अर्थात् उसका साधारणीकरण हो जाता है। इसको विभावन-व्यापार भी कहते हैं। काव्य में जिस रति का वर्णन होता है, वह न तो द्रष्टा अथवा श्रोताओं के लौकिक

सम्बन्धजन्य रति होता है और न लौकिक नायक-नायिकाओं की रति है । पर साधारणीकृत रति होती है, जो मनुष्य-सम्बन्ध से हमारे आनन्द का कारण बनता है । अभिनवगुप्त भरतसूत्र रससूत्र की व्याख्या करते हुए कहते हैं :-

'लोके प्रमदादिभिः स्थाय्यनुमानेऽभ्यासपाटववतां काव्ये नाट्ये च तैरेव कारणत्वादिपरिहारेण विभावनादिव्यापारवत्त्वादलौकिकविभावादिशब्दव्यवहार्यैर्ममैवैते शत्रोरेवैते तटस्थस्यैवैते, न ममैवैते न शत्रोरेवैते न तटस्थस्यैवैते इति सम्बन्धविशेषस्वीकारपरिहारनियमानध्यवसायात् साधारण्येन प्रतीतैरभिव्यक्तः सामाजिकानां वासनात्मकतया स्थितः स्थायी रत्यादिको नियतप्रमातृगतत्वेन स्थितोऽपि साधारणोपायबलात् तत्कालविगलितपरिमितप्रमातृभाववशोन्मिषितवेद्यान्तरसम्पर्कशून्यापरिमितभावेन प्रमात्रा सकलहृदयसंवादभाजा साधारण्येन स्वाकार इवाभिन्नोऽपि गोचरीकृतश्चर्व्यमाणतैकप्राणो विभावादिजीवितावधिः पानकरसन्यायेन चर्व्यमाणः पुर इव परिस्फुरन् हृदयमिव प्रविशन् सर्वाङ्गीणमिवालिङ्गन् अन्यत्सर्वमिव तिरोदधद् ब्रह्मास्वादमिवानुभावयन् अलौकिकचमत्कारकारी शृंगारादिको रसः ।'

अब शंका उठ सकती है, जब रसों का एक मुख्य लक्ष्य आनन्द ही है, तब अनेकाधिक रस क्यों माने गये ? यह शंका अत्यन्त स्वाभाविक है । सम्भवतः यह धारणा ही भवभूति के 'एको रस करुण एव' वाले श्लोक की जननी है । रसों की संख्या निश्चित रूप से नौ हैं और नौ अर्थात् अनेकाधिक रस मानने का कारण यही है कि ये नव रस वस्तुतः मन के प्रभावित होने के नौ प्रकार हैं, अर्थात् नौ ऐसे मुख्य भाव हैं जिनके उत्तेजित होने से चित्त एकाग्र होकर आनन्दमग्न हो जाता है ।

रसों की संख्या में आचार्यों का मतभेद है । भरतमुनि ने आठ ही रस माना है — शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स तथा अद्भुत । नाट्य शास्त्र के षष्ठ अध्याय में इस बात का उल्लेख है कि ब्रह्मा को भी आठ ही रस अभीष्ट थे । भामह, दण्डी, शारदातनय आदि आलंकारिकों को भी आठ ही रस मान्य थे । इसके अतिरिक्त नाट्यग्रन्थों में भी आठ रसों का ही उल्लेख है — उदाहरणार्थ, वररुचि का 'उभयाभिसारिका' तथा कालिदास का 'विक्रमोर्वशीय' ।

उभयाभिसारिका में — 'कुशीलवाभिनयविधिः आङ्गिकादयो ह्यलङ्काराः, अष्टादशविधं निरोधनम्, षट् स्थानानि, गतिद्वयम्, अष्टौ रसाः...' इत्यादि पंक्ति में रसों की आठ संख्या ही स्पष्टतः उल्लिखित है । विक्रमोर्वशीय में भी — 'मुनिना भरतेन यः प्रयोगो भवतीष्वष्टरसाश्रयो निबद्धः..' इत्यादि श्लोक में कालिदास ने नाट्य के लिए आठ ही रसों की मान्यता का उल्लेख किया है । किन्तु उद्भट ने अपने काव्यालंकारसार-संग्रह में जिस शान्त रस का नाम लिया आगे

चलकर आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त ने बड़ी धूम-धाम से स्वागत किया । इस प्रकार रसों की संख्या नौ हुई । कुछ इन आचार्यों की प्रतिभा से , कुछ भारतीय संस्कृति में शान्त रस की अविच्छिन्न धारा की विद्यमानता से नवरस वाला सिद्धान्त विरोधियों के सारे विरोधों को तुच्छ सिद्ध करके साहित्य जगत् में सुप्रतिष्ठित हो गया । किन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि आचार्य केवल आठ अथवा केवल नौ रस मानने वालों में ही विभक्त थे । रुद्रट ने इन नौ के अतिरिक्त 'प्रेय' नामक एक दसवाँ रस माना है , धनंजय ने दशरूपक में शान्त रस का विरोध करते हुए 'मृगया' और 'अक्ष' नामक दो अभिनव रसों का भी नाम लिया , नाट्यदर्पणकारों ने नौ रसों को मानते हुए लौल्य, स्नेह, व्यसन, सुख तथा दुःख नामक रसों की भी सम्भावना की , भोज ने शृंगार,वीर,करुण, रौद्र, अद्भुत ,भयानक ,वीभत्स,हास्य,प्रेय,शान्त, उदात्त तथा उद्धत इतने रसों को माना , बंगाल के श्री श्रीचैतन्य के अनुयायी आचार्यों ने भक्ति को भी एक रस माना, भानुदत्त ने रसतरंगिणी में 'माया' नामक एक रस माना और मिथ्याज्ञान को उसका स्थायी भाव माना है, इसी आचार्य ने कार्पण्य नामक एक अन्य रस की भी सम्भावना की जिसके स्थायीभाव के रूप में उन्होंने 'स्पृहा' का उल्लेख किया है , जैनधर्मानुयायियों के अनुयोगद्वारसूत्र में भयानक के स्थान पर 'व्रीडानक' का नाम भी लिया गया है, संगीतसुधाकर के रचयिता महाराज हरिपाल देव ने तेरह रस माना है — भरतनिर्दिष्ट आठ रसों के अतिरिक्त शान्त,वात्सल्य,संभोग, विप्रलम्भ तथा ब्राह्म नामक पाँच पूर्णत: नवीन रसों की गणना की । इस प्रकार रसों की संख्या केवल नौ तक ही नहीं, किन्तु विभिन्न आचार्यों के अनुसार नौ से भी अधिक है । इतना होने पर भी आठ और नौ की समस्या ही प्रधान है । रसों की यथाधिक संख्या के विषय में ध्यान देने से यह ज्ञात होता है कि रस के स्वरूप के सम्बन्ध में कुछ आचार्यों का दृष्टिकोण पूर्णत: भिन्न था , तभी उन्होंने मृगया,अक्ष, व्यसन, जैसे अत्यन्त स्थूल विषयों को भी ब्रह्मानन्द-सहोदर रस की श्रेणी में अन्तर्भुक्त करने का साहस किया । रुद्रट का 'प्रेय' , हरिपाल देव का वात्सल्य, इत्यादि रति स्थायी भाव के ही विभिन्न अवस्था हैं , जो अनुकूल अवस्था न पाने के कारण रस रूप में परिणत न हो कर उसके भाव अथवा आभास आदि की अवस्था को प्राप्त हुए हैं । अत: आठ रस और नौ रस वाला मतभेद ही प्रधान समझना चाहिए ।

शान्त रस का विरोध बहुत आचार्यों ने किया है । इस विरोध के लिए शान्त रस के विरोधियों का कहना है, शान्त रस का उल्लेख भरत ने नहीं किया , भरत ने भी इसका परिगणन नहीं किया , ४९ भावों में शम की गणना नहीं हुई ,

अज्ञान तथा अविद्या के कारण मनुष्य के मन में राग और द्वेष की उत्पत्ति होती है। पूर्व जन्म के संस्कार के कारण मनुष्य के मन में जन्मावधि राग-द्वेष जनित आठ स्थायी भावों का प्रभाव बढ़ता रहता है। अविद्या को समूल में नष्ट करना सब के लिए साध्य नहीं है, अत: शम की प्राप्ति भी सम्भव नहीं है। धनिक कहते हैं :-

"अन्ये तु वस्तुतस्तस्याभावं वर्णयन्ति - अनादिकाल प्रवाहायातरागद्वेषयोरुच्छेत्तुमशक्यत्वात्।"....न च तथाभूतस्य शान्तस्य सहृदयास्वादयितार: सन्ति।"

'सौन्दर्य लहरी' के टीकाकार लोल लक्ष्मीधर ग्रन्थ के ५१ वें श्लोक पर टीका लिखते हुए कहते हैं --"विक्रियाजनका एव रसा इति अष्टौ रसा भरतमते। 'शान्तस्य निर्विकारात् न शान्तं मेनिरे रसम्' इति शान्तस्य रसत्वाभावात् अष्टावेव रसा: संगृहीता:।"

शान्त रस के कुछ विरोधियों का यह कथन है कि शान्त की अवस्थिति भले ही श्रव्यकाव्य में सम्भव हो, किन्तु दृश्यकाव्य में कदापि नहीं। शान्त रस का अभिनय करना असम्भव है क्योंकि समग्र भावों और गतियों का अभाव ही शान्त रस का प्रधान लक्षण है। ध्वन्यालोक के एक प्राचीन टीकाकार चन्द्रिकाकार कहते हैं कि शान्त रस केवल किसी प्रासंगिक इतिवृत्त का अंग रस बन सकता है किन्तु वह किसी नाटक का प्रधान रस नहीं बन सकता। नागानन्द, जिसमें शान्त रस की उपस्थिति की सम्भावना की गयी है, वास्तव में वहाँ शान्त अंग रस बन कर आया है, अंगीरस तो दयावीर है।

इस प्रकार शान्तरस के विरोधियों विभिन्न विचार प्रकट किये गये। किन्तु इन सब विरोधों के होते हुए भी शान्तरस की प्रतिष्ठा हो ही गयी। सच तो यह है कि भारत में आध्यात्मिकता के प्राधान्य होने के कारण शान्तरस की स्थिति बहुत पहले से ही मानी जायगी। 'भरत ने आठ ही रसों का उल्लेख किया, अतएव शान्त नामक नवम रस मान्य नहीं है', यह कहना पर्याप्त नहीं है। वेदद्रष्टा ऋषि ही भारत के प्रथम साहित्यकार थे जो स्वत: ही शान्तरस के आकर स्वरूप थे। वेदान्त, उपनिषद् आदि में यही रस प्रवाहित है, महाभारत का अंगीरस भी शान्त है। अश्वघोष के बुद्धचरित, सौन्दरनन्द का भी अंगीरस शान्त है। काव्य-जगत् में अंगीरस के रूप में शान्तरस की रचनाओं का अनेक उदाहरण है। भारतीय मनोभाव जब चिरन्तन काल से शमोन्मुखी है तो उसके मनोमुकुर रूप साहित्य में शान्तरस का अभाव क्यों कर होगा। अत: शान्तरस के अस्तित्व के विषय में सन्देह करना अभारतीय होगा। कालिदास ने "मुनिना भरतेन य: प्रयोगो भवतीष्वष्टरसाश्रयो नियुक्त:" कह कर केवल भरत की मान्यता का उल्लेख किया है, शान्तरस का प्रयोग उन्होंने स्वयं

अपनी रचनाओं में किया है । उनके अद्वितीय नाटक शाकुन्तल में कई स्थलों पर शान्तरस का सुन्दर परिपाक दृष्टिगोचर होता है । शान्तरस का प्रयोग अंगरस के रूप में ही नाटककारों ने नहीं किया अपितु अंगीरस के रूप में भी किया है । नागानन्द का विवाद छोड़ भी दें, नागानन्द के अतिरिक्त अन्य अनेक रूपक हैं जिनमें शान्त स्पष्टतः अंगीरस बनकर आया है । अश्वघोष का शारिपुत्रप्रकरण, कृष्णमिश्र का प्रबोधचन्द्रोदय, यशपाल का मोहपराजय, कविकर्णपूर का चैतन्यचन्द्रोदय, गोकुलनाथ का अमृतोदय, वेंकटनाथ का संकल्पसूर्योदय इत्यादि कितने ही रूपकों का नाम लिया जा सकता है । डाक्टर राघवन ने तो शान्तरस के चालीस नाटकों की सूची दी है । शान्तरस का अभिनय करना यदि असम्भव होता तो अन्यतम प्राचीन नाटककार अश्वघोष "शारिपुत्र-प्रकरण" न लिखते क्योंकि बौद्ध कवि का यह रूपक अवश्य ही धर्म के प्रचारार्थ रचित हुआ था । अतः समस्त भावों तथा गतियों का अभाव ही शान्तरस का प्रधान लक्षण है, यह अभिनयसाध्य नहीं है इत्यादि कहना अनुचित है । सच तो यह है कि समस्त भावों तथा गतियों का पूर्णतः अभाव शान्तरस की चरमावस्था अथवा पृष्ठभूमि है । किसी भी रस की पृष्ठभूमि रंगमंच के लिए अभिनेय नहीं होता । शृंगार की अथवा रौद्र की पृष्ठभूमि भी रंगमंच पर अनभिनेय है तथापि इन दोनों रसों का तिरस्कार तो नहीं किया जाता । यदि इन अनभिनेय पृष्ठभूमि वाले रसों को स्वीकृति मिल सकती है तो शान्त को भी स्वीकार करना उचित है । भरत के नाट्य शास्त्र में शान्तरस का उल्लेख न रहने पर भी शारिपुत्र प्रकरण, प्रबोधचन्द्रोदय आदि रूपकों की सृष्टि इसी उद्देश्य से हुई थी । फिर जिसकी सृष्टि लोकमंगल के लिए, चतुर्वर्गफलप्राप्ति के लिए ऋषियों के आराध्य ब्रह्मा ने और महायोगी शिव ने की उस ऋषि-मुनि और योगीश्रेष्ठ की कृति में शान्तरस स्वभावतः ही प्रधान और उत्कृष्ट बनकर रहेगा । सहृदयों के लिए यही रस सर्वाधिक महत्व होगा । सहृदय को शाकुन्तल के प्रथम अथवा द्वितीय अंकों में दुष्यन्त के आचरण से जो आनन्द मिलता होगा और पंचम अंक में दुष्यन्त के आचरण से जो आनन्द मिलेगा — उनमें भेद होगा क्योंकि पंचम अंक में दुष्यन्त के आचरण से जो आनन्द मिलेगा वह महाभिन्न होगा ।[1] इस अंक में दुष्यन्त के संयम को देखकर सहृदयों का प्रिय दुष्यन्त और भी हो जायगा । शान्तरस सबसे मधुर है । शृंगार में जो माधुर्य है उससे कहीं अधिक माधुर्य शान्तरस में है । मम्मट

१- कहीं कोई "धर्मवीर" मान सकता है, परन्तु धर्मवीर को वीर रस का एक उपभेद न मान कर शान्तरस का उपभेद मानना ही उचित प्रतीत होता है ।

कहते हैं :-

"आह्लादकत्वं माधुर्यं शृंगारे द्रुतिकारणम् ।

करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम् ॥" ८।३॥

पण्डितराज जगन्नाथ ने भी कहा है — "तत्र शृंगारे संयोगाख्ये यन्माधुर्यं तदतिशयितं करुणे, ताभ्यां विप्रलम्भे, तेभ्योऽपि शान्ते ।"[1] भट्टतौत ने शान्त को सर्वश्रेष्ठ रस माना, तो अभिनवगुप्त ने शान्त को सब रसों की प्रकृति माना है और हरिहर ने शान्त को भर्तृहरिनिर्वेद नामक नाटक की प्रस्तावना में एकमात्र चिरस्थायी रस माना है[2] । जैसा कि पहले भी उल्लेख किया जा चुका है कि महाभारत का अंगीरस शान्त है[3], अतएव विक्रमीय प्रथमशताब्दी तक के महाभारतमूलक संस्कृत नाटकों के कथानकों में इस रस का परिपाक परिलक्षित होता है । तात्पर्य यह है कि विक्रमीय प्रथम शताब्दी तक के महाभारतीय रूपकों के रचयिता इस नवें रस से पूर्णतः परिचित थे और उन्होंने अपने नाटकीय कथानकों में आठ नहीं नव रसों का ही सुन्दर परिपाक किया है ।

पहले अध्याय में कहा जा चुका है कि विक्रमीय ? प्रथम शताब्दी तक का समय नाटक रचना के लिए उत्कृष्ट युग माना जा सकता है । इस काल का यह भी वैशिष्ट्य है कि इसमें अधिकाधिक प्रख्यात नाटकों की ही रचना हुई है । इस काल के महाभारतीय रूपकों की समीक्षा करते हुए यह स्पष्ट होता है कि कथानक का स्रोत पुराना है किन्तु कवि की प्रतिभा एवं कल्पनाशक्ति से उसमें नवीनता आ गयी है । उनसे इन पुराने कथानकों में नई - नई सूझ दृष्टिगोचर होती है और जैसा कि आचार्यों ने भी कहा है कि जहाँ सहृदयों को "यह कोई नई सूझ है" इस प्रकार की अनुभूति होती है वहाँ चाहे कथावस्तु सर्वथा नवीन हो अथवा प्रख्यात होने के कारण सर्वथा परिचित हो — उसमें एक अपूर्व रमणीयता का आस्वादन होने लगता है । प्राचीन को अपूर्व रमणीयता का आस्वादन कराने वाला साहित्य ही श्रेष्ठ साहित्य है । प्राचीन कथावस्तु कवि की प्रतिभा से उत्पाद्य कथावस्तु की अपेक्षा कहीं अधिक मनोहर प्रतीत होती है । शाकुन्तल और शकुन्तलोपाख्यान, ऊरुभंग और गदायुद्धपर्व (शल्य पर्व) का उपाख्यान इत्यादि की विवेचना इस दृष्टि से पिछले अध्याय में कर चुके हैं।

आनन्दवर्धन ने ठीक ही कहा है कि कवि प्रतिभा व्यक्तिभेद से भिन्न होती है किन्तु कथा का आधार के आश्रय से वह प्रतिभाशक्ति अनन्तता को प्राप्त कर लेती है।

1- "तत्र संयोगाख्ये ... [illegible]" रसगं० (पृ० ३४० गायकवाड़ ओरिएन्टल सीरीज़)

2-

3- "शान्तरसेन एकरसवत्त्वं महाभारते" — ध्वन्यालोक चतुर्थ उद्योत कारिका ५

4- प्रस्तुत निबन्ध की पृष्ठ संख्या १६२-२२३

यह सत्य है, वसन्त ऋतु के कुसुमों के समान काव्य में रस के समावेश से पूर्वदृष्ट सारे पदार्थ भी नये-से प्रतीत होने लगते हैं ।

रस-परिपाक की दृष्टि से किसी नाटकीय कथानक की विवेचना करते समय यह देखना होता है कि उस नाटक का अंगीरस क्या है? उस अंगीरस के निर्वाह में नाटकीय कथानक कहाँ तक सफल हुआ है ? अंगीरस के परिस्फुटन में कौन-कौन से अंगरस कथानक में प्रयुक्त हुए हैं ?

विक्रमीय प्रथम शताब्दी तक के महाभारतमूलक संस्कृत नाटकों के अंगीरस का निर्धारण उनके नाट्य शास्त्रीय विवेचन करते समय किया जा चुका है । यह देखा जा चुका है कि भास के छः महाभारतीय रूपकों में से दूतघटोत्कच और ऊरुभंग का अंगीरस करुण है । कर्णभार का अंगीरस दानवीर होने पर भी करुण की उपस्थिति वहाँ पर अनुपेक्षणीय है । सत्य तो यह है कि कर्णभार में कर्ण की कवच-कुण्डल-दान से पूर्व तक करुण रस ही प्रधान रस बनकर रहता है, किन्तु बाद में कर्ण की उदात्त सात्विकताउसे मात कर देती है । भास के शेष तीन महाभारतीय रूपकों में से दूतवाक्य तथा पंचरात्र का अंगीरस वीर है और मध्यमव्यायोग का अंगीरस रौद्र है । कालिदास की दोनों रचनाओं विक्रमोर्वशी और शाकुन्तल का अंगीरस शृंगार है । वेणीसंहार का अंगीरस वीर है । पुण्डपाण्डव का अंगीरस रौद्र अथवा वीर अवश्य रहा होगा , ऐसा अनुमान किया जा सकता है ।

भास के दूतघटोत्कच और ऊरुभंग का कथानक उत्सृष्टिकांक प्रकार के नाट्य-भेद के साँचे में ढला हुआ है,[1] अतः स्वभावतः ही करुण रस संस्कृत का प्रधान रस बनकर आया है । 'शोकात्मा करुणो' — अर्थात करुण का स्थायीभाव शोक है । निःश्वास, उच्छ्वास, रोदन, स्तम्भ, प्रलाप आदि इसके अनुभाव हैं और अपस्मार, दैन्य, मरण, आलस्य, सम्भ्रम, विषाद, जड़ता, चिन्ता आदि इसके व्यभिचारी भाव हैं । 'ऊरुभंग' के कथानक के प्रथम पंक्ति से ही करुण रस उद्बुद्ध होने लगता है[2] । अन्तरिक्ष के उस वातावरण में तीनों योद्धाओं के सामूहिक स्वर में उच्चारित 'एते स्मो भोः । एते स्मः ।' शब्दों में एक विचित्र निःसंगता, एक अकथनीय दैन्य-मिश्रित हाहाकार छिपा है । पता नहीं किसके उद्देश्य में यह शब्द उच्चारित हो रहे थे । लाशों से पटी हुई समन्तपंचक की भूमि में कौन-सा पड़ा हुआ पता नहीं किस आहत सैनिक को इन शब्दों से सान्त्वना मिल रही थी । पता नहीं किस पशुपक्षी को इन शब्दों का सहारा मिल रहा था । फिर भी ये शब्द

१- दशरूपक ४।८१।।
२- ऊरुभंग एते स्मो भो। एते स्मः

व्यर्थ नहीं थे इतना तो सुनिश्चित है । इस दृश्य की कल्पना है कि चारों ओर रथ और रथी के विच्छिन्न अंग समाकुल पड़े हैं, अगणित महारथी वीरों का शरीर लुण्ठित हैं, तलवारों की झंझनाहट नहीं है, किसी प्रकार का कोलाहल भी नहीं है, सब निश्चल हैं केवल शृगाल इत्यादि नीच जन्तु और पक्षि हैं ;-- उस श्मशान तुल्य समन्तक पंचक के बीच में ये तीन योद्धा धीरे-धीरे आगे बढ़ रहे हैं और कहते जा रहे हैं --" हो हतो भी: । हते स्म :" सारा शरीर रोमांचित हो उठता है । यह दृश्य सारे वातावरण को बीभत्स होने के साथ-साथ अत्यन्त दयनीय बना देता है । यदि योद्धाओं को विषाद करते हुए अथवा विलाप करते हुए दिखाते तो वातावरण इतना दयनीय न हो पाता अथवा यदि उनके शब्द लक्ष्यहीन न होकर किसी विशेष व्यक्ति के उद्देश्य में उच्चारित होते तो भी करुण की रागिणी इतनी तीव्रता से हृदय को छू न पाती जितनी तीनों योद्धाओं के ये लक्ष्यहीन,विषादहीन शब्द छूते हैं । करुण की जितनी तीव्र व्यंजना इन तीन शब्दों से हो रही है वह और किसी प्रकार सम्भव न थी ।

इसी प्रकार 'दूतघटोत्कच' के कथानक का सूत्रपात भी करुणोन्मुखी है । यहाँ भी कथानक के प्रारम्भ में अभिमन्युवध का समाचार सुनकर धृतराष्ट्र के मुख से उच्चारित ये पंक्तियाँ वातावरण को अत्यन्त दयनीय बना देती हैं :-

"कैनैतच्छ्रुतिपथदूषणं कृतं मे
कोऽयं मे प्रियमिति विप्रियं ब्रवीति ।
कोऽस्माकं त्रिभुवनशासकांक्षितानां
वंशस्य क्षयकरघोषयत्यनीतः ॥४॥

भट ने अभी-अभी जिसे 'पुत्रशतश्लाघ्यबान्धव' और 'विज्ञानविस्तारित विनयाचारदीर्घचक्षु' कहा है उसी वृद्ध नयनहीन धृतराष्ट्र का हृदय अभिमन्युवध के समाचार से किसी अज्ञात अनिष्ट की आशंका करके व हाहाकार कर रहा है -- 'किसने मेरे कर्ण पथ को दूषित किया ? कौन मेरा प्रिय समझ कर अप्रिय बोल रहा है ? कौन ऐसा निर्भीक है जो हम लोगों के शिशु के वध के पाप से कलंकित वंश के विनाश की घोषणा कर रहा है ?' करुण की ऐसी व्यंजना अन्यत्र दुर्लभ है । 'कर्णभार' के कथानक के प्रारम्भ में करुण रस का उद्दीपन तो बहुत ही सुन्दर ढंग से हुआ है किन्तु मार्मिकता कुछ कम हो गयी है । समन्तक पंचक की विभीषिका का सुदीर्घ वर्णन ही इसका कारण है । दूत घटोत्कच के प्रथम दृश्य में गान्धारी और धृतराष्ट्र के कथोपकथन में करुण रस उत्तरोत्तर तीव्र होता

गया है । गान्धारी विलाप करती है —' हाय पौत्र अभिमन्यु हम लोगों के भाग्य के दोष से तुम इस कुलान्तकारी युद्ध में अपने को आहुति देकर कहाँ चले गये ।' यह सुनकर दु:शला बड़े निश्चय के साथ कहती है —' जिसने अब बहू उत्तरा को विधवापन प्रदान किया है उसने अपनी पुत्री के लिए भी विधवापन लिखवा लिया है —' । आगे जयद्रथ के मुख से मारा जाना सुनकर थोड़ी देर पहले की हुई अपनी उक्ति को अपने ही पर लागू होते देख कर वह रो पड़ती है । धृतराष्ट्र जयद्रथ से अभिमन्यु वध का वृत्तान्त सुन रहे थे , अकस्मात् उन्हें दु:शला का क्रन्दन सुनायी पड़ा । उन्होंने पूछा —' कौन रोता है ?

प्रतिहारी — महाराज , भर्तृदारिका दु:शला ।

धृतराष्ट्र — पुत्री, मत रोओ । देखो,

तुम्हारे पति को तुम्हारा सौभाग्य अवश्य ही वरलाभकर है , जिसने अपने आप को अर्जुन का लक्ष्य बनाया है ।

दु:शला — तात , मुझे आप आज्ञा दें । मैं भी अपनी बहू उत्तरा के पास जाऊँ ।

धृतराष्ट्र — पुत्री , यह क्या कहती हो ?

दु:शला — तात, उससे कहूँगी कि आज जो वेष उसने धारण किया है उसे कल मैं भी धारण करूँगी ।'

कथानक की एक-एक पंक्ति करुण रस की परिपुष्टि के लिए सहायक है । रूपक में कहीं अभिमन्युवध से व्याकुल पाण्डवों का शोक वर्ण्य विषय बनता है और कहीं पाण्डवों का वही शोक धृतराष्ट्र, गान्धारी अथवा दु:शला के शोक को उद्दीप्त करने का हेतु बनता है । करुण का व्यभिचारी भाव , दैन्य का जो उदाहरण हमें धृतराष्ट्र और गान्धारी के निम्नलिखित संलाप में प्राप्त होता है, वह पठनीय है ।

'धृतराष्ट्र — गान्धारी, तो आओ, । हम सब गंगा के तट पर ही चलें ।

गान्धारी — महाराज, क्या हम लोग वहाँ स्नान करेंगे ?

धृतराष्ट्र — गान्धारि , नहीं—

आज ही मैं अपने ही अपराध से मृत्यु को प्राप्त होने वाले तुम्हारे पुत्रों के लिए जलांजलि दूँगा । किन्तु उस जल-दान से भी तो राजाओं के शिविर को युद्ध करने से रोक नहीं सकता ।'

जहाँ भीष्म के संवाद में रौद्र की जो व्यंजना हुई थी वह गान्धारी-धृतराष्ट्र के उपर्युक्त संलाप की मार्मिकता को बढ़ाने में सहायता करती है । इसी प्रकार आगे दुर्योधन और शकुनि आदि के संलाप में जिस वीर रस का वर्णन होता

है, वह वस्तुत: धृतराष्ट्र के शोक और क्षोभ में और भी तीव्रता भर देता है।
धृतराष्ट्र के निम्नलिखित संवाद में विषाद नामक अनुभाव की बहुत ही सुन्दर व्यंजना हुई है --

'धृतराष्ट्र -- एका कुलेऽस्मिन्बहुपुत्रनाथे लब्धा सुता पुत्रशताद्विशिष्टा।
सा बान्धवानां भवतां प्रसादाद् वैधव्यमश्लाघ्यमवाप्स्यतीति।'[२६]

शोकसंतप्त धृतराष्ट्र के निम्नलिखित उपालम्भ में व्यंजित मार्मिकता भी दर्शनीय है --

'शकुनि -- प्रभवति भवानस्मानवधीरयितुम्।
धृतराष्ट्र--स्वयं शकुनिरेष व्याहरति। भो: शकुने!
त्वया हि यत्कृतं कर्म सततं द्यूतशालिना।
तत्कुलस्यास्य वैराग्निर्बलिष्वपि न शाम्यति॥'[२८]

घटोत्कच का अभिवादन करने पर धृतराष्ट्र जो कुछ कहते हैं उससे उनकी विवशता, उनका शोक, उनका क्षोभ सब एक ही साथ व्यक्त होता है। धृतराष्ट्र कहते हैं --

'धृतराष्ट्र -- एह्येहि पुत्र
न ते प्रियं दु:खमिदं ममापि
यद् भ्रातृनाशाद् व्यथितस्तवात्मा।
इत्थं च ते नानुगतोऽयमर्थो
मत्पुत्रदोषात्कृपणीकृतोऽस्मि॥'[२५]

इस प्रकार धृतराष्ट्र के आश्रम में रूपक के प्रारम्भ से लेकर अन्त तक करुण रस अविच्छिन्न प्रवाह के साथ चलता रहता है। बीच-बीच में रौद्र, वीर, अद्भुत आदि अन्य अंगरसों का पुट होने से रूपक के अंगीरस करुण में मार्मिकता अधिक भर गयी है। करुण के पूर्वोक्त दृष्टान्त से स्पष्ट होता है कि इस रस के अनुभाव, व्यभिचारी भाव इत्यादि का भी बहुत सुन्दर प्रयोग प्रस्तुत रूपक में हुआ है। इन अनुभावों और व्यभिचारी भावों के सहारे शोक स्थायी भाव परम आस्वाद्यता को प्राप्त हो जाता है।

दूत घटोत्कच में अंगी करुण के साथ वीर, रौद्र और अद्भुत रस अंग बनकर आये हैं। घटोत्कच के साथ दुर्योधनादि के वाद-विवाद में रौद्र रस का दर्शन होता है। रौद्ररस के अनुभाव रूप 'शत्रु का तिरस्कार' घटोत्कच के निम्नलिखित उक्ति में अत्यन्त सुन्दर ढंग से वर्णित हुआ है --

'घटोत्कच: -- शान्तं शान्तं पापम्। राक्षसेभ्योऽपि भवन्त एव क्रूरतरा:। कुत:

न तु प्रबाहुके दुष्पाद प्राकृत् वहन्ति निशाचराः ।
शिरसि न तथा प्रायुः पत्नीं स्पृशन्ति निशाचराः ।
न च कुलवयं शंस्ये कर्तुं स्मरन्ति निशाचराः ।
विकृतपुरुषोऽप्युद्धाचारा घृणा न तु वर्जिता ॥" ४७॥

जब दुर्योधन ने "हम क्षुद्र को नहीं मारते" ऐसा कहकर घटोत्कच की उपेक्षा करना चाहा तब उसके प्रत्युत्तर में घटोत्कच ने जो कुछ कहा उसमें वीर रस के स्थायी भाव उत्साह की सुन्दर व्यंजना हुई है । घटोत्कच क्रोधपूर्वक कहता है — "क्या 'क्षुद्र' कह कर मेरी निन्दा करते हो ? ऐसा नहीं है । नहीं मैं क्षुद्र नहीं हूँ — अब अपना (सुरक्षाग्रह) बल (उपौग) छोड़ दो । आओ, एक साथ होकर मुझसे लड़ो । मैं प्रत्यंचा के कट जाने से दुःख फंसा हुआ अभिमन्यु नहीं हूँ । यह मैं खड़ा हूँ । यही मेरी युवावस्था का स्वभाव और प्रबल मनोरथ है कि तुम सब से अकेला युद्ध करूँ ।"

अर्जुन के जयद्रथ वध की प्रतिज्ञा से पृथ्वी में भूकम्प उपस्थित होना और आकाश में भयंकर उल्कापात होना अद्भुत रस के अन्तर्गत आता है ।

इस प्रकार रस परिपाक की दृष्टि से दूतघटोत्कच के कथानक को सर्वथा सफल कहा जा सकता है । विविध अंगरसों के वर्णन से कथानक में घात-प्रतिघात का समावेश हुआ, जिससे कथानक अन्त तक भावितोढ रस बना है तथा अंगीरस भी चमत्कारपूर्ण बन गया है । इतना होते हुए भी एक त्रुटि रह जाती है — वह यह है कि जिस दुःशला के उद्गारों के द्वारे करुण रस के प्रारम्भ में पहल आस्वाद बन गया था उसका अर्जुन की भीषण प्रतिज्ञा के समाचार को सुनकर भी निर्विकार और मौन रहना अशोभन ही नहीं, अस्वाभाविक प्रतीत होता है । यदि कवि आगे भी दुःशला के प्रति कुछ ध्यान देते अथवा यदि ध्यान नहीं देना था तो 'शोच्यं च अभिमन्यानि' इत्यादि संवाद के साथ-साथ कुन्तलापि अवस्था में ही रंगमंच से प्रस्थान करा देते तो रस की दृष्टि से कथानक की इस त्रुटि की सम्भावना न हो पाती । जो कुछ भी हो, ऊरुभंग की तुलना में तो दूतघटोत्कच में भासकार रस की परिपाक क्रिया में अधिक ही [प्रसंग] सफल रहे । ऊरुभंग में भास ने रसान्तरों के वर्णन में अधिक ध्यान दिया, फलतः वर्णन तो उत्तम हुआ किन्तु नाट्य रस के निर्वाह की दृष्टि से कथावस्तु शिथिल पड़ गयी । श्रव्यकाव्य में एक ही वस्तु के विविध वर्णन से रसास्वादन में बाधा नहीं पहुँचती किन्तु नाटक में सारा चमत्कार कथावस्तु के घात-प्रतिघात में तथा उसकी अभिव्यक्ति में ही परिनिष्ठित रहता है ।

में कवि को उत्कृष्ट सफलता मिली है । करुण रस की धारा को अन्त तक प्रवाहित करके भास ने नाट्य शास्त्र का विरोध करके भी अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है । उत्सृष्टिकांक प्रकार का रूपक होने के कारण इसमें भी दूतघटोत्कच के समान ही करुण रस स्वाभाविक रूप से अंगी बन कर आया है , किन्तु कर्णभार में उत्सृष्टिकांक के लिए सारी सम्भावनाएँ होने पर भी उसमें करुण रस प्रधान नहीं होने पाया है , जिसके कारण उसके स्वरूप निर्धारण करते समय हमें 'यह रूपक उत्सृष्टिकांक से सर्वाधिक साम्य रखता है' ऐसा कहकर प्रसंग को समाप्त करना पड़ा है । रस-परिपाक की दृष्टि से कथानक की इस त्रुटि को भास की शैली की असफलता ही माना जायगा । क्योंकि उत्सृष्टिकांक के लिए सारा वातावरण प्रस्तुत करके भी वे उचित अंगी रस का प्रयोग न कर सके । कर्ण के जीवन की कारुणिक झाँकी प्रस्तुत करके भी नाटककार अन्त तक करुण के गौरव को अक्षुण्ण न रख सके और दानवीर की अवतारणा करके तथा उसी में नाटक की समाप्ति करके करुण की प्राक्-प्रवाहित धारा को अत्यन्त निर्बल एवं अप्रधान कर दिया । इस त्रुटि के रहते हुए भी कथानक में स्थान-स्थान पर रस के उत्तम परिपाक के निदर्शन प्राप्त होते हैं । करुण रस का बड़ा मार्मिक स्पर्श कर्णभार के इस छोटे से कलेवर में दृष्टिगोचर होता है । रूपक के प्रारम्भ में ही कर्ण शोक से संतप्त होकर प्रवेश करते हैं । यहाँ पर कर्ण के आगमन का वर्णन करुण अवश्य है किन्तु 'शोक' शब्द को वाच्य रूप से उपस्थित किये जाने के कारण रसास्वादन में उतनी तीव्रता नहीं रह जाती । कथानक में इस श्लोक अथवा अन्योन्यशस्त्रविनिपात.... इत्यादि श्लोक की अपेक्षा 'पूर्वं कुन्त्या समुत्पन्नो राधेय इति विश्रुतः । युधिष्ठिरादयस्ते मे यवीयांसस्तु पाण्डवाः ।।' इत्यादि श्लोक में करुण रस की अधिक तीव्रता परिलक्षित होती है ।

कर्ण के अस्त्र-शिक्षा वृत्तान्त के अन्तर्गत जामदग्न्य के रूप-वर्णन तथा उनके शाप-प्रदान की घटना से कथानक में रौद्र रस का समावेश हुआ है । फिर भी सारी घटनाओं का प्रभाव अन्ततोगत्वा करुण ही है । गुरु के शाप के प्रभाव से कर्ण के अस्त्र निर्वीर्य हो गये हैं , घोड़े दीनता के साथ अपनी आँखों को मूँद करके बारम्बार ठोकर खा रहे हैं, मदमत्त गजराज रणांगण से लौटने को तैयार हैं , बजते शंख दुन्दुभी के शब्द भी बन्द हो जाते हैं । कर्ण चारों ओर ऐसे अमंगल के निमित्तों को देख कर अत्यन्त व्याकुल होकर कहते हैं — 'हाय यह सब क्या हो रहा है ?' करुण का यह चित्रण अपनी मार्मिकता की चरम अवस्था पर पहुँच जाता है, जब कर्ण कहते हैं —'वे घोड़े, जिनकी रक्षा मुझे करनी चाहिए , वे

मेरी रक्षा करें ।" चारों ओर मंगल की सूचना देखकर वे कहते हैं —" गो-
ब्राह्मणों का कल्याण हो । सती स्त्रियों का कल्याण हो , रण में कभी पीठ
न दिखाने वाले वीर योद्धाओं का कल्याण हो और शुभ अवसर प्राप्त किये हुए
का भी कल्याण हो ।" दीनता की, असहाय भाव की यह सम्भवतः सर्वाधिक
मार्मिक व्यंजना है जिसमें योद्धा अपने को मुख से कह रहा है —" मेरा कल्याण हो ।"

कथानक का यह स्थान रस की दृष्टि से अत्यन्त सुन्दर है । करुण रस
की यह धारा जो अब तक कथानक में बड़े गौरव के साथ प्रवाहित हो रही थी याचक
वेशधारी इन्द्र के प्रवेश करने से सहसा एक नया मोड़ लेती है और उत्साह स्थायी भाव
वाले "दानवीर रस" को अपना लेती है । करुण रस के अंकन में समाविष्ट हो
जाने से दानवीर रस की महिमा बढ़ जाती है । कवि को कथानक के परम प्रयोजन
एवं शीर्षक की सार्थकता को ध्यान में रखकर दानवीर रस को करुण की अपेक्षा
अधिक गौरव देना पड़ता है । कर्ण की दानशीलता में दान वीर और करुण का
बड़ा ही सुन्दर सामञ्जस्य स्थापित हुआ है । गुरुशापग्रस्त सुख्यातो अपने अन्तिम
संबल कवच कुण्डल को अपने ही शरीर से काट कर भिक्षुक को दे दे उसमें भले ही
दानवीर रस का उत्कृष्ट आस्वादन हो किन्तु वह दृश्य करुण भी कम नहीं ।
कर्ण दाता के आलम्बन में दानवीर रस का चरम निदर्शन प्रस्तुत होता है किन्तु सारे
वातावरण को ध्यान से देखने पर उसमें करुण की उपस्थिति को भी स्वीकार
करनी पड़ती है ।

दानवीर रस का सूत्रपात कर्ण के इस कथन से ही शुरू हो जाता है —
"महत्तरां श्रियं ददते प्रयाचे । शुभ्रां महिमा: ।" किन्तु उसका चरमोत्कर्ष
वहाँ है जहाँ कर्ण कहते हैं —" मेरे अंगों के साथ ही उत्पन्न हुए मेरी देह की रक्षा
करने वाले , जिन्हें देवता और असुरों से भी अभेद्य इस कवच को कुण्डलों के साथ
ही यदि आप चाहें तो दे सकता हूँ ।"

दानवीर रस के अनुभाव "हर्ष" का बड़ा ही उदात्त रूप वहाँ दृष्टि-
गोचर होता है जहाँ कर्ण कहते हैं —"ब्राह्मणों के अनेक वर्षों के फल से तृप्त
हुआ , मानव वपु का निकले यह किरीटवान इन्द्र, जिसकी उँगलियाँ ऐरावत को
चलाने से कठोर हो गयी हैं — आज मेरे द्वारा सुखी हो गया ।"

इस प्रकार के कथानक में हास्य रस का भी सुन्दर संयोजन दृष्टिगोचर
होता है —

मध्यमव्यायोग के कथानक की प्रस्तावना में सूत्रधार के मुख से उच्चारित 'भ्रान्तैः सुतैः परिवृतस्तरुणे:' इत्यादि श्लोक में भयानक रस का समावेश हुआ है और आगे ब्राह्मण परिवार के सदस्यों के मुख से घटोत्कच के उग्र रूप के वर्णन में कहीं भयानक और कहीं रौद्र रस का समावेश हुआ है। इसके अतिरिक्त 'हे ब्राह्मण ! यदि मेरे प्रार्थित एक पुत्र को तुम नहीं दोगे तो शीघ्र ही कुटुम्ब सहित विनाश के पात्र होगे।' — घटोत्कच की इस ~~क्रक~~ रोषप्रदीप्त उक्ति में, घटोत्कच और भीम के वाग्युद्ध में भी रौद्र रस की सुन्दर अवतारणा हुई है। भीम की 'कांचनस्तम्भसदृशो रिपूणां निग्रहे रतः' इत्यादि उक्ति में वीर रस का स्थायी भाव उत्साह का सुन्दर परिपोषण हुआ है। वैसे इस रूपक के कथानक में दानवीर-रस का परिपाक भी सुन्दर है। यही कथानक का सबसे महत्त्वपूर्ण रस है। राक्षस से अपने कुल की रक्षा करने के उद्देश्य से वृद्ध ब्राह्मण अपना प्राण अर्पित करने को प्रस्तुत है, ब्राह्मणी भी पति तथा पुत्रों के लिए अपने 'गृहीतफल' वाले शरीर की आहुति देने में तत्पर है तीनों ब्राह्मणकुमारों में से भी प्रत्येक इस दृष्टि से दानवीर हैं। तीनों में से प्रत्येक कुलकी रक्षा के लिए मृत्युमुख से सब को निवारण कर अपने को बलि देना चाहते हैं। अन्ततः केवल मध्यमब्राह्मण कुमार को ही यह अवसर प्राप्त होता है। वह अपने प्राणों से कुल की रक्षा करने का सौभाग्य प्राप्त करके कृतार्थ हो जाता है। हर्ष से वह कहता है 'मैं धन्य हूँ कि मेरे प्राण से गुरुजनों के प्राण रक्षित हुए।' — दानवीर रस की पराकाष्ठा हो जाती है। माता ने कनिष्ठ को रख लिया और पिता ने ज्येष्ठ पुत्र को विपत्ति से अलग कर लिया — माता-पिता को ऐसा निर्मम पक्षपात देखकर भी उस मध्यमकुमार का उत्साह कम नहीं हुआ, न उसे माता-पिता के आचरण से कुछ क्षोभ ही हुआ। उसे तो इस घटना से और भी प्रोत्साहन मिला कि अब माता-पिता और भाइयों पर आयी हुई इस विपत्ति को ~~[illegible]~~ मैं ही दूर करूँगा और यह सोच कर उसने हर्ष के साथ अपने को राक्षस के हाथों में समर्पित कर दिया। भीम के आत्मत्याग में भी दानवीर रस की पुष्टि हो सकती थी, किन्तु उन्हें पहले ही ज्ञात हो जाता है कि घटोत्कच उन्हीं का पुत्र है। अतएव ऐसी परिस्थिति में 'भो ब्राह्मण ! गृह्यतां तव पुत्रः । यास्येऽहमनुगमिष्यामः' — भीम का यह वाक्य दान वीर रस का उद्दीपन नहीं कर पाता। वस्तुतः घटोत्कच के 'कौरव्यकुलदीपेन पाण्डवेन महात्मना कथाया वा महामाना भूमिम योषितेनुवा ॥ [illegible]' इस परिचय प्रदान के बाद समग्र कथानक में कौतूहल का अभाव होने लगता है। इस श्लोक के सन्दर्भ में न तो भीम के 'भोब्राह्मण गृह्यतां तव पुत्रः । यास्येऽहमनुगमिष्यामः' इत्यादि कथन अथवा

अन्तर मध्यम ब्राह्मण कुमार को — 'त्यक्ताः प्राणैर मे प्राणा...।४०।' इत्यादि उक्ति से दानवीर रस की पुष्टि हो जाती है और घटोत्कच के 'उत्सृजन्तं पितृन् भीमसेनस्य' इत्यादि स्पष्ट घोषणा के साथ ब्राह्मण की कातरता रसोत्पादन में सहायता तो पहुँचाती ही नहीं वरन् उसमें असंगति का प्रसंग उपस्थित कर देती है। भीम और घटोत्कच के बाहुयुद्ध तथा द्वन्द्वयुद्ध के प्रत्यक्षदर्शी होने के साथ वृद्ध ब्राह्मण का यह कहना 'हे पुत्रों, हम क्या करें। ये भीम कैसे जाता है।' इत्यादि व्यर्थ प्रतीत होता है। अतः रसास्वादन की दृष्टि से कथानक का यह अंश अत्यन्त दुर्बल माना जायगा जिसमें स्पष्ट असंगति ही दृष्टिगोचर होती है।

इस रूपक के कथानक में ब्राह्मण के असहाय भाग्यजनित शोक को व्यक्त करने वाले संवादों में करुण रस की उत्पत्ति हुई है और घटोत्कच के द्वारा भीम के मायापाश से आबद्ध होने में तथा महेश्वरप्रसाद लब्ध मन्त्र से उस पाश के खंडित हो जाने में अद्भुत रस का वर्णन हुआ है।

इस प्रकार मध्यमव्यायोग के कथानक को रस-परिपाक की दृष्टि से बहुत अधिक सफल नहीं कहा जा सकता है जैसा कि ऊपर इस बात की आलोचना हो चुकी है कि घटोत्कच के द्वारा अपना परिचय करने पर शेष कथांश उसकी पृष्ठभूमि में असंगत एवं दुर्बल हो गया है। फलतः रसास्वादनप्रायः नहीं हो पाता।

मध्यमव्यायोग की अपेक्षा भास का दूसरा व्यायोग 'दूतवाक्य' का कथानक रस की दृष्टि से अधिक सफल है। इसमें वीर रस अंगी होने पर भी अन्य रसों का परिपाक सुन्दर रीति से हुआ है — विशेषकर श्रीकृष्ण के विश्वरूप-धारण की घटना में अद्भुत रस की अवतारणा बड़ी ही अभिनव ढंग से हुई है। किसी विद्वान् ने श्रीकृष्ण के प्रहरणों के एक-एक करके आविर्भूत होने की घटना को कथानक की दृष्टि से अनुपयोगी माना है[1] किन्तु वास्तव में विश्व-रूप-धारण का इतना सुन्दर नाटकीय वर्णन क्वाचित् अन्यत्र प्राप्य हो। इससे कथानक में चमत्कार के साथ ही साथ नाटकीयता का समावेश हो गया है। व्यायोग के नियम के अनुसार इसमें हास्य तथा श्रृंगार का प्रयोग नहीं हुआ है।

रंगमंच पर प्रविष्ट होते ही दुर्योधन अत्यन्त वीरत्वव्यंजक शब्द में

---

1. "The appearance of Visnu's weapons though original, is silly in serving no useful dramatic purpose" — S. N. Das Gupta History of Sans. Lit. (1962) 112

अपनी अभिलाषा व्यक्त करता है — आगे भी मंत्रणा गृह के दृश्य में वीररस की धारा अविच्छिन्न रूप से चलती रहती है । भीष्म के सेनापति-निर्वाचन से प्रसन्न होकर दुर्योधन कहता है — "सेना की हर्षध्वनि तथा कंकणाघात से बादल समुद्र के गर्जन के समान नगाड़े तथा शंख की तुमुल ध्वनि से युक्त भीष्म के मस्तक पर गिरते हुए अभिषेक जल के साथ-साथ अनेक राजाओं के हृदय भी गिरे ।"[1] एक वीर राजा की कितनी सुन्दर और वीरत्वव्यंजक उक्ति है ।

कांचुकीय के मुख से दूत रूप में आगत वासुदेव के 'पुरुषोत्तम' विशेषण को सुन कर दुर्योधन के रोषपूर्ण वचनों में रौद्र रस के स्थायी भाव क्रोध का परिपाक होता है । दुर्योधन के द्वारा चित्रपट के वर्णन में भयानक, रौद्र, वीर आदि रसों का अन्तर्भाव होता है । दुर्योधन और वासुदेव के वाद-विवाद वाले कथांश में वीर और रौद्र का परिपाक हुआ है । दुर्योधन कहता है — "मनुष्य राजकुमार शत्रुओं को पराजित करके राज्य का भोग करते हैं । राज्य ऐसी वस्तु है जो संसार में कहीं भी मांगा नहीं जाता और न दीन हीन याचकों को ही दिया जाता है । यदि उन (पाण्डुपुत्रों) को राज्य की इच्छा हो तो वे शीघ्र ही युद्ध करें और यदि शान्ति प्राप्त करनी हो तो वन में किसी आश्रम में स्वच्छन्दता-पूर्वक निवास करें ।" दूतवाक्य के कथानक में इस प्रकार की उदात्त एवं सरस संवादों की कमी नहीं है । श्रीकृष्ण के विश्वरूप धारण में कथानक में अद्भुत रस का समावेश हुआ है । निम्नलिखित कथांश सम्भ्रम नामक अनुभाव से युक्त विस्मय स्थायी भाव को बहुत ही सुन्दरता के साथ व्यक्त करता है — "कथं न दृष्टः केशवः । अयं केशवः । अहो ह्रस्वत्वं केशवस्य । आः तिष्ठेदानीम् । कथं न दृष्टः केशवः । अयं केशवः । अहो दीर्घत्वं केशवस्य । कथं न दृष्टः केशवः । सर्वत्र मंत्रशालायां केशवा भवन्ति ।" इत्यादि ।

परन्तु अद्भुत रस के साथ-साथ कथानक में वीर रस का जो चित्रण हुआ है, वह भी उल्लेखनीय है । दुर्योधन श्रीकृष्ण के विश्वरूप-धारण से सम्भ्रमयुक्त अवश्य हुआ है, परन्तु श्रीकृष्ण के वध करने का उत्साह अब भी उसमें है । श्रीकृष्ण से वह कहता है — "तुम चाहे अपनी माया से अनेक रूप धारण कर लो अथवा दुर्निवार अस्त्रों से मुझ पर वार ही करो फिर भी मैं घोड़ा, हाथी, बैल इत्यादि के वध करने के कारण गर्वित हुए तुम्हारा वध आज सारी राजमण्डली के सम्मुख अवश्य करूँगा ।"

१- द्रष्टव्य दूतवाक्य श्लोक संख्या ५

श्रीकृष्ण के विश्वरूप-धारण से सब विस्मयापन्न हैं, सब के अंग किसी अदृश्य शक्ति के द्वारा पाशबद्ध हो गये हैं, दुर्योधन की सहायता के लिए कोई भी आगे नहीं बढ़ पा रहा है — यह सब देखकर ही और स्वयं श्रीकृष्ण के उस विराट्-रूप के दर्शन से विस्मयापन्न होने पर भी दुर्योधन उसी उत्साह के साथ कह रहा है— 'मेरे धनुष से विमुक्त तीक्ष्ण शरों से छिन्न, क्षत-विक्षत और रुधिराप्लुत शरीर से पाण्डव शिविर में पहुँचने पर तुम्हें पाण्डव आँसू भर कर दीर्घ निश्वास छोड़ते हुए देखेंगे ।'

इधर श्रीकृष्ण भी दुर्योधन का वध करने के लिए उत्सुक हैं । अतएव श्रीकृष्ण और दुर्योधन के सम्वाद से भी वीर रस की पुष्टि होती है ।

इस प्रकार दूतवाक्य के कथानक में अंगीरस का निर्वाह मध्यमव्यायोग के कथानक की अपेक्षा अधिक उत्तम रीति से हुआ है । अंगरसों की विविधता से कथानक अत्यन्त गतिशील बन गया है और अद्भुत रस के प्रयोगाधिक्य से कथानक में नाटकीयता की पुष्टि अधिक हुई है । श्रीकृष्ण के आयुधों का वर्णन विभिन्न रसों में किये जाने के कारण तथा उन्हें एक-एक पात्र के रूप में चित्रित करने के कारण दूतवाक्य का संवाद दीर्घ होने पर भी कथानक की गति को अवरुद्ध तो करता ही नहीं किन्तु अत्यन्त सरस एवं कौतूहलोद्दीपक होने के कारण उसका उपकारी ही सिद्ध हुआ है ।

परन्तु पंचरात्र के कथानक के विष्कम्भक में एक ही वस्तु (यज्ञाग्नि) के बारम्बार वर्णन होने के कारण कथानक की प्रगति प्रायः अवरुद्ध हो गयी है । अठारह श्लोकों का यह दीर्घ वर्णन नाट्य रस के परिपाक की दृष्टि से अनुपयोगी सिद्ध हुआ है ।

पंचरात्र के कथानक में वीर रस का बहुविध रूप दृष्टिगोचर होता है । दुर्योधन के प्रसंग में दानवीर तथा युद्धवीर, युधिष्ठिर के प्रसंग में दयावीर, भीम एवं अर्जुन के प्रसंग में युद्धवीर के सुन्दर चित्रण प्राप्त होते हैं । दुर्योधन की दानवीरता का एक सुन्दर उदाहरण निम्नलिखित श्लोक में व्यंजित हुआ है । द्रोणाचार्य से दुर्योधन कह रहा है —

'यदि [illegible] युधिष्ठिरस्तां [illegible] ।
[illegible] प्रतिकूलमाचर ॥' १।३८॥

वीर रस का [illegible] कथानक में रौद्र, भय इत्यादि रसों का भी [illegible] प्रयोग हुआ है । ऐसा होने पर भी द्वितीय अंक में कथानक अत्यन्त शिथिल

हो गया है जिससे रस-परिपाक में भी उत्कृष्टता नहीं रहती । विराट् की उक्तियाँ उसके निर्भीक स्वभाव के द्योतक प्रतीत होती हैं । भट के अत्यन्त शीघ्रता से निष्क्रान्त हो जाने में तथा उसी गति से प्रवेश करने में युद्ध-वर्णन का प्रसंग होने पर भी वीररस का परिपाक उत्तम रीति से नहीं हो पाता । केवल द्वितीय अंक के अन्तिम अंशों में भी वीर अर्जुन के साथ अभिमन्यु का जो सम्वाद होता है उसी में रसता परिलक्षित होती है । इसमें हास्य,वीर तथा रौद्र रसों का एवं वात्सल्य भाव का आकर्षक चित्रण हुआ है जिससे कथानक के शैथिल्यजनित दोष भी कुछ न्यून हो जाते हैं ।

तृतीय अंक का कथानक सरस है । एक ओर अपहृत अभिमन्यु के लिए भीष्म, द्रोण, दुर्योधन और कर्ण की व्याकुलता दूसरी ओर उनको शकुनि की प्रसन्नता का चित्रण भास ने अत्यन्त सफलता के साथ किया है । तृतीय अंक के प्रारम्भिक कथांश में द्रोण इत्यादि पात्रों की उक्ति में वात्सल्य मिश्रित उत्कण्ठा का बड़ा ही सुन्दर चित्र प्रस्तुत हुआ है । दुर्योधन कहता है —" पुत्र सौभद्र, जिसने अभिमन्यु का अपहरण किया , मैं ही अब उसे छुड़ाऊँगा । उसके पितृजनों से मेरा विवाद हुआ है अतः अब संसार मुझ पर ही दोष लगायेगा । वैसे यह मेरा पुत्र पहले है और बाद में पाण्डवों का , — कुल में परस्पर विरोध होने पर भी बालकों से वैर नहीं होता ।" भीम के पराक्रम के वर्णन में उत्साह स्थायी भाव का सुन्दर परिपोषण हुआ है । इस वीर रसात्मक वर्णन के बीच भी शकुनि के अर्थव्यंजक सम्वाद ह रसानुभूति को तीव्रतर कर देते हैं । ऐसे सम्वादों की पृष्ठभूमि में उत्तर की निम्नलिखित उक्ति वीररस का उद्दीपक बनकर आती है —
"मार्ग बहुत लम्बा नहीं था फिर भी अत्यन्त वेगवान अश्वों से परिचालित रथ से आते हुए भी मुझे देर हो गयी क्योंकि अर्जुन के द्वारा मारे गये हाथियों के शवों से मार्ग विषम हो गया है ।"

दुर्योधन की प्रतिज्ञापूर्ति सूचक कर्णवीर के रोचक श्लोक से भास के इस रूपक की समाप्ति होती है ।

रस-परिपाक की दृष्टि से कालिदास की कृतियाँ भास की कृतियों से कहीं अधिक उच्च स्तर की हैं । कई विषयों में भास से प्रेरणा लेकर भी कवि ने उन दोषपूर्ण अंशों को अपनी साधना एवं अध्यवसाय से अधिक कमनीय बना दिया है । रविकुल-वर्णन , प्रेमामृत-शैली तथा कहीं-कहीं भावाभिव्यंजना में भास से प्रभाव-

ग्रहण करने पर भी कालिदास ने उसमें अधिक सरसता भर कर अपनी प्रतिभा की अतिशयता का परिचय दिया है। कालिदास ने भी भास के समान रूपक-रचना के लिए अधिकांशतः महाभारत का आधार लिया है किन्तु जहाँ भास महाभारत के वीर अथवा रौद्र रस पूर्ण तथा शृंगारवर्जित कथा को अपने रूपक का उपजीव्य बनाया है वहाँ प्रकृति के अनुसार कवि कालिदास ने मृत्यु की भयंकरता से पूर्ण महाभारत की आधिकारिक कथा का परित्याग कर केवल प्रासंगिक कथा के अंगभूत किसी एक प्रेमोपाख्यान को अपनी ललितात्मक शैली से सजा कर उसका एक अपूर्व सरस चित्र प्रस्तुत किया है। कभी महाभारत के पृष्ठों में बिखरी हुई दो प्रेमी हृदय की लीला के संकेतों को एकत्रित करके कल्पना से उस सम्भाव्य प्रेम-कथा का एक पूर्णांग चित्र खींच दिया है। भावाभिव्यंजना में कालिदास पर भास का प्रभाव दिखाते हुए महामहोपाध्याय श्री टी० गणपति शास्त्री ने अनेक निदर्शन प्रस्तुत किये हैं। उस तुलनात्मक विवेचन को देखकर कालिदास पर भास के प्रभाव को हृदयंगम करने के साथ-साथ ध्वन्यालोक के चतुर्थ उद्योत के उस स्थल का स्मरण होता है, जहाँ पर आनन्दवर्द्धन ने एक ही श्लोक के विभिन्न शैली में लिखे हुए रूपों की व्याख्या करके प्राचीन श्लोक की नवीन अभिव्यक्ति की प्रशंसा की है।

विक्रमोर्वशी में कालिदास ने प्रस्तावना में भास का किंचित् अनुकरण किया है। किन्तु भास से उनका पार्थक्य यहाँ भी स्पष्ट हो गया है। जहाँ भास के नाटकों में अधिकांशतः नेपथ्य से युद्ध का समाचार सुनाने वाले किसी भट की घोषणा अथवा किसी राक्षस से उत्पीड़ित एवं भयभीत ब्राह्मण परिवार का आर्त स्वर ही सुनायी पड़ता है वहाँ विक्रमोर्वशी में नेपथ्य से अप्सराओं का आह्वान सुनायी पड़ता है। रस एवं सुकुमारता का पार्थक्य यहाँ भी द्रष्टव्य है। भास के रूपकों की प्रस्तावना से ही प्रायः वीर अथवा रौद्र अंगीरस वाले कथानक की सम्भावना होने लगती है किन्तु विक्रमोर्वशी की प्रस्तावना में शृंगार के आलम्बन बनने योग्य अप्सराओं के उल्लेख से शृंगार अंगीरस वाले कथानक की सम्भावना होने लगती है। इतना अवश्य है कि अपहरण आदि के उल्लेख से वीर के भी अंगभूत होने की आशा होती है।

विक्रमोर्वशी के कथानक में कालिदास ने रतिस्थायी भाव का परिपोषण अत्यन्त स्वाभाविक ढंग से किया है। उन्होंने सम्भोगात्मक शृंगार रस के भेद को ही अंगी के रूप में प्रयोग किया है और विक्रमोर्वशी के कथानक में अत्यन्त सफलता के साथ उसका निर्वाह किया है। सम्भोगशृंगार के लक्षणानुसार यहाँ भी परस्पर [illegible] के [illegible]-व्यापार के प्रसंग में दर्शन-स्पर्शन इत्यादि का वर्णन

हुआ है। नायक पुरुरवा धठ-धीरोदात्त प्रकृति का है और नायिका उर्वशी रक्ताभिसारिका दिव्या है।

उर्वशी और पुरुरवा की प्रेम-कथा में सम्भोगात्मक रति का बड़ा सुन्दर विकास हुआ है। पुरुरवा केशी नामक दैत्य के हाथ से उर्वशी की रक्षा करते हैं। इसी घटना में दोनों परस्पर के प्रति प्रथम दर्शन में ही आसक्त हो जाते हैं। अतएव साक्षात् दर्शन से पूर्वराग की उत्पत्ति दिखायी गयी है। अभिलाष, चिन्ता, स्मृति, गुण-कथन इत्यादि पूर्वराग की दशाओं का सुन्दर प्रयोग हुआ है। उर्वशी-पुरुरवा का पूर्वराग मांजिष्ठ राग की कोटि में आयेगा क्योंकि मांजिष्ठ नामक पूर्वराग का भेद वहाँ पाया जाता है, जहाँ प्रेमी-प्रेमिकाओं के अनुराग के नष्ट होने की कोई आशंका तो रहती ही नहीं, अपितु वह उत्तरोत्तर विकसित होता[1] रहता है। प्रथम अंक में पुरुरवा के मुख से 'अस्याः सर्गविधौ:...' इत्यादि श्लोक में आलम्बन रूप उर्वशी का रमणीय वर्णन हुआ है। उद्दीपन विभाव के वर्णन में भी कालिदास सिद्धहस्त हैं। कवि होने के नाते उद्दीपन विभाव के वर्णन में इन्हें एक विशेष चाव भी है। सम्भोग शृंगार के उद्दीपक ज्योत्स्ना रात्रि का वर्णन वह जिस निपुणता के साथ करते हैं उसी निपुणता के साथ वे विप्रलम्भ शृंगार के उद्दीपक वर्षा ऋतु के आगमन का वर्णन भी करते हैं। पुरुरवा के मुख से उसकी प्रिया-विरह-व्यथा के उद्दीपक वर्षा ऋतु का वर्णन दर्शनीय है :-

> 'अयमेकपदे तया वियोग: प्रियया चोपनत: सुदु:सहो मे ।
> नववारिधरोदयादहोभिर्भवितव्यं च निरातपत्वरम्यै: ॥' ४।३॥

यह श्लोक आचार्य हेमचन्द्र को बहुत ही प्रिय है। काव्यानुशासन में रस के प्रसंग में इस श्लोक को उद्दीपन विभाव के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करके उन्होंने इस श्लोक में प्रयुक्त दो 'च' कार के तथा 'रम्य पद' के महत्त्व का वर्णन किया[2] है।

कालिदास जब व्यभिचारी भावों का वर्णन करते हैं, तब उसे आस्वाद्यता की चरम अवस्था तक पहुँचा देते हैं। विशेषकर विक्रमोर्वशी के चतुर्थ अंक में इस प्रकार के अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं। चतुर्थ अंक के 'तिष्ठेत्कोपवशात्प्रभावपिहिता'[3] इत्यादि श्लोक की पृष्ठभूमि में विप्रलम्भ शृंगार की उपस्थिति होने पर भी 'वितर्क नाम व्यभिचारी भाव की स्थिति ही परम आस्वाद्य और चमत्कारी मानी जायगी'— ऐसा हेमचन्द्र का मत है।

यदि विक्रमोर्वशी के प्रथम अंक में 'आकार्य सन्तमस'.. इत्यादि

१- विक्रमोर्वशी प्रथम अंक श्लोक संख्या — ८

२- "अत्र चकारो निपातानामनेकार्थत्वात्, मण्डलस्योपरि स्फटिकवद्योतनस्य वर्णाजितस्य अनु- कालीनत्वं अस्य प्राणदत्वमायाति ।अतएव रम्यत्वेन हृदयादुद्दीपनविभावत्वमुक्तम् ।"-

३- विक्रमोर्वशी चतुर्थ अंक श्लोक संख्या — २

~~४- विक्रमोर्वशी चतुर्थ अंक श्लोक संख्या —~~

पद्य को प्रामाणिक माना जाय तो यह संचारी भावों का उत्कृष्ट उदाहरण बन सकता है । इस पद्य के प्रथम पंक्ति से वितर्क, दूसरे से उत्कण्ठा, तीसरे से मति, चौथे से स्मरण, पाँचवें से शंका, छठे से दैन्य, सातवें से धैर्य और आठवें से चिन्ता व्यक्त होती है । अनेक संचारी भावों के वर्णन से यह पद्य भावशबलता का उदाहरण बन सकता है । वैसे यदि यह पद्य प्रामाणिक है तो रस के प्रसंग में स्वतन्त्र रूप से इसका महत्त्व है, किन्तु जहाँ तक नाटकीय कथानक और रस-परिपाक का प्रश्न है, वहाँ यह श्लोक कथानक में दोष उत्पन्न करने वाला है । क्योंकि इससे नायिका में 'सामान्यात्व' का आभास होने लगता है क्योंकि शास्त्रीय दृष्टि से विक्रमोर्वशीय के कथानक का नायक राजर्षि पुरूरवा होने के कारण नायिका 'सामान्या' हो नहीं सकती । फिर नायिका के सामान्यात्व का आभास विक्रमोर्वशीय के अन्य किसी स्थान पर भी नहीं मिलता ।

शृंगार रस के अनुभावों के वर्णन में प्रथम तथा द्वितीय अंक उल्लेखनीय हैं ।

प्रथम दो अंकों का कथानक रस परिपाक की दृष्टि से सफल है । प्रेमी और प्रेमिका के हृदय में प्रेमांकुर को शनै: शनै: विकसित करने में, दोनों की व्याकुलता के वर्णन में कथानक सर्वथा सफल हुआ है । द्वितीय अंक के प्रवेशक में हास्य का वर्णन सुन्दर है । विदूषक का इस स्वगत भाषण में, जहाँ वह कहता है —' इस दुष्ट चेटी को देखकर राज-रहस्य हृदय को भेद कर निकलना चाहता है —' हास्य का पुट दर्शनीय है ।

रस परिपाक की दृष्टि से विक्रमोर्वशी के तृतीय अंक का कथानक अन्य अंकों की अपेक्षा निकृष्ट है । एक तो एक ही प्रकार की घटनाओं की पुनरावृत्ति से कथानक में शिथिलता आ गयी है , दूसरी बात इस अंक का कथानक वैचित्र्यहीनता के कारण भी नीरस-सा हो गया है । वही रस , वही प्रसंग, वे ही पात्र पाठक या दर्शक को ऊबा देने वाले हैं । द्वितीय अंक में औशीनरी के कोप से कथानक में कार्य-प्रतिरोध की जो संभावना दृष्टिगोचर हुई थी वह तृतीय अंक में औशीनरी के प्रियानुप्रसादन व्रत की आकस्मिक घोषणा से पूर्णत: तिरोहित हो गयी । उधर उर्वशी को भी भरत का अभिशाप मिला । अत: उर्वशी के लौट जाने की घटना से भी वैचित्र्य उत्पन्न होने की आशा नहीं रही । द्वितीय अंक में इस प्रकार विदूषक के मैत्रावरुण-आचमन के समान नीरसता को दूर करने वाला तत्त्व भी नहीं है । इस प्रकार उर्वशी और पुरूरवा दोनों के प्रेम-मार्ग में द्वितीय अंक में जितनी बाधाएँ उपस्थित हो गयी हैं उन सब के एक ही साथ बिना किसी कठिनाई के दूर हो जाने

से कथानक में कोई कौतूहल शेष नहीं रह जाता । कालिदास ने चतुर्थ अंक को प्रकृति-सुषमा के वैभव के वर्णन से परिपूर्ण कर दिया , किन्तु तृतीय अंक के चन्द्रोदय के प्रसंग की उत्थापना करके भी उसके वर्णन के प्रति वे उदासीन कैसे रहे ये दुर्बोध्य प्रतीत होता है । केवल अत्यन्त साधारण दो श्लोक राजा से कहलवा कर कवि ने जैसे-तैसे चन्द्रोदय प्रसंग से अवकाश ले लिया । इस प्रकार विक्रमोर्वशी के तृतीय अंक का कथानक रस की दृष्टि से सफल नहीं कहा जायगा । तृतीय अंक का मिश्रविष्कम्भक कथानक की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण अवश्य है किन्तु वह रस की दृष्टि से द्वितीय अंक के प्रवेशक से हेय है । इसमें केवल घटना-वर्णन है , रस परिपाक पर कवि ने कुछ भी ध्यान नहीं दिया ।

विक्रमोर्वशी के प्रथम दो अंकों की पृष्ठभूमि में तृतीय अंक की समालोचना करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि कालिदास ने योजना अच्छी बनायी थी किन्तु तृतीय अंक में उसे निभा नहीं पाये । इस अंक में किसी प्रकार का उक्ति-वैचित्र्य भी दृष्टिगोचर नहीं होता, जिससे कथानक कुछ सरस बन पाता ।

विक्रमोर्वशी के चतुर्थ अंक का कथानक रस एवं नाटकीयता की दृष्टि से अत्यन्त सफल है । विप्रलम्भ शृंगार की ऐसी धूम-धाम अन्यत्र दुर्लभ है । व्यभिचारी भावों की आस्वाद्यता दर्शनीय है । चतुर्थ अंक का प्रवेशक न केवल कथानक की प्रगति की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है, अपितु सखियों की स्नेहभरी उत्कण्ठाओं के अत्यन्त सरस अभिव्यक्तिकरण में भी सफल है । साथ ही राजा की चारित्रिक दुर्बलता का दृश्य-रूप न प्रस्तुत करके नाट्यशास्त्र के "यत्तत्रानुचितो किञ्चित् वस्तु नायकस्य रसस्य वा । विरुद्धं तत्परित्याज्यमन्यथा वा प्रकल्पयेत् ।" इत्यादि नियम का भी पालन किया है । राजा के अपराध की अत्यन्त संक्षिप्त सूचना देकर आगे उनकी विरह दशा के दीर्घ वर्णन में अत्यन्त औचित्य परिलक्षित होता है । इससे राजा की चारित्रिक दुर्बलताजन्य दोष का शमन भी हो जाता है और उस विरहोन्माद दशा में राजा को प्रस्तुत करने से वह सामाजिक के सहानुभूति का पात्र भी बन जाते हैं । राजा के विरहोद्गारों को प्रस्तुत करके न केवल लतारूप में परिणत उर्वशी के ही हृदय से क्षोभ दूर हो जाता है अपितु पाठक अथवा दर्शक के पास भी राजा के चरित्र के प्रति कटाक्ष करने का कोई कारण शेष नहीं रह जाता है । अतएव चतुर्थ अंक के कथानक में प्रायः एक ही रस की अभिव्यक्ति होने पर भी उपर्युक्त गुणों के कारण वह कथानक की शिथिलता का कारण नहीं बनती । सुन्दरता की देवी उर्वशी उसके लिए सारी प्रकृति के अंग-अंग में समा गयी थी । विद्युत में उसकी देहकान्ति का साम्य था, वर्षा-जल से भरे हुए [illegible] पुष्प में आँसू से अश्रुसिक्त अरविन्द नयनों का आभास होता था , इन्हीं

ने उसकी चाल चुरा ली थी , कमल में बन्द भ्रमर के गुंजन से उर्वशी के सीत्कारयुक्त आनन्द का स्मरण होता था और तरंगरूपी भ्रू-भंगों से युक्त तथा फेन रूपी विगलित वसन वाली नदी तो सर्वथा उर्वशी के समान ही प्रतीत होती थी -- इस प्रकार पुरूरवा की प्रिया चराचर में व्याप्त हो गयी थी । पुरूरवा की इन भ्रान्तियों में, विरहोन्मत्त हृदय की इन उक्तियों में विप्रलम्भाई रति अनजान में ही प्रकृति-सुषमा से मण्डित होकर और भी अधिक सरस तथा अधिक रमणीय बन गयी है । इसके बीच-बीच में लालित्य से समन्वित प्राकृत पद्यों की गीतात्मकता सम्पूर्ण वातावरण को नाटकीय तथा मोहक बना देती है । हिमाद्रि के उद्दीपक रूप के वर्णन से विप्रलम्भ रति चरम उत्कर्ष पर पहुँच जाती है । इस प्रकार इतने विरहोद्‌गारों के वर्णन के बाद जब कालिदास ने नायक-नायिका का पुनर्मिलन दिखाया है, तब किसी को भी अपने अपराध के लिए लज्जित होते नहीं दिखाया । किसी को किसी से क्षमा याचना नहीं करनी पड़ी । किसी का क्षोभ शेष न रहा । उस मिलन की महार्घता के सम्मुख पार्थिव जीवन का दुःख-कष्ट सब निष्प्रभ हो गया । प्रेमी-युगल को शाश्वत संयोग कराने वाला संगमनीय का पुरस्कार मिला ।

पंचम अंक का कथानक घटना-बहुल है । इसमें शृंगार के साथ रौद्र, वात्सल्य रति , करुण, अद्भुत इत्यादि रस सहकारी बन कर आये हैं । संगमनीय मणि के अपहरण-कारी गृध्र के प्रसंग में रौद्र तथा वीर रसों का समावेश किया गया है ; आयु के प्रसंग में वात्सल्य का बड़ा मनोरम चित्र प्रस्तुत किया गया है ; नारद के आगमन के प्रसंग में अद्भुत रस का समावेश हुआ है । रस की दृष्टि से इस अंक का कथानक सर्वथा सफल है ।

इस प्रकार विक्रमोर्वशी का कथानक रस परिपाक की दृष्टि से पूर्णतः तो नहीं किन्तु कुछ सीमा तक सफल कहा जायगा । प्रोफेसर झाला ने द्वितीय तथा तृतीय अंक को अनावश्यक बताया है । और मिराशी जी ने चतुर्थ अंक की नीरसता पर आक्षेप प्रकट किया है । किन्तु जैसा कि देखा जा चुका है कि विक्रमोर्वशी के प्रथम दो अंकों का कथानक रस-परिपाक की दृष्टि से सफल है । अतः आक्षेप योग्य यदि कोई अंक है तो वह है तृतीय अंक । वस्तुतः रस तथा भाव इत्यादि की दृष्टि से तृतीय अंक के कथानक में किसी प्रकार का वैचित्र्य नहीं है । यदि कालिदास औशीनरी-प्रसंग को दृश्य रूप में न प्रस्तुत करके अर्थोपक्षेपक के माध्यम से सूचित करते तो सम्भवतः तृतीय अंक की आवश्यकता न होती । औशीनरी प्रसंग का परित्याग करने पर भी नाट्य रस में किसी प्रकार का व्याघात

---

1. 'These two acts do indeed appear unnecessarily to lengthen out without sufficient action being present in them.' -- 'Kalidasa-a stud

न होता ।

चतुर्थ अंक के प्रति विद्वानों की प्रशंसा एवं निन्दा दोनों ही चरम सीमा पर पहुँची हुई दृष्टिगोचर होती है । हिलेब्राण्ट[1], हमबोल्ट[2], एस०एस०भावे[3] आदि विद्वानों ने इस अंक की भूयसी प्रशंसा की है किन्तु प्रोफेसर जागीरदार[4] तथा मिराशी[5] जी प्रमुख विद्वानों ने इस अंक की कटु आलोचना की है । वल्टेयर रुबेन भी इस अंक में त्रुटि छोड़ कर कोई वैशिष्ट्य नहीं देखते । किन्तु चतुर्थ अंक जहाँ तक नाटकीय कथानक और रस-परिपाक का सम्बन्ध है, सफल ही कहा जायगा । विक्रमोर्वशी के कथानक में जो कुछ आकर्षण है वह चतुर्थ अंक में ही है । विक्रमोर्वशी के कथानक में उपलम्भ का उत्कर्ष घटित करने में चतुर्थ अंक का सर्वाधिक सहयोग है । इस अंक में नृत्य-तत्त्व की विपुलता से नाट्य-रस उत्कृष्ट हुआ है । श्रव्य काव्य में रस परिपाक की दृष्टि से विक्रमोर्वशी के रस की समीक्षा करने पर [illegible] महोदय के समान पुरूरवा का विलाप कलानुगामीय कृत्रिम अतिशयोक्तिपूर्ण एवं नाटकीय अवश्य प्रतीत होता।

---

1 "From the point of view of pure poetry and delineation of human emotions the Shakuntala is the most excellent, but regarding dramatic techniques, the Urvasī is more artistic and its highest point is reached in the seperation scene in Act IV" — Hillebrandt.

2 "Kalidasa has succeeded in presenting the most beautiful poetic creation that any age has ever brought out." — A.V. Humboldt

3. 'Vikramorvasīya Act IV' by Dr. S.S. Bhave [Bharatiya Vidya Volume 9. 1948]

4. 'Drama in Sanskrit Literature' by R.V. Jagirdar (1947) p.92

5. कालिदास लेखक वासुदेव विष्णु मिराशी (अध्याय ८)

6. "Many regard this scene as one of the poet's most exquisite, but it can not be denied that this uncontrolled and somewhat unmanly lament of the hero Pururavas appears faintly artificial exaggerated and theatrical." — Kalidas : The Human of his works (1957) ch. 8.

परन्तु हमें विक्रमोर्वशी के चतुर्थ अंक को एक दृश्यकाव्यांश के रूप में और वह भी नृत्यतत्त्वप्रधान उपरूपक की दृष्टि से देखना होगा और उस दृष्टि में उपर्युक्त समस्त आक्षेप गुण ही प्रतीत होंगे, दोष नहीं। चतुर्थ अंक की रमणीयता का विवेचन पंचम अध्याय में भी किया जा चुका है।

विक्रमोर्वशी के रस-परिपाक की समीक्षा करते हुए रस के उच्चतर आदर्श का अभाव विशेष रूप से अनुभूत होता है। इसके लिए यौवनोच्छल कवि का उद्दाम मनोभाव ही हेतु है। और पुरूरवा की प्रेम-कथा के चित्रण की इसी असफलता को हृदयंगम करके उस त्रुटि के संशोधन के लिए कालिदास को आगे चलकर पुनः लेखनी उठानी पड़ी। महाभारत से पुनः कुछ-कुछ वैसी ही कथा का निर्वाचन किया। इस रूपक में ऋषि विश्वामित्र की तनया किन्तु कण्वमुनि की प्राणाधिका प्रिया पालिता पुत्री शकुन्तला नायिका, पुरूरवा के समान ही कामित्सला दुष्यन्त नायक, आयु के समान ही शाश्वत मिलन बिन्दु सर्वदमन, सहजन्या और चित्रलेखा के समान अनसूया और प्रियम्वदा अर्थात् इस प्रेमोपाख्यान के मुख्य पात्र विक्रमोर्वशी के समान ही हैं किन्तु उसी परिस्थिति में ही कालिदास के अपेक्षाकृत प्रौढ़ व्यक्तित्व ने तृतीय और अन्तिम नाटक की रचना की, नाम दिया 'अभिज्ञानशाकुन्तल'। इसमें विक्रमोर्वशी के उस अल्हड़ कवि को भी दुष्यन्त के साथ-साथ सच्चे प्रेम की प्रत्यभिज्ञा हुई। प्रेम वासना की वस्तु नहीं, सहवास से अपेक्षित नहीं, किन्तु तपस्या की वस्तु है। नीललोहित और पार्वती के अर्द्धनारीश्वर रूप में मिलन के समान एकाकार हो जाने में ही उसकी पूर्णता और सार्थकता है। कालिदास ने शाकुन्तल नाटक के माध्यम से जगत् को यही अमर सन्देश दिया है।

शाकुन्तल का अंगीरस भी शृंगार है, परन्तु इस नाटक में शृंगार अपनी अतुल महिमा से एक विशेष गौरवमय स्थान को प्राप्त करता है। कथानक में रस-परिपाक अत्यन्त स्वाभाविकता के साथ हुआ है। यहाँ भी विक्रमोर्वशी के समान यौवन के उद्गार हैं, उन उद्गार को प्रोत्साहित करने के लिए उद्दीपन के अनेक विषय हैं, विश्वास भी है और वंचना का आभास भी है। कवि ने सब का वर्णन करके भी [illegible] रूप से एक उच्च आदर्श का सौदाहरण चित्र प्रस्तुत कर दिया है। प्रेम के कल्याणमय और मंगलकारी रूप का बड़ा ही समुज्ज्वल निदर्शन प्रस्तुत किया गया है। दाम्पत्य-प्रेम की इस महत्ता के सम्मुख अन्य सारे रस अमुख्य स्थान हो गये हैं।

रस-परिपाक की दृष्टि से शाकुन्तल के कथानक का सबसे बड़ा वैशिष्ट्य यह है कि इसमें कोई भी घटना निरर्थक अथवा अनुपयोगी नहीं है। ऐसा नहीं है

शकुन्तला को देखकर दुष्यन्त ने अपने मन में सोचा —

" केयमवगुण्ठनवती नातिपरिस्फुटशरीर लावण्या ।
मध्ये तपोधनानां किसलयमिव पाण्डुपत्राणाम् ।।" ५/१३।।

वह रूप दुर्वासा के शाप से संदिग्ध बन कर उनके निष्ठा की कसौटी बनकर सामने आया किन्तु घोर अन्तर्द्वन्द्वों को पार कर उन्होंने उस पर विजय प्राप्त किया । उनकी निष्ठा के शिवभाव के सम्मुख उस कामोद्दीपक रूप की पराजय हुई । वही रूप, जिसे देखकर एकदा दुष्यन्त ने कहा था —"दूरीकृताः खलु उद्यानलताः वनलताभिः ।।", वही रूप, जिसे देखकर उन्होंने परम उत्सुकता प्रकट करते हुए कहा था — " न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थापयति विधिः?" — वही रूप, जिसे देखकर धर्म का पालक दुष्यन्त धर्मारण्य में अपने को संयत न रख पाये थे — आज उस रूप को स्वयं उपस्थित देखकर भी अपना न सके । पार्वती के रूप को 'कुमारसम्भव' में शिव के द्वारा जो प्रत्याख्यान सहना पड़ा था, वही प्रत्याख्यान और पराजय आज दुष्यन्त के शिव-भाव के द्वारा शकुन्तला के रूप को सहना पड़ा । तभी कवि ने पार्वती के समान शकुन्तला को भी उसके रूप के कल्मषत्व को दूर करने के लिए मारीचि ऋषि के तपोवन में उससे तपस्या करवायी । प्रेम का ऐसा आदर्श विक्रमोर्वशी में नहीं है ।

तपस्या से पार्वती के रूप को सफलता मिली थी , तपस्या से ही शकुन्तला के रूप को भी दुष्यन्त की स्मृति का आलोक मिला । उस आलोक से दोनों के ह हृदय में अवस्थित वासनाजन्य अन्धकार दूर हो गया । शकुन्तला का रूप पुनः अखण्ड पुण्यों के फल के समान पवित्र हो गया । दुष्यन्त ने पश्चात्ताप की अग्नि में अपने को तपा कर उस रूप के लिए पुण्य-संचय किया । दुष्यन्त को केवल अपना ध्यान करके ही नहीं, पूर्वजों का स्मरण करके भी शकुन्तला-प्राप्ति के लिए आँसू बहाने पड़े । इस प्रकार प्रेम के साथ कर्तव्य का सुन्दर संयोग हुआ । सप्तम अंक में दुष्यन्त ने जब "वसने परिधूसरे वसाना नियमक्षाममुखी" शकुन्तला को देखा तो उसके चरणों पर गिर कर क्षमा प्रार्थना की । दोनों की तपस्या पूरी हुई । मारीचि ऋषि के सत्कल्प सुरों वाले तपोवन में प्रेमी-युगल को अपनी तपस्या का अखण्ड फल मिल मिला ।

इस प्रकार कालिदास ने इस नाटक में प्रेमादर्श की जो अभिव्यंजना की वह सार्वकालिक और चिरस्मरणीय बन गया ।

यहाँ पर द्रष्टव्य है कि कवि ने शृंगार रस के परिपाक करते समय वात्स्यायन-वर्णित काम की प्रायः सभी अवस्थाओं का समावेश करके भी शृंगार में किसी प्रकार की अश्लीलता नहीं आने दी । दुष्यन्त आश्रम में प्रवेश करते हैं ,

यहाँ के शान्त रमणीय वातावरण में प्रवेश करते ही उनके दक्षिण बाहु में स्पन्दन होता है । वे सोचते हैं कि इस आश्रम में ऐसे शुभ-निमित्त का फल कैसे प्राप्त होगा ? किन्तु भवितव्य की अबाध गति है । थोड़ी ही देर में तीन आश्रम कन्याओं का दर्शन होता है । दुष्यन्त उन्हें देख कर "दूरीकृताः खलु गुणैरुद्यानलता वनलताभिः" कह कर पहली बार अपनी "चक्षुःप्रीति" की अभिव्यक्ति करते हैं । आगे शकुन्तला के रूप पर आसक्त दुष्यन्त के मुख से "अव्याजमनोहरं वपुः", "किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्", "कुसुममिव लोभनीयं यौवनमङ्गेषु संनद्धम्" इत्यादि निकले हो वाक्यों से प्रेम की इस चक्षुःप्रीति नामक प्रथम अवस्था अभिव्यक्त होती है ।

क्रमशः दुष्यन्त का चित्त शकुन्तला पर इतना अधिक आकृष्ट हो जाता है कि प्रथम अंक के अन्त में शकुन्तला जब उठकर चली जाने लगती है तब वे अपने शरीर को तो किसी प्रकार उसका अनुगमन करने से रोकने में समर्थ होते हैं, किन्तु मन शकुन्तला का ही अनुसरण करता है । वे स्वयं ही इस विचित्र दशा का वर्णन करते हुए कहते हैं — "गच्छति पुरः शरीरं .... [1]।" यह मनःसंग की अवस्था है किन्तु कवि ने इस अवस्था में भी कहीं पर अनौचित्य नहीं आने दिया है । दुष्यन्त अपनी इस मनःसंग की अवस्था के पूर्व ही "सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः" इत्यादि कह कर उसे औचित्य प्रदान करते हैं । इस प्रकार दुष्यन्त की रति में कहीं भी कामुकता का आरोप नहीं लग पाता । "निद्राच्छेद" और "तनुता" नामक काम की तृतीय और चतुर्थ अवस्था का संयोग तृतीय अंक में होता है । किन्तु द्वितीय अंक में विदूषक के संवाद से भी एक बार राजा के निद्राच्छेदकारी प्रेम की सूचना मिलती है[2] । ये दोनों अवस्थाएँ तृतीय अंक के कथानक की परिसमाप्ति तक चलती हैं । प्रियम्वदा कहती है — "इन दिनों वह राजर्षि भी प्रजागर-कृश दीखते हैं । राजा स्वयं भी कहते हैं — "निशि निशि... कनकवलयं स्रस्तं स्रस्तं मया प्रतिसार्यते ।" द्वितीय और तृतीय अंक की कथावस्तु में काम की अन्य अवस्थाओं का भी समावेश हुआ है । शकुन्तला-विषयक प्रेम के कारण दुष्यन्त को न तो राजधानी लौटने का मन करता है और न मृगया में भी चित्त लगता है । विदूषक खिन्न होकर कहता है — "इन दोनों के पीछे छूट जाने पर मेरे दुर्भाग्य से मृगया करते हुए आश्रम में पहुँचे हुए राजा की दृष्टि तापसी कन्या शकुन्तला

१— शाकुन्तल प्रथम अंक श्लोक संख्या — ३०

२— "[illegible] चिन्तयंस्तु [illegible] पर्याप्तं [illegible] ।"

पर पड़ी । अब तो वे नगर में लौट जाने का नाम भी नहीं लेते ।" राजा स्वयं भी स्वीकार करते हैं कि जब से उन्होंने काश्यप की कन्या को देखा है तभी से उसका स्मरण कर मृगया के प्रति उन्हें अरुचि हो गयी है । यह प्रेम की "विषय व्यावृत्ति" नामक अवस्था है जिसमें प्रेमी को अन्य विषयों में उदासीनता होने लगती है । दुष्यन्त अब शकुन्तला से मिलने के लिए उपाय सोचते हैं और विदूषक से भी कहते हैं — "चिन्तय तावत्केनापदेशेन सकृदाश्रमे वसाम:" अतः यहाँ संकल्पोत्पत्ति नामक अवस्था है । काम की इस अवस्था में भी दुष्यन्त के विदूषक के प्रति कहे गये "यदनं वर्णिष्यो ...[1]" इत्यादि कथन से ध्वनित विवेक के संयोग से एक अपूर्व रमणीयता का उदय होता है । यह अवस्था तृतीय अंक के प्रारम्भिक अंश तक उत्तरोत्तर पुष्ट होता जाता है । ऋषि का कार्य समाप्त हो गया है । राक्षसों का दमन कर दिया गया है । अब आश्रम में रहने के लिए कोई अवकाश प्राप्त नहीं है, किन्तु दुष्यन्त विवश हैं — उनका शकुन्तलासक्त हृदय दुर्निवार हो उठा है और शीघ्र ही उनकी अवस्था अत्यन्त शोचनीय हो जाती है । दुष्यन्त कभी मदन को और कभी चन्द्रमा को उपालम्भ देते हैं । यह काम की 'उन्माद' नामक अवस्था है । इसके अनन्तर 'मरण' नामक अवस्था होती है परन्तु साधारणतः उसका प्रयोग शृंगार रस के प्रसंग में नहीं किया जाता । उन्माद अथवा मूर्छा के उपरान्त "मिलन" दिखाने की ही प्रथा है । अतएव कालिदास ने उन्माद के अनन्तर ही नायक और नायिका का संयोग दिखा दिया है । "मूर्छा" नामक अवस्था के स्थान पर दुष्यन्त के द्वारा मालिनी के स्पर्श से शीतल पवन को आलिंगन करने का आमंत्रण दिलवा कर कालिदास ने अपने गाम्भीर्य का परिचय दिया है । संयोग में नायक के द्वारा गान्धर्व-विवाह के प्रसंग की उत्थापना कर प्रेम को अक्षय बना दिया है ।

शकुन्तला के दुष्यन्त विषयक प्रेम में भी कालिदास ने वात्स्यायन-वर्णित उपर्युक्त अवस्थाओं का समावेश किया है । कालिदास की शैली का आश्रय पाने के कारण काम की इन अवस्थाओं में कहीं भी उच्छृंखलता की त्रुटि नहीं आने पायी है । समस्त वातावरण पर कालिदास के गम्भीर व्यक्तित्व की छाप पड़ गयी है ।

शकुन्तला दुष्यन्त के समान ही प्रथम साक्षात्कार में उनके प्रति आकृष्ट हो जाती है । उसकी चक्षुःप्रीति की अवस्था को स्वयं ही अपनी उक्ति में प्रकट करती है ।

उसके हृदय में भी प्रेम का अंकुर बड़ी शीघ्रता से फूटता है । चक्षुःप्रीति

१- शाकुन्तल द्वितीय अंक श्लोक संख्या — १२

के अनन्तर ही उसका प्रेम उस आगन्तुक व्यक्ति के लिए मन:संग की अवस्था को प्राप्त करता है । उसके कई स्वगत भाषणों में उसके हृदय में प्रस्फुटित काम की इस द्वितीय अवस्था का परिचय मिलता है । वह उस प्रिय अपरिचित का परिचय जानने के लिए मन ही मन व्याकुल हो उठती है । इतने ही में अनसूया अतिथि से उनका परिचय इत्यादि पूछती है । इससे शकुन्तला का हृदय कुछ शान्त होता है । वह अपने हृदय को स्वयं ही समझाती है — "हिअअ मा उत्तम्म । एसा दे चिंतिदाइं अणसूआ मन्तेदि ।" और आगे अपनी परतंत्रता पर कुछ खिन्न होकर कहती है — 'अह अत्तणो पहविस्सं'। शकुन्तला के दुष्यन्त-विषयक प्रेम की इस द्वितीय अवस्था की सूचना शाकुन्तल के द्वितीय अंक में राजा के इस कथन से भी मिलती है । विदूषक राजा से शकुन्तला के मनोभाव के विषय में पूछता है । तब दुष्यन्त कई वाक्यों से उसके मन:संग अवस्था की सूचना देते हैं — १-'भूयिष्ठमन्यविषया न तु दृष्टिरस्याः' २-'विनयवारितवृत्तिरतस्तया न विवृतो मदनो न च संवृतः' और सबसे सुन्दर व्याख्या —'दर्भाङ्कुरेण चरण: क्षत:...२।१२' इत्यादि श्लोक में हुई है ।

उसका प्रेम विषयव्यावृत्ति अवस्था के अनन्तर ही 'तनुता' की अवस्था को भी अत्यन्त शीघ्रता से प्राप्त कर लेती है । उसकी सखी कहती है —" किं अत्तणो आतंकं उपेक्खसि । अणुदिअहं क्खु परिहीअसि अंगेहि । केवलं लावण्णमई छाआ तुमं ण मुञ्चदि ।"

शकुन्तला अन्तत: सारे संकोच और लज्जा को भूल कर सखियों के सम्मुख अपने हृदय की अभिलाषा को व्यक्त कर देती है । यह काम की 'लज्जाप्रणाश' नामक अवस्था है । सखियों के परामर्श से शकुन्तला अपने प्रियतम की अनुकम्पा पाने की इच्छा से मदन लेख भी लिखती है । कालिदास सहृदय थे, वे शास्त्र लिखने नहीं बैठे थे । अतएव उन्होंने इसके अनन्तर ही नायक-नायिका का मिलन दिखा दिया । अनसूया और प्रियम्वदा बहाने से प्रेमी-युगल को एकाकी छोड़ कर चली गयीं । किन्तु कालिदास के गाम्भीर्य व्यक्तित्व ने प्रेमी-प्रेमिका के आचरण में कहीं अनौचित्य नहीं आने दिया । संयोग में भी निष्ठा की कमी नहीं हुई। प्रेम की पवित्रता को अक्षुण्ण रखने के लिए दुष्यन्त ने गान्धर्व विवाह की बात सोची । मिलन का उच्छ्वास संयम का स्पर्श पा कर रमणीय हो उठा । फिर भी कालिदास संयोग के भोग में अधिक देर तक रमे न रहे । गौतमी आ गयी, सखियों ने कहा — 'चक्कवाअवहु आमन्तेहि सहअरं [illegible]' । आकस्मिक वियोग से संयोग का महत्त्व ज्ञात हुआ । क्षणिक संयोग के आनन्द को पाथेय बनाकर वे वियोग का सामना करने के लिए

एक-दूसरे से बिछुड़ गये । कालिदास की रसज्ञता का परिचय इसी से होता है कि उन्होंने विप्रलम्भ के माध्यम से ही अधिकतर प्रेम की अभिव्यक्ति करवायी है । सम्भोग के समय या तो सम्भोग की अवस्थिति को संक्षिप्त बनाया या केवल संकेत-शैली से ही काम चलाया । विक्रमोर्वशी में कवि संयोग में ही अधिक रमे रहते थे । किन्तु शकुन्तला की रचना में सच्चे पारखी के समान विप्रलम्भ के स्थलों को चुन-चुनकर प्रेम की परीक्षा ली ।

षष्ठ अंक और उससे आगे कालिदास ने विप्रलम्भ शृंगार का वर्णन करके गुरुजनों की आज्ञा के बिना सहसा किये गये वासनामय प्रेम को दाम्पत्य प्रेम की पावनता प्रदान की है । शकुन्तला के प्रत्याख्यान और दुष्यन्त के पश्चात्ताप से प्रेम का वासनामय अंश दूर हो जाता है, भरत के रूप में उस प्रेम का फल पाकर दोनों धन्य हो जाते हैं, दाम्पत्य जीवन की सफलता के उल्लास में सामाजिक भी मग्न हो जाता है ।

कालिदास ने शकुन्तला के विरह को व्यंग्य-शैली में वर्णित किया है । सूक्ष्म संकेतों से विरह की वेदना को प्रकट करने में ही कवि को संतोष मिलता है । प्रियतम के ध्यान में मग्न शकुन्तला को दुर्वासा के आगमन और शाप इत्यादि का किंचिन्मात्र आभास भी नहीं होता । जब कि उसी के सम्मुख सारी घटना घटती है । इसी से उसकी विरह-वेदना का अनुमान किया जा सकता है । दुष्यन्त के विरह-वर्णन में कवि ने पश्चात्ताप, अश्रु, उन्माद का भी समावेश किया है । परन्तु पंचम अंक से आगे कालिदास ने प्रत्याख्याता शकुन्तला के विषय में मौन रहकर उसकी विरह-व्यथा के गहनतम तल की अभिव्यंजना कर दी है ।

सप्तम अंक में प्रेमी-युगल का पुनः मिलन होता है परन्तु उस प्रथम मिलन से इस मिलन में बहुत अधिक अन्तर था । शकुन्तला और दुष्यन्त का प्रथम मिलन जितना मादक एवं विवेकहीन था, यह दूसरा मिलन उतना ही मर्मस्पर्शक एवं उद्बोधक है । सहृदय पाठक के लिए आँसुओं का रोकना कठिन हो जाता है । दुष्यन्त गम्भीर पश्चात्ताप व्यक्त करता है तथा शकुन्तला से अपने अज्ञानजन्य सम्मोह के लिए क्षमायाचना करता है । यह प्रेमी और प्रेमिका का मिलन नहीं, किन्तु धर्मबद्ध पति-पत्नी का मिलन है जिसमें काम धर्मीभूत हो गया, केवल आत्माएँ परस्पर मिल रही हैं । अपराध की स्वीकृति एवं उसके परिमार्जन की प्रेरणा दुष्यन्त में जितनी व्यापती है, क्षमाशीलता की उदारता शकुन्तला में उतनी ही अधिक है । उपालम्भ का एक शब्द भी उसके मुँह से नहीं निकला । फिर भी उसने अनेकानेक सिद्ध के कौतुक का जिस रूप में समाधान किया उससे उसके वेदनाहत हृदय का पूरा

१- [illegible] । सन्तापहारक । आर्यपुत्रोऽपि परिलोभनाय ।

चित्र प्रस्तुत हो जाता है । सर्वदमन दुष्यन्त को दिखा कर पूछता है —'मां यह कौन है ?' अपने पुत्र के सम्मुख अपना परिचय सुनने के लिए दुष्यन्त भी उद्ग्रीव हो उठता है, किन्तु शकुन्तला कहती है —'वत्स ते भागधेयानि पृच्छ' । यह एक ही पंक्ति सामाजिक और पाठक के चित्त को विगलित कर देने में समर्थ है । कितने मार्मिक हैं शकुन्तला के ये शब्द । वह इसी एक पंक्ति में तो बहुत सारी बातों की ध्वनि उपस्थित करती है कि तुम उन्हीं राजर्षि के पुत्र हो किन्तु भाग्य के फेर से तुम जन्म लेने से पूर्व ही उनके द्वारा परित्यक्त हुए । अब ये आये हैं, पता नहीं तुम्हें स्वीकार करेंगे कि नहीं, पता नहीं तुम उनका स्नेह पा सकोगे या नहीं । अतएव तुम भाग्य से ही पूछो वही बतायेगा, ये कौन हैं ।'

इस प्रकार इस बार के मिलन में प्रथम बार के मिलन के समान आवेग और उच्छ्वास नहीं है । इसमें गाम्भीर्य अधिक है । महर्षि मारीच के मुख से दुर्वासा के शाप की बात जान कर शकुन्तला और दुष्यन्त दोनों को सन्तोष हो जाता है कि वह अप्रिय घटना बिना कारण ही नहीं घटी थी । इतने मानसिक अवसाद के पश्चात् कवि ने जो दोनों को यह संतोष प्रदान किया वह उनकी गहरी मनुष्यता के द्योतक है ।

(कालिदास ने अपनी रचनाओं में रतिभाव के महत्व और आनन्दमय स्वरूप की व्याख्या करते हुए जिस पद्धति का आविष्कार किया है वह व्यापक एवं ऊर्ध्वगामिनी है । प्रेम का अपने में कोई आत्यन्तिक महत्त्व नहीं है, प्रत्युत उसका अन्तिम उद्देश्य मानव के कल्याण की सिद्धि में ही है — इस सनातन सत्य की व्यंजना ही अभिज्ञान शाकुन्तल का मूल उद्देश्य रहा है ।)

शाकुन्तल में श्रृंगार अंगी रस है । इसके सहायक के रूप में वीर, अद्भुत, करुण आदि रसों का भी समावेश हुआ है । प्रथम अंक में राजा के रथवेग से भयभीत हरिण के वर्णन में भयानक रस माना गया है । विदूषक के वृत्तान्त में हास्य का पुट है । द्वितीय अंक में हास्य ही प्रधान रस है । चतुर्थ तथा पंचम अंक में करुण का प्रसंग आया है । शकुन्तला को विदा करते हुए कण्व ऋषि के निम्नलिखित शब्दों को सुन कर कौन द्रवित नहीं होगा । —'शमिष्यति मम शोकः कथं नु वत्से । त्वया रचितपूर्वं उटजद्वारे विरूढं नीवारबलिं विलोकयतः ।।'[१] दुर्वासा शाप तथा मातलि के प्रसंग में रौद्र का संयोग हुआ है । दुष्यन्त से सम्बन्धित होकर कई बार वीर रस का प्रसंग आया है । शकुन्तला की अप्रत्याशित [illegible]

१- शाकुन्तल चतुर्थ अंक श्लोक संख्या — 6

के उठा ले जाने में , अशरीरी के हाथ में विदूषक के उत्पीड़न में , कण्व को दुष्यन्त और शकुन्तला के गान्धर्व-विवाह की सूचना देने वाली अशरीरी वाणी में, शकुन्तला के विदा के अवसर पर वृक्षों के क्षौम्य वस्त्र तथा आभूषणों को देने में और शकुन्तला के प्रस्थान काल में नेपथ्य से ध्वनित वन देवताओं के आशीर्वचन में अद्भुत रस का प्रयोग हुआ है ।

इनके अतिरिक्त शाकुन्तल में भाव और रसाभास के भी अत्यन्त रमणीय प्रसंग आये हैं । सखियों के स्नेह में, आजन्म ब्रह्मचारी को पालिता पुत्री के प्रति स्नेह-प्रदर्शन में, शिष्य के प्रति गुरु के पितृ-भाव में और गुरु के प्रति शिष्य के पुत्र-निर्विशेष श्रद्धा में तथा सप्तम अंक में दुष्यन्त और सर्वदमन के मिलन में 'काव्यप्रकाश' में वर्णित 'रतिर्देवादिविषय: व्यभिचारी तथा ऽञ्जित: भाव: प्रोक्त:' भाव का समावेश हुआ है । ~~रसाभास का प्रसंग~~ सहकार और वनज्योत्स्ना के समागम में , षष्ठ अंक में कृष्णसार और मृगी के वर्णन में रसाभास का प्रसंग होता है ।

इस प्रकार शाकुन्तल के कथानक में रस-परिपाक की विवेचना करते समय यह बात स्पष्ट होती है कि कालिदास ने इस नाटक में नवरसों का ही सुन्दर परिपाक किया है । जिस निपुणता के साथ वह अंगी रस के परिपाक करते हुए प्रेमीयुगल के प्रणय का दृश्य प्रस्तुत करते हैं उसी निपुणता के साथ वह पिता और पुत्र के मिलन का भी वर्णन करते हैं । पहले तीन अंकों के कथानक को देख कर इसकी धारणा भी नहीं बन पाती कि आगे चल कर इस रमणी-रूप के पुजारी दुष्यन्त को वात्सल्य में ऐसा ओत-प्रोत देखेंगे । चतुर्थ अंक में कण्व ने अपनी पालिता कन्या के प्रति जो स्नेहसिक्त[१] वचन कहे हैं वे साहित्य में अमर हो गये हैं । कण्व शिष्यों को बुला कर कह रहे हैं — 'भगिन्यावपि मार्गमादेशय', शकुन्तला कह रही है , ' इस उटज के आस पास विचरण करने वाली , गर्भभार से मंथर गति वाली मृगवधू का जब निर्विघ्नता के साथ प्रसव हो जाय तो आप मेरे पास किसी के द्वारा इस प्रिय संवाद को पहुँचा दीजियेगा ।' कण्व कहते हैं — ' वत्से । नेदं विस्मरिष्याम:', बात करते-करते कण्व अपनी प्राणाधिका पुत्री के साथ-साथ आगे बढ़ रहे हैं , शिष्य उन्हें रोक कर कहता है — ' भगवन् । ओदकान्तं स्निग्धो जनोऽनुगन्तव्य इति श्रूयते । तदिदं सरस्तीरम् , अत्र न: संदिश्य प्रतिगन्तुमर्हसि ।' — यहाँ कैसे कैसी बात भी विशेष कुछ भी नहीं है किन्तु इन्हीं से पाठक अथवा सामाजिक को एक

१- शाकुन्तल चतुर्थ अंक , श्लोक १६, १८, १९

हुए कथांश अथवा रसिक्त श्लोक नाटकीय कथानक से पृथक होकर ही प्रशंसनीय हो सकते हैं किन्तु समग्र नाटक में नाटककार की शास्त्रानुवर्तिता दोष का कारण बन गयी है । नाटककार ने भीम के द्वारा द्रौपदी के वेणीसंहार की घटना को दिखाने के लिए बहुत दीर्घ सन्दर्भों का आश्रय लिया है । इसी कारण ही महाभारत के सम्पूर्ण आधिकारिक कथानक को सम्बद्ध करने के लिए वे लालायित हो उठे हैं, फलतः अनेक असम्बद्ध घटनाओं की योजना से मूल कार्य तक पहुँचने में कथानक की गति मन्द-मन्द पर बाधित हो गयी है । इस दोष के कारण नाट्यरस को बड़ी क्षति पहुँची है । इसी के कारण वीररस प्रधान नाटक में दुर्योधन और भानुमती के प्रेम का चित्रण भी आ गया है, जिसे काव्य प्रकाशकार ने "अकाण्डे प्रथन" कह कर उपहास किया है । साहित्य दर्पणकार ने इसे अनुपयुक्त कहा है और पाश्चात्य विद्वान् और पण्डित चन्द्रशेखर पाण्डेय को छोड़कर प्रायः सभी भारतीय विद्वानों ने इसकी कटु आलोचना की है । इस प्रणय-दृश्य में शृंगार का सुन्दर परिपोषण हुआ है और बहुत कुछ शाकुन्तल के तृतीय अंक के अनुकरण की भी चेष्टा की गयी है । किन्तु नाट्यरस का उपकारी न होने के कारण सारा परिश्रम व्यर्थ हो गया है । इस प्रणय-दृश्य को पढ़ते हुए अथवा देखते हुए कोई भी पाठक अथवा दर्शक यह कल्पना ही नहीं कर पाता कि वह वेणीसंहार नामक किसी वीररसात्मक नाटक को पढ़ अथवा देख रहा है ।
इसी शृंगारविषयक प्रणय-घटना के बाद तीसरे अंक के प्रवेशक में वीभत्स रस के परिपाक में भट्टनारायण ने अत्यन्त रुचि दिखायी है । यद्यपि कथानक को अग्रगति प्रदान करने के कारण इस दृश्य का महत्त्व है, तथापि इसकी अवतारणा भिन्न रूप से भी की जा सकती थी । इससे तो ऐसा प्रतीत होता है कि मानो भट्टनारायण वीभत्स जैसे अप्रिय रस के चित्रण में अपनी निपुणता की घोषणा कर रहे हैं । इस युद्धभूमि के वातावरण में रुधिरप्रिय और वसागन्धा का प्रणयालाप नितान्त हास्यास्पद हो गया है । यद्यपि ए०बी० गजेन्द्रगडकर ने इस दृश्य के औचित्य के पक्ष में प्रेम का बहुत बड़ा तर्क उपस्थित किया है तथापि इस दृश्य की दुर्बलता का निराकरण सम्भवतः उनसे भी नहीं हो सका है । गजेन्द्रगडकर महोदय इस दृश्य की प्रशंसा में यहाँ तक कह

---

9. "Perhaps as a delineator of human society he wants us to realise that the world is not after all merely 'delightful' it possesses a much more varied character than we seem to imagine." — 'Venisamhara by Bhattanarayana' — Ed. by A. B. Gajendragadkar (Third Ed.)

चाहते हैं कि इस बीभत्सपूर्ण दृश्य से भट्टनारायण संसार को कुछ शिक्षा देना चाहते हैं।वे यह दिखाना चाहते हैं कि संसार आपातरमणीय है । किन्तु चाहे कोई कुछ भी कहे पर यह तो मानना ही पड़ेगा कि दृश्य वस्तु का इस रीति से प्रतिपादन नितान्त अशोभन एवं अशास्त्रीय है । यह कवि की असहृदयता का परिचायक है । गजेन्द्रगडकर जी की युक्ति तो निराधार ही प्रतीत होती है क्योंकि समग्र विष्कम्भक को पढ़ लेने के अनन्तर भट्टनारायण का कोई गम्भीर उद्देश्य अथवा उपदेश प्रतिभात नहीं होता । अगर नाटककार को ऐसा उद्देश्य अभिप्रेत रहा भी हो तो भी उसके प्रतिपादन के ढंग में उन्होंने असहृदयता का परिचय दिया है — ऐसा स्वीकार करना पड़ेगा । जगत् की आपातरमणीयता को दिखाने के लिए कोई सहृदय कवि ऐसा साधन कभी नहीं अपनायेगा । फिर, रुधिरप्रिय और वसागन्धा के बीभत्स प्रणय-सम्वाद के विषय में गजेन्द्रगडकर जी का कहना है कि भट्टनारायण इससे यह प्रतिपन्न करना चाहते हैं कि प्रेम कहीं भी अंकुरित हो सकता है । वह जैसे बालोद्यान में विकसित हो सकता है वैसे ही समरांगण के इस बीभत्स वातावरण में भी अपना स्वरूप दिखा सकता है ।[1] श्री गजेन्द्रगडकर जी ने सम्भवतः बहुत सोच-समझ कर यह तर्क प्रस्तुत किया है , फिर भी यह तर्क नाटकीय कथानक और रस-परिपाक के विवेचन के प्रसंग में इस दृश्य को त्रुटिहीन बनाने में सर्वथा असमर्थ है । हाँ, चरित्र-चित्रण की दृष्टि से इस प्रवेशक के कथानक का महत्त्व अवश्य है नहीं तो भीम पर राक्षसत्व के आरोप का अवकाश हो जाता ।

तृतीय अंक के कथानक में अश्वत्थामा और कर्ण के वाद-विवाद वाला अंश स्वतन्त्ररूप से अत्यन्त सरस है । इसमें छल, विकत्थना, आवेग इत्यादि व्यभिचारी भावों का बहुत ही उत्तम वर्णन हुआ है । रौद्र रस का परिपाक प्रशंसनीय एवं प्रभावपूर्ण है — ऐसा होते हुए भी नाटकीय फल का प्रेरक न होने से सब कुछ अनावश्यक प्रतीत होता है । इस अंक में एक स्थान पर भट्टनारायण ने रौद्ररस के प्रतिकूल वर्णन उपस्थित करके अपने को मम्मट जैसे आचार्यों के कटाक्ष का लक्ष्य बनाया है ।[2] इसमें रस-दोष का प्रसंग हो गया है ।

१— "By making the hideous demon couple the ālambanavibhāva or substratum of love, the poet accomplishes the second moral purpose of this interlude viz. to demonstrate the essential unity of love. Bhattanarayana, perhaps wants to tell us by means of this Praveśaka that love can be developed and enjoyed as much in the filthy surrounding of the ghastly war, as in the romantic environment of the 'Bālodyāna'." — 'Venisamhara' Ed. by A.B. Gajendragadkar

२— ५|२०८ (सम्पादक — डा. सत्यव्रत सिंह, विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला) पृ० सं० २७९

चतुर्थ अंक के कथानक से ऐसा प्रतीत होता है कि मानो भट्टनारायण द्वितीय अंक के कथानक में शृंगाररस के संयोजन में अपनी निपुणता दिखा कर संतुष्ट नहीं हुए और इस अंक को करुणरस के विषय में अपनी निपुणता प्रदर्शन करने के लिए एक साधनमात्र बनाया है । आरम्भ में भीम के नैपथ्य-भाषण को छोड़ कर प्राय: समग्र अंक में करुण का ही समावेश हुआ है । सूत मूर्छित दुर्योधन को लेकर रंगमंच पर प्रवेश करता है । अभी-अभी सूत ने दु:शासन का वध देखा है ,दुर्योधन भी संज्ञाहीन है । व्यथित सूत विधाता की क्रूरता पर खिन्न होकर कहता है--
'भो: कष्टम् (निश्वस्य)

मद कलितकरेणुभज्यमाने विपिन इव प्रकटैकशालशेषे ।
हतसकलकुमारके कुलेऽस्मिंत्वमपि विधेरवलोकित: कटाक्षै: ।।' ४|२।।

स्वाभिमानी दुर्योधन हताश होकर निर्दय-विधि से याचना कर रहा है --' ननु भो हतविधे । कृपाविरहित । भरतकुलविमुख ।

'अपि नाम भवेन्मृत्युर्न च हन्ता वृकोदर:' ४|८।।

दुर्योधन की यह याचना अत्यन्त मार्मिक है । इस अंक में सुन्दरक का दीर्घ संवाद है , जो वीर,रौद्र तथा करुण से ओत-प्रोत होने पर भी नाट्यरस की दृष्टि से व्यर्थ है । वृषसेन-वध का वृत्तान्त सरस होने पर भी अपनी दीर्घता के कारण अरुचिकर बन गया है । कर्ण के प्रति दुर्योधन की उक्ति निश्चय ही पाठकों के नयनों को अश्रुपूर्ण बना देती है --

'वृषसेनो न ते पुत्रो न मे दु:शासनो नुज: ।
त्वां बोधयसि किमहं त्वं मां संस्थापयिष्यसि ।।' ४|१४

दुर्योधन को गान्धारी और धृतराष्ट्र के दर्शन करने में संकोच हो रहा है । वह सोच रहा है --

'अम्बाऽऽर्यो रणमुपगतौ तातमम्बां च दृष्ट्वा
भ्रातस्ताभ्यां शिरसि विनतोऽहं च दु:शासनस्य ।
तस्मिन्काले प्रणमरिणा प्रापिते तामवस्थां
पार्श्वं पित्रोरपगतघृण: किन्नु वक्ष्यामि गत्वा ।।' ४|१५।।

इस प्रकार चतुर्थ अंक में करुण के ऐसे अनेक रमणीय उदाहरण मिलते हैं ।

पंचम अंक घटनाबहुल है । इस अंक का कथानक रस-परिपाक की दृष्टि से सफल है । करुण, रौद्र और वीर रसों की अवस्थिति सुन्दर है । घटनाओं के घात-प्रतिघात से कथानक अन्त की ओर अबाध गति से बढ़ता जाता है ।

षष्ठ अंक में अन्तिम अंश को छोड़ कर पुनः करुणरस की धारा बहती है । युधिष्ठिर और द्रौपदी की मानसिक दशा चार्वाक की वंचना से अत्यन्त दयनीय हो जाती है । वे आत्महत्या तक के लिए उद्यत हो जाते हैं । यद्यपि इस अंक में भी करुणरस के बहुत सुन्दर उदाहरण मिलते हैं, फिर भी युधिष्ठिर जैसे राजर्षि के लिए भ्रातृहन्ता का दमन किये बिना इस प्रकार का विलाप करना कदाचित् अनौचित्य प्रतीत होता है । इससे रसानुभूति भी तीव्र नहीं हो पाती । चार्वाक के द्वारा कथानक को एक विशेष मोड़ देने का प्रयत्न किया गया है, किन्तु इसकी कोई आवश्यकता नहीं थी । इस घटना की योजना से युधिष्ठिर पर वीर्यहीनता दोष के आरोप का अवकाश हो गया है । करुण का चित्रण प्रभावोत्पादक न होकर कुछ अस्वाभाविक हो गया है । जहाँ तक नाटकीय कथानक और रस-परिपाक का विषय है, वेणीसंहार का प्रथम और पंचम अंक उत्कृष्ट कहा जायगा । प्रथम अंक को इस दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ स्थान प्रदान किया जायगा क्योंकि इसमें वीररस का ऐसा उत्कृष्ट आस्वादन होता है जो अन्य किसी भी नाटक में दुर्लभ है । इसमें नाटकीयता के प्रति भी ध्यान रखा गया है । प्रथम अंक के वीर और पंचम अंक के करुण के सार्थक और सुन्दर चित्रण देखकर प्रोफेसर सुशीलकुमार डे के आरोप[१] में अतिव्याप्ति दोष दृष्टिगोचर होता है । किन्तु समग्र नाटक अध्ययन अथवा देखने के अनन्तर भट्टनारायण का यह नाटक विभिन्न रसों का एक विचित्र कथाप्रबन्ध प्रतीत होता है ।

भट्टनारायण की भाषा तथा रीति भी रसानुकूल है । ओजस्वी वीररस के लिए भट्टनारायण की उग्र शब्द-योजना अत्यन्त सहायक सिद्ध हुई है । वेणीसंहार में रसमयता बहुत है और स्थान-स्थान पर उसकी चित्र काव्यात्मकता का दर्शन होता है, यह भी प्रशंसनीय है किन्तु इस नाटक में नाट्यरस की अवहेलना सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है । इसी त्रुटि के कारण नाटककार भट्टनारायण की प्रतिभा को जितनी प्रशंसा मिलनी चाहिए थी वह मिल नहीं पाती ।

१- "There is enough pathos and horror, but the pathos is tiresome and the horror uncouth; there is enough of action, but the action is devoid of dramatic conflict or motivation to carry with sustained interest." — History of Sanskrit Literature p 274

राजशेखर के 'प्रचण्डपाण्डव' — का अंगी रस वीर अथवा रौद्र रस होगा । उपलब्ध दो अंकों के कथानक तथा शीर्षक में 'पाण्डव' शब्द के विशेषण के रूप में 'प्रचण्ड' शब्द के प्रयोग से ही उसके अंगी रस के विषय में अनुमान लगाया जा सकता है । प्रथम अंक जिसमें द्रौपदी स्वयम्वर का दृश्य प्रस्तुत किया जाता है, उसमें वीर तथा शृंगाररस की उपस्थिति है । आलम्बन द्रौपदी के विविध वर्णन में राजाओं की 'चक्षुः प्रीतिः' नामक काम की प्रथम अवस्था ध्वनित होती है । विभिन्न नृपतियों के राधा-वेधन के प्रयास में उत्साह स्थायी भाव की सुन्दर अभिव्यंजना की गयी है । अंक के अन्तिम कथांश में रौद्र एवं वीर-रस का समावेश है । इस अंक में राधा-वेध में असफल राजाओं की दुर्दशा के वर्णन में 'व्रीडा' नामक व्यभिचारी भाव की सफल व्यंजना हुई है ।

द्वितीय अंक में रौद्ररस का पोषण हुआ है । इस अंक में द्रौपदी के प्रति कही गयी दुःशासन की उक्ति से रसाभास की अवतारणा की गयी है । द्रौपदी के वस्त्रहरण के प्रसंग में अद्भुत रस का समावेश किया गया है ।

इस प्रकार विक्रमीय प्रथम सहस्राब्दी तक के महाभारत-मूलक नाटकों में विविध रसों का अत्यन्त मनोहर पंचामृत प्रस्तुत किया गया है । इन नाटकों के रचयिताओं ने नव-रसों के परिपाक में अपूर्व कुशलता का परिचय दिया है । इनकी रसज्ञता के कारण 'काव्येषु नाटकं रम्यम्' वाली उक्ति सार्थक हो गयी है । उत्कृष्ट रस-परिपाक के कारण महाभारतीय उपाख्यानों के इन गृहीत नाटकीय रूपों में एक अभिनव चमत्कार उत्पन्न हो गया है । उनका रूप मूलापेक्षा कहीं अधिक हृदयग्राही बन गया है, नव-रसों के मंजुल सम्मिश्रण से चिर-परिचित कथानक भी आस्वादयुक्त एवं रमणीयतर हो गये हैं ।

—o—

अष्टम अध्याय

कथनोपकथन एवं चरित्र-चित्रण

नाटककार की उद्देश्य-सिद्धि का प्रमुख आधार होता है संवाद । संवाद के माध्यम से ही यह ज्ञात होता है कि प्रतिभावान् कवि ने उपजीव्य कथा के किस अंश का परित्याग किया है, किस नवीन घटना की संयोजना की है अथवा किस घटना का कैसा रूप प्रस्तुत किया है ? संवाद के माध्यम से ही पात्रों का चरित्र विकसित होता है । यह संवाद-तत्व ही नाटकीय-कथानक को उसके उपजीव्य से भिन्न रूप प्रदान करने में अग्रणी हुआ करता है । रूपक चाहे कैसा भी हो, चाहे नाटक हो, चाहे प्रकरण, चाहे भाण हो, चाहे आधुनिक काल के चलचित्र के लिये लिखा गया हो अथवा बेतार से सुनाया जाने वाला हो- सभी में भाषा की आवश्यकता पड़ती है, क्योंकि उसी पर नाटकीय-व्यापार आश्रित होते हैं । नाटक के पात्र संवाद के माध्यम से ही अपने मन के भाव को दूसरे पर व्यक्त करते हैं और उसी से पात्रों के चरित्र तथा नाटक की कथा का विकास और प्रसार होता है । नाटक की अधिकांश सफलता भी प्रायः उसकी संवाद-योजना पर ही आधारित रहती है । इसीलिये पाठ्य अथवा संवादतत्व को नाट्य का शरीर कहा गया है ।[1] नाट्य के अन्य अंग, जैसे आंगिक अभिनय, आहार्य अभिनय तथा सात्विक अभिनय वाणी के अर्थ को ही व्यक्त करते हैं । अतएव अभिनयों में वाचिक अभिनय को विशेष महत्व दिया जाता है ।

भाषा में सार्थक अथवा निरर्थक ध्वनियाँ होती हैं, उनके मेल से शब्द बनते हैं और शब्दों से वाक्य । इन्हीं वाक्यों से शब्द की योजना, प्रयोग, उनके स्थान, रचना और कहने की शैली के अनुसार श्रोता अथवा सम्बोध्य पर उनका प्रभाव पड़ता है और वह सम्बोध्य व्यक्ति अपने स्वभाव, पद और सामर्थ्य के अनुसार उसकी शाब्दिक अथवा कायिक प्रतिक्रिया करता है । इस शाब्दिक क्रिया और प्रतिक्रिया को ही संवाद कहते हैं ।

भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र के सत्रहवें अध्याय में संवाद के लक्षणों की विस्तृत व्याख्या की है । उन्होंने संवाद के छत्तीस लक्षणों की विवेचना की है । प्रस्तुत नाटकों में संवाद की शास्त्रीय विवेचना नहीं करनी है, केवल नाटकीय कथानक में घटाव-बढ़ाव और चरित्र-चित्रण से सम्बन्ध रख कर नाटकीय-संवादों की आलोचना करनी है । अतएव संवादों के शास्त्रीय गुणों का यथावत निर्वाह आलोच्य नाटकों में हुआ कि नहीं— इसकी परीक्षा करने की विशेष आवश्यकता नहीं है ।

१- "वाचि यत्नस्तु कर्तव्यो नाट्यस्यैषा तनुः स्मृता" भरतनाट्यशास्त्र १५।२।।

नाटकीय-संवाद में सुबोधता होनी चाहिये, उसमें कथानक की प्रगति का बीज बराबर बना रहना चाहिये, नाटककार को संवाद लिखते समय समय का भी ध्यान रखना चाहिये । अल्प समय में, अल्प शब्दों में समग्र नाटक की कथा इस ढंग से कहनी चाहिये कि कौतूहल का निर्वाह करते हुए उसका निर्दिष्ट परिणाम सिद्ध हो जाय । श्रव्यकाव्य के कवि के पास अवकाश होता है, वह एक ही घटना को अधिक विस्तार से कह सकता है, परन्तु दृश्यकाव्य के कवि के पास ऐसा अवकाश नहीं होता— उसे तो अपनी पूर्णता को संक्षेप में ही साध लेना पड़ता है । कोई बात छूटे नहीं और किसी का आवश्यकता से अधिक विस्तार भी न हो- नाटककार के सम्मुख उत्कृष्ट संवाद का यही आदर्श रहता है । रूपक में पात्रों से जो भी बात कहलायी जाय उसका कोई न कोई उद्देश्य होना चाहिये । उद्देश्यहीन संवाद रूपक के कथानक के लिये अपकर्षाधायक होता है । अत: नाटककार को इस बात की पूरी सावधानी रखनी चाहिये कि न तो कहीं अनावश्यक संक्षिप्तता हो और न कहीं निरर्थक विस्तार हो । वीररसात्मक नाटक लिखते समय नाटककार प्राय: इस बात को भूल जाते हैं । ऐसे नाटकों में प्राय: युद्ध-वर्णन से अथवा युद्धस्थल की भयावहता के दीर्घ वर्णन से दर्शक की एकाग्रता नष्ट हो जाती है, जिससे रसबोध में विघ्न उत्पन्न हो जाता है । किसी भी वस्तु की अति अरुचिकर होती है, चाहे वह कितनी भी मधुर क्यों न हो । उदाहरण के लिये भास के `ऊरुभंग` में योनों भटों के संवाद में समन्तपञ्चक का जो वर्णन हुआ है उसकी आस्वाद्यता केवल उसकी दीर्घता के कारण ही न्यून हो गयी है, इसी प्रकार `वेणीसंहार` के चतुर्थ अंक में संभवत: भट्टनारायण ने उत्कृष्ट रससृष्टि के लिये सुन्दरक के संवादों की संयोजना की थी, किंतु अत्यन्त दीर्घ होने के कारण ये संवाद-रस के उत्कर्षाधायक होने के स्थान पर अपकर्ष के हेतु बन गये हैं । दीर्घ-संवादों से नाटकीयता का ह्रास होने लगता है । भास तथा भट्ट नारायण के इन्हीं रूपकों के अन्य स्थानों पर जहाँ दोनों ने सावधानी से काम लिया है, वहाँ संवाद तत्व नाटक की श्रीवृद्धि करने में प्रधान हेतु बन गया है । `ऊरुभंग` में ही बलराम और दुर्योधन के संवाद में तथा दुर्योधन एवं उसके परिवार के सदस्यों के संवाद में संवादशैली का अत्यन्त रमणीय रूप दृष्टिगोचर होता है । इन संवादों से पात्रों के चरित्र भी उत्तम रूप से विकसित हो सके हैं । नाटकीय कथानक की गतिमयता की अभिव्यक्ति भी इन संवादों के माध्यम से अत्यन्त उत्कृष्ट रूप से हुई है । इसी प्रकार `वेणीसंहार` के प्रथम तथा तृतीय अंक में कथोपकथन-शैली का प्रशंसनीय रूप दृष्टिगोचर होता है । अतएव जिन दोषों की आलोचना की गयी है,- यदि नाटकीय संवाद में उनका अभाव हो एवं वह पूर्वोल्लिखित गुणों से युक्त हो तो उसमें संवाद के शास्त्र-निर्दिष्ट

रुचीय लक्षणों का समावेश स्वत: ही हो जायेगा— ऐसा विश्वास है ।

भास के नाटकों में साधारणत: संवाद-तत्त्व का उत्कृष्ट रूप ही दृष्टिगोचर होता है । पात्रों के संवादों की संयोजना में भास ने अपूर्व दक्षता का परिचय दिया है । संवाद प्राय: छोटे-छोटे हैं और उद्देश्य की दृष्टि से सार्थक हैं । `मध्यम व्यायोग`, `दूतवाक्य`, `दूत घटोत्कच`, `कर्णभार` एवं विष्कम्भक को छोड़कर `ऊरुभंग` में भास की संवादशैली का उत्तम निदर्शन प्राप्त होता है । इन रूपकों की तुलना में `पञ्चरात्र` का संवाद तत्त्व कुछ शिथिल है । भास की यह विशेषता है कि वे सूच्य-कथांशों को भी पात्रों के संवाद के माध्यम से इतनी सुन्दरता से प्रतिपादित कर देते हैं कि पूरा दृश्य आँखों के सामने आ जाता है । `ऊरुभंग` में भीम और दुर्योधन का गदायुद्ध, `कर्णभार` में कर्ण की अस्त्रशिक्षा का वृत्तान्त अत्यन्त सजीव है । किन्तु `पञ्चरात्र` में भट के मुख से युद्धवर्णन प्रभावशाली नहीं हो पाया है । `निष्क्रम्य प्रविश्य` जैसे अस्वाभाविक शीघ्रता-सूचक रंग-निर्देश भी इस असफलता का एक कारण है । `पञ्चरात्र` में दुर्योधन के यज्ञ-वर्णन में भी संवाद-शैली की दुर्बलता व्यक्त होती है ।

भाषा की सुबोधता भास की संवाद शैली का एक महान गुण है । भास की सरल एवं प्रायेण-समासविहीन भाषा ही उनके नाटकों के संवाद तत्त्व को गौरव प्रदान करती है । भास को सरल शब्दावली का आचार्य कहें तो अत्युक्ति नहीं होगी । सरल होने पर भी अभीष्ट अर्थ के बोधन में भास की भाषा में कहीं भी अक्षमता दृष्टिगोचर नहीं होती । केवल `ऊरुभंग` में एक स्थल पर अत्यन्त दीर्घ समासों से युक्त पदावली उपलब्ध होती है ।[१] इस स्थल की भाषा बाणभट्ट अथवा त्रिविक्रमभट्ट की भाषा से साम्य रखती है । प्रयाग में हरिषेण कृत समुद्रगुप्त के शिलालेख से इसका न केवल शैली-गत अपितु शब्दगत साम्य भी परिलक्षित होता है । इस स्थल की प्रामाणिकता के विषय में संदेह होता है ।

प्रथम अध्याय में संवादों के भेदों का उल्लेख किया जा चुका है । भास के नाटकों में `सर्व श्राव्य` प्रकार के संवाद की ही बहुलता है । इस प्रकार के संवाद नि:सन्देह

१- `एतौ तु खलु [illegible] [illegible]-[illegible] [illegible]-कर्ण[illegible] [illegible] प्रतिभयता ।`

नाटकीय कथावस्तु के प्रतिपादन के लिये उक्त है, किन्तु कहीं- कहीं भास ने `सर्व श्राव्य` प्रकार के संवाद के मोह में पड़कर नाटकीय कथावस्तु में असंगति भी उपस्थित कर दी है । उदाहरणार्थ, `मध्यम व्यायोग` में घटोत्कच के `सर्वश्राव्य` प्रकार के संवाद के माध्यम से आत्मपरिचय देने के अनन्तर आगे वृद्ध ब्राह्मण के संवाद में असंगति उपस्थित हो गयी है । जब घटोत्कच ने एक बार सब को सुनाकर यह कह दिया कि उसकी माँ हिडिम्बा और पिता भीमसेन हैं, तब भीमसेन को राक्षस का अनुगमन करते देख कर ब्राह्मण का यह कथन- `हे पुत्रों, हम क्या करें । यह भीमसेन तो जाता है ।` और आगे भीम एवं हिडिम्बा के मिलन के समय उसीका यह कहना- `अच्छा, तो यह भीमसेन का पुत्र है ।` — असंगत लगता है । रस की दृष्टि से भी संवाद की यह दुर्बलता हानिकारक है, इसका विवेचन पिछले अध्याय में किया जा चुका है ।

भास के रूपकों के संवाद का एक महत्वपूर्ण गुण यह है कि संवाद सर्वत्र न केवल कथा में गतिशीलता उत्पन्न करने में सहायक है, किन्तु उनके पात्रों के चरित्र के सूक्ष्मातिसूक्ष्म वैशिष्ट्य भी व्यक्त हो जाता है । चरित्र-चित्रण की दृष्टि से संवाद-शैली प्राय: सर्वत्र सफल हुई है । सभी चरित्र में कुछ न कुछ आदर्श का स्पर्श है । `दूतवाक्य` के दुर्योधन के चरित्र में एक महान गुण है, वह है उसका वीरत्व । वह वीरत्व उसकी उक्ति से ही ध्वनित होता है । इस रूपक में वासुदेव का देवभाव भी सुदर्शन के संवाद के माध्यम से अत्यन्त सुन्दरता के साथ अभिव्यक्त हुआ है । वासुदेव के विश्वरूप-धारण करने की घटना महाभारतीय है, इस घटना का दृश्यरूप प्रस्तुत करना आसान नहीं था— किन्तु भास को इसमें भी अभूतपूर्व सफलता मिली है । उनकी सफलता का श्रेय उनकी संवाद-शैली को ही है । दुर्योधन तथा सुदर्शन की उक्तियों के माध्यम से भगवान के इस रूप का वर्णन हुआ है । वासुदेव और सुदर्शन के संवाद में भगवान के विनम्र रूप की बड़ी सुन्दर झाँकी मिलती है । दुर्योधन के संहार के लिये उद्यत वासुदेव सुदर्शन के समझाने पर कहते हैं—`सुदर्शन, क्रोध के कारण मैं अपना कर्तव्य ही भूल गया था` — परमशक्ति-रूप भगवान के इस कथन में उनकी विनम्रता बड़े ही मधुर ढंग से अभिव्यक्त हुई है ।

पात्रों के चरित्र-चित्रण में भास ने अत्यन्त कुशलता का परिचय दिया है । वासुदेव देवत्व के धारक हैं, उनके देवत्व का पूरा चित्र कवि ने उनके अथवा अन्य पात्रों के संवाद के माध्यम से खींच दिया है । किन्तु उनके चरित्र को स्वाभाविक बनाने के लिये उनमें मिलनसार-रूप प्रभाव भी दिखाया है ।[1] अन्त समय में दुर्योधन की दु:शीलता को

स्पष्ट करने के लिये कवि ने चित्रपट -दर्शन नामक नवीन घटना की संयोजना की है और उसे भगवान के विराट रूप पर अनास्था प्रकट करते हुए दिखाया है । दुर्योधन की प्रत्येक उक्ति उसके क्रूर चरित्र को व्यक्त करती है, यहाँ तक कि जहाँ वह पाण्डवों का कुशल प्रश्न पूछता है, वहाँ भी एक एक शब्द से उसके कुचक्री स्वभाव का प्रकाशन होता है । दुर्योधन वासुदेव से पूछता है- 'धर्मपुत्र युधिष्ठिर, वायुपुत्र भीम, इन्द्रसूनु मेरा भाई अर्जुन और अश्विनीकुमार के दोनों विनीत यमज पुत्र नकुल और सहदेव— सब अपने परिजनों के साथ कुशल से तो हैं ?' —

यहाँ युधिष्ठिर आदि पाण्डवों के आगे 'धर्मपुत्र', वायुसुत, इन्द्रसूनु इत्यादि विशेषण उसकी आगामी दुरभिसन्धि के लिये आधार का कार्य करते हैं । आगे वासुदेव जब युधिष्ठिर का सन्देश सुनाते हैं, तब दुर्योधन कहता है —

'वन में शिकार खेलने के प्रसंग में मेरे पितृव्य पाण्डु अपने अपराध के कारण मुनि-शाप के भागी हुए और तभी से वे स्त्री-संभोग से विरक्त हो गये । अब दूसरे पुरुषों से उत्पन्न पुत्रों के वे कैसे पिता हुए ?'

अत्यन्त अल्प शब्दों में दुर्योधन की दुर्बलता तथा उसके कुचक्री स्वभाव का चित्र खींचने में भास को अभूतपूर्व सफलता मिली । दुर्योधन का प्रत्येक संवाद ही नहीं, उसके मुख से निकला हुआ प्रत्येक शब्द उसके चरित्र की दु:शीलता का उद्घाटक है ।

'कर्णभार' में भास ने कर्ण-चरित्र की महानता को प्रकट करने के लिये महाभारत के एक सुविस्तृत अंश से अनुकूल घटनाओं का चयन किया और उन्हें अपनी उत्कृष्ट संवाद-शैली में इस प्रकार से गुंथ दिया कि पता ही नहीं चलता कि ये महाभारत की परस्पर विच्छिन्न घटनाएँ हैं । रूपक में कुल मिलाकर पाँच पात्र हैं और उनमें से दो पात्र-भट और देवदूत बहुत अल्प समय के लिये रंगमञ्च पर उपस्थित होते हैं । इन्द्र भी रूपक के प्रारम्भ से ही रंगमंच पर नहीं रहते । शेष दो पात्रों में कर्ण और शल्य भी अधिकतर श्रोता ही बने रहते हैं । अत: कर्ण ही रूपक का प्रमुख सक्रिय पात्र है । ऐसी अवस्था में भी भास कर्ण को उसके वचन एवं कर्म से चरित-नायक के अभीष्ट गौरवमय पद प्रदान करने में सफल हुए हैं । महाभारत के कर्ण में भी अनेक गुण थे । उनके चरित्र में वीरता तथा दानशीलता प्रचुर मात्रा में विद्यमान थी । मित्रता के निभाने में वह अतुलनीय थे, किन्तु उनमें दुर्बलताएँ भी बहुत थीं । दुर्योधन की संगति में उनकी सतत उपस्थिति की

उनके चरित्र की अनेक दुर्बलताओं के लिये कारणस्वरूप थी । सभापर्व में कर्ण द्रौपदी की अवमानना करने के लिये दुर्योधन को जिस उत्साह से प्रेरणा दे रहे थे, उसका विचार करके महाभारत के कर्ण को शकुनि से भी निकृष्ट स्थान देने की इच्छा होती है । वह वीर थे, इसमें कोई सन्देह नहीं है, किन्तु अर्जुन के साथ युद्ध करने के अवसर पर बहुत बार उन्होंने वीर्यहीनता का भी परिचय दिया था । जीवन के अन्तिम दिन के युद्ध के समय भी उनकी वीरता में इस प्रकार का दोष देखा गया था । वह दानी थे, किन्तु इन्द्र को कवच-कुण्डल दान देते समय उनके द्वारा अपने अंगों की सुन्दरता की अक्षुण्णता के लिये वर-प्रार्थना करना उनकी दान की मर्यादा के लिये निन्दाई है । पाण्डवों को अपने सहोदर भाई के रूप में जानकर भी दुर्योधन के साथ बैठकर उनके संहार करने की योजना करते समय उनके मन में किसी प्रकार की द्विधा उत्पन्न न होना- उनमें मानवता के अभाव का परिचायक है । अतएव स्पष्ट होता है कि महाभारत के कर्ण में जो-जो गुण हैं, उनमें भी दोषावकाश है । इसकी तुलना में भास के द्वारा चित्रित कर्ण में गुण ही गुण दृष्टिगोचर होते हैं । वह सच्चे अर्थ में वीर हैं, अपने अस्त्रों पर परशुराम के अभिशाप का प्रभाव पड़ते देखकर भी वह सारथि को आदेश देते हैं- 'हे शल्यराज ! जहाँ अर्जुन है, वहीं मेरे रथ को ले चलो ।' जिनके विरुद्ध वह युद्ध करने जा रहे हैं, उनका सहोदरत्व; अपनी कुन्ती को दिये हुए वचन, परशुराम का अभिशाप— इत्यादि का विचार कर कर्ण खिन्न होते हैं । उनकी मानवता क्षणभर के लिये उन्हें विचलित कर देती है । अपनी विवशता पर खेद प्रकट करते हुए वे कहते हैं —

'भोः कष्टम् ।

पूर्वं कुन्त्यां समुत्पन्नो राधेय इति विश्रुतः ।
युधिष्ठिरादयस्ते मे यवीयांसस्तु पाण्डवाः ।।' ६—

किन्तु इतना होने पर भी वे हतोत्साह नहीं होते । युद्ध की ओर प्रस्थान करते समय अपने रक्षाकवचों को इन्द्र के द्वारा कपटपूर्वक अपहृत होते देखकर भी उनका उत्साह कम नहीं हुआ । कर्ण का ऐसा महावीरत्व महाभारत में दुर्लभ है । कर्ण सच्चे अर्थ में दानी है । याचकवेशी इन्द्र को वह सब कुछ देने को तैयार होते हैं— अपना महल, अपना अक्षय धन-भण्डार, अपना राज्य, अपना पुण्य तक प्रार्थी को देने के लिये वे तैयार हो जाते हैं ।

दुर्योधन की ऐसी उदारता ही उसे नायक की श्लाघ्य पदवी पर प्रतिष्ठित करती है
दशरूपककार ने नायक के गुणों का वर्णन किया है, उनमें से विनम्रता, मधुरता, त्याग,
स्थैर्य— इतने गुणों की अभिव्यक्ति तो दुर्योधन की उपर्युक्त एक ही उक्ति में हो जाती
है। विष्कम्भक में प्रथम भट में उसकी प्रशंसा करते हुए कहता है —'कीर्तिलुब्ध, नानाविध
मणियों से जड़े हुए मुकुट धारण करने वाले (अर्थात् ऐश्वर्यवान्) अहंकार, विनम्रता
कान्ति और शास्त्र से युक्त —इत्यादि।—
गदायुद्ध के वर्णन में उसकी वदान्यता का परिचय मिलता है। भट उसके युद्धकौशल को देख
कर कहता है- 'गदायुद्धमें नरपति सुशिक्षित हैं।' - उसकी प्रियवादिता का गुण जो
महाभारत में खोजने पर मिलना असंभव है, ऊरुभंग में बार-बार दृष्टिगोचर होता है।
दुर्योधन को 'प्रियम्वदः' सिद्ध करने के लिये ही नाटककार ने महाभारत की कथा के
विपरीत ऊरुभंग की घटना के अनन्तर बलराम और दुर्योधन के तथा आगे दुर्योधन और
उसके परिवार वर्ग के संवाद की संयोजना की। बलराम के साथ संलापरत दुर्योधन की
प्रियवादिता का गुण कई बार प्रकाश में आता है, किन्तु उसका सर्वोत्कृष्ट निदर्शन हमें
उस स्थल पर मिलता है, जहां मुमुर्षु दुर्योधन अपनी गान्धारी से कहता है—'मैं प्रणाम
करके कहता हूं कि यदि मेरे पास कुछ भी पुण्य हो तो अगले जन्म में तुम ही मेरी मां
बनो।' - बलराम का वह प्रिय शिष्य है, गान्धारी-धृतराष्ट्र का वह प्रिय पुत्र है,
पौरवी और मालवी का प्रिय पति, दुर्जय का प्रिय पिता और अश्वत्थामा के लिये वह
प्रिय कुरुराज है। इस प्रकार दुर्योधन रंगमंच पर उपस्थित सभी के प्रिय पात्र हैं, इससे
उसके रक्तालोकत्व की प्रतिष्ठा भी हो जाती है। उसकी- 'सेनाहं यातः प्रियेण हरिणा
मुख्यैः प्रतिग्राहितः'[१] - इस उक्ति से, उसकी स्वर्गयात्रा के वर्णन से 'स्थिरत्व' की
अभिव्यक्ति होती है। क्रुद्ध बलराम के प्रति उसकी अनुनय भरी उक्तियों में, शोकसंतप्त
धृतराष्ट्र और गान्धारी के प्रति कहे गये उसके सान्त्वनापूर्ण वचनों में उसके स्थैर्य का
परिचय प्राप्त होता है। उसकी अपूर्व धामाधीशता रूपक के उत्कृष्टिकांकत्व के लिये
उद्दीपन का कार्य करती है। दुर्योधन की धीरोदात्तता का परिचय पाने के लिये दुर्जय
के प्रति दिये गये उसके अन्तिम उपदेश को सुनना ही पर्याप्त होगा। मरणासन्न, अन्याय
युद्ध में पराजित दुर्योधन अपने पुत्र को उपदेश देता है —

'मेरे समान ही पाण्डवों की तू सेवा करना, पूजनीया माता कुन्ती की आज्ञा

१- द्रष्टव्य - ऊरुभंग श्लो० सं० ३५

का पालन करना, अभिमन्यु जननी और द्रौपदी को अपनी ही मां मानकर पूजा करना। देखो बेटा।

प्रशंसनीय वैभव वाला, अभिमान से देदीप्यमान हृदय वाला मेरा पिता दुर्योधन युद्ध में अपनी बराबरी वाले (भीम) के साथ सबके सामने मार दिया गया— यह विचार कर तू शोक त्याग दे। मेरी मृत्यु के बाद युधिष्ठिर के विशाल रेशमी वस्त्र से ढंके हुए दाहिने हाथ को स्पर्श करके तू पाण्डु के पुत्रों के साथ तर्पण के समय मेरे नामोच्चारण के बाद जलाञ्जलि अर्पण करना।"[१]

संभवत: इसी मर्मस्पर्शी संवाद को सुनाने के लिये भास ने दुर्जय की कल्पना की है। नहीं तो दुर्जय का अस्तित्व महाभारत में कहाँ है? पूरे ऊरुभंग की बात तो छोड़ ही दें,— पूरे संस्कृत-साहित्य में पिता-पुत्र का ऐसा संवाद दुर्लभ है।

'पंचरात्र' में भी भास ने दुर्योधन-चरित्र को ऊँचा उठाने का साध्यानुसार प्रयत्न किया है। दुर्योधन को श्रेष्ठ शिष्य प्रतिपादित करने के लिये उन्होंने दुर्योधन से यज्ञ करवाया और श्रेष्ठ पितृव्य सिद्ध करने के लिये महाभारत के उत्तरगोग्रहण की घटना में अभिमन्यु को कौरव-पक्ष में नियुक्त किया। महाभारत में न तो दुर्योधन के यज्ञ का उल्लेख है, न उसके द्वारा द्रोणाचार्य को यज्ञान्त दक्षिणा-दान का वर्णन है और न ही उस यज्ञ में श्रीकृष्ण के प्रतिनिधि के रूप में अभिमन्यु का आगमन एवं उत्तरगोग्रहण में दुर्योधन की ओर से अभिमन्यु के संग्राम एवं अपहरण की कोई कथा है। ये सब घटनायें केवल दुर्योधन चरित्र को उन्नत करने के उद्देश्य से कल्पित की गयीं हैं। अभिमन्यु के स्नेहपूर्ण पितृव्य के रूप में दुर्योधन का यह अपूर्व और चिरस्मरणीय संवाद है —

'सूत! कहो, कहो किसने अभिमन्यु का अपहरण किया? मैं स्वयं ही उसे छुड़ाऊँगा।

उसके पिता के साथ मेरा वैर लगा हुआ है। इसलिये अब तो संसार मुझे ही दोषी ठहरायेगा। इसके अतिरिक्त वह पहले मेरा लड़का है, बाद में पाण्डवों का, कुल में विरोध होने पर भी बालकों का कोई अपराध नहीं माना जाता।[२]

१- द्रष्टव्य - ऊरुभंग श्लो० सं० ६२

२- द्रष्टव्य - पंचरात्र श्लो० ३ (तृतीय अंक)

दुर्योधन की निम्नलिखित उक्ति उसके आदर्श शिष्यत्व का परिचय देती है। अवभृथ-स्नान के अनन्तर दुर्योधन गुरु से प्रार्थना करता है—

'मैं आपका प्राणप्रिय हूं। आप ही ने मुझे शिक्षा दी है, वीरों में मैं प्रथम गिना जाता हूं युद्ध में मैंने साहस का परिचय भी दिया है। आप निसंकोच कहिए, क्या चाहते हैं, मैं क्या दूं? मेरे हाथ में केवल गदा रहे— शेष सब कुछ आपका है।'[१]

केवल यही नहीं गुरु के सामने वह अपने पूर्वकृत अपराधों को भी निःसंकोच स्वीकार कर लेता है और उस प्रकार की कुटिलता की आशंका न करने के लिये अनुरोध करते हुए अपने हाथ में संकल्प-जल लेकर कहता है —

'यदि आप मेरी पिछली कुटिलता पर ध्यान देते हैं और उससे यह सोच लेते हैं कि दुर्योधन (मेरी अभीप्सित दक्षिणा) नहीं देगा, तो लाइए सैकड़ों बार बाण ग्रहण करने से कठोर हुए अपने हाथ को आगे बढ़ाइए, यह संकल्प-जल ही इस दान का साक्षी बने।'[२]

धन्य है वह गुरु जिसके पास ऐसा गुरुवत्सल और ऐसा सद् साहस रखने वाला शिष्य है। दुर्योधन के चरित्र में इस प्रकार के शिवोन्मुख भावों का समावेश 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' के पुजारी भास के सिवा और कौन कर सकता था। दुर्योधन के उपर्युक्त संवाद उसके चरित्र के लिये ही नहीं, अपितु भास के 'पंचरात्र' की अभिनव कल्पना को साकार बनाने के लिये भी महत्त्वपूर्ण हैं।

यहाँ पर भास की संवाद-शैली पर भी एक बार दृष्टिपात करना उचित होगा। यद्यपि भास इस रूपक में अपनी अन्यान्य रचनाओं की तुलना में सोद्देश्य संवादों के प्रयोग करने में सफल नहीं हुए, तथापि उनके इस अपेक्षाकृत दीर्घकाय महाभारतीय रूपक में भास के संवाद-तत्त्व का एक महान गुण दृष्टिगोचर होता है। भास ने इस रूपक में ऐसी संवाद-शैली का प्रयोग किया है कि संवाद केवल पात्रानुकूल ही नहीं, पात्रों के मानसिक उथल-पुथल के प्रकाशन में भी अनुकूल बन गया है। उदाहरणार्थ प्रथम अंक में जब भीष्म पाण्डवों की अवस्थिति के सम्बन्ध में द्रोणाचार्य को अपना अनुमान बताते हैं तो सरलमति आचार्य के लिये अपने हर्ष को छिपाकर रखना दुःसाध्य हो गया। आनन्द के आवेग में वह पात्र-अपात्र का ध्यान न कर कहने लगे- 'हे यज्ञ में आये हुए नृपतिवर्ग! आप सुनें। श्रीमान् कुरुराज, नहीं नहीं, अपने मामा के साथ कुरुराज पाँच रातों के भीतर पाण्डवों का पता लग जाने पर अवश्य आधा राज्य देंगे।'

१- द्रष्टव्य - पंचरात्र श्लो० ३१ (प्रथम अंक)

२- ,, - पंचरात्र श्लो० ३२ (प्रथम अंक)

प्रस्तुत उद्धरण है — `कुरुराज, नहीं-नहीं, मामा के साथ कुरुराज` – इतने वाक्यांश में भावाभिव्यञ्जना की निपुणता दर्शनीय है । आचार्य के भावों के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण में भास की संवादशैली का ऐसा उत्कर्ष `पंचरात्र` के अन्य कई स्थलों पर भी दृष्टिगोचर होता है ।

कथोपकथन एवं चरित्र-चित्रण की दृष्टि से विष्कम्भक को छोड़कर `पंचरात्र` के प्रथम अंक का नाटकीय कथानक सर्वथा सफल है । द्वितीय अंक का संवाद उतना प्रभावशाली नहीं है । फिर भी इस अंक में भीम, बृहन्नला एवं अभिमन्यु के संवाद में पर्याप्त सरसता है । यह अंश पात्रों के चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भी उत्तम है । इससे अभिमन्यु का स्वा--भिमान, भीम का मातृप्रेम एवं वात्सल्य तथा अर्जुन का पितृरूप- सभी का बड़े रमणीय ढंग से प्रतिपादन करना संभव हुआ है । तृतीय अंक का कथोपकथन भी चरित्र-चित्रण की दृष्टि से सफल है । इसमें शकुनि का विद्वेष, भीष्म की कुशलता, द्रोण की ऋजुता— इत्यादि सभी बातों पर उत्तम रूप से प्रकाश पड़ता है । सूत के द्वारा ध्वजा में बिंधे हुए बाण उपस्थित किये जाने पर भीष्म, द्रोण और शकुनि के बीच में जहाँ संवाद होता है— वही समग्र तृतीय अंक के कथानक का सबसे सुन्दर स्थान है ।

`दूतघटोत्कच` के पात्रों का ध्यान करते ही सबसे पहले धृतराष्ट्र का स्मरण होता है । `ऊरुभंग`, `पंचरात्र` इत्यादि रूपकों में भास ने जिस सहानुभूति के साथ दुर्योधन के चरित्र को उन्नत बनाने का प्रयत्न किया, उसी सहानुभूति के साथ `दूतघटोत्कच` में धृतराष्ट्र के चरित्र को संवारा । महाभारत का धृतराष्ट्र स्वार्थी, परश्रीकातर एवं अधिक पुत्र-वत्सल है । द्यूत-सभा में पाण्डवों के पराजय से उनका आनंदित होना एवं द्रौपदी की अपमानना के समय उनका मौन रहना उनके चरित्र का सबसे बड़ा कलंक है । भास ने अभिमन्यु-वध की घटना को केन्द्र बनाकर धृतराष्ट्र के चरित्र को ऊँचा उठाने का प्रयास किया और इस प्रयास में वे सर्वथा सफल हुए । इस एक घटना की पृष्ठभूमि में धृतराष्ट्र के चरित्र का चित्रण करते हुए भास ने उसमें न्याय नि दया, ममता, औदार्य इत्यादि महान गुणों का समावेश कर दिया । महाभारत में अभिमन्यु-वध के अनन्तर भगवान् वेदव्यास पाण्डवों के शोक का चित्रण ही करते रहे, सञ्जय के मुख से इस समाचार को सुनकर धृतराष्ट्र ने क्या कहा- उसका वर्णन करने के लिये महाभारतकार के पास अवकाश नहीं था । भास ने `दूतघटोत्कच` में भट के मुख से धृतराष्ट्र को यह समाचार सुनवाया और धृतराष्ट्र के शुद्धोज्ज्वल हृदय की एक मधुर झाँकी प्रस्तुत कर दी । `दूतघटोत्कच` में भट की घोषणा सुनकर धृतराष्ट्र कहते हैं- `किसने मेरे वर्णधर्म को दूषित किया ?

कौन मेरा प्रिय समझकर अप्रिय बोल रहा है ? कौन ऐसा निर्भीक है जो हम लोगों के शिशु-वध के पाप से कलंकित वंश के विनाश की घोषणा कर रहा है ?'

इस एकांकी के वैशिष्ट्य का मूल आधार इसका संवादतत्व ही है । कथावस्तु तो महाभारत के घटना-विशेष की कल्पित प्रतिक्रिया पर आधारित है । संवादतत्व के उत्कर्ष पर ही इसकी सरसता का साम्राज्य प्रतिष्ठित है । रस-विवेचन करते समय उन स्थलों का का विवेचन विस्तार से किया जा चुका है । चरित्र-चित्रण के प्रसंग में भी संवादों का रमणीय सहयोग दर्शनीय है । धृतराष्ट्र-चरित्र के सूक्ष्मतम पहलुओं के उद्घाटन में संवाद की संयोजना तथा संवाद का औचित्य उल्लेखनीय है । धृतराष्ट्र अभिमन्युवध से दुखी हैं, किंतु उन्हें अपने पुत्रों के अवश्यंभावी निधन की भीति भी कष्ट दे रही है । एक पिता के हृदय में ऐसी भीति होना अत्यन्त स्वाभाविक है, उसमें स्वार्थपरता की आशंका नहीं करनी चाहिये । पुत्रों के प्रति धृतराष्ट्र का वात्सल्य अन्धा-वात्सल्य नहीं है । वे अपने पुत्रों के कुकर्मों के कारण लज्जित हैं । जब पुत्रों ने उन्हें प्रणाम किया तब उन्होंने उनसे आशीर्वचन भी नहीं कहा, किन्तु उनके पितृ-हृदय की कोमलता बराबर दबी नहीं रह पाती । समस्त क्षोभ और असन्तोष को तुच्छ करके वह कभी-कभी अपना अस्तित्व दिखाने लगती है । भास ने धृतराष्ट्र-चरित्र के इस सूक्ष्म पहलू को बड़े ही सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है । इस प्रस्तुतीकरण में प्रतिभावान कवि को अधिक कुछ नहीं करना पड़ा, केवल पुत्रों के साथ संलापरत धृतराष्ट्र के मुख से उच्चारित प्राय: प्रत्येक वाक्य के आरम्भ में 'हे पुत्र !', 'देखो पुत्र !' — ऐसे स्नेहसिक्त सम्बोधन जोड़ दिया । यहाँ तक कि जहाँ धृतराष्ट्र अपने पुत्रों को आशीर्वाद देने से विमुख हो जाते हैं,- वहाँ पर भी वे इसी सम्बोधन से अपना वाक्य प्रारम्भ करते हैं ।- जब दुर्योधन, शकुनि आदि ने धृतराष्ट्र को आशीर्वाद न देने के कारण उलाहना दिया, तब धृतराष्ट्र ने उनसे कहा —

'पुत्र कैसे आशीर्वाद दूँ ।

अर्जुन और श्रीकृष्ण के प्राणतुल्य अभिमन्यु का वध होने पर आप लोग जीवन से पराङ्मुख हो गये हैं, अत: कैसे दूँ ।'

संवाद के केवल सम्बोधन-अंश से ही सारा वातावरण गम्भीर हो उठता है । वृद्ध राजा के प्रति एक विचित्र सहानुभूति होने लगती है ।

१- द्रष्टव्य -दूतघटोत्कच श्लोक २

'दूतघटोत्कच' के संवादतत्व की एक विशेषता यह है कि इसमें सर्वत्र छोटे-छोटे वाक्यों का प्रयोग हुआ है और प्राय: पूर्व पात्र की उक्ति के अन्तिम वाक्यांश को लेकर आगामी पात्र के वक्तव्य को शुरू किया गया है । इसके उदाहरण विशेष रूप से धृतराष्ट्र और दुर्योधन आदि पात्रों के संवाद में प्राप्त होते हैं । यहाँ एक उदाहरण देना ही पर्याप्त होगा । अभिमन्यु का वध करके दुर्योधन, दु:शासन और शकुनि विजयोल्लास करते हुए धृतराष्ट्र के समीप पहुँचते हैं । धृतराष्ट्र अभिमन्यु-वध के समाचार से दु:खी हो गये थे । उन्हें अर्जुन के हाथों में अपने पुत्रों का संहार मानो प्रत्यक्ष दीख रहा था, अतएव उन्होंने अपने क्षोभ को प्रकट करके दुर्योधन को युद्ध से निवृत्त करने का प्रयत्न किया । तब दुर्योधन से उनका निम्न प्रकार का संवाद हुआ :-

'दुर्योधन- तात ! यह भ्रम कैसे उत्पन्न हुआ ?

धृतराष्ट्र- यह भ्रम कैसे उत्पन्न हुआ ! अनेक पुत्रों वाले इस कुल में हो पुत्रों से भी अधिक प्यारी केवल एक कन्या है, वह तुम भाइयों की कृपा से निन्दनीय वैधव्य को प्राप्त करने वाली है ।

दुर्योधन- पिताजी हमने अकृत्य ने क्या किया ?

धृतराष्ट्र- उसी श्रेष्ठ विदग्ध ने पाण्डवों को रोका है ?

दुर्योधन- आह, उसने रोका ? अन्य अनेकों ने रोका ।'

संवाद की ऐसी शैली से कथानक में अपूर्व रोचकता आ गयी है ।

व्यास के महाभारतीय उपाख्यानों पर आधारित भास के उपर्युल्लिखित रूपकों की भाषा, कथावस्तु इत्यादि की समीक्षा करने के अनन्तर कालिदास के महाभारतीय रूपकों पर दृष्टिपात करने पर हमें कई भिन्नताओं का दर्शन होता है । प्रतिभा की भिन्नता की बात छोड़ ही दें, क्योंकि उसकी आलोचना पुनरावृत्तिमात्र होगी— किन्तु भास से कालिदास के भाषागत एवं संवादगत पार्थक्य भी दर्शनीय है । दोनों कवियों की कृतियों में वर्णित चरित्रों में मानव-जीवन के पृथक्-पृथक् मापदण्ड की अभिव्यञ्जना की बात भी भी उल्लेखनीय है । भास के समय जनता जीवन के उज्ज्वलपक्ष की ओर सजग अवश्य थी, किन्तु कालिदास के समय जनता उसे अभिव्यक्त करने में सजग ही नहीं सचेष्ट भी थी । जीवन का मापदण्ड बहुत बदल चुका था । रागात्मक प्रवृत्ति के सम्मुख जीवन का परिष्कृत दृष्टिकोण संभवत: पराजित हो गया[२४]। डा० बी०एस० उपाध्याय कालिदास के युग के सम्बन्ध में कहते हैं —

" It was an age when the Kamasutra of Vatsayana were lovingly read and quoted as may be inferred from myriads of indirect references to them made by Kalidasa."
— 'India in Kalidasa' (Ch. 11)

दोनों कवियों के वस्तु-चयन में भी उनके दृष्टिकोणों की भिन्नता स्पष्ट होती है। भास ने महाभारत के वीरों [illegible] के चरित्र को अपने रूपकों का वर्ण्य-विषय बनाया, और कालिदास ने प्रेमादर्श तथा राजादर्श को अपनी `कान्तासम्मित' शैली में प्रस्तुत किया,— मनुष्य का पतन दिखाकर उत्थान के प्रयास का बखान किया। अतएव दोनों के वर्ण्य-चरित्रों में और उनके चरित्रांकन की शैली में पार्थक्य होना स्वाभाविक है।

भाषा एवं संवाद का जो उत्कृष्ट रूप हमें कालिदास की दोनों महाभारतीय नाट्यकृतियों में प्राप्त होता है, उसके पीछे कालिदास की अनन्य प्रतिभा ही प्रधान कारण बनी हुई है —किन्तु युगधर्म का हेतुत्व भी अनुपेक्षणीय है। वेद की सीधी-सादी भाषा और भावाभिव्यक्ति की तुलना में उत्तरकालीन साहित्य की भाषागत एवं भावगत प्रौढ़ता जिस प्रकार युगावधि साहित्य-साधना के अक्षय पुण्य का परिणाम है, उसी प्रकार भास और कालिदास के भाषा एवं भावगत पार्थक्य भी दोनों कवियों की प्रतिभा के वैशिष्ट्य एवं समय के व्यवधान का परिणाम है।

कालिदास बड़ी कुशलता के साथ संवाद का जाल बुनते हैं। उनके नाटक के संवादों में प्रत्येक वाक्य का महत्त्व है, प्रत्येक शब्द अपरिहार्य है और प्रत्येक कथन की एक भावी प्रतिक्रिया है। `शाकुन्तल' के द्वितीय अंक के अन्त में दुष्यन्त माधव्य से कहते हैं— `वयस्य ऋषिगौरवादाश्रमं गच्छामि। न खलु सत्यमेव तापसकन्यकायां ममाभिलाषः। पश्य, —

क्व वयं क्व परोक्षमन्मथो
मृगशावैः सममेधितो जनः।
परिहासविजल्पितं सखे
परमार्थेन न गृह्यतां वचः॥' 2/18

दुष्यन्त के इस कथन की प्रतिक्रिया षष्ठ अंक में दृष्टिगोचर होती है। षष्ठ अंक में दुष्यन्त माधव्य को कुछ उलाहना देकर कहते हैं—`सखे, सर्वमिदानीं स्मरामि शकुन्तलायाः प्रथमवृत्तान्तम्। कथितवानस्मि भवते च। स भवान्प्रत्यादेशवेलायां मत्समीपगतो नासीत्।

पूर्वमपि न त्वया कदाचित्संकीर्तितं तत्रभवत्या नाम । कच्चिदहमिव विस्मृतवानसि त्वम् ।"

इसके उत्तर में विदूषक कहता है- "न विस्मरामि । किंतु सर्व कथयित्वाऽवसाने पुनस्त्वया परिहासविजल्प एष न भूतार्थ इत्याख्यातम् । मयापि मृत्पिण्डबुद्धिना तथैव गृहीतम् ।"

इसी प्रकार चतुर्थ अंक के प्रारम्भ में सुप्तोत्थित कण्व-शिष्य के मुख से "यात्येकतोऽस्तशिखरं पतिरोषधीनाम् ----------[१] इत्यादि श्लोक की संयोजना भी कालिदास की संवाद-शैली की पूर्वोक्त विशेषता को ही स्पष्ट करती है ।

कालिदास की प्रौढ़ शैली थोड़े में ही सब कुछ अभिव्यक्त करने में समर्थ है । मनोभावों को बढ़ा-बढ़ा कर वर्णन करना कहीं रुचिकर प्रतीत होता है, कहीं नहीं । देश, काल, पात्र और अवस्था का ख्याल रखकर प्रसंगोपात्त विषय का आकुञ्चन अथवा प्रसारण करना चाहिये । कालिदास इस विषय में सर्वथा जागरूक थे । विक्रमोर्वशी के द्वितीय अंक में जिस समय उर्वशी नेपथ्य में देवदूत का आदेश सुनकर महाराज पुरूरवा के क्षणिक मिलन-सुख को विषाद में परिणत कर स्वर्ग की ओर प्रस्थान करती है, उस समय कवि ने पुरूरवा के मुख से केवल इतना ही कहलवाया है—"वैयर्थ्यमिव चक्षुषः सम्प्रति: ।" किन्तु गन्धमादन पर्वत पर उर्वशी से वियुक्त हुए पुरूरवा से कवि ने सुदीर्घ विलाप करवाया है । समग्र चतुर्थ अंक उनके विरह कातर हृदय के उद्गारों से ही भरा है । द्वितीय अंक में पुरूरवा राजप्रासाद में थे, वहाँ उनका प्रमुख परिचय राजा के रूप में था— इसके अतिरिक्त औशीनरी भी समीप थी— अतः कवि ने सारी बातों को ध्यान में रखकर राजा की विरह वेदना की अत्यन्त संक्षिप्त अभिव्यक्ति करवायी है—"सखे वैयर्थ्यमिव चक्षुषः सम्प्रति: ।" किन्तु गन्धमादन पर्वत पर पुरूरवा का प्रमुख परिचय प्रेमिक के रूप में है, औशीनरी का सान्निध्य भी नहीं है, अतः कवि ने बहुत विरही पुरूरवा को निःसंकोच विरहोन्मत्त दिखाया है । इस प्रकार संवाद-योजना की निपुणता का परिचय कालिदास ने प्रायः अपनी सभी नाट्यकृतियों में दिया है । दुष्यन्त की विरहदशा के वर्णन में कालिदास की शैली अत्यन्त गम्भीर हो गयी है । कवि ने विरही दुष्यन्त को ऐसे वातावरण में रखा है, जहाँ प्रेयसी की प्रतिकृति को चित्रित करके भी उसे निश्चिन्त होकर देखने का सौभाग्य प्राप्त नहीं होता । ज्येष्ठा पत्नी के साथ "दक्षिण" बने

१- द्रष्टव्य - शाकुन्तल चतुर्थ अंक श्लोक संख्या २

रहने के लिये अपनी प्रियतमा की स्व: चित्रित प्रतिकृति को भी छिपाना पड़ता है। अत: कालिदास ने बड़े यत्न के साथ दुष्यन्त के विरही हृदय की झाँकी प्रस्तुत की है। राज्यभर में विरही नायक के द्वारा वसन्तोत्सव बन्द करवा देने की सूचना देकर, उससे `येन येन वियुज्यन्ते ---------------`इत्यादि घोषणा करवा कर कवि ने उत्कण्ठा का बड़ा ही मर्यादित रूपांकन किया है। नायक के विरह की अभिव्यक्ति में कालिदास की दोनों ही नाट्यकृति अपने-अपने स्थान पर अद्वितीय सिद्ध होती हैं। यदि `विक्रमोर्वशी` के चतुर्थ अंक में लालित्य अधिक है तो शाकुन्तल का षष्ठ अंक अधिक गाम्भीर्यपूर्ण है।

शाकुन्तल में कवि प्रत्येक पग पर कथावस्तु के गाम्भीर्य के प्रति सजग दृष्टिगोचर होते हैं। इसी सावधानी के कारण ही इस नाटक के माध्यम से दिया हुआ उनका संदेश अमर बन पाया है। दुष्यन्त जब तपोवन से राजधानी को लौटकर शकुन्तला को विस्मृत कर देते हैं, तब दूसरा कोई कवि होता तो नायिका से विलाप-कलाप, परिताप-संताप बहुत कुछ करवाते, किन्तु कालिदास ने ध्वन्यात्मक शैली का अवलम्बन ग्रहण करके शकुन्तला के मुख से बिना कुछ कहलवाये ही उस अबला के हृदय की पूरी झाँकी दिखा दी। प्रियम्वदा कहती है —`अनसूये ! पश्य तावत्; वामहस्तोपहितवदनालिखितेव प्रियसखी। भर्तृगतया चिन्तयात्मानमपि नैषा विभावयति। किं पुनरागन्तुकम्।` - बस इसीसे कवि ने इस संवाद के माध्यम से ही शकुन्तला की मानसिक दशा, उसकी विवशता, उसका गंभीर प्रेम— सबका प्रकाशन कर दिया है।

पात्रानुकूल ही नहीं, पात्रों के मनोभावों के अनुकूल भी कथोपकथन की संयोजना में कालिदास सिद्धहस्त हैं। उर्वशी पर आसक्त पुरूरवा प्रमोदवन का वर्णन करते हैं— "अये स्त्रीनखपाटलं कुरबकं ------ " इत्यादि, पुरूरवा के प्रति आसक्ता उर्वशी के मुख से `पुरुषोत्तम` के स्थान पर `पुरूरवा` शब्द ही निकलता है; पति के प्रेम से वंचित औशीनरी चन्द्रोदय का वर्णन करती हुई कहती है —`हन्जे निपुणिके एष रोहिणीसंयोगेनाधिकं शोभते मृगलाञ्छन:।` यज्ञ-कार्य में अभ्यस्त कण्व शकुन्तला का अभिनन्दन करते समय यज्ञ से सम्बन्धित वस्तुओं को ही उपमान के रूप में प्रयोग करते हैं—`दिष्ट्या धूमाकुलितदृष्टेरपि यजमानस्य पावक एवाहुति: पतिता।`; मातृवत्सल बालक सर्वदमन को `शकुन्त` शब्द सुनकर माँ का ही पहले स्मरण होता है। विक्रमोर्वशी तथा शाकुन्तल दोनों में ही विदूषक की उक्तियों में उसके औदरिकत्व का परिचय मिलता है। भोजन ही उसके संवाद में कभी उपमेय और कभी उपमान बनता है। विक्रमोर्वशी के द्वितीय अंक में विदूषक कहता है— "भो: निमन्त्रणोपाक्षेत्राह्मण इव राजरहस्येन स्फोटमानो न शक्नोम्याकीर्णे आत्मनो

चित्वा रतिलाभम् ।` उसी अंक में वह उत्कण्ठित पुरुरवा को `महानस` में जाकर शान्ति प्राप्त करने का उपदेश देते हुए कहता है —`महानसं गच्छाव: ---- तत्र पञ्चविधस्याभ्यवहारस्योपनतसंभारस्य योजनां प्रेक्षमाणाभ्यां शक्यमुत्कण्ठा विनोदयितुम् ।` `शाकुन्तल` में विदूषक नायक को उलाहना देकर कहता है- `यथा कस्यापि पिण्डखर्जूरैरुद्वेजितस्य तिन्तिण्यामभिलाषो भवेत्, तथा स्त्रीरत्नपरिभाविनो भवत इयमभ्यर्थना ।`

तरुणी कन्याओं के पारस्परिक हास-परिहास के वर्णन में कालिदास की संवाद-शैली मनोरम हो उठती है । विक्रमोर्वशी में चित्रलेखा और उर्वशी का संवाद, शाकुन्तल में अनसूया और प्रियम्वदा का संवाद उल्लेखनीय है । विक्रमोर्वशी के प्रथम अंक में चित्रलेखा और उर्वशी में निम्न प्रकार का संवाद होता है —

"चित्रलेखा- सखि प्रेक्षस्व ।

उर्वशी- (राजानं सस्पृहं पश्यन्ती) समदु:ख: पिबतीव मां नयनाभ्याम् ।

चित्रलेखा- (साकूतम्) अयि क: ।

उर्वशी- सखीजन: ।"

कितना स्वाभाविक है । आज भी सखियों की मण्डली में ऐसे संवाद की प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है । कालिदास ने मानव-मन की शाश्वत अवस्थाओं को अपनी अद्भुत प्रतिभा के बल पर प्रत्यक्ष कर लिया था । उस शक्ति से उन्होंने नाटकों में संवाद-योजना की, तभी तो उनके पात्र अजर-अमर बन गये हैं । उनकी प्रियम्वदा, अनसूया जैसी सखियाँ आज भी विश्व के प्रत्येक समाज में आदर्श ही मानी जायेंगी । इस चिरस्मरणीय सखी-युगल के संवाद की रमणीयता आज भी पाठक के लिये अत्यन्त स्वाभाविक एवं मोहक है । शाकुन्तल के प्रथम अंक में हम देखते हैं कि शकुन्तला बड़े ध्यान से नये कुसुमों से परिपूर्ण वनज्योत्स्ना और उपभोगक्षम सहकार के मिलन को देख रही है, तब प्रियम्वदा को परिहास का अवसर मिल जाता है । तीनों सखियों में निम्नप्रकार का कथोपकथन होता है —

"प्रियम्वदा- अनसूये । जानासि किं निमित्तं शकुन्तला वनज्योत्स्नामतिमात्रं पश्यतीति ।

अनसूया- यथा वनज्योत्स्नानुरूपेण पादपेन संगता, अपि नामैवमहमप्यात्मनोऽनुरूपं वरं लभेयेति ।

शकुन्तला- एष नूनं तवात्मगतो मनोरथ: ।"

कालिदास की संवाद-शैली की यह विशेषता है कि वह वर्ण्यविषय के अनुसार ललित, सुकुमार, ओजस्वी तथा गंभीर बन जाती है। सखियों के हास-परिहास में शैली के जिस सुकुमार रूप का दर्शन किया, वही शैली शाकुन्तल के पञ्चम अंक में अत्यन्त गंभीर बन जाती है, क्योंकि वर्ण्य-विषय अत्यन्त गम्भीर है। पूरे शाकुन्तल में पञ्चम अंक की कथावस्तु में जो गाम्भीर्य भरा हुआ है, वैसा संभवत: अन्यत्र कहीं भी नहीं मिलता। इस अंक में प्रत्येक पात्र गम्भीर हो गया है। धर्मासन पर बैठकर वही मृगयाविहारी नृपति धर्माधर्म का विचार कर रहा है, प्रकृति की गोद में पली हुई शकुन्तला उसके सतीत्व पर आशंका करने वाले प्रियतम की कठोर शब्दों से भर्त्सना कर रही है, आशीर्वाद देने वाले ऋषि के मुख से 'विनिपात' की अभिशाप-वाणी निकल रही है, कुलपति की प्राणतुल्या कन्या को शिष्य पुरोभागिनी कह कर तिरस्कार कर रहा है। इस प्रकार पंचम अंक में संवाद के माध्यम से मानव-हृदय के गंभीरतम अन्तर्विरोध का अपूर्व दृश्य रूप प्रस्तुत किया गया है।

विक्रमोर्वशी की अपेक्षा शाकुन्तल में कालिदास की शैली का अधिक विकसित एवं परिष्कृत रूप दिखाई पड़ता है। शब्दों का विन्यास अत्यन्त सुकुमार है, व्यञ्जनावृत्ति से अधिक आत्मीयता स्थापित की गयी है, छन्दों का स्वरमाधुर्य अधिक रमणीयता का प्रतिपादन करने में समर्थ हुआ है, उपमाओं का निजस्व वैशिष्ट्य है।

कालिदास की स्वाभाविक प्रवृत्ति सौन्दर्य की ओर रही है। संवाद के माध्यम से सौन्दर्य-वर्णन में उन्होंने जैसी सफलता पायी है वैसी शायद ही किसी कवि ने पायी हो। इसका प्रमुख कारण है कि साधारण कवियों के समान उनकी दृष्टि केवल बाह्य-सौन्दर्य से आकृष्ट नहीं होती थी, और न वे कोरे सौन्दर्य से परितृप्त होते थे। कालिदास में अन्त:करण के सौन्दर्य को देखने की अपूर्व क्षमता थी। इसीलिये बाह्य-सौन्दर्य को अन्त:करण सौन्दर्य से मण्डित किये बिना उनकी लेखनी शान्त नहीं होती थी। कालिदास में यह एक उल्लेखनीय गुण था कि वे प्रत्येक काव्योपयोगी सामग्री को,- काव्य के प्रत्येक अंश को— अपूर्व कौशल से सजा सकते थे। अपने वर्णनीय विषय का मूर्तरूप अंकित करने में वे सिद्धहस्त थे। साधारणत: जब कोई कवि बहुत उत्तेजित होकर किसी बात का वर्णन करते हैं, तभी उनमें उस बात को प्रत्यक्ष दिखाने की शक्ति आती है, किन्तु कालिदास में यह विलक्षण शक्ति सदा विद्यमान रहती थी। इस शक्ति के साथ वे सौन्दर्य-कल्पना की शक्ति को मिलाकर संवाद के माध्यम से भी काव्य-चित्र बना लेते थे। वे जैसे उत्तम विषय की कल्पना कर सकते थे, वैसे ही उसे रमणीयता के साथ सम्पन्न भी कर सकते थे।

भाषा और शब्दों के सौन्दर्य, ध्वनि, आदि का भी वे बड़ा ध्यान रखते थे। संक्षिप्तता, गंभीरता तथा गौरव तीनों ही उनके संवादों की भाषा की प्रतिष्ठा है। वैदर्भीरीति की ललितात्मिका रचना का श्रेष्ठ निदर्शन कालिदास की रचनायें ही हैं। नाटकों के संवाद में प्रसंगानुकूल एवं पात्रानुकूल शब्दों की संयोजना होने के कारण उनकी शैली का सौन्दर्य एवं माधुर्य और भी अधिक बढ़ गया है।

कालिदास की संवाद-शैली में सर्वश्राव्य एवं अश्राव्य दोनों प्रकार के संवाद मिलते हैं। आकाशभाषित का भी उन्होंने प्रयोग किया है। किन्तु भास के रूपकों के समान `कर्ण एवम् एतत्` जैसे अस्पष्ट संवाद कहीं नहीं है। आकाशभाषित से अधिकांशतः मंगल-समाचार की सूचना दी गयी है। संवाद के प्रकारों में से नेपथ्यभाषण का एक विशेष महत्व है। विक्रमोर्वशी तथा शाकुन्तल दोनों में ही प्रत्येक नेपथ्योक्ति के साथ-साथ कथावस्तु एक नाटकीय गति से नया मोड़ लेती है। उदाहरणार्थ, विक्रमोर्वशी के द्वितीय अंक में देवदूत की नेपथ्योक्ति न केवल प्रेमीयुगल को सहसा वियुक्त करवाती है, किन्तु उर्वशी के भावी मर्त्यवास के पथ को भी प्रशस्त करती है। सारी घटनाओं को एक नवीन मोड़ देने के लिये यह नेपथ्योक्ति बीज का काम करती है। इसी प्रकार चतुर्थ अंक में मुनिक की नेपथ्योक्ति से एक नवीन आशा का सञ्चार होता है। उन्मत्त पुरूरवा के निरवच्छिन्न प्रलापों की समरसता का अवसान हो जाता है। कथावस्तु में एक नवीनता आ जाती है, एक कौतूहल का संचार होता है। शाकुन्तल की नेपथ्योक्ति का एक और वैशिष्ट्य है, इस नाटक में प्रत्येक नेपथ्योक्ति एक ध्वन्यात्मक अर्थ भी देती है, जो भावी घटनाओं की पूर्व सूचना देकर कथावस्तु में एक गंभीर वातावरण प्रस्तुत कर देती है। प्रायः ऐसी नेपथ्यो-क्तियों का वाच्यार्थ बड़ा साधारण सा होता है, किन्तु उससे ध्वनित अर्थ बड़ा ही गम्भीर होता है और उससे आगामी घटनाओं की पूर्वसूचना मिल जाती है। उदाहरणार्थ प्रथम अंक में दुष्यन्त जब कृष्णसार को लक्ष्य बनाकर अपना शरसंधान करते हैं, तब नेपथ्य में वैखानस का स्वर उत्थित होता है `भो भो राजन् । आश्रम-मृगोऽयं न हन्तव्यो न हन्तव्यः`— इस नेपथ्योक्ति के साथ-साथ अब तक के प्रवाहित कथावस्तु में, सूत और राजा के कृष्णसार पर केन्द्रित समस्त कथोपकथन में, एक आकस्मिक परिवर्तन उपस्थित होता है। प्रसंग बदल जाता है, कृष्णसार को क्षण भर में ही आँखों से ही नहीं— मन से भी ओझल हो जाने का अवसर दिया जाता है, महाप्रतापी मृगयाविहारी नृपति क्षण में ही अति सहृदय तपोवन-विहारी बन जाता है। उन्हें वैखानस के अनुरोध से मालिनी-तीर की उस विचित्र तपोभूमि में प्रवेश करना पड़ता है, जहाँ पर इस नाटक की

अमर प्रेम-गाथा प्रस्फुटित होने के लिये तरुवरों के आलवाल में, पुष्पित यौवना वनज्योत्स्ना और सहकार के मिलन में, सखियों की चपल परिहासोक्ति में मानो उन्हीं के आगमन की प्रतीक्षा कर रही है। रवीन्द्र नाथ ने बड़े ही हृदयग्राही शब्दों में इस नेपथ्योक्ति की व्याख्या की है।[1] दुष्यन्त कुलपति के प्रति अपनी श्रद्धा प्रदर्शित करने के उद्देश्य से कण्वदुहिता से मिलने का विचार करते हैं। आश्रम में प्रवेश करने के क्षणों में ही उनका दक्षिण बाहु स्पन्दित हो उठता है। वह सोचते हैं —`इस शुभ संकेत का फल यहाँ कैसे मिल सकता है ? अथवा कौन जाने भवितव्यता की गति तो सर्वत्र है।` - यही सब सोचते-सोचते दुष्यन्त तपोवन में प्रवेश कर रहे थे कि नेपथ्य में नारीकण्ठ से ये तीन शब्द ध्वनित होते हैं—`इत: इत: सख्यौ।` - इस नेपथ्योक्ति ने पुन: कथावस्तु की सम्भाव्य गति को परिवर्तित कर दिया। दुष्यन्त कहाँ तो कुलपति के प्रति श्रद्धा-निवेदन करने जा रहे थे, कहाँ इस नेपथ्योक्ति के मोह में पड़ गये और अपना उद्देश्य भूल कर पेड़ की आड़ में खड़े-खड़े उनका विश्रम्भालाप सुनने लगे। प्रथम अंक के अंत में पुन: रंगमंच पर चलने वाले सारे कथाप्रवाह को मुहूर्त भर के लिये रोकते हुए नेपथ्य में ऋषि का गुरुगंभीर स्वर ध्वनित हुआ। उससे नायक-नायिका के हृदय में सद्य उदित पूर्वराग में विरह की छाया आ पड़ी। इस नेपथ्योक्ति से आश्रमवासी दुष्यन्त के आगमन का समाचार जान लेते हैं, जिससे उनके मन में दुष्यन्त से तपोवन-रक्षा की प्रार्थना करने का विचार भी स्वाभाविक रूप से उदित होता है। इस प्रकार, इस नेपथ्योक्ति के कारण दुष्यन्त से ऋषिकुमारों की प्रार्थना, ऋषियों के अनुरोध से दुष्यन्त के तपोवन में रहना, दुष्यन्त-शकुन्तला का पुन: साक्षात्कार इत्यादि द्वितीय एवं तृतीय अंक की घटनाओं के समावेश के लिये अनुकूल वातावरण प्राप्त हो जाता है। तृतीय अंक में दोनों सखियों की `चक्रवाकवधु-के आमन्त्रय सहचरम् उपस्थिता रजनी` इत्यादि नेपथ्योक्ति की शब्दावली कालिदास की शैली की सुकुमारता एवं उनकी संवाद-योजना के कौशल को प्रकट करती है। इस नेपथ्योक्ति के अनन्तर चतुर्थ अंक में कथावस्तु एक नयी दिशा में मोड़ लेती है। चतुर्थ अंक में दुर्वासा की नेपथ्योक्ति का जो महत्व है उसका उल्लेख पहले भी कई बार किया जा चुका है। आगे के सारे कथानक में इसी नेपथ्योक्ति की प्रतिक्रिया है। पंचम अंक में वैतालिक की नेपथ्योक्ति का भी एक विशेष महत्व है। इससे सामाजिक को दुष्यन्त के मर्म-भाव से

१- द्रष्टव्य -`प्राचीनसाहित्य` ले० रवीन्द्रनाथ टैगोर (विश्वभारती प्रकाशन)

विषय में ज्ञात होता है, अतः आगे उन्हें दुष्यन्त को कर्मभीरुता के कारण शकुन्तला का परित्याग करते देखकर आश्चर्य नहीं होता और न वह दुष्यन्त को इस बात के लिये दोष देंगे। हंसपदिका के नेपथ्यसंगीत से भी पंचम अंक का वातावरण गम्भीर हो जाता है। शकुन्तला अभी आ ही रही है, किन्तु उसके पहुँचने से पूर्व ही इस नेपथ्य-संगीत से सामाजिक को सूचना मिलती है कि यहाँ अन्तःपुर में कोई राजा की विस्मृति के कारण दुखी है और कोई उनके स्मरण से सुखी है। सामाजिक सन्दिग्ध चित्त से विचार करने का प्रयास करता है- अन्तःपुर के नवीन आगन्तुक शकुन्तला को क्या मिलेगा— संयोगजन्य सुख अथवा विस्मृतिजन्य दुःख एवं उपेक्षा ? इस नेपथ्य-संगीत से राजा के मन में भी प्रतिक्रिया होती है, वे इस रागपरिवाहिनी वाणी को सुनकर कुछ उत्सुक होते हैं और 'भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि' के सत्य को स्मरण करने का प्रयत्न करते हैं। षष्ठ अंक में मातलि की नेपथ्योक्ति है। आपात दृष्टि से इसका क्या उद्देश्य है यह तो मातलि के मुख से ही सुन लेते हैं,[१] किन्तु कथावस्तु को एक नवीन दिशा में प्रवाहित करने में इसका विशेष महत्त्व है। यहाँ से दुष्यन्त पार्थिव धरातल से ऊपर उठकर आसुरी शक्ति पर विजय पाकर देवराज इन्द्र के अनुकम्पाभाजन बनते हैं। आसुरी शक्ति के विनाश एवं सुराधिप के आशीर्वाद से उसे स्वर्ग और मर्त्य के संयोगस्थल में देवलोक से भी अधिक श्लाघ्य वासनावर्जित हेमकूट पर्वत पर अवस्थित मारीच ऋषि के आश्रम में दुष्यन्त को अपनी प्रियतमा पत्नी से मिलन होता है। उनकी अपत्यहीनता के दुःख का अवसान होता है और वे देवताओं के पूज्य मारीच और दाक्षायणी अदिति से आशीर्वाद लेकर पत्नी तथा पुत्र के साथ इन्द्र-सारथि से परिचालित रथ पर आरूढ़ होकर राजधानी की ओर चल पड़ते हैं। — इस प्रकार शाकुन्तल की कथावस्तु की धारा को एक सुनिश्चित दिशा में आगे बढ़ने में सहायता करने के लिये थोड़ी-थोड़ी दूर पर एक-एक नेपथ्योक्ति का समावेश किया गया है। वैसे नेपथ्योक्ति को नाट्यशास्त्र के अनुसार चूलिका नाम दिया जाता है और अर्थोपक्षेपकों में इसकी गणना होती है-किन्तु शाकुन्तल की नेपथ्योक्तियों का उपर्युक्त स्वरूप देखकर उन्हें पताकास्थान के समान अर्थोपक्षेपक के स्थान पर अन्तर्व्यञ्जक कहना ही अभीष्ट प्रतीत हो रहा है।

१- द्रष्टव्य - शाकुन्तल षष्ठ अंक श्लोक संख्या॥२१॥

अलंकार कौस्तुभ, पदार्थदर्श इत्यादि ग्रन्थों में वर्ण के चार भेद बताये गये हैं— परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी । मूलाधार से नाद रूप में वर्ण का प्रथम आविर्भाव होता है । उस समय वह "परा" नाम से अभिहित होता है । वर्ण नाद रूप में मूलाधार से उत्थित होकर शनैः-शनैः हृदय में पहुंचता है, तब वह "पश्यन्ती" की अवस्था को प्राप्त करता है । इसके बाद हृदय से उठकर क्रमशः बुद्धि और संकल्प के साथ उसका साक्षात्कार होता है, तब वह "मध्यमा" की आख्या पाता है और इसके बाद जब वह कंठ में पहुँचकर मुख से प्रकट हो जाता है तब वह वैखरी कहलाता है । यह "वैखरी" वाणी दो प्रकार की होती है- व्याकृता और अव्याकृता । "व्याकृता" वाणी में ध्वनियाँ विचार के बनने और प्रकट होने में माध्यम बनती हैं और "अव्याकृता" वाणी में पशु-पक्षी की आवाज, शिशु की अस्पष्ट एवं दुर्बोध्य बोली की गणना होती है । साहित्य में साधारणतः व्याकृता वाणी का ही प्रयोग होता है, किन्तु कालिदास ने अपने रूपकों में अव्याकृता वाणी को भी सफलता के साथ प्रयोग किया है । "विक्रमोर्वशी" के चतुर्थ अंक में उन्मत्त पुरूरवा के एकाकी-भाषण में अव्याकृत वाणी वाले वन के पशु-पक्षी ही सम्बोध्य बनते हैं । उन्मत्त राजा को उनकी अव्याकृता वाणी भी समझ में आ जाती है, तभी तो वह परभृता को उसके विरुत से ध्वनित वाक्य का प्रत्युत्तर देते हैं- "किमाह भवती । कथं त्वामेवानुरक्तां विहाय गतेति । शृणोतु भवती-

> कुपिता न तु कोपकारणं सकृदप्यात्मगतं स्मराम्यहम् ।
> प्रभुता रमणेषु योषितां न हि भावस्खलितान्यपेक्षते ।। ४/१२

कथं व्याच्छेद कारिणी स्वकार्ये एव सक्ता ।"

शाकुन्तल के चतुर्थ अंक में वन-देवतायें कोकिल-कूजन के माध्यम से ही शकुन्तला को विदा देती हैं । इस प्रकार अव्याकृता वाणी को भी संवाद-तत्त्व के अंगभूत बनाने में सफल होने के कारण कालिदास की शैली प्रौढ़ता की चरम पराकाष्ठा को प्राप्त करती है ।

<u>चरित्र-चित्रण</u> :— दोष-गुण मिश्रित मानव के अन्तःकरण की झाँकी कालिदास के समान शायद ही कोई दिखा सकता है । वे कोरे आदर्शवादी चरित्रों की अवतारणा नहीं करते और न मानव-स्वभाव के कोरे सत्य का उद्घाटन करके ही विरत होते हैं । जब तक सत्य शिवोन्मुख न बन जाता, तब तक उनकी लेखनी शान्त नहीं होती । इसीलिये उन्होंने प्रख्यात चरित्रों में भी अनेक परिवर्तन उपस्थित किये हैं । प्रस्तुत अध्याय के प्रारंभ में ही इतिहास और साहित्य के आदर्शों की भिन्नता के विषय में चर्चा करते समय

कहा गया है कि इतिहास केवल कोरे सत्य का लेखा-जोखा रखता है और साहित्य उसी सत्य के शिवोन्मुख सम्भाव्य रूप को प्रस्तुत करके उसे समय के बन्धन से मुक्त कर शाश्वत बना देता है। कालिदास सच्चे अर्थ में और सर्वान्तःकरण से साहित्यिक हैं। अतः मानव के अन्तःकरण को वे व्यास की अपेक्षा अधिक सहानुभूति से देखते हैं,[१] विशेषकर प्रेमी हृदयों को तो और भी सावधान होकर, अधिक आत्मीयता के साथ चित्रित करते हैं। उनके अनुसार प्रेम एक स्वर्गीय तत्त्व है, उसके आनन्द में विभोर होने के लिये संयम की आवश्यकता है। प्रेम तपःसाध्य है। पतन के बाद जो उत्थान होता है, उसीको वे अधिक मूल्य देते हैं, इसीलिये अपने वर्णित-पात्रों के चरित्र के पतन के दिन में भी वे उनके साथ रहते और उन्हें पुनः उत्थान का पथ- प्रदर्शन करते हैं। चरित्र-चित्रण में उन्होंने स्त्री-पात्रों के प्रति विशेष ध्यान दिया है। किसी-किसी विद्वान के अनुसार कालिदास के रूपकों का प्रधान आकर्षण उसमें वर्णित नारी पात्र ही हैं।[२] सच है, कालिदास अपने रूपकों में नारी-पात्र के प्रति कुछ पक्षपात तो करते ही हैं। चरित्रांकन में वे पुरुष-पात्रों की अपेक्षा नारी-पात्र के प्रति अधिक यत्नवान् होते हैं, फलतः पुरुष पात्र कुछ निष्प्रभ हो जाता है। प्रायः उनके रूपकों में पुरुष-पात्रों का आचरण स्त्री-पात्र की ही महानता का हेतु बनता है। दुष्यन्त यदि शकुन्तला को भूल न जाते तो शकुन्तला की महानता को इतने अधिक उज्ज्वल रूप में प्रकाशित होने का अवसर न मिलता। शकुन्तला ऐसी 'महीयसी गृहिणी' के पद को न प्राप्त कर पाती। दूसरी बात यह है कि वे प्रायः नायक को ही प्रत्यक्ष रूप से विरहानल में तप्त होकर दुःख-भोग करते हुए दिखाते हैं, नायिका को नहीं। 'विक्रमोर्वशी' और शाकुन्तल के नायक इसके प्रमाण हैं। किन्तु नायिका को विरह के क्षणों में रंगमंच पर उपस्थित न करके भी कालिदास उनकी मनोदशा का जो संकेतित रूप प्रस्तुत करते हैं, उसीसे उनकी नायिकायें अधिक सहानुभूति की पात्र बन जाती हैं। 'वसने परिधूसरे वसाना' शकुन्तला का विरहक्लि, वसन्तोत्सव बन्द करा देने वाले,

---

1. "Kalidasa knew more about the inner nature of lovers than the author of the epic and he pictured them with loving care."
— Walter Ruben

2. 'Much of the charm of the dramas of Kalidasa is due to the great women characters of his plays.'—
— 'The Heroines of the Plays of Kalidasa'
Ramchandra Rao
(1951) p.1

'धीराश्रुभैरमुखकं पिबन्ति' कहकर मूर्च्छित होने वाले दुष्यन्त के विलापों से अधिक अनुकम्पा का उद्रेक करता है । रूपकों के नामकरण में भी कालिदास के पक्षपात का परिचय मिलता है । फिर भी वे नारी-पात्रों की त्रुटियों की ओर उदासीन रहते हों — ऐसी बात नहीं है । कालिदास शकुन्तला को ही दुर्वासा-शाप का लक्ष्य बनाते हैं, दुष्यन्त को नहीं । दुष्यन्त तो केवल शकुन्तला की उस अनवधानतारूप त्रुटि का फलभोग करते हैं । शार्ङ्गरव के मुख से शकुन्तला को जैसी भर्त्सना सुननी पड़ती है, दुष्यन्त को वैसी भर्त्सना किसी के मुख से सुननी नहीं पड़ती । इसका कारण यही है कि स्त्री-पुरुष की शक्ति है, जगत् का कल्याण उसके 'कल्याणी' रूप पर निर्भर रहता है । अत: उसे सदा गौरवमयी बनने का प्रयत्न करना चाहिये । शकुन्तला प्रियतम की चिन्ता में अपने कर्तव्य के प्रति शिथिल हो गयी थी । प्रथम अंक में वैखानस की उक्ति[1] से ज्ञात होता है कि अतिथि-सत्कार का भार उसी पर था । उसी के हाथ में इस भार को सौंपकर कुलपति निश्चिन्त होकर तीर्थयात्रा में गये थे । प्रेम में विभोर होकर शकुन्तला उस उत्तरदायित्व के प्रति अपने को सजग नहीं रख सकी । अतिथि के सम्मुख वह कल्याणी-रूप धारण कर सामने आ न सकी । इसीलिये कालिदास ने उसे दुर्वासा-शाप का लक्ष्य बनाया, ताकि वह अपनी खोये हुए गौरवमय-पद को प्राप्त कर सके । मानव की सहज त्रुटियों को दिखाकर बाद में उसे उसके संशोधन के लिये प्रयत्नशील चित्रित करके कालिदास अपने पात्रों में आदर्श और स्वाभाविकता का युगपत् ही समावेश कर देने में सफल हुए ।

कालिदास के इस दृष्टिकोण का दर्शन 'विक्रमोर्वशी' में भी होता है । स्वर्ग की अप्सरा उर्वशी से उन्होंने प्राय: एक मानवी के समान ही आचरण कराया है, फलत: उसकी प्रेमगाथा बड़ी स्वाभाविक बन गयी है । उर्वशी एक मानवी के समान ही मर्त्यलोक के एक मानव पर मुग्ध होती है । मेनका ने विश्वामित्र को अपनी ओर आकृष्ट करने के लिये जिन उपायों का अवलम्बन ग्रहण किया था, उर्वशी उनका स्मरण भी नहीं करती । बड़े ही स्वाभाविक रूप से पुरूरवा और उर्वशी का पूर्वराग आरम्भ होता है । उर्वशी एक मानवी के समान ही आचरण करती है । रथक्षोभ के कारण पुरूरवा का शरीर उसके शरीर से स्पृष्ट हो जाता है और वह कुछ घबड़ाकर, कुछ पुलकित होकर पराक्रम की एक अनूढ़ा कन्या के समान ही सखी से कहती है—'चित्रलेखे, अपि परतोऽपसर ।' राजा को अपनी

1- द्रष्टव्य -'इदानीमेव दुहितरं शकुन्तलामतिथिसत्काराय नियुज्य दैवमस्याः प्रतिकूलं शमयितुं सोमतीर्थं गतः ।' -शाकु० पृ० २२ (नि०सा०प्रेस)

अनुराग की सूचना देने के लिये वह जैसा आचरण करती है, वह भी अप्सरा की अपेक्षा एक मानवी के लिये अधिक स्वाभाविक है । पूर्वराग की अवस्था में अपने प्रियतम के दर्शन के लिये व्याकुल होना, राजा की प्रियतमा कौन है- यह जानने की उत्सुकता होने पर भी उसका यह कहना- `बिभेमि सहसा प्रभावादिक्षातुम्` तथा `लक्ष्मीस्वयम्बर` में लक्ष्मी की भूमिका में अभिनय करते समय उसका प्रमाद इत्यादि भी उपर्युक्त मन्तव्य को पुष्ट करते हैं । स्वर्ग की अप्सरा को मानवी के स्वभाव से मण्डित करके कथानक में स्वाभाविकता लाना ही कालिदास का ध्येय रहा है । समग्र रूपक में स्थान स्थान पर उर्वशी के प्रति चित्रलेखा की- `अनप्सरेव मे प्रतिभासि`, `किं पुनर्मानुष्यं विडम्बयसि`- इत्यादि उक्तियाँ भी इसके प्रमाण हैं ।

उर्वशी के प्रेम में किसी किसी ने वारांगना के प्रेम से सादृश्य पाया है, किन्तु यह अत्यन्त खेद की बात है । वस्तुत: ऐसा विचार रखना इस रूपक की नायिका के प्रति ही नहीं कालिदास के प्रति भी अन्याय करना है । उर्वशी स्वर्ग की अधिवासिनी अवश्य है, किन्तु उसे मर्त्यलोक से विशेष प्रेम है । वेद की उर्वशी अथवा पौराणिक कथाओं की उर्वशी कैसी भी हो, यहाँ उससे कोई सम्बन्ध नहीं, यहाँ तो विक्रमोर्वशी के उर्वशी-चरित्र की विवेचना करनी है । `विक्रमोर्वशी` में उर्वशी स्वर्ग की वारांगना के रूप में कहीं भी वर्णित नहीं है । पुरूरवा के प्रति उसका प्रेम निश्छल एवं निष्कपट है । वह अपने प्रेम के सामने स्वर्गसुख को भी न्योछावर कर देती है । वह आदर्श प्रेमिका है । `लक्ष्मीस्वयंवर` में लक्ष्मी की भूमिका में अभिनय करते समय उसका प्रमाद उसके सर्वान्त:करणव्यापी गम्भीर प्रेम का सूचक है । प्रेम के पथ पर वह पूर्ण प्रतिष्ठा के संग आगे बढ़ती है । चतुर्थ अंक में `संगमनीय` के प्रभाव से अपना पूर्वशरीर पाकर तथा प्रियतम से मिलकर सबसे पहले प्रजा का ध्यान करती है —`महान् खलु कालस्तव प्रतिष्ठान्निर्गतस्य । असूयन्ति मह्यं प्रकृतय: । तदेहि निवर्तावहे ।` - स्वर्गलोक की प्रतिष्ठा का भी उसे ध्यान है । वहाँ के शासन की अवमानना करने का औद्धत्य उसमें नहीं है । इस विषय में उसका व्यवहार माता-पिता के संरक्षण में पली हुई मानवी के समान ही है । सपत्नी के सम्मुख भी वह अपने दिव्यात्व का गर्व कभी नहीं करती । औशीनरी की अनुकम्पा पाकर वह अपने को कृतार्थ समझती है । औशीनरी के प्रति उसका आचरण सर्वथा श्लाघ्य है । रूपक के अन्तिम अंक में जब इन्द्र की कृपा से उसके हृदयावस्थित सकल विषाद दूर हो जाते हैं और जब दिव्य उपकरणों से देवर्षि तथा अप्सराओं

की उपस्थिति में उसके पुत्र के अभिषेक का उत्सव सम्पन्न होता है, तब उस आनन्द के क्षणों में उसे सर्वप्रथम औशीनरी का ही ध्यान होता है । अपने पुत्र से वह कहती है- `एहि वत्स ज्येष्ठमातरमभिनन्दस्व ।`

इतना अवश्य है कि वह शकुन्तला के समान मुग्धा नहीं, किन्तु प्रगल्भा है । तभी वह स्वयं ही अभिसारिका के रूप में अपने प्रेमी से मिलने आती है अर्थात् अपने प्रेमास्पद का अभिसरण करती है, प्रेमास्पद के हाथ से अपना हाथ हटा नहीं लेती और उसकी भ्रमर-वृत्ति से कुपित होकर कुमारवन में प्रवेश करती है । इस असहनशीलता-जन्य कोप के लिये उसे दोषनिर्दिष्ट न किया जा सके इसके लिये कालिदास ने पहले ही चित्रलेखा के मुख से उसे `गुरु-शापसमुद्धतदुःखा` कहा है । जो कुछ भी हो, इस असहनशीलता के कारण उसे वारांगना की कोटि तक पहुँचाना तो किसी प्रकार भी उचित नहीं है । शाकुन्तल की हंसपदिका ने भी अपने संगीत में दुष्यन्त की भ्रमरवृत्ति के प्रति उपालम्भ दिया है, उससे भी तो उसके कोप की व्यंजना हुई है— किन्तु उसके इस कोप को अथवा उपालम्भ को तो किसी ने निंदा की दृष्टि से नहीं देखा । हंसपदिका ने अपने प्रेमास्पद के लिये उर्वशी के समान संभवत: इतना अधिक त्याग स्वीकार नहीं किया था । उर्वशी तो पुरूरवा के लिये स्वर्ग सुख को भी विस्मृत कर चुकी थी । फिर, गन्धमादन पर्वत पर अपनी सप:परिणीता प्रियतमा के साथ विहार करते समय भी पुरूरवा को विद्याधर कुमारी उदयवती को दीर्घकाल देखने के लिये इच्छा हो सकती है— यह बात उर्वशी क्या सामाजिक अथवा पाठक के लिये भी कल्पनातीत है । अतएव उर्वशी का कोप अत्यन्त स्वाभाविक था, उसके लिये उसके चरित्र के प्रति आक्षेप प्रकट करना अनुचित है ।

उर्वशी के प्रेमिका रूप को चित्रित करना कालिदास को जितना अभीष्ट था, उतना उसके जननी रूप को नहीं । महाभारत में उर्वशी और पुरूरवा के अपूर्व प्रेम का ही संकेत मिलता है, उसके मातृरूप के आदर्श-अनादर्श का विचार व्यास ने भी नहीं किया । अत: आयु-जननी के रूप में उर्वशी का आचरण आक्षेपजन्य नहीं है । फिर भी जो उसके इस रूप के प्रति कटाक्ष करते हैं,[१] उनके लिये यही उत्तर है कि उर्वशी ने अपने पुत्र का न तो परित्याग किया था, और न उसे किसी अयोग्य व्यक्ति के हाथ सौंपा था । पति के

---

१. "So also the selfishness with which she could abandon her son as soon as he was born — so that she might enjoy the company of her sweetheart the longer — is too unmotherly" — C. Kuhan Raja ('Kalidasa', 1956)

कल्याण के लिये च्यवनाश्रम की एक तापसी के हाथ में अपने पुत्र को न्यास रूप में सौंपकर उसने कौन सा अपराध किया था ? उसने तापसी से शिशु का समस्त परिचय भी [illegible] दिया था । च्यवनाश्रम में आयु `उर्वशीसंभव` और `ऐलसूनु` के परिचय में ही बढ़ा भी रहा था । पुत्र के प्रति उर्वशी निर्दय नहीं है । पुत्र के मंगल का ध्यान उसे है । जन्म होते ही उसे पिता-माता से वियुक्त न होना पड़े, इसीका ध्यान रखकर संभवत: उसे वह च्यवनाश्रम में न्यास-रूप में ~~[illegible]~~ सत्यवती के पास रख आती है । पुरूरवा जिस मुहूर्त में उसके पुत्र को देखेंगे उसी मुहूर्त में उसे स्वर्ग लौट जाना पड़ेगा- इतना तो निश्चित था ही और उसके क्षणिक वियोग से जब पुरूरवा सब कुछ भुलाकर उन्मत्त के सदृश्य वन में घूमे थे, तब उसके चिर-विच्छेद से उनकी क्या दशा होगी- इसका अनुमान भी वह कर सकती थी । अत: पति को स्वस्थ बनाये रखने के, तथा पुत्र को शैशव में ही अनाथ होने से बचाने के उद्देश्य से यदि वह उसे एक सुरक्षित आश्रय में कुछ दिन के लिये रखती है तो इसमें उसका आचरण अमानुषिक क्यों हो जाता है । पुत्र को देखते ही उसके वात्सल्य भरे हृदय के उमड़ने का चित्रण कालिदास ने किया है, तब उसे देखकर उर्वशी को पुत्र के प्रति निर्दय कौन कह सकता है । `मध्यम व्यायोग` में ब्राह्मणपत्नी ने कुल की रक्षा के लिये अपने मध्यम पुत्र को मृत्यु के हाथ सौंप दिया था, भारतीय इतिहास में पन्ना ने अपने प्रभु के पुत्र के प्राणों की रक्षा के लिये अपने पुत्र को सुनिश्चित मृत्यु के मुख में छोड़ आयी थी— अत: उर्वशी यदि अपने पुत्र और पति दोनों के कल्याण के लिये पुत्र को कुछ समय के लिये एक पुण्य ऋषि के आश्रम में रख आती है, तब उसके इस आचरण को अमानुषिक एवं वारांगनोचित कहना कदापि उचित प्रतीत नहीं होता ।

उर्वशी के चरित्र के सम्बन्ध में और भी छिद्रान्वेषण का प्रयास किया गया है । किसी-किसी विद्वान का कथन है[१] कि कालिदास ने उर्वशी को पुरूरवा की महिषी के पद पर अधिष्ठित नहीं किया है । इसीलिये उर्वशी पुरूरवा को आर्यपुत्र के स्थान पर `महाराज`

---

१. "It is to be noted, however, that Kalidasa does not exhalt Urvasī to the position of a queen and she too calls Pururavas as Maharaj and not Aryaputra. She approaches him as an Abhisarikā and is never addressed as Devi by the king, which is quite in keeping with her position at the court of Indra."
— H.D. Velanker (Preface to 'Vikramorvasīyam' Published by Sahitya Akademy. New Delhi)

ही कहती है और पुरुरवा भी सम्बोधन करते समय उर्वशी को `देवी` न कहकर उसका नाम ही लेते हैं । इन विद्वानों का यह भी कहना है कि उर्वशी पूरे नाटक भर में राजा के साथ एक अविवाहित-संगिनी बनकर ही रहती है, पत्नी बनकर नहीं और यह बात उसके इन्द्र-सभा में प्राप्त पद के अनुरूप ही है ।- इस कथन में अनवधान का दोष प्रतीत होता है । पुरुरवा भले ही उसे `देवी` कहकर सम्बोधित न करें— किन्तु राजा के परिजन उसे `देवी` ही कहा करते थे— अर्थात् परिजन औशीनरी एवं उर्वशी दोनों के लिये एक ही सम्बोधन का प्रयोग करते थे । पंचम अंक के प्रारंभ में विदूषक की उक्ति में `देवीभि: सहित:` राजा के विशेषण का एक अंश है, उसका कहीं कहीं `देव्या सहित:` पाठ भी मिलता है । चाहे `देवीभि: सहित:` हो चाहे `देव्या सहित:` पाठ हो उसमें उर्वशी की गणना अवश्य हुई है । देवीभि: सहित:` पाठ से इस बात पर तो कोई शंका ही नहीं रह जाती, `देव्या सहित:` पाठ में भी उर्वशी के लिये ही `देव्या` शब्द का प्रयोग हुआ है, ऐसी संभावना नि:संकोच की जा सकती है, क्योंकि तृतीय अंक के बाद कालिदास औशीनरी-प्रसंग को प्राय: भुला चुके थे । पंचम अंक के अन्त में उन्होंने औशीनरी का उल्लेख केवल उर्वशी-चरित्र की महानता घोषित करने के लिये किया । अत: स्पष्ट है `देव्या` शब्द का प्रयोग करते समय कालिदास को उर्वशी का ही ध्यान था, औशीनरी का नहीं । पुरुरवा यदि उर्वशी को `देवी` शब्द से सम्बोधन नहीं करते तो आक्षेप नहीं किया जा सकता— शाकुन्तल में भी तो दुष्यन्त शकुन्तला के लिये कभी भी `देवी` शब्द का प्रयोग नहीं करते । उर्वशी पुरुरवा को `महाराज` कहती थी अथवा `आर्यपुत्र` — इसका विचार करते हुए यह देखा जा सकता है कि एस.पी.पण्डित महोदय द्वारा सम्पादित `विक्रमोर्वशी` में उर्वशी पुरुरवा को `आर्यपुत्र` कहती हुई दिखायी गयी है । यदि कोई इस पाठ को हठ-पूर्वक अप्रामाणिक माने[1] तो हमारे पास यह तर्क है कि `विक्रमोर्वशी` अर्थात् `विक्रम से लब्धा उर्वशी` की कथा में उर्वशी यदि नायक को `आर्यपुत्र`के स्थान पर `महाराज` कहती है तो उसमें कालिदास की शैली की विशेषता ही माननी चाहिये, क्योंकि `आर्यपुत्र` की अपेक्षा `महाराज` शब्द में विक्रम का स्पर्श अधिक है । उर्वशी और पुरुरवा के मिलन में किसी प्रकार की अनैतिकता नहीं थी, एवं उर्वशी `सामान्या` नहीं थी — इसके लिये सबसे प्रबल प्रमाण पंचम अंक के अन्त में नारद का आशीर्वचन है । उर्वशी की

---

1. `Vikramorvaśīyam' Ed by H D Velanker, Published by Sahitya Akademy New Delhi 1961 (p. 45)

आशीर्वाद देते समय नारद ने कहा है—`अविरहितौ दम्पती भूयास्ताम्` । यह तो निर्विवाद सत्य है कि `दम्पती` शब्द का प्रयोग मानव-समाज में केवल विवाहित-युगल के लिये ही होता है । इससे उर्वशी-पुरूरवा के पवित्र सम्बन्ध का ही बोतन होता है । इन्द्र की सभा में उर्वशी का क्या स्वरूप था- इसका कोई संकेत कालिदास के इस रूपक में नहीं मिलता, अतएव पौराणिक कथा की उर्वशी के व्यक्तित्व को यहाँ भी घसीटना असहृदयता का लक्षण है । उर्वशी पुरूरवा को जो `महाराज` कहती थी, हो सकता है कि यह उसके दिव्यात्व का सूचक है । मानव की पत्नी बनने पर भी वह असल में थी तो दिव्या स्त्री ही, अत: पति के साथ वार्तालाप करते समय उसके `सम्बोधनों` में यदि साधारण मानवी से कोई विशेषता थी, तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है ? उर्वशी और पुरूरवा में वैवाहिक सम्बन्ध न मानना एवं उर्वशी को `सामान्या` स्त्री की कोटि में रखने पर आयु की पवित्रता अथवा यों कहें कि पुरूरवा से चलाये हुए वंश की पवित्रता पर भी आक्षेप करने का अवकाश हो जायेगा । अत: कालिदास की उर्वशी पर ऐसे-ऐसे कटाक्ष करना, वस्तुत: कालिदास के प्रयत्न को व्यर्थ करना एवं उनके प्रेमादर्श के प्रति अन्याय करना होगा ।

पहले ही कह चुके हैं कि कालिदास की लेखनी नायिका के चित्रण में जितना अधिक मुखर हो उठती है, उतना नायक के चित्रण में नहीं । विक्रमोर्वशी के प्रत्येक अंक में उर्वशी ही हमारे सम्मुख प्रधान बनकर रहती है, पुरूरवा को उतना प्राधान्य नहीं मिलता । वस्तुत: पुरूरवा के चित्रण में कालिदास ने शाकुन्तल के नायक दुष्यन्त की अपेक्षा भी कम ध्यान दिया है । फिर भी कालिदास ने जितना ध्यान दिया है, उसीसे विक्रमोर्वशी की पुरूरवा महाभारत के पुरूरवा से ऊपर उठ गये हैं । पुरूरवा महाभारत के पुरूरवा के समान ही प्रख्यातवंशोद्भव हैं । महाभारत में इस बात का उल्लेख है कि स्वयं इन्द्र ने गंगा-यमुना के संगम पर प्रतिष्ठानपुरी का निर्माण किया था, कालिदास ने भी इन्द्र को पुरूरवा का विशिष्ट हितैषी के रूप में ही उल्लेख किया है । कालिदास के पुरूरवा इन्द्र के कृपापात्र एवं समर-सहायक हैं । महाभारत के पुरूरवा गन्धर्वलोक से उर्वशी को ले आते हैं, किन्तु गन्धर्वलोक की उर्वशी उन पर कैसे अनुरक्त हुई और किस प्रकार उनकी जीवन-संगिनी बनी- इन सब बातों का उल्लेख महाभारत में नहीं है । कालिदास ने इन्हीं बातों के समाधान के लिये कल्पना शक्ति का आश्रय ग्रहण किया और उससे पुरूरवा के व्यक्तित्व में ऐसे आकर्षण भर दिये कि स्वर्ग की ललामभूता उर्वशी के भी वह प्रियतम बन गये । पुरूरवा वीर होने के साथ-साथ धार्मिक हैं, महाभारत

के पुरुरवा के समान ब्राह्मणों पर अत्याचार करने वाले अधार्मिक नहीं । विनय ही उनके विक्रम का भूषण है । गन्धर्वराज उनकी विनम्रता की प्रशंसा करके कहते हैं- `अनुत्सेक: खलु विक्रमालंकार: ।` पुरुरवा अपने शौर्य पर कभी भी गर्वोक्ति नहीं करते, उर्वशी के अपहरण से व्याकुल अप्सराओं को आश्वासन देते हुए कहते हैं- `तेन हि विमुच्यतां विषाद: । यतिष्ये व: सखीप्रत्यानयनाय ।` अप्सराओं के हृदय में उनके लिये अत्यन्त श्रद्धा है । वे उनके लिये `राजर्षि` शब्द का प्रयोग करतीं हैं । उनके शारीरिक सौन्दर्य की तो तुलना ही नहीं है । मूर्च्छा दूर होने पर उर्वशी जब अपने उद्धारकारी को देखती है, तब वह स्वगतोक्ति करती है—`उपकृतं खलु दानवै:।` पुरुरवा वाग्मी हैं । उर्वशी सखी से कहती हैं —`अभिजातं खल्वस्य वचनम् ।` अथवा चन्द्रादमृतमिति किमत्राश्चर्यम् ।` पुरुरवा की जितेन्द्रियता तब व्यक्त होती है, जब गन्धर्वराज उन्हें उर्वशी को साथ लेकर इन्द्र के सम्मुख उपस्थित होने के लिये कहते हैं । पुरुरवा उस समय तक उर्वशी के प्रति आकृष्ट हो चुके थे, फिर भी उन्होंने उर्वशी की सान्निध्य-प्राप्ति के इस अनायासोपलब्ध अवसर की जो उपेक्षा की उसीसे उनके संयम एवं जितेन्द्रियत्व का परिचय प्राप्त होता है ।

इस प्रकार कालिदास ने रूपक के प्रथम अंक में ही पुरुरवा के व्यक्तित्व में पूर्णता ला देने का प्रयास किया, जिससे रूपक के आरंभ से ही पुरुरवा महाभारत के पुरुरवा से कहीं अधिक श्रद्धेय बन गये । शेष अंकों में कालिदास उर्वशी को लेकर ही अधिक व्यस्त रहे । द्वितीय अंक में पुरुरवा हमारे सम्मुख एक सुसभ्य मार्जित रुचि वाले नागरिक के रूप में उपस्थित होते हैं और अपनी प्रथमा पत्नी औशीनरी से दाक्षिण्यपूर्ण आचरण करने का प्रयत्न करते हैं । प्रो० वेलंकर[1] महोदय ने पुरुरवा को दक्षिण नायक माना है, परन्तु यह उचित प्रतीत नहीं होता । इसीलिये यहाँ पर पुरुरवा के लिये `दाक्षिण्यपूर्ण आचरण करते हैं,` न कहकर `करने का प्रयत्न करते हैं` ऐसा कहा जा रहा है । द्वितीय अंक में पुरुरवा औशीनरी से जो कुछ भी कहते हैं, उसमें आन्तरिकता नहीं है, अतएव उन्हें दक्षिण नायक के पद पर अधिष्ठित नहीं किया जा सकता । वस्तुत: द्वितीय तथा तृतीय अंक में औशीनरी के सम्बन्ध में पुरुरवा धीरललित प्रकृति के नायक के रूप में हमारे सम्मुख आते हैं ।

१- द्रष्टव्य:— Editor's Introduction in Vikramorvasiyam Ed. by H.D. Velankar

धीरशठ नायक की परिभाषा की व्याख्या करते हुए धनिक कहते हैं कि 'दक्षिण-स्यापि नायिकान्तरापहृतचित्तस्य विप्रियकारित्वाविशेषेऽपि सहृदयत्वेन शठाद्विशेषः' इस दृष्टि से पुरूरवा धीरशठ प्रकृति के ही सिद्ध होते हैं । औशीनरी के सम्बन्ध में पुरूरवा के किसी भी आचरण में सहृदयता का दर्शन नहीं होता, यदि वे औशीनरी के प्रति सहृदय ही होते और काशीराजपुत्री उसका अनुभव ही कर पाती तो वह 'प्रियानुप्रसादनव्रत' का अनुष्ठान करके विरक्त सी अपने सारे सुख को न्योछावर न कर देती । इस प्रसंग में औशीनरी की अन्तिम उक्ति इसका प्रमाण है[1] । कालिदास ने स्वयं विदूषक के मुख से औशीनरी के इस व्रत से आपाततः व्यञ्जित महानता का उपहास किया है[2] । औशीनरी से पुरूरवा का सम्पर्क तृतीय अंक की समाप्ति से पूर्व ही विच्छिन्न हो जाता है और रूपक के अन्त तक पुरूरवा औशीनरी का स्मरण करके भी उस विच्छिन्न सम्पर्क को जोड़ने का प्रयास नहीं करते । उर्वशी के साथ आसन्न विच्छेद के दुःख को असहनीय समझ कर जब वे वन में जाने का निश्चय करते हैं तब औशीनरी के प्रति उनकी उदासीनता और भी स्पष्ट रूप से सामने आती है । औशीनरी के 'प्रियानुप्रसादन' व्रत के अनन्तर उसके प्रति प्रेम के सूचक न सही कुछ तो शब्द निकलने चाहिये थे । अतः औशीनरी के प्रति पुरूरवा अपने असहृदय आचरणों के कारण निश्चित रूप से धीरशठ प्रकृति के नायक सिद्ध होते हैं ।

पुरूरवा का प्रेमी-रूप सुन्दर है, किन्तु उसमें आवर्जकीनता की शंका होने लगती है । उनकी प्रथमा पत्नी ही उन्हें 'कामुक' कहती है । उर्वशी के प्रेम में विभोर होकर भी उनकी भ्रमरवृत्ति परितुष्ट नहीं होती । इसीलिये उर्वशी से मिलन होने के बाद ही विद्याधरकुमारी उदयवती की क्रीड़ा को वह विमुग्ध-दृष्टि से देखने लगते हैं । संभवतः इसलिये भी कालिदास ने उर्वशी को 'प्रेम से लभ्या' न दिखाकर 'विक्रम से लभ्या' दिखाया है ।

१- द्रष्टव्यः- 'भव वा मा वा । यथानिर्दिष्टं सम्पादितं प्रियानुप्रसादनं व्रतम् ।'

२- ,, :- 'छिन्नहस्तो मत्स्ये पलायिते निर्विण्णो धीवरो भणति धर्मो मे भविष्यतीति ।' — तृतीय: अंक

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से `विक्रमोर्वशी` कालिदास के अन्तिम नाटक `शाकुन्तल` से दुर्बल सिद्ध होती है । विक्रमोर्वशी में कालिदास का ध्यान नायक और नायिका पर ही अधिक केन्द्रित रहा, फलत: अन्य पात्रों को वे सजीव रूप न दे सके । शाकुन्तल की अनुसूया और प्रियम्वदा में जितनी सजीवता है, विक्रमोर्वशी की चित्रलेखा में उसका लेश भी नहीं । कवि ने सम्भवत: प्रथम अंक में चित्रलेखा के प्रति प्रथम अंक में कुछ ध्यान देने का संकल्प भी किया था, किन्तु उस संकल्प को वे बहुत शीघ्र ही भूल गये । विदूषक के प्रति भी उनका यही भाव रहा । विदूषक को प्रत्येक अंक में उपस्थित करके भी वे उसे उसके परम्परागत रूप के अतिरिक्त और नूतन कुछ भी नहीं दे सके । यहाँ तक कि प्रेमी-युगल के मिलन में अवाञ्छित होने पर भी वे उसकी उपस्थिति को रोक नहीं सके ।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से सबसे बड़ी असफलता कालिदास को काशीराजपुत्री को रंगमंच पर उपस्थित करके मिली । कालिदास ने अपने इस कल्पना-प्रसूत इस पात्र पर बड़ा अन्याय किया । इस रूपक में औशीनरी की कोई आवश्यक भूमिका नहीं है, उसके बिना भी विक्रमोर्वशी की कथा ज्यों की त्यों बनी रहती । प्रेम-पथ को असमतल दिखाने के लिये यदि कालिदास ने इस पात्र की अवतारणा की हो, तो उसमें भी वे कुछ सफल तो नहीं दिखाई पड़ते । औशीनरी का `प्रियानुप्रसादनव्रत` ही इसका प्रमाण है । औशीनरी को कालिदास ने कुलकुलसंभवा दिखाया है । राजा की ज्येष्ठा पत्नी होने के कारण उर्वशी से पूर्व वही संभवत: उनके प्रेम की एकमात्र अधिकारिणी रह चुकी है । पुरूरवा के हृदय में भी पहले उसके प्रति आदर का भाव विद्यमान था, क्योंकि द्वितीय अंक में वह विदूषक से अपने उसी मनोभाव की दुहाई देते हैं- `उर्वशीगतमनसोऽपि मे स एव देव्यां बहुमान: ।`- फिर ऐसी गौरवमयी नारी को कालिदास ने दया की पात्री क्यों बना दिया, इस शंका का समाधान नहीं होता । किसी किसी ने[१] औशीनरी के `प्रियानुप्रसादनव्रत` में बहुत महानता देखी है, किन्तु औशीनरी का जो रूप द्वितीय अंक में हमारे सम्मुख आया था, उसके लिये यह आचरण योग्य नहीं था । यदि वह प्रियानुप्रसादन व्रत न करके यों ही अपने को अलग रखती, संभवत: तब उसका स्वाभिमान-पूर्ण व्यक्तित्व अक्षुण्ण रहता । राजा तो उसके हाथ से कभी के निकल चुके थे, उर्वशी के प्रेम में विह्वल पुरूरवा को वह लौटाकर अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर सकती थी ।

१- द्रष्टव्य:- 'Kalidasa - a study' by G.C. Jhala (p.134)

पुरूरवा के मुख से हम केवल उर्वशी की ही बातें सुनते हैं, औशीनरी का ध्यान करते कभी नहीं देखते। फिर औशीनरी से प्रियानुप्रसादनव्रत करवाने की क्या आवश्यकता थी? एक स्वाभिमानी नारी के स्वाभिमान को इस प्रकार कुण्ठित होते देख किसी को प्रसन्नता नहीं होती। रोहिणी के साथ मृगलाञ्छन के संयोग की रमणीयता की प्रशंसा करके वह मानो अपने हृदय की अतृप्ति को प्रकट कर देती है। इसीलिये उसके 'प्रियानुप्रसादन' व्रत से हमें सहानुभूति होती है। एक स्वाभिमानी रानी की इस विवशता को देखकर हमें उसके त्याग की महानता का ध्यान नहीं होता, किन्तु उसके स्थान पर एक वेदनामिश्रित अनुभूति होती है। इसीलिये जब नाटक के अन्त में उर्वशी औशीनरी का स्मरण करती है, तब हम उसके प्रति कृतज्ञता अनुभव करके उसे पुरूरवा से उच्चतर स्थान प्रदान करने को तैयार हो जाते हैं। औशीनरी के चरित्र-चित्रण के सम्बन्ध में इतना ही कहना है कि यदि कालिदास इस पात्र को रंगमंच पर न लाते तो अधिक सहृदयता का परिचय देते। सौभाग्य की बात है कि कवि ने अपनी अन्तिम नाट्यरचना 'शाकुन्तल' में वसुमती को नेपथ्य में ही रखा है।

'अभिज्ञान शाकुन्तल' कालिदास की विश्वतोमुखी प्रतिभा, चराचरव्यापी कल्पना एवं उनकी नाट्यकुशलता की सर्वोत्तम कसौटी है। विक्रमोर्वशी में कालिदास ने जिन दृश्यों एवं दिव्य मूर्तियों का अंकन किया है, वे शाकुन्तल में भी है, किन्तु शाकुन्तल में उन मूर्तियों को एक अपूर्व तेज से मण्डित किया गया है। इसके अतिरिक्त उसमें ऐसी और भी अनेक मूर्तियाँ और दृश्य हैं, जिनकी ज्योति का केवल अनुभव किया जा सकता है, दूसरे को वर्णित नहीं किया जा सकता। इसके आस्वादन मुहूर्तों के रसास्वादन की अभिव्यञ्जना भाषा के माध्यम से नहीं हो सकती। उदाहरणार्थ, शकुन्तला ने नाटक के अन्तिम अंक में कहा—'वत्स ते भागधेयानि पृच्छ'- इसीमें सामाजिक अथवा पाठक के लिये कल्पनालोक का द्वार खुल गया और उस दुःखिनी प्रकृतिदुहिता के इतने वर्षों का जीवन उनकी आँखों के सामने आ गया। रंगमंच पर 'वसने परिधूसरे-वसाना' शकुन्तला खड़ी है, उससे हट कर उसका उन्मुख पुत्र खड़ा है और सामने उसका पति कुछ पूछने के लिये उत्सुक होकर खड़ा है। सामाजिक तीनों को देखता है। जब सारी निस्तब्धता को तोड़कर शकुन्तला के 'वत्स ते भागधेयानि पृच्छ' ये शब्द गूंजते हैं तब सारा वातावरण एक विचित्र गंभीर रूप धारण कर लेता है। सामाजिक का हृदय शकुन्तला के प्रति एक अपूर्व सहानुभूति से भर उठता है। एक अव्यक्त श्रद्धा से तपस्विनी के चरित्र के सामने मस्तक अवनत हो जाता है। ऐसी भव्य मूर्ति ऐसा भव्य दृश्य विक्रमोर्वशी में नहीं है। अन्यत्र कहीं नहीं है।

~~शकुन्तला की~~ कालिदास ने कण्व के मुख से शकुन्तला को गृहिणी बनने का आशी--र्वाद दिलाया । संभवत: क्रमश: मालविका और उर्वशी के चरित्र की सृष्टि करने के अनन्तर वे कुछ ऊब गये थे, तभी नारी के गृहिणी एवं जननी रूप का चित्रण करने के लिए शाकुन्तल के चतुर्थ अंक में उन्होंने महर्षि कण्व द्वारा गृहिणी के स्वरूप की व्याख्या करवाकर[१] उनसे अपनी अन्तिम नाट्यकृति की नायिका को आशीर्वाद दिलाया—

अभिजनवतो भर्तुः श्लाघ्ये स्थिता गृहिणीपदे

विभवगुरुभिः कृत्यैस्तस्य प्रतिक्षणमाकुला ।` इत्यादि

इसीलिये प्रथम तीन अंकों में शकुन्तला को हम यद्यपि कुछ-कुछ मालविका और उर्वशी सा ही आचरण करते हुए देखते हैं, किन्तु कण्व के इस उपदेश के अनन्तर हमें उसके व्यक्तित्व को उन दोनों से कहीं अधिक ऊपर उठने का आभास होता है और नाटक के अन्त में तो वह कण्व के आशीर्वाद को सार्थक करती हुई हमारे सम्मुख उपस्थित होती है । कालिदास ने शकुन्तला के व्यक्तित्व को मालविका अथवा उर्वशी के समान केवल प्रेमिका के रूप में सीमित न रखकर, प्रेमिका से लेकर देवी के पद तक पहुँचा दिया है ।

शकुन्तला के चरित्रांकन में कालिदास की शैली का पूर्ण विकास दृष्टिगोचर होता है । वह मानो स्वयं ही कालिदास की प्रतिभा की स्वर्णमयी अभिज्ञान अंगुरीय है । नाटक के आरम्भ में उसके मुग्ध सौन्दर्य की, उसके सरल मधुर स्वभाव की झाँकी मिलती है । अपने अम्लान रूप के कारण वह वन की ही एक पुष्पित लता सी प्रतीत होती है । सहकार के पास खड़ी हो जाती है तब प्रियम्वदा को लगता है मानो एक लता उस तरुवर से लिपट गयी हो । उसका सौन्दर्य सहज है, वन के पुष्प के समान उसका सौन्दर्यपुष्प स्वत: प्रस्फुटित है । दुष्यन्त को अनुभव हुआ —

`शुद्धान्तदुर्लभमिदं वपुराश्रमवासिनो यदि जनस्य ।

दूरीकृताः खलु गुणैरुद्यानलता वनलताभिः ।। १।१५।।

किन्तु ऐसा सौन्दर्य संभवत: कालिदास की रचना में विरल नहीं था, क्योंकि उन्होंने भी शकुन्तला के विषय में `किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् ।`

१- `शुश्रूषस्व गुरून् कुरु —————— यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः ।।४।।`

~~२- कुमारसं: — विक्रमोर्वशीय २।३।।~~

कहा है, वैसे ही उर्वशी के विषय भी कहा था— 'आभरणस्याभरणं प्रसाधनाविधेः प्रसाधनविशेषः'[1], उर्वशी की रूपराशि की भी उन्होंने एक लता से तुलना की थी।[2]
अतः विक्रमोर्वशी में जिस सौन्दर्य को प्रत्यक्ष किया गया था, वह यहाँ भी है। फिर उर्वशी और शकुन्तला में क्या पार्थक्य है— यही द्रष्टव्य है। यह विचार करना है कि किस बात में शकुन्तला उर्वशी से आगे बढ़ गयी है? — शकुन्तला और उर्वशी में एक ही बात का पार्थक्य है। शकुन्तला का सौन्दर्य पवित्रता के संयोग से उर्वशी के रूप से अधिक महनीय बन गया है। उर्वशी का रूप शकुन्तला के समान 'अखण्ड पुण्यों के फल' के तुल्य नहीं है। वह रूप केवल विक्रम से प्राप्त नहीं हो सकता, उसके लिये पुण्य होना चाहिये।

कालिदास ने प्रथम अंक के मध्यभाग से ही शकुन्तला को प्रेमिका के रूप में चित्रित किया है। इस चित्रण में उन्होंने उसके पतन और उत्थान दोनों को दिखाया। शकुन्तला दुष्यन्त की सुदर्शन आकृति को देखकर मन में उठती हुई तपोवनविरोधिनी चिन्ताओं पर विजय प्राप्त न कर सकी। सब कुछ जानकर और समझकर भी वह उन विकारों से अपनी रक्षा नहीं कर पायी। इस समय उसके चरित्र में नारीसुलभ छलना, असूया, इत्यादि अनेक दुर्गुणों का दर्शन होता है। प्रेमास्पद के प्रति उसका मदनलेख लिखना उसके जैसे महर्षि की प्राणस्वरूपा कन्या के लिये सर्वाधिक निन्दार्ह है। तृतीय अंक में किसी किसी संस्करण में प्राप्त मृणालवलय के बहाने उसके राजा के समीप आना एवं उनकी सम्भोगेच्छा को उसे लज्जाकर ढंग से प्रोत्साहित करने की घटना, कालिदास की लेखनीप्रसूत मानी नहीं जा सकती, क्योंकि कालिदास अपनी मानस कन्या को इतना नीचे नहीं गिरा सकते। उन्होंने शकुन्तला के चरित्र में जो कुछ पतन दिखाया है, उसके पीछे दो बात हेतु रूप में विद्यमान हैं। पहली बात महाभारत पर आधारित होने के कारण वह शकुन्तला-चरित्र में आमूल परिवर्तन उपस्थित नहीं कर सकते थे, अतएव उसके कामुक-स्वभाव का यत्किञ्चित् दिग्दर्शन कराना कथावस्तु के निर्वाह की दृष्टि से आवश्यक था। दूसरी बात, उत्कृष्ट सौन्दर्य के प्रति आकृष्ट होना स्वाभाविक है, अतः शकुन्तला को इस प्रकार दिखाकर कालिदास ने उसे स्वाभाविक बनाकर स्वर्ग की

१- द्रष्टव्यः- विक्रमोर्वशी २।३।।
२- ,, :- विक्रमोर्वशी ४।३२ ('तन्वी मेघजलार्द्रपल्लवा ----- था।)

एक कल्पित देवी होने से बचा लिया है । कालिदास ने यथार्थ का वहाँ परित्याग किया है, जहाँ यथार्थ आदर्श का हनन करता है, किन्तु जहाँ यथार्थ से आदर्श स्वाभाविक और हृदयग्राही होता है, वहाँ पर उन्होंने उसका सादर ग्रहण किया है । कालिदास शकुन्तला को साधारण मानवी से देवी के श्लाघ्य पद तक पहुँचाना चाहते थे, अत: उन्होंने मानवसुलभ दोषों के मध्य धीरे-धीरे उसके देवत्व का विकास किया । शकुन्तला प्रेम व्यापार के आरंभ में चाहे अति प्राकृत बालिका के रूप में परिचय क्यों न दे, किन्तु प्रेमी के साथ मिलन के समय वह जिस धैर्य एवं संयम का परिचय देती है उसीसे वह साधारण नारी से ऊपर उठ जाती है । दुष्यन्त का प्रथम सान्निध्य पाकर जहां उसके मनोबल को दुर्बलतर हो जाना ही स्वाभाविक था, वहां उसमें असाधारण संयम और दृढ़ता का ही दर्शन होता है । प्रथम मिलन के अवसर पर वह पिता के गौरव एवं आश्रम की प्रतिष्ठा की बात सोचकर अपने प्रेम को संयत करती है । जिस अभीप्सितजन के कारण वह इतनी व्याकुल थी, जिसकी अनुकम्पा की प्रार्थना करके वह कुछ ही क्षण पूर्व मदनलेख में ललित पदबन्ध की रचना की थी, उसीके उपस्थित होने पर वह पिता की मर्यादा का ध्यान करके प्राकृत प्रेममुग्धा नारी के विपरीत प्रेमास्पद के प्रति क्षुब्ध शब्दों का उच्चारण करती है "पौरव रक्ष विनयम् । मदनसंतप्ताऽपि न खल्वात्मन: प्रभवामि ।" अतुलविक्रमी दुष्यन्त का पौरुष भी इन तेजोदीप्त शब्दों के सम्मुख हतप्रभ हो जाता है और वह भी अपने उत्पथोन्मुख चित्त को नैतिकता के पवित्र पथ पर लाने के लिये गान्धर्व-विवाह की बात सोचता है । यही शकुन्तला-चरित्र का वैशिष्ट्य है । यही उसके धैर्य का तथा संयम का पुष्पफल है जिसके कारण वह न केवल अपने को पतन से बचाती है, किन्तु अपने पवित्र सम्पर्क से अपने प्रेमी को भी पतित होने से रक्षा करती है । दुष्यन्त की उच्छृंखलता साध्वी के पुण्य प्रभाव से शान्त हो जाती है और वह भी गान्धर्व-विवाह के पवित्र बन्धन से शकुन्तला के प्रेम को औचित्य प्रदान करता है । ऐसा दैवीपम संयम, ऐसा धैर्य, ऐसा तेज महाभारत की शकुन्तला में कहाँ । कालिदास की शकुन्तला यहीं से उत्तम प्रकृति वाली नायिका का पद प्राप्त करती है । यहीं से साधारण प्रेमिका से ऊपर उठकर साध्वी जाया एवं आगे गौरवमयी जननी के पद को प्राप्त करती है और नाटक के अन्त में वह कण्व के आदर्श के अनुरूप आदर्श गृहिणी के रूप में, एक देवी के रूप में मारीच ऋषि के तपोवन में दर्शन देती है । उसके इस पवित्र रूप के सम्मुख दुष्यन्त ही नहीं सामाजिक भी श्रद्धानत हो जाता है ।

दुष्यन्त-चरित्र के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न मत प्रकट किये हैं । किसी ने कहा कि कालिदास महाभारत के दुष्यन्त-चरित्र से अवश्य ऊपर उठे हैं, किंतु उन्होंने दुष्यन्त-चरित्र को आदर्श बनाने का प्रयास नहीं किया, और यदि किया भी हो तो सफल नहीं हुए । उनका ऐसा वीर किसी देश में वरणीय नहीं होगा । उनके ऐसे वर को कोई भी शिव से नहीं मांगेगी । उनके समान राजा पाने के लिये किसी भी देश की प्रजा ईश्वर के आगे 'धन्ना' नहीं देगी[1] । किसी ने कहा कि कालिदास को शिव के चरित्र के चित्रण में जितनी सफलता मिली है, उतनी सफलता दुष्यन्त के चरित्र के चित्रण में नहीं मिली । उनके अनुसार कालिदास का दुष्यन्त-चरित्र अत्यन्त अनाकर्षक है और कवि ने दुष्यन्त-चरित्र के रूप में अपने समय के एक आदर्श नृपति को रंगमंच पर उपस्थित किया है । ऐसा आदर्श-चरित्र कुछ अस्वाभाविक ही प्रतीत होता है[2] । किसी ने कहा राजप्रासाद में दुष्यन्त केवल एक सजी हुई निर्जीव मूर्ति प्रतीत होते हैं, जो राजसभा के समस्त नियम एवं अनुष्ठानों का केन्द्र है, जिसमें सजीवता का लेश भी नहीं है और जिसे किसी प्रकार की स्वतन्त्रता भी नहीं है । उनका कहना है कि उन्हें तपोवन में दुष्यन्त का रूप अत्यन्त प्रिय लगा था, किन्तु राजसभा में वही जब कर्मचारियों से घिरा हुआ सिंहासन में बैठा हुआ होता है, तब उसके आचरण को देखकर हम विस्मय में पड़ जाते हैं[3] । - इस प्रकार दुष्यन्त-चरित्र के प्रति अनेक कटाक्ष दृष्टिगोचर होते हैं ।

इन कटाक्षों का, इन आक्षेपों का निराकरण दुःसाध्य नहीं है । कालिदास के चरित्र-चित्रण की शैली को न पहचानने के कारण ही इस प्रकार के आक्षेपों की उत्पत्ति हुई है । कवि ने महाभारतीय कथा का आधार लेकर भी किस प्रकार दुर्वासा-शाप एवं अंगूठी की घटना की कल्पना करके महाभारत के दुष्यन्त को एक अत्यन्त गौरवमय स्थान प्रदान किया है— इसका विवेचन पंचम अध्याय में किया जा चुका है । अब प्रश्न है, उन्होंने उस रूप को सफल बनाने का प्रयास किया है कि नहीं और प्रयास किया भी हो तो सफल हुए हैं अथवा नहीं ? - द्विजेन्द्र लाल जी ने केवल दोष-दृष्टि से दुष्यन्त-चरित्र की आलोचना की है, यदि उनकी दृष्टि सन्तुलित होती तब वे कवि के सामर्थ्य पर इस प्रकार के प्रश्न कभी न करते । उन्होंने इतना स्वीकार किया है कि दुष्यन्त को

१- द्विजेन्द्रलाल राय ('कालिदास और भवभूति') पृ॰ सं॰ ३९ (१९५६)

२- 'Kalidasa' by W. Ruben ("But he has not succeeded quite So well with Dusyanta as with Siva"-----")

३- 'Kalidasa' by C. Kunhan Raja

कालिदास ने महाभारत के दुष्यन्त से ऊपर उठाया है । जैसा कि पंचम अध्याय में दिखाया जा चुका है कि महाभारत के शकुन्तलोपाख्यान के प्रारंभ में दुष्यन्त के गुण ही गुण वर्णित हैं । आगामी कथानक में उनकी कामुकता एवं उनकी वंचना का आभास होता है, इसीलिये वे पाठक के आक्षेप के पात्र बन जाते हैं । अत: यदि द्विजेन्द्रलाल राय जी के अनुसार कालिदासने अपने दुष्यन्त को महाभारत के दुष्यन्त से ऊपर उठाया है, तो उसका यही आशय होगा कि इन दो महान् दोषों से कालिदास का दुष्यन्त मुक्त हुआ है । यह निश्चित है कि यदि ये दो दोष महाभारतीय दुष्यन्त में न होते, तो वह भी आदर्श बन जाते तो ऐसी अवस्था में कालिदास के दुष्यन्त को किस प्रकार आदर्श नहीं कहा जा सकता— यह समझ में नहीं आता । नाटक का नायक होने के कारण उनका चरित्र स्वयं ही सामाजिक के लिये 'रामादिवत् वर्तितव्यं न रावणादिवत्' इत्यादि आदर्श का उपदेष्टा है ही । द्विजेन्द्रलाल जी ने कहा है कि उनके ऐसा वीर किसी देश में वरणीय नहीं होगा— उनका यह कथन कितना निस्सार है, यह तो शाकुन्तल के अध्ययन से ही ज्ञात हो जाता है । प्रथम अंक में वैखानस कहते हैं—'

'रम्यास्तपोधनानां प्रतिहतविघ्ना:-क्रिया समवलोक्य ।
ज्ञास्यसि कियद्भुजो मे रक्षति मौर्वीकिणांक इति ।।' १।१२

द्वितीय अंक में दोनों ऋषिकुमार उनकी वीरता की प्रशंसा करके कहते हैं —

'नैतच्चित्रं यदयमुदधिश्यामसीमां धरित्री-
मेक: कृत्स्नां नगरपरिघप्रांशुबाहुर्भुनक्ति ।' --- इत्यादि २।१५

तृतीय अंक में कण्व-शिष्य दुष्यन्त की अपूर्व वीरता की प्रशंसा करके कहते हैं कि उन्हें शत्रुओं का दमन करने के लिये बाण-सन्धान भी नहीं करना पड़ता, उनके धनुष की टंकारध्वनि सुनकर ही वे अपने आप शान्त हो जाते हैं[1] । सप्तम अंक में दुष्यन्त की वीरता का प्रत्यक्ष परिचय मिल जाता है। सुरसुन्दरियाँ अपने प्रसाधन के अवशेष से कल्पलता के अंशुक पर प्रेम से जिसका चरित लिखें[2], इन्द्र जिसकी वीरता पर निर्भर रहें, भगवान् मारीच जिसकी वीरता की प्रशंसा करें[3] — उसकी वीरता पर ऐसा आक्षेप करना

१- द्रष्टव्य:- शा० ३।१।। 'का कथा बाणसन्धाने ज्याशब्देनैव दूरत: ।' इत्यादि
२- ,, :- ,, ७।५।। 'विच्छित्तिशेषै: सुरसुन्दरीणां ----- ।' इत्यादि
३- ,, :- ,, ७।२६।। 'पुत्रस्य ते रणशिरस्यमग्रयायी ------ ।' इत्यादि

निस्सार एवं अनुचित प्रतीत होता है । जो अपने दुःख के दिनों में भी प्रजा के सुख-दुःख का ध्यान कर—

'येन येन वियुज्यन्ते प्रजाः स्निग्धेन बन्धुना ।
स स पापादृते तासां दुष्यन्त इति घुष्यताम् ।' ६।२३।।

इत्यादि घोषणा करे, वह राजा किस देश की प्रजा के लिये आराध्य न होगा— अतएव दुष्यन्त-चरित्र पर द्विजेन्द्रलाल जी के इस आक्षेप में भी कोई सार नहीं दिखता । दुष्यन्त के ऐसे वीर, उत्तम चरित्रवान्, सुपुरुष को कोई स्त्री शिव से मांगेगी या नहीं— इसका भी, विवेकीजन ही कर सकते हैं, एक छिद्रान्वेषी आलोचक नहीं ।

वस्तुत: कालिदास ने चरित्रों की आदर्शात्मक प्रतिष्ठा करते हुए भी, उनमें उदात्तता का समावेश करते हुए भी, उन्हें भूतल का प्राणी ही रखा है - केवल कल्पनालोक के प्राणी न बनाकर प्रस्तर-प्रतिमा सी निर्जीवता प्रदान नहीं की । अपनी मानवोचित दुर्बलताओं के कारण ही 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के पात्र अमर हो गये हैं । उत्थान-पतन, उत्कर्षापकर्ष एवं सदसत् भावनाओं के बीच ही तो कालिदास के पात्रों ने अपने आदर्श की परीक्षा दी है । अतएव 'दुष्यन्त-चरित्र' को एक आदर्श चरित्र बनाने का प्रयास नहीं किया और किया भी हो तो उसमें कृतकार्य नहीं हुए- इन सब आक्षेपों का कोई प्रश्न ही नहीं उठता ।

दूसरा आक्षेप बल्देवप्रसाद उपाध्याय (?) का है । उनका कहना है कि शिव के चरित्र के प्रस्फुटन में कालिदास को जितनी सफलता मिली है, उतनी सफलता दुष्यन्त के चरित्र के प्रस्फुटन में नहीं मिली । यह आक्षेप भी निर्मूल प्रतीत होता है, क्योंकि यदि एक अति आदर्शवान् चरित्र की अवतारणा करना ही उद्देश्य होता तो वह महाभारत के 'शकुन्तलोपाख्यान' को अपने नाटक के आधार के रूप में निर्वाचित न करते । अत: उन्होंने देवाधिदेव जगत्पिता शिव के चरित्रांकन के अवसर पर जो योजनाएँ बनायीं, उनका प्रयोग दुष्यन्त के चरित्रांकन करते समय भी करें— ऐसी आशा करना अनुचित है । दुष्यन्त और शिव की तुलना ! शिव जगदीश्वर हैं, कवि के परम आराध्य देवता हैं । दुष्यन्त का चरित्र उनके चरण-रज का स्पर्श पाकर कृतकृत्य हो जाता, अत: तुलना का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता । कालिदास के स्वाभाविक आदर्शवान् नृपतियों का प्रतिबिम्ब भी दुष्यन्त में देखने का प्रयत्न करना अनुचित है, क्योंकि कालिदास का दुष्यन्त महाभारत-प्रख्यात दुष्यन्त है । कवि महाभारत के उस दुष्यन्त की पूर्णत: उपेक्षा नहीं कर सकता यदि वह उस दुष्यन्त की उपेक्षा कर अपने स्वाभाविक किसी

नृपति के चरित्र को दुष्यन्त कहकर शकुन्तलोपाख्यान पर आधारित नाटक में नायक की पदवी देने की धृष्टता करते तो उन्हें शकुन्तलोपाख्यान की घटनाओं में आमूल परिवर्तन करना पड़ता। कालिदास ने ऐसा कुछ भी नहीं किया है, अतएव कालिदास पर ऐसा आक्षेप करना उचित प्रतीत नहीं होता ।

डी० कुन्हन राजा महोदय ने जो आक्षेप किया है, वह भी मान्य प्रतीत नहीं होता है, क्योंकि कण्वाश्रम में दुष्यन्त का रूप अधिक प्रिय है अथवा धर्मासन पर बैठे हुए उस आसन की मर्यादा के अनुरूप दुर्वासाशापग्रस्त दुष्यन्त का मानसिक द्वन्द्वों से छूककर धर्म और न्याय करने वाला रूप अधिक प्रिय है- यह व्यक्ति विशेष की ~~विचार-सापेक्ष~~ अपने पर निर्भर करता है, उसका साधारणीकरण उचित नहीं है । धर्म और प्रेम, इन दोनों के सम्मिलन से भी तो एक अव्यक्त मधुर आनन्द की अनुभूति होती है, यदि दुष्यन्त के चरित्र में उस पवित्र-संगम को देखकर कोई आकृष्ट हो तो किसी को पंचम अंक के दुष्यन्त के रूप के प्रशंसक पर आक्षेप करने का अधिकार नहीं है । फिर, जिनको तपोवन में दुष्यन्त का स्वच्छन्द रूप प्रिय प्रतीत हुआ था, क्या उन्हें तपोवन के वृक्ष की आड़ में छिपकर नवयुवतियों का विश्रम्भालाप सुनने वाले अति साधारण दुष्यन्त के मुख से नि:सृत- `सतां हि सन्देह-पदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्त:करणप्रवृत्तय:` और आगे `तथापि तत्त्वत एवैनामुपलप्स्ये` कहने वाले दुष्यन्त के धर्मभाव से विस्मय नहीं हुआ था ? क्या अनसूया के मुख से शकुन्तला का जन्म-वृत्तान्त सुन लेने के पश्चात् निश्चिन्त होकर निम्नलिखित स्वगतोक्ति करने वाले दुष्यन्त में धर्म और प्रेम का अपूर्व समन्वय देखकर आनन्द नहीं हुआ था ? —

> `भव हृदय ! साभिलाषं सम्प्रति सन्देहनिर्णयो जात: ।
> आशंकसे यदग्निं तदिदं स्पर्शक्षमं रत्नम् ॥`१।२४॥

यदि यहाँ भी उन्हें आनन्दानुभूति हुई थी और दुष्यन्त के इस स्वगत-भाषण से यदि उन्हें कोई विस्मय नहीं हुआ था अथवा होने पर भी दुष्यन्त का रूप अप्रिय अथवा अस्वच्छन्द प्रतीत नहीं हुआ था, तो पंचम अंक में धर्मासन पर बैठे हुए दुष्यन्त के आचरण से उन्हें विस्मयापन्न होने का कोई कारण नहीं दिखता । कण्वाश्रम में दुष्यन्त के चरित्र की त्रुटि- विच्युतियों के बीच-बीच में धर्मभाव रूप जिस पुण्य की रेखा की बार-बार झाँकी मिलती थी, उसीका ही व्यापक रूप तो पंचम अंक में धर्मासन पर बैठे हुए दुष्यन्त के आचरण में देखने को मिला । यदि कण्वाश्रम में दुष्यन्त का रूप किसी को प्रिय लगा हो तो पंचम अंक में वह अढ़ाई होने के कारण अधिक प्रिय प्रतीत होना चाहिये ।

डा० सुरेन्द्रनाथ शास्त्री की धारणा यह है कि कालिदास का दुष्यन्त भी कण्व के भय से उनके आने से पहले ही राजधानी को लौट गये[1]। -ऐसी धारणा नितान्त असंगत है। कालिदास ने महाभारत के दुष्यन्त के इस आचरण से अपने चरित्र-नायक को अछूता रखने के लिये ही दुर्वासा-शाप और अभिज्ञान की घटना की कल्पना की। शाकुन्तल में दुष्यन्त को अपने कुकर्म के लिये ऋषि के कोप का कोई भय नहीं हुआ था। उनके मुख से हमें कोई ऐसी स्वगतोक्ति भी सुनायी नहीं दी, जिससे इस प्रकार की आशंका के लिये अवकाश हो सके। शकुन्तला का पाणिग्रहण करते समय उनकी यह उक्ति- `भीरु! अलं गुरुजन भयेन। दृष्ट्वा ते विदितधर्मा तत्रभवान्न तत्र दोषं ग्रहीष्यति कुलपतिः।

गान्धर्वेण विवाहेन बह्व्यो राजर्षिकन्यकाः।
श्रूयन्ते परिणीतास्ताः पितृभिश्चाभिनन्दिताः ।।` 3/20

उनकी यही मानसिक दृढ़ता इस बात को प्रकट करती है कि शकुन्तला का विधिवत् पाणिग्रहण करने के कारण उन्होंने ऋषिकोप की कोई आशंका नहीं की थी। वे विवाह के अनन्तर किसी के भय से वहाँ से नहीं भागे। अनसूया का कथन ही इस बात का प्रमाण है कि दुष्यन्त ऋषियों की इष्टि-समाप्ति तक आश्रम में ही रहे। जब ऋषियों का यज्ञ कार्य सम्पन्न हो गया और उन्होंने दुष्यन्त को राजधानी लौट जाने की अनुमति दी, तभी वे गये और जाने से पहले शकुन्तला को अपनी अंगूठी देकर गये। यदि उनके मन में कोई पाप होता तो वे शकुन्तला को स्वनामांकित अंगूठी कभी न देते। फिर, दुष्यन्त जिस दिन गये उसी दिन शकुन्तला दुर्वासा के द्वारा अभिशप्त हुई और उस शाप के प्रभाव से दुष्यन्त शकुन्तला को भूल गये। इस प्रकार ध्यान से देखा जाय तो दुष्यन्त ने शकुन्तला के प्रति कोई अन्याय नहीं किया है। उन्होंने अनसूया के सम्मुख शकुन्तला का पाणिग्रहण करते समय जो प्रतिज्ञा की थी, उससे एक पग भी नहीं डिगे। इसीलिये तो कण्व उन्हें अभिशाप नहीं देते। शकुन्तला की सखी कहती है- `न तादृशा आकृतिविशेषा गुणविरोधिनो भवन्ति।` इसीलिये नाटक के अन्त में देव-राज मारीच दुष्यन्त को आश्वस्त करते हुए कहते हैं- `अलमात्मापराधशंकया।`- इस प्रकार कालिदास के दुष्यन्त निर्दोष है, उनके आचरण में ऐसी कोई त्रुटि नहीं थी, जिसके कारण वह ऋषि के कोप की आशंका कर उनके सान्निध्य से दूर रहने का प्रयास करते।

---

1 "The Laws and Practice of Sanskrit Drama" (part II, ch. I, Section ii)

नहीं जाना चाहिये था कि वह नाटक लिख रहे हैं । वेणीसंहार के कई स्थलों को पढ़ते समय यही अनुभव होता है कि हम कोई गद्यकाव्य पढ़ रहे हैं, नाटक नहीं। और दृश्य रूप में प्रस्तुत किये जाने पर निःसन्देह ये स्थल अरुचिकर और धैर्यच्युत कराने वाले लगेंगे ।

जहाँ वेणीसंहारकार पूर्वोक्त त्रुटि से मुक्त हुए हैं, वहाँ पर हमें बड़े सुन्दर संवादों की संयोजना दिखाई पड़ती है । उदाहरणार्थ प्रथम अंक में भीम और सहदेव का संवाद । वस्तुतः प्रथम अंक में संवाद की निपुणता के कारण ही भट्टनारायण-चित्रित भीमसेन पाठक अथवा दर्शक के हृदय के बहुत समीप पहुँच जाते हैं । उनकी वीरता भी भलीभाँति व्यञ्जित हो सकी है । अतएव यह स्पष्ट है कि भट्टनारायण इस प्रकार की उत्कृष्ट शैली से अनभिज्ञ अथवा अपरिचित नहीं थे, किन्तु सम्भवतः केवल समसामयिक मान्यताओं का ध्यान रखकर [illegible] वे स्थान-स्थान पर दुरूह शैली का प्रयोग कर अपने पाण्डित्य की घोषणा का मोह न छोड़ सके ।

वेणीसंहार की संवाद-शैली का एक और वैशिष्ट्य है। वह है दो विपरीत अर्थ देने वाली श्लिष्ट पदावली का प्रयोग कर एक ही वाक्य के उच्चारण से भिन्न-भिन्न पात्रों पर भिन्न-भिन्न प्रकार की प्रतिक्रिया करवाना । यद्यपि यह भी पाण्डित्य की अप्रत्यक्ष सूचना ही है, तथापि इससे पात्रों के कथोपकथन में एवं कथावस्तु में एक चमत्कार आ ही गया है । ऐसी प्रक्रिया नाटक की प्रस्तावना से ही प्रारम्भ हो जाती है । सूत्रधार शरद् ऋतु का वर्णन करता है, पारिपार्श्विक उसमें प्रयुक्त 'धार्तराष्ट्र' शब्द का दूसरा ही अर्थ लेता है और उसके कारण सूत्रधार के मुख से उच्चारित श्लोक का अर्थ उसे बड़ा अमंगलजनक प्रतीत होता है । सूत्रधार उसका भ्रम दूर करता है, फिर भी पारिपार्श्विक का शंकित हृदय शान्त नहीं हो पाता । तब सूत्रधार कहता है- 'मारिष । इस समय श्रीकृष्ण भगवान् ने सन्धि कराने के लिये अपनी इच्छा से दूतभाव स्वीकार करके सम्पूर्ण अमंगलों को शान्त कर दिया है। क्योंकि सन्धि हो जाने के कारण शत्रुओं के साथ पाण्डु-पुत्र, जिनकी अग्निरूपी विद्वेष शान्त हो चुका है, श्रीकृष्ण भगवान् के साथ प्रसन्न रहें और विग्रह-विहीन कौरव, जिन्होंने प्रेम से समस्त भूमण्डल पर अधिकार कर लिया है, अपने कर्मचारियों के साथ स्वस्थ रहें ।'

इसी बीच भीमसेन रुष्ट हो जाते हैं और वह 'स्वस्थ' शब्द पर जोर देकर यह कहते हुए प्रवेश करते हैं- 'अरे ! पापी दुष्ट ! व्यर्थ मंगलपाठकारी ! कहाँ से स्वस्थ ! धृतराष्ट्र के पुत्र लाख का घर बनाकर, विष-मिश्रित आहार तथा द्यूतभवन में प्रवेश करवाकर हम

यद्यपि पताकास्थान मुख्यतः कथावस्तु के तत्त्व होते हैं, किन्तु चूँकि कथावस्तु स्वयं संवादों के माध्यम से अपनी रूपरेखा पाती है— अतएव मैं पताकास्थानों को संवाद के लिये भी महत्त्वपूर्ण मानती उचित हूँ । वेणीसंहार में पताकास्थानों का सफल प्रयोग हुआ है, इससे संवाद में भी बड़ा चमत्कार आ गया है । दुर्योधन के ध्वजास्खलन से न केवल उसके भावी विनाश का संकेत मिलता है, किन्तु इससे संवादगत जो चमत्कार उत्पन्न हुआ है, उसका दर्शन पहले ही कर चुके हैं । इसी प्रकार द्वितीय अंक के अन्त में कथावस्तु का वह अंश जहाँ भानुमती के प्रति दुर्योधन के मुख से उच्चारित "पर्याप्तमेव करभोरु ममोरुयुग्मम्" वाक्य के बाद ही कञ्चुकी का "महाराज, टूट गया । टूट गया ।" कहना तथा आगे कञ्चुकी के द्वारा ऐसे शब्दों से दुर्योधन के रथकेतन टूटने का वर्णन करना जिससे भावी भीम के द्वारा दुर्योधन के भावी पतन की भी सूचना मिलती है— पताकास्थान तो है, किन्तु संवादगत-सौन्दर्य-विधायक भी है । इस अंश की उद्धृति यहाँ अप्रासंगिक नहीं होगी :—

"राजा- तत्किमित्यनास्तीर्णं कठिनशिलातलमध्यास्ते देवी ।

लोलांशुकस्य पवनाकुलितांशुकान्तं
त्वद्दृष्टिहारि मम लोचनबान्धवस्य ।
अध्यासितुं तव चिरं जघनस्थलस्य
पर्याप्तमेव करभोरु ममोरुयुग्मम् ॥

(प्रविश्य पटाक्षेपेण सम्भ्रान्तः)

कञ्चुकी- देव, भग्नं भग्नम् ।

(सर्वे साकूतं पश्यन्ति)

राजा- केन

कञ्चुकी- भीमेन

राजा- कस्य

कञ्चुकी- भवतः

राजा- आः किं प्रलपसि ।

भानुमती- हञ्ज किं अणिट्ठं मन्तेसि ।

राजा- धिक्प्रलापिन्, वृद्धापसद, कोऽयमद्य ते व्यामोहः

कन्चुकी- देव, न खलु कश्चिद्व्याघातः । सत्यमेव ब्रवीमि ।
भग्नं भीमेन भवतो मरुता रथकेतनम् ।
पतितं किंकिणीक्वाणबद्धाक्रन्दमिव क्षितौ ।। २|२४

इस अंक की संवाद-शैली इतनी सुगठित है कि इसमें नाट्य के कई तत्व एक साथ समाविष्ट हो गये हैं । इसमें 'लीलांशुक--- ' इत्यादि से लेकर कन्चुकी के[1] 'देव भग्नं भग्नम्' इत्यादि तक 'छलसन्धि' है; 'अध्यासितुं तव चिरात्' प्रस्तुत उद्धरण के उस श्लोक की अन्तिम पंक्ति से लेकर कन्चुकी के 'देव भग्नं भग्नम्' तक 'गण्ड' नामक वीथ्यंग[2] है; और श्लोक की पूर्वोक्त पंक्ति से लेकर कन्चुकी के मुख से उच्चारित 'भग्नं भीमेन भवतो -------------- क्षितौ' तक तृतीय पताकास्थान[3] है । भट्टनारायण की शास्त्रीय प्रतिभा का यह अंश एक अनन्य प्रकाश है ।

जहाँ-जहाँ करुण रससिक्त संवाद हैं वहाँ-वहाँ संवाद-शैली अपूर्व काव्यमयी बन जाती है । ऐसे स्थलों पर प्रायः सम्बोधन पदों की पुनरावृत्ति से सारा वातावरण अत्यन्त करुण बना देते हैं । उदाहरणार्थ तृतीय अंक में पितृशोक से व्याकुल अश्वत्थामा के करुणोद्गार में इसी शैली के कारण मानो जगत् भर का कारुण्य एकत्रित हो जाता है —

'युधिष्ठिर, युधिष्ठिर, अजातशत्रो, अमिथ्यावादिन्, धर्मपुत्र, तातवत्सल है किमनेनापकृतम् । अथवा किमनेनालीकप्रवृत्तिविप्रलम्भेन । अर्जुन, सात्यके, बाहुशालिन्वृकोदर, माधव, युक्तं नाम भवतां सुरासुर-मनुजलोकैकधनुर्धरस्य द्विजन्मनः परिणतवयसः सर्वाचार्यस्य विशेषतो मम पितुरमुना सुखप्रकृतसंकेन मनुजपशुना न्यस्यमानमनुज्ञातुम् ।'

कहीं पर संवादों के एक सम्बोधन पद के दो तीन पर्यायवाची रखकर भी ऐसा ही वातावरण प्रस्तुत कर देते हैं । चतुर्थ अंक में दुर्योधन दुश्शासन वध के समाचार को सुनकर बहुविध विलाप करने बाद आकाश की ओर देखकर कहता है —

१- 'इष्टार्थमुक्तं बहुधा भावतोऽकैर्मीभिधनम् । वाक्यान्तरेण संयोगान्छलोऽ - यमभिधीयते ।' इति भरतः

२- 'गण्डं प्रस्तुतसंबन्धि भिन्नार्थं सत्वरं वचः ।' - साहित्यदर्पण षष्ठ परिच्छेद

३- 'अर्थोपक्षेपकं यत्तु लीनं सविनयं भवेत् । श्लिष्टप्रत्युत्तरोपेतं तृतीयमिदमुच्यते । - साहित्यदर्पण षष्ठ परिच्छेद

"ननु भो हतविधे, कृपाविरहित, भरतकुल-विमुख,
अपि नाम भवेन्मृत्युर्न च जन्ता वृकोदर: ।"
यहीं पर उनका सारा शोक मानो चरम अवस्था (*climax*)पर
पहुँच जाता है ।

किन्तु भट्टनारायण ने संवाद की अपनी ही इस सुन्दर शैली का षष्ठ अंक में दुरुपयोग कर दिया है । अतिलम्बायमान दीर्घ समास-पदों के प्रयोग करने के कारण युधिष्ठिर का भ्रातृशोक अस्वाभाविक और कृत्रिम बन गया है । युधिष्ठिर अर्जुन-वध की आशंका करके विलाप करने लगते हैं —

"हा वत्स सव्यसाचिन्, हा अनद्भुतमल्ल, हा निवातकवचीकूरण निष्कराट-कीकृतामरलोक, हा बदर्याश्रमुनिनिर्जितीदलाफ, हा द्रोणाचार्य प्रियशिष्य, हा अस्त्रशिक्षा-बल परितोषितगांगेय, हा राधेयकुलकमलिनीप्रालेयवर्ष, हा गन्धर्वनिर्वासितदुर्योधन, हा पाण्डवकुलकमलिनीराजहंस - - - -"

पिछले अध्याय में हम महाभारतीय कथा और प्रस्तुत नाटक की कथावस्तु का तुलनात्मक विवेचन करते समय देख चुके हैं कि महाभारत की आधिकारिक घटना के प्राय: सभी पात्र इसमें भी विद्यमान हैं । सुन्दरक, जयन्धर, बुद्धिमतिका, राक्षस-दम्पती, सुवदना, तरलिका— ऐसे कुछ अप्रधान पात्र हैं जो महाभारत-ख्यात नहीं हैं । दुर्योधन-पत्नी भानुमती भी कवि की कल्पना-संभूता है । कवि ने इस चरित्र का चित्रण अत्यन्त श्रद्धापूर्वक किया है । सुन्दरक, जयन्धर, राक्षस-दम्पती, सुवदना, तरलिका आदि पात्रों की सृष्टि केवल कथावस्तु की प्रगति के लिये की गयी है, अतएव इनके चरित्र का वैशिष्ट्य दिखाने के लिये कवि ने कोई प्रयत्न नहीं किया । अमहाभारतीय पात्रों में भानुमती पर सर्वाधिक ध्यान दिया गया है और दूसरा स्थान बुद्धिमतिका का है । कवि ने जिस प्रकार एक ही अंक में भानुमती के चरित्र के समस्त गुणों की झाँकी दिखा दी है उसी प्रकार केवल कुछ वाक्यों के संवाद में ही बुद्धिमतिका को द्रौपदी की योग्य सहचरी के रूप में चित्रित कर दिया है ।

धृतराष्ट्र के चरित्र-चित्रण में कवि कोई नवीनता नहीं दिखाई । धृतराष्ट्र के चरित्रांकन में कवि ने प्राय: महाभारत का ही अनुसरण किया है । दुर्योधन का चरित्र महाभारत से भी गिरा हुआ है । द्वितीय अंक की योजना करके कवि ने दुर्योधन-चरित्र को पतन के अन्धकार में निक्षिप्त कर दिया है । कर्ण-चरित्र की भी महत्ता की अपेक्षा

संकीर्णता को भी प्राधान्येन चित्रण हुआ है। अर्जुन चरित्र के प्रति कवि का विशेष ध्यान नहीं रहा, फलत: महाभारत के गाण्डीवी अर्जुन कुछ निष्प्रभ हो गये। अश्वत्थामा ने पद-मर्यादा के मोह में अपने व्यक्तित्व को महाभारत की अपेक्षा बहुत संकुचित कर लिया। महाभारत के कर्ण के ललाट पर सेनापतित्व की टीका करने वाले उदार, वीर अश्वत्थामा के साथ वेणीसंहार के अश्वत्थामा का कुछ विशेष साम्य नहीं है। द्रौपदी का भी मनस्विनी प्रात:स्मरणीया का रूप सामने नहीं आता। युधिष्ठिर में भ्रातृप्रेम, शान्तिप्रियता, निश्छलता आदि अनेक गुणों का समावेश किया गया। वस्तुत: केवल युधिष्ठिर के ही उदात्त रूप के प्रति कवि कुछ सचेतन रहे— फिर भी वे उनके चरित्र को एक स्पष्ट समुज्ज्वल रूपरेखा न दे सके। भीम-चरित्र पर कवि ने बहुत ध्यान दिया, किन्तु उन्हें नायक के पद पर अधिष्ठित न कर पाये। उनकी वीरता, उनकी इच्छा सब युधिष्ठिर की मुखापेक्षी है। उनमें स्थैर्य की अपेक्षा आवेश अधिक है। उनके मन में तर्क की अपेक्षा प्रमाद अधिक है। पंचम अंक में भीम के मुख से धृतराष्ट्र के प्रति उच्चारित शब्द कितने ही वीरत्वव्यञ्जक क्यों न हों, किन्तु भीम का चरित्र इसीसे त्रुटिपूर्ण हो जाता है।

चरित्र-चित्रण के प्रसंग में हमें जो त्रुटि-बिन्दुयाँ दिखाई पड़ती हैं अथवा भट्टनारायण की इस कृति के नायकत्व के विषय में जो विवाद उपस्थित किये जाते हैं— सब के मूल में इस नाटक का विशिष्ट स्वरूप ही है। यह एक घटना-प्रधान नाटक है चरित्र प्रधान नहीं। भट्टनारायण ने घटना-चित्रण को चरित्र-चित्रण की अपेक्षा अधिक महत्व दिया है। सम्पूर्ण महाभारत की प्रमुख घटनाओं का प्रस्तुतीकरण कवि का प्रमुख ध्येय रहा है। इसी कारण से हमें इस नाटक में कोई चरित्र पूर्ण नहीं दीखता, किसी चरित्र का उद्दीप्त रूप नहीं दीखता। कवि ने किसी चरित्र के प्रति अधिक ध्यान नहीं दिया है, उसकी सर्वांगीण रूपरेखा देने का प्रयत्न नहीं किया है। अनेक घटनाओं का संयोजन किया गया है और जिस घटना के प्रवाह में जो पात्र रंगमंच पर आ गये, वहीं उस घटना का केन्द्रबिन्दु बन गये। इसीलिये नायक का प्रश्न विवादास्पद हो गया। इसीलिये भीम, दुर्योधन, युधिष्ठिर कोई भी प्रत्येक अंक में उपस्थित न हो सके। वस्तुत: समग्र महाभारत के आधिकारिक घटनाओं को एकसूत्र में बाँधकर उनको किसी एक नायक के साथ समर्पित करके दृश्यरूप में दिखाना संभव नहीं है। महाभारत की आधिकारिक कथावस्तु की घटनाओं पर यदि किसी का एकछत्र प्रभाव है तो वह केवल परम-पुरुष श्रीकृष्ण का है, अकेले भीम, अर्जुन, युधिष्ठिर, दुर्योधन अथवा अकेले कर्ण

उन घटनाओं के एकसूत्रत्व को अपने हाथ में थाम नहीं सके । इसीलिये भास ने पृथक-पृथक ६ रूपकों की रचना करके अपनी दूर-दर्शिता का परिचय दिया । भट्टनारायण विशालदत्त का अनुकरण करना चाहते थे, किन्तु वे उसके लिये उपयुक्त आधार का निर्वाचन नहीं कर पाये । उनकी योजना उनके सामर्थ्य की तुलना में कहीं अधिक बड़ी हो गयी । फिर इतनी बड़ी योजना के साथ-साथ वह लक्षण ग्रन्थों का भी अनुसरण करने की अभिलाषा करते थे— इसीलिये कहीं-कहीं वह लक्ष्यभ्रष्ट हो गये और उनकी रचना में त्रुटियों का अवकाश हो गया । भट्टनारायण की विराट प्रतिभा में कोई सन्देह नहीं है । वह यदि अपनी रचना के लिये इससे कम विस्तृत आधार का निर्वाचन करते तो अपनी प्रतिभा का वास्तविक परिचय दे सकते थे । इतनी बड़ी योजना के निर्वाह के पथ में उनकी प्रतिभा की मुक्ता-बिन्दु बिखर गयीं, कहीं त्रुटियों के [illegible] में उनकी द्युति ढँक गयी । अतएव यदि उन्हें एकत्रित करने में वह सफल होते तो निःसन्देह उन्हें इससे कहीं अधिक सम्मान प्राप्त होता, वह अपनी प्रतिभा के स्वर्णिम आलोक से अधिक महनीय हो सकते ।

सप्तम अध्याय

उत्तरकालीन नाटकों के कथानकों के विकास में पूर्वालोचित नाटकों का योगदान

विक्रमीय प्रथम सहस्राब्दी तक के महाभारतमूलक नाटकों का आगामी नाटकों के कथानकों के विकास में क्या योगदान रहा है — इस बात पर विचार करने पर शाकुन्तल का नाम सर्वप्रथम मन में आता है । शृंगाररस के नाटकों में तो प्राय: सर्वत्र शाकुन्तल के प्रथम तीन अंकों की प्रतिध्वनि ही सुनायी देती है । नायक का छुप-छिप कर नायिका और उसकी सखियों का विस्रम्भालाप सुनना, अवसर पाकर सहसा प्रकट होना, प्रथम मिलन में ही परस्पर आसक्त होना, प्रथम साक्षात्कार के समय किसी गुरुजन के आदेश से विवश होकर नायिका का प्रस्थान करना, नायक-नायिका की कामदशा, कामसंतप्ता नायिका के मुख से उसकी हृद्गत अभिलाषा का प्रकट होना, उसे सुनकर सहसा नायक का आविर्भूत होकर नायिका को आश्वस्त करना— अर्थात् शाकुन्तल के प्रथम तीन अंकों का प्रभाव उत्तरकालीन शृंगारी नाटकों के कथानक में अत्यधिक मात्रा में पड़ा है । इन तीनों अंकों ने मानो कथानक में शृंगाररस के विकास के लिए एक नूतन सरणि की सृष्टि कर दी । केवल शृंगाररस के नाटकों में ही नहीं, अन्य अंगीरस वाले नाटकों के कथानकों में भी इस नवीन सरणि का पर्याप्त प्रभाव परिलक्षित होता है— उदाहरण के लिए सप्तम शताब्दी के नाटककार महाराज हर्षवर्धन के नागानन्द नाटक को लिया जा सकता है । इस नाटक के अंगीरस के सम्बन्ध में प्राचीन आचार्यों में बड़ा मतभेद हुआ था । कोई उसका अंगीरस शान्त मानते तो कोई दयावीर । सम्भवत: इसके शृंगाररस-विषयक कथांश को एक अन्यतम प्रमाण के रूप में ग्रहण करके शान्त के प्रसंग को दूर किया जा गया । जो कुछ भी हो, जब हम इसके शृंगारिक कथांश की ओर दृष्टिपात करते हैं तब कथानक के विकास में शाकुन्तल का प्रभाव स्पष्टरूप से सामने आ जाता है ।

इसका प्रथम अंक शाकुन्तल के समान ही नायक के तपोवन-प्रवेश से प्रारम्भ होता है । दुष्यन्त मृगया करते हुए तपोवन में पहुँचे थे, नागानन्द का नायक पिता की आज्ञा से तपोवन में पहुँचते हैं । तपोवन में दुष्यन्त ने अकेले प्रवेश किया था, यहाँ जीमूतवाहन के साथ विदूषक भी प्रवेश करता है । आश्रम में प्रवेश करते ही जीमूतवाहन को भी दुष्यन्त के समान शुभ-निमित्त दिखायी पड़ता है । दुष्यन्त की दक्षिण भुजा में स्पन्दन हुआ था, जीमूतवाहन का दक्षिण नयन स्पन्दित हो उठता है । इस शुभ निमित्त को देखकर जीमूतवाहन जो मन्तव्य करते हैं वह दुष्यन्त की उक्ति का ही अनुकरण करता है ।

जीमूतवाहनः— (दक्षिणाक्षिस्पन्दनं सूचयित्वा विमृश्य) सखे,

दक्षिणं स्पन्दते चक्षुः फलाकांक्षा न कापि मे ।

न च मिथ्या मुनिवचः कथयिष्यामि किं न्विदम् ॥"

इसमें और शाकुन्तल के नायक की उक्ति में केवल शब्दगत भेद है, भाव दोनों का एक ही है —

" शान्तमिदमाश्रमपदं स्फुरति च बाहुः कुतः फलमिहास्य ।

अथवा भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र ॥"

तपोवन-वर्णन में भी पर्याप्त साम्य है । प्रथम अंक में विदूषक और जीमूतवाहन का संवाद— शाकुन्तल के प्रथम अंक में सूत और दुष्यन्त के संवाद का ही अनुसरण करता है । तपोवन-वर्णन के प्रसङ्ग में शाकुन्तल के कण्वाश्रम-वर्णन का बारम्बार स्मरण किया गया था ऐसा प्रतीत होता है । तपोवन-वर्णन में "तापसकुमारिका-पूर्यमाणबालवृक्षकालवालस्य ---"इत्यादि वाक्यांश से शाकुन्तल के प्रथम अङ्क की घटनाओं का स्मरण हो आता है ।

नायक का छिप-छिपकर नायिका को देखना, उसका विश्रम्भालाप सुनना और अवसर देखकर नायिका के सम्मुख प्रकट होना इत्यादि बातों में "नागानन्द" शाकुन्तल के प्रथम अंक का ही अनुसरण करता है । नागानन्द के प्रथम अंक के कुछ स्थलों में शाकुन्तल के तृतीय अंक का भी प्रभाव परिलक्षित होता है । जीमूतवाहन को सहसा उपस्थित देख कर मलयवती संभ्रम में पड़ जाती है, उस समय उसके प्रति नायक की आश्वासन-वाणी — शाकुन्तल के तृतीय अंक में दुष्यन्तकथित आश्वासन वाणी से प्रभावित प्रतीत होती है । नायक-नायिका के प्रथम मिलन में यहाँ भी विघ्न उपस्थित होता है और नायिका मलयवती के प्रस्थान के विषय में हर्षदेव भी कालिदास के समान ही निर्देश देते हैं —" सलज्जं सानुरागं च नायकं तिर्यक् पश्यन्ती निष्क्रान्ता ।"

१- द्रष्टव्य-"नागानन्द"
" कुसुमितं [illegible] ————[illegible] ॥ ११ ॥

२- ,, -"शाकुन्तल" (निर्णयसागर प्रेस, बम्बई) १ : "वैखानसकुमारकन्या—[illegible] ॥ १८

नागानन्द के द्वितीय अंक में मलयवती का मदनसंताप और सखियों द्वारा उसका उपचार भी शाकुन्तल के सदृश ही है। तृतीय अंक में मलयवती की सखी चतुरिका जब जीमूतवाहन के पास मलयवती को एकाकी छोड़कर चलने के लिए उद्यत होती है, तब मलयवती उससे कहती है —" हन्जे चतुरिके, कथं मामेकाकिनीमुज्झित्वा गच्छसि ?" चतुरिका संकेत करती है —" एवमेकाकिनी चिरं भव ।"— यहाँ शकुन्तला और उसकी सखियों के निम्नलिखित संवाद का प्रभाव स्पष्ट है—

" शकुन्तला- हला ! अशरणास्मि । अन्यतरा युवयोरागच्छतु ।

उभे - पृथिव्या यः शरणं स तव समीपे वर्तते ।" (शाकुन्तल तृतीय अंक)

नागानन्द में चतुरिका के चले जाने के बाद नायक-नायिका का सम्भोग-दृश्य भी शाकुन्तल के सदृश ही है। मित्रावसु के सन्देश से उस दृश्य का अन्त भी शाकुन्तल के समान ही होता है।

नागानन्द में कहीं-कहीं तो शाकुन्तल से पर्याप्त साम्य रखने वाली पदावली का भी प्रयोग हुआ है। उदाहरणार्थ, जीमूतवाहन को जब यह बात ज्ञात होती है कि यही मलयवती है, तब वह कहता है —"कथमियमसौ सिद्धराजदुहिता मलयवती ? अथवा रत्नाकरादृते कुतश्चन्द्रलेखायाः प्रसूतिः।" दुष्यन्त ने भी शकुन्तला को देखकर इसी प्रकार विस्मय व्यक्त करते हुए कहा था—

"राजा- कथमियं सा कण्वदुहिता ?" और आगे शकुन्तला का वास्तविक जन्म-परिचय जानने के बाद दुष्यन्त ने कहा-" न प्रभातरलं ज्योतिरुदेति वसुधातलात् ।"

शाकुन्तल का तृतीय अंक राजशेखर के "विद्धशालभञ्जिका" एवं "कर्पूरमञ्जरी" के तृतीय अंक के कथांश के विकास में भी प्रभावकारी सिद्ध हुआ है। विद्याधरमल्ल छिप कर सखी के द्वारा उपचार्यमाणा मदनसंतप्ता मृगाङ्कावली की कातरता को सुनते हैं। विदूषक बीच में जोर से छींक देता है, अतः मृगाङ्कावली विचक्षणा के साथ उस स्थान को छोड़कर चली जाती है। राजा विद्याधरमल्ल उस स्थान पर पहुँच कर नायिका की शिशिरोपचारसामग्री को छू छू कर वैसा ही प्रेम प्रकट करता है, जैसा कि दुष्यन्त ने शाकुन्तल के तृतीय अंक में किया था—

१- द्रष्टव्य- शाकुन्तल के तृतीय अंक का [illegible] श्लोक [illegible]

चन्द्रलेखा - अणुकम्पादु देव्वो अहूमि गमणस्स ।

नायकः - मुञ्च गम्यतां पुनरागमनाय ।" इत्यादि

द्वितीय अंक में नायक और विदूषक का संवाद है । यहाँ भी कथावस्तु शाकुन्तल के द्वितीय अंक के समान ही विकसित होती है । नायक विदूषक से कहते हैं—

" सखे श्रीवत्स !

वरतनुमनिरीक्ष्य कन्यकां
कुसुमशरासविकासवर्धिताम् ।
नयनयुगफलं न लब्धवान्
यदिह विलम्ब्य समागतो भवान् ।"

इसमें और शाकुन्तल के द्वितीय अंक में दुष्यन्त की निम्नलिखित उक्ति में कितना अधिक साम्य है —

"माढव्य ! अनवाप्त चक्षुःफलोऽसि । येन त्वया दर्शनीयं न दृष्टम् ।"

आगे विदूषक श्रीवत्स का उपालम्भ भी शाकुन्तल के माढव्य के उपालम्भ[1] के सदृश ही है —

श्रीवत्सः - (स्वगतम्) अहो अहीवं दु अहिणिवेसो णाअरंअणो अणो विदूसअस्स । ता ओसरं णो माअस्सं दाव । (प्रकाशम्) भो राआणो णवण्णिआ होसि त्ति सच्चो लोअवादो । जं तुमं अहूमसुणसिलाअलिणण्णं देविअणं अमणिणाअ जं कं पि कराणावं अहिणं दथि । कहूणा पाविअं दु एवम् ।"

शाकुन्तल के माढव्य के समान[2] ही विदूषक नायक से पूछता है " अह से तुम्हे उद्दिसिअ कीदिसो दिट्ठिविसेसो !

फिर श्रीवत्स और श्रीकृष्ण का भी वार्तालाप होता है, उसमें भी वस्तुस्थिति के साम्य से शाकुन्तल का स्मरण होता है —

१- अह कथा वि पिंडखज्जूरेहिं उव्वेजिदस्स तिंतिणीए अहिलासो भवे, तह इत्थिआरअणपरिभाविणो भवदो इअं अब्भत्थणा ।

२-" अअमोदं अंतरेण कीदिसो दे दिट्ठिराओ ?"

नायक का छिपकर सुनना और उसकी दो सखियों का वार्तालाप सुनना और नायिका का संताप अत्यधिक तीव्र हो जाने पर उनका प्रकट होना इत्यादि घटनाओं में शृङ्गार-रस शाकुन्तल के समान ही चित्रित होता है ।

हस्तिमल्ल-विरचित "मैथिलीकल्याणं"[1] नामक नाटक के चतुर्थ अंक का कथानक शाकुन्तल के तृतीय[2] अंक की कथा से प्रभावित है, निम्नलिखित उद्धरण से दोनों के शब्दगत साम्य भी स्पष्ट होता है --

"राम: - (सहसोपसृत्य संज्ञया विनीतां विनिवार्य) प्रिये समाश्वसिहि समाश्वसिहि

सीता - (ससम्भ्रमं दृष्ट्वा साकूतं सलज्जं चात्मगतम्) कधं सच्चं चेअ परमात्मादो अज्जउत्तो । (गन्तुमिच्छति) ।

राम: - (सस्मितं गृहीत्वा) अयि मुग्धे -------इत्यादि

विनीता- (विलोक्य) कहिं एवं बालचंदणतरुमूलालवालपरिसरण्णं विलोइअ चंदकंतवइदी जाव अराणादी एवं पेक्खिम ।

विदूषक: -होदि विणेवं सच्चिदं तु तं जाव भावाणीकुले पच्छंदवं अं पि दे सहाओ होमि । (निष्क्रान्ता विनीता विदूषकश्च)

सीता- कधं पिअसहीवि एक्काइणिं मं परिच्चइअ गदा ।

राम: - नन्वयमहं ते परिजनविशेषः संनिहितः ।

सीता- (लज्जां नाटयति) अन्नदो गन्तुमिच्छति ।

राम: - (हस्ते गृहीत्वा निवारयन्) चिरस्य कालस्य समागते मनो ---।इत्यादि

[illegible] - (आत्मगतं) असाधारणरमणीयं खलु नववधूचिह्नं । तथापि कथमपि परिरक्ष्या ------ ।।

विनीता विदूषकश्च- (प्रविश्य सत्वरमुपसृत्य च) आअच्छदु एत्थ एक्का इत्थिआ ता किं करिस्सं ।

विनीता- भट्टु तुम्हेहि एत्थ अन्तरिदेहि होदव्वं ।

राम: -यथाह भवती ।"

१- द्रष्टव्य- हस्तिमल्लविरचितम् "मैथिलीकल्याणम्" माणिकचन्द्र-दिगम्बर जैन ग्रन्थमालासमिति से प्रकाशित

२-,, -शाकुन्तल :निर्णय०प्रेस १९५८: पृ० १०४, १०८, ११३, ११४

सत्रहवीं शताब्दी में [illegible] विश्वनाथदेव ने "मृगाङ्कलेखा"[1] नामक एक नाटिका की रचना की। इसमें भी कथानक के विकास में कालिदास के नाटकों का अत्यधिक प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। यहाँ भी कलिङ्गेश्वर मृगया-प्रसङ्ग में घूमते हुए कामरूप-राज की कन्या को देखते हैं। यद्यपि शाकुन्तल के समान इस साक्षात्कार का प्रत्यक्ष दृश्य-रूप चित्रित नहीं है, तथापि विदूषक की उक्ति में उसकी सूचना दी गयी है-"अतः एवास्मत्स्वामी कलिङ्गेश्वरः कामरूपेश्वरतनयां मृगाङ्कलेखां मृगयाप्रसङ्गेनावलोक्य------" इत्यादि। जब कवि नायक-नायिका के प्रथममिलन-दृश्य को प्रस्तुत करते हैं, तब वे शाकुन्तल का ही आलम्बन ग्रहण करते हैं। नायक और नायिका परस्पर परिचित भी हो रहे थे कि नेपथ्य से नायिका को बुलाया जाता है। शकुन्तला के समान ही वह राजा को देखती हुई बड़े दुःख से प्रस्थान करती है।

इस नाटिका के द्वितीय अंक का कथानक शाकुन्तल के तृतीय अंक के कथानक का अनुसरण करता है,। शाकुन्तल के नायक के समान नायक नायिका की अव-स्थिति का अनुमान करता है -

" (ऊर्ध्वमवलोक्य) हन्त मध्याह्नचण्डदीधितिमण्डली कुण्डलीकरोति सर्व-च्छायापादपानाम् -----तदिदानीं वेतसलतामण्डपवेदी ----तरलाक्षीमिमां तर्कयामि।"

शाकुन्तल के तृतीय अंक में दुष्यन्त ने निम्नलिखित शब्दों में अनुमान किया था -
(सूर्यमवलोक्य) इमामुग्रातपवेलां प्रायेण लतावलयवत्सु मालिनीतीरेषु ससखीजना शकुन्तला गमयति।-----अस्मिन्वेतसपरिक्षिप्ते लतामण्डपे संनिहितया भवितव्यम्"
दोनों का भाव-साम्य दर्शनीय है।

कलिङ्गेश्वर वहाँ प्रवेश करके नायिका को उसी अवस्था में देखते हैं, जैसाकि दुष्यन्त ने शकुन्तला को वेतसलताकुञ्ज में देखा था। यहाँ भी नायिका कामज्वर से व्यथित है, दो सखियाँ उसकी परिचर्या कर रही हैं। क्रमशः नायिका सखियों

१- द्रष्टव्य- "मृगाङ्कलेखा" [Sarswati Bhawan Text No.26]

है अपने संताप का कारण कहती है । यहाँ भी नायक शाकुन्तल के नायक के समान छिपकर नायिका की बातें सुनता है । इस स्थल पर कवि शाकुन्तल से अत्यधिक प्रभावित प्रतीत होते हैं--

" :नेपथ्ये: हला अलं परिदेविदेण

राजा- :शब्दानुसारेणावलोक्य: अये कथमियं मम मनोरथचित्रशाला बाला मृगाङ्कलेखा सह सखीभ्यामास्ते ।

विम्बाधरारुणा हरिणीरपि सुरैरियमङ्गणाऽङ्गणकैः स्वैः ।

विशदयति मनोऽनुरागजन्यं चिरविमुक्तिसुमुखी सखीजनेषु ।।--

तदावत्तान्तरितो विटपायैव: प्रियाविस्रम्भभाषितानि ।"

दुष्यन्त ने वेतसलतागृह में शाकुन्तला को देखकर कहा था--

" एषा मे मनोरथप्रियतमा सकुसुमास्तरणं शिलापट्टमधिशयाना सखीभ्यामन्वास्यते । भवतु श्रोष्याम्यासां विस्रम्भकथितानि ।" इत्यादि

प्रस्तुत नाटिका में भी नायक सहसा प्रवेश करते हैं । नायिका घबड़ा कर उठना चाहती है, नायक उसे आश्वस्त करते हैं । सखी रत्नाङ्गलिका व चकोरी को चन्द्रिका-सलिल पान कराने के बहाने चली जाती है । उसके चले जाने के बाद मृगाङ्कलेखा भी जाना चाहती है । राजा उसे रोकते हैं । नायक-नायिका के बीच उसी प्रकार का संवाद होता है, जैसा शाकुन्तल के तृतीय अंक में हुआ था । इसके अनन्तर नेपथ्य से बुलावा आने पर नायिका चली जाती है । शून्य लतागृह में एकाकी नायक नायिका की परित्यक्त शय्या को देख कर दुष्यन्त के समान ही खेद प्रकट करते हैं ।

अठारहवीं शताब्दी के श्रीरामवर्मन् के "रुक्मिणीपरिणय" नामक नाटक में यद्यपि प्रधानतः भवभूति के "मालतीमाधव" का प्रभाव पड़ा है, किन्तु कुछ स्थलों पर शाकुन्तल से भी प्रेरणा ली गयी है । उदाहरणार्थ, शकुन्तला के रूपवर्णन के समान ही इस नाटक में नायक वासुदेव नायिका रुक्मिणी की रूपसृष्टि के विषय में कहते हैं --

१- रुक्मिणीपरिणय' निर्णयसागर :१६१०:काव्यमाला न० ५७

२- 'शाकुन्तल' ।। ३।८।।

होगा — ऐसी प्रतीति होती है। पार्वतीपरिणय में भी कालिदास की रचनाओं के अनुरूप शिव की स्तुति की गयी है। इसमें कालिदास की उल्लिखित रचनाओं का प्रतिबिम्ब दर्शनीय है —

अष्टाभिरेव तनुभिर्भुवनं बभार
सौजन्यैर्ण महता निहितैर्गुणाभि: ।
अन्येषु सत्स्वपि च ईश्वरशब्दवाच्य:
सोऽयं तपस्यति वरो तव चन्द्रमौलि: ॥"

इस प्रकार उत्तरकालीन नाटकों के कथानकों के विकास में शाकुन्तल का अपूर्व योगदान रहा है। यदि यह कहा जाय कि उत्तरकाल में शृंगार-रस-सिक्त नाटकीय कथांश अथवा कथानकों के लिए शाकुन्तल के प्रथम तीन अंक ही आदर्शस्वरूप थे — तो सम्भवत: अत्युक्ति न होगी। किन्तु खेद की बात है कि शाकुन्तल के माध्यम से कवि ने जिस प्रेमादर्श की अभिव्यक्ति की, सम्भवत: उत्तरकाल में बहुत कम नाटककारों ने उसके अनुसरण करने का प्रयत्न किया। 'संभवत:' इसलिए कहा जा रहा है क्योंकि दुर्भाग्य से संस्कृत-भाषा में लिखित समग्र नाटकों का अध्ययन तो संभव नहीं हुआ। ऐसी अवस्था में सम्भाव्य मन्तव्य करना ही श्रेयस्कर प्रतीत होता है।

कालिदास ने प्रेम के स्वर्गीय रूप की अभिव्यक्ति के लिए ही तीसरी बार नाटक-रचना का उपक्रम किया। "शाकुन्तल" का सृजन इसी पावन उद्देश्य से हुआ है। कवि ने प्रेम को पार्थिव धरातल से उठाकर मारीच ऋषि के सत्कल्प-पुष्प वाली देवकुलीन तपोभूमि में प्रतिष्ठित किया। किन्तु कुछ अपने दो पूर्व नाटकों की शैली की अभ्यस्तता के कारण अथवा वस्तु-विन्यास के कारण उन्होंने तृतीय अंक तक प्रेम को दिव्यत्व के स्थान पर लालित्य का ही जामा पहनाकर रखा। परवर्ती कवियों में भवभूति को छोड़ कर अवशिष्ट अधिकांश कवियों के लिए शाकुन्तल के प्रारम्भिक तीन अंक ही प्रेरणाकारी बन गये। षष्ठ और सप्तम अंक में कवि ने प्रेम के जिस तप:साध्य उदात्तरूप की अभिव्यक्ति की, उससे कोई विशेष प्रभावित नहीं हुआ। यह अत्यन्त दु:ख की बात है। संभवत: इसके लिए साहित्य की उत्तरकालीन गति-विधि एवं समाज का बौद्धिक सीमा तक उत्तरदायित्व था। फिर, जैसा कि पंचम अध्याय में कह चुके हैं कि प्रमाता-द्रष्टा के लिए भी प्रतिभा होनी चाहिए। प्रेम के इस दिव्य रूप की पहचानने की प्रतिभा न होने के कारण ही तो उत्तरकाल की संस्कृतसाहित्य-धारा में एक द्वितीय कालिदास का आविर्भाव

संभव न हो सका ।

हर्ष की बात है कि बीसवीं शताब्दी के कुछ रूपकों में पुनः कालिदास के उस प्रेमादर्श के — नायिका को प्रेयसी से देवी-पद तक पहुँचाने के-पवित्र संकल्प का सादर अनुकरण दृष्टिगोचर हो रहा है । इन रूपकों में श्रीरामस्वामी शास्त्री के "रतिविजय"[१] का नाम उल्लेखनीय है । कामदेव की अर्द्धांगिनी रति के ऐसे दिव्य रूप के दर्शन का सौभाग्य बहुत दिनों के बाद हुआ । श्री वेंकटरमणाचार्यजी ने अल्फ्रेड टेनिसन के "दी कप" नामक दुःखान्त रूपक के आधार पर "कमला-विजय"[२] नामक एक सुखान्त नाटक की रचना की । इसमें भी उस दिव्य प्रेमादर्श का दर्शन होता है । कालिदास के अमर सन्देश को हृदयंगम करने की ऐसी क्षमता कालिदासोत्तर काल में बहुत ही कम कवियों को प्राप्त हुई है । भवभूति की बात छोड़ ही दें, क्योंकि भवभूति का प्रेमादर्श कालिदास से भी उच्चतर प्रतीत होता है । "कमला-विजय" की कमला एवं "रति-विजय" की रति दोनों शकुन्तला के समान ही नारी होकर भी देवी हैं और अबला होकर भी पति की मर्यादा की सबल संरक्षिका हैं । शिव को भी अपना लक्ष्य बनाने वाले पति, — जिसका विवेक अहंकार में नष्ट हो गया था और सर्वस्व शिव के क्रोधानल में भस्मीभूत हो गया था, — उस पति को उज्जीवित कर शिव-पद पर स्थापित करने वाली रति नारीमात्र की आदर्शस्वरूपिणी है और "कमलाविजय" की मृदुलस्वभावा नायिका कमला पति-वध कारी शोणाक्ष का दमन करने के लिए जिस तेज को धारण करती है, वह भी दर्शनीय है, उसका वह साध्वी रूप प्रातःस्मरणीय है । इन दोनों नाटकों का अङ्गीरस शृंगार है, किन्तु शृंगार का जो कमनीय रूप चित्रित किया गया है, उसे देख कर शाकुन्तल की स्मृति उद्बुद्ध हो उठती है ।

उत्तरकालीन नाट्यसाहित्य में कालिदास के "विक्रमोर्वशीयम्" का योगदान भी कुछ कम नहीं है । इसके चतुर्थ अंक की अभिनवता से उत्तरकालीन नाटककार विशेषरूप से प्रभावित हुए । अनेक नाटककारों ने अपने नाटकों के कथानकों के विकास में किसी न किसी रूप में इसके अनुरूप दृश्य की अवतारणा की है । भवभूति के "मालतीमाधव" का नवम अंक, कुलशेखरवर्मन्-रचित "तपतीसंवरण", भास्करकवि का "उन्मत्तराघवम्"

१- "रतिविजयनाटक :वाणी विलास, प्रेस - सं.२१ :

२- "कमलाविजयनाटक" - :मैसूर राजकीय मुद्रणालय, सं.१८:

विरुपाक्षकविरचित "उन्मत्तराघवम्", विश्वनाथकविरचित "मृगाङ्कलेखा", मणिकण्ठ रामशास्त्री-रचित "भैमीपरिणय", इत्यादि काव्यों में इसप्रवृत्ति का अनुकरण परिलक्षित होता है। "मृगाङ्कलेखा" नाटिका को पढ़कर ऐसा प्रतीत होता है मानो कालिदास के ही दो नाटक कवि के लिए आदर्श-स्वरूप थे। संयोग शृंगारयुक्त कथांश के विकास में कवि ने शाकुन्तल से प्रेरणा ली और विप्रलम्भ-शृंगार के चित्रण में "विक्रमोर्वशी" के चतुर्थ अंक का अनुसरण किया। नाटिका के तृतीय अंक के प्रवेशक के अनन्तर १४ वें श्लोक तक का कथांश पूर्णरूपेण "विक्रमोर्वशी" के आदर्श पर रचित है। उर्वशी को खोकर पुरूरवा की जो दशा हुई थी, वही दशा मृगाङ्कलेखा को खोकर कर्पूरतिलक की हुई। पुरूरवा के समान वह भी विरह से उन्मत्त-सा हो गया। "विक्रमोर्वशी" का कितना गहरा प्रभाव इस नाटिका पर पड़ा है, इसका ज्ञान निम्नलिखित दो/तीन श्लोकों के उल्लेख से ही हो जायगा। कर्पूरतिलक ने नृत्य-रत मयूर को देखा —

"अयं शिखण्डी निरतो रसान्धे
नृत्यन्मयूरीतरलैः कलापैः ।
संवीज्यमानः पुनरप्युदारं
केलीविलासं कुरुते विलासी ।।"

कर्पूरतिलक को उसका गर्व देखकर लगा—

"मम प्रियतमा: सति कैशपाशे विहितनिवासमधिवां मनांसि ।
अयं मयूरस्तरलैःकलापैःप्रगौवनज्ञानि कथं विदध्यात् ।।"

पुरूरवा को भी नृत्यरत मयूर का हर्ष असह्य प्रतीत हुआ था। उनको भी ऐसी ही प्रतीति हुई थी —

"मृदुपवनविभिन्नो मत्प्रियाया विनाशाद्
घनरुचिरकलापो निःसपत्नोऽस्य जातः ।
रतिविगलितबन्धे केशहस्ते सुकेश्याः
सति कुसुमसनाथे किं करोत्येष बर्ही ।।"

कर्पूरतिलक ने गजराज को देखा —

"कृत्वा लीलां ललितबलिभिःपुष्करप्रान्तरेण
स्वकान्ता मार्गं कलहंसैः केलिलीलां विधाय ।

सुण्डावच्छे सरवविसिनीकाण्डमादाय लील:
कस्तोवेदं सपदि कुरुते यूवनाथ:प्रियाया: ।।`

पुरूरवा ने भी गजराज को इसी विलासी रूप में देखा था :-

`अयमचिरोद्गतपल्लवमुपनीतं प्रियकरेणुहस्तेन ।
अभिलषतु तावदासवसुरभिरसं सल्लकीभङ्गम् ।।`

कर्पूरतिलक ने भी पुरूरवा के समान सारङ्गण की अभ्यर्थना की, किन्तु उसके आचरण से भी उसे पुरूरवा के समान ही निराशा हुई `स अन्यत मामनादृत्य कुरङ्गनया सह विहरति ----- ।`

इस प्रकार, इस रूपक के कथानक के विकास में `विक्रमोर्वशी` के चतुर्थ अंक का योगदान उल्लेखनीय है । इसमें वर्णित दानव चण्डपाल के द्वारा नायिका का अपहरण भी विक्रमोर्वशी में वर्णित केशी के द्वारा उर्वशी के अपहरण से साम्य रखता है ।

चतुर्दश शताब्दी में भास्कर कवि के `उन्मत्तराघवम्` ब नामक प्रेक्षाणक में भी `विक्रमोर्वशी` के चतुर्थ अंक का प्रभाव वर्णनीय है । जानकी दुर्वासा-शाप से स्पृष्ट लता में से पुष्प-चयन करते ही हरिणी बन जाती हैं । राम कनक-मृग लेकर लक्ष्मण के साथ लौटते हैं और सीता के इस प्रकार के अन्तर्धान से विरहोन्मत्त होकर पुरूरवा के समान ही उन्मत्त होकर अरण्य के लता-गुल्मों से, पशु-पक्षियों से सीता का समाचार पूछते हैं । कुछ स्थलों का सादृश्यातिशय उल्लेखनीय है । राम वन के सुरभित समीर से पूछते हैं --

` कस्तूराण मम प्राणकान्ता कान्तारसीमनि ।
भ्रमता भवता दृष्टा किं सा हंसललितगति: ।।`

किन्तु उन्हें उसके आचरण से निराशा होती है - ` अये प्रियाया निर्श्वासुर-भिणा पुष्पमारुतेन तिरस्कृतया वैरमनुस्मरन्नूष्णीमुपयाति ।` - कभी उन्हें भ्रान्ति होती है मानो चोरों ने उनकी प्रिया का अपहरण कर लिया है । लक्ष्मण के साथ उनका निम्नलिखित संवाद होता है --

राम- (विलोक्य सकंपम्) वत्स,केचिदमी चोरा:प्रियाया:सर्वाभरणजातं मत्सके प्रसारितवानमी मया मोहुमनयो नि:शंकमाददे ।पश्य पश्य--

मुक्ताहारच्छटामेके पद्मरागावलिं परे ।
प्रियाया: कनककाल्पनपरे हन्त बिभ्रति ।।

लक्ष्मण: - (स्वगतम्) कष्टमाविश्य पुनरप्युन्माद: ।

राम: - भो भोश्चोरा: ,तिष्ठत ममाग्रत:क्वतो गम्यते । इदानीमेव धनुरारोप्यैकैनेवाधाकेमैव सर्वान्धः पातयामि ।(इति साटोपं परिक्रम्य धनुरोपयति)

लक्ष्मण: - (सत्यं धनुरवलोक्य) अलमारोपेण ।

राम: - वत्स,मुञ्च मुञ्च बाणं संधास्यामि । अमी पुनरत्रैव निर्भयानिश्चलमासते इति (तूणीरमुखाद्वाणमुद्धर्तुमिच्छति)

लक्ष्मण: - निशाद्धुनाम्निर्गते बाणे परेषां प्राणनिर्गम: ।
तदेव आयते देव संधानं किं प्रयोजनम् ।।
अत: शरसन्धानं विहाय विभावयत्वार्य:,नात्र चोरा: ।

राम: - (विभाव्य) अहो,मे मूढा मति: ।तथा हि
आरक्तो यमशोककुड्मलचयो नो पद्मरागच्छटा
फुल्लो यं नवकर्णिकारनिकरो न स्वर्णभूषणावलि: ।
श्वेता च स्फुटसिन्धुवारपटली नो मौक्तिकानां स्रज: ।
शाखावल्गुवलस्त एव तद्वो मोहयमुमा दस्यव: ।।"

इस प्रकार कितने ही दृष्टान्त प्रस्तुत किये जा सकते हैं ।`तपतीसंवरण' में तपती के कारण दीर्घकाल तक राज्य से दूर रहने वाले राजा संवरण के राज्य में वर्षा नहीं हुई । अतएव गुरु के आदेश से देवदूत खोयी हुई तपती को देवलोक में ले गये । निद्राभंग के अनन्तर तपती को न देख कर संवरण भी विरहोन्मत्त पुरुरवा के समान ही वन में सर्वत्र प्रिया का अन्वेषण करते हैं । इसमें भी विक्रमोर्वशी से न केवल भावगत किन्तु शब्दगत साम्य भी दृष्टिगोचर होता है ।

बीसवीं शताब्दी के मण्डिकल रामशास्त्री ने भी `भैमीपरिणय' नाटक के कथानक के विकास को रमणीयतर बनाने के उद्देश्य से`विक्रमोर्वशी' के चतुर्थ अंक का अनुसरण किया है ।`भैमीपरिणय'के षष्ठ अंक में महाराज नल सोयी हुई दमयन्ती को वन में एकाकिनी छोड़ कर चले जाते हैं । सुप्तोत्थिता दमयन्ती पति को न देख कर विलाप करने लगती है और अन्त में उन्मत्त होकर वन की वृक्ष-लताओं

है, पशु-पक्षियों से नल का समाचार पूछती है --

" दमयन्ती -.......... (सचिन्ता दवलोक्य सोन्मादम्)कथं नैवायात: ?भवतु वनभवनवासिनस्तरुमृगादिदन्धूनानुच्छय ज्ञास्यामि प्रियनिवासम् ।

सरलद्रुम भो ! वदाथ स-

रचनितैन यथा मम प्रियः ।

यदि वक्तुमुपेक्षते भवान्

सरलास्या कुटिलस्य ते कुतः ।।" --इत्यादि

नायिका और प्रतिनायिका के आचरण के सम्बन्ध में उत्तरकालीन अनेक नाटककारों ने विक्रमोर्वशी के द्वितीय तथा तृतीय अंक का अनुकरण किया है। 'नागानन्द' के द्वितीय अंक में मलयवती और उसकी चेटी, उर्वशी और चित्रलेखा के समान ही नायक और उसके वयस्य का वार्तालाप सुनती है । इस प्रसंग में मलयवती के प्रति चेटी की उक्ति --

" चेटी :-(विहस्य) अयि कातरे इह स्थिता त्वां क: प्रेक्षते ? ननु विस्तृत एव त एषोऽग्रतो रक्ताशोकपादप:" इत्यादि -- ... 'विक्रमोर्वशी' के तृतीय अंक में चित्रलेखा की इस उक्ति से कितना अधिक साम्य रखती है --"अति त्वरिते अनुत्तिरस्कारिणीकासि।"

'विक्रमोर्वशी' के द्वितीय अंक में औशीनरी के वृत्तान्त से भी आगामी नाटककार बहुत प्रभावित दृष्टिगोचर होते हैं । कुलशेखरवर्मन् के 'तपतीसंवरण' के कथानक में संवरण की प्रथमा महिषी के वृत्तान्त के संयोजन में रूपककार ने स्पष्टत: विक्रमोर्वशी' का अनुसरण किया है । रानी चेटी के साथ छिपकर राजा और विदूषक का वार्तालाप सुनती हैं और पति को दूसरी स्त्री के प्रति आकृष्ट जानकर रानी कुपित हो जाती हैं । अंक का अन्त 'विक्रमोर्वशी' के द्वितीय अंक के समान ही होता है :--

" देवी - आर्यपुत्र ! अलं शङ्कया । नाहं सा, यस्या:सकर्णपूर: तव पादयुगलं वा ।

विदूषक: - (सभ्रान्तिकम्) भो वयस्य ! सर्वमेव श्रुतं तत्रभवत्या।तर्कयामि आरम्भात्र तिष्ठतीति ।

राजा- (प्रकाशम्) देवि कथमस्थाने कुपितासि । बहुपुरसोऽयमत्रापराध्यति ।

देवी - कुपितेति मां महाराज एव मन्त्रयते ।

राजा- प्रिये । मा मैवम् -

अकुटिलविभ्रमाभ्यां भ्रूलताभ्यामिदानी-

मुपचितकुङ्कुमैरङ्गुर्संरोषयत्नैः ।

प्रणयकुपितामेमुग्धस्यैदीयं

चकितयसि मुधैव त्वं चकोराक्षि चेतः ॥

चेटी- प्रसीदतु प्रसीदतु भट्टिनी । अपराद्ध एवात्र भर्ता ।

देवी- सखि । एवमेतत् । अहं खलु नियमक्लेशितशरीरा अनीशास्म्युपरोधरक्षायाम्।

तद् आत्मन आवासं गमिष्यामि । (निष्क्रान्ता देवी सपरिवारा)

विक्रमोर्वशी के द्वितीय अंक के अन्तिम भागों में भी ऐसी ही घटना घटी थी।[१]

उत्तरकालीन नाटककारों ने अपनी रचनाओं में शाकुन्तल के समान ही विक्रमोर्वशी की शब्दावलियों का भी प्रयोग किया है। `पार्वती परिणय` के द्वितीय अंक में वासन्तिका की - `प्रसिद्धःखलु युवयोरन्योन्यानुरागः` - यह उक्ति, विक्रमोर्वशी के चतुर्थ अंक में चित्रलेखा के प्रति सहजन्या की उक्ति का स्मरण दिलाती है।[२] श्रीकृष्णदत्त मैथिल के `पुरञ्जनचरित` के नायक की `अनेनादेव सत्वङ्गणी प्रविष्टा हृदयं मम------`।१।।२१।।` इत्यादि स्वगतोक्ति से `विक्रमोर्वशी` के द्वितीय अङ्क में पुरुरवा की `आ अनेनात्प्रविष्टा सा मे सुरलोक-सुन्दरी हृदयम --- (२।२।।)` इत्यादि उक्ति का शब्दगत साम्य भी दृष्टिगोचर होता है।

भास के नाटक कितने प्रसिद्ध रहे होंगे- इसका अनुमान तो कालिदास के `मालविकाग्निमित्र` की प्रस्तावना से ही हो जाता है। कालिदास की `विक्रमोर्वशी` की प्रस्तावना में भास की शैली का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। इसके अतिरिक्त

---

१ द्रष्टव्य- `विक्रमोर्वशी` [Ed. Dr. H. R. Karnik and Prof G. G. Desai (1959)

पृष्ठ संख्या ५८ से ६५

२ ,, ,, ,, पृ० सं० ६६

कालिदास पर भास के भाव एवं भाषागत[1] प्रभावों के अनेक निदर्शन महामहोपाध्याय श्री गणपति शास्त्री ने 'स्वप्नवासवदत्तम्' की भूमिका में प्रस्तुत किए हैं। 'मुद्राराक्षस' में पुत्र के प्रति चन्दनदास के उपदेश में भास के '[illegible]' का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। विश्वनाथ के 'सौगन्धिकाहरण' की नान्दी में तथा हनुमान् और भीम के वाक्कलह में 'मध्यमव्यायोग' का प्रभाव अनुपेक्षणीय है। सुभट के 'दूतांगद'[2] नामक छायानाटक पर भी भास के 'दूतवाक्य' का प्रभाव दर्शनीय है। 'दूतांगद' के नान्दी श्लोक के साथ भास के 'मध्यमव्यायोग' के नान्दी श्लोक का पर्याप्त साम्य है :-

'पायात्स वः कुमुदकुन्दमृणालगौरः
शङ्खो हरेः करतलाम्बरपूर्णचन्द्रः ।
नादेन यस्य सुरशत्रुविलासिनीनां
कान्त्यो भवन्ति शिथिला जघनस्थलीषु ॥' (दूतांगद)

'पायात्स वोऽसुरवधूहृदयावसादः
पादो हरेः कुवलयामलखड्गनीलः ।
यः प्रोद्यतस्त्रिभुवनक्रमणे रराज
वैदूर्यसंक्रम इवाम्बरसागरस्य ॥' (मध्यमव्यायोग)

भास के इतिवृत्त-चयन एवं एकांकी-रूपक के रचना-कौशल ने उत्तरकालीन रूपककारों को बहुत प्रभावित किया। भीम का शौर्य, विराट् राज्य में पाण्डवों का नाटकीय जीवन-यापन, महाभारतीय वीरों की मानवता, इत्यादि को वर्ण्य-विषय बनाकर रूपक-रचना की प्रेरणा का उत्स संभवतः भास ही थे[3] — ऐसा प्रतीत होता है। द्वादशशताब्दी के श्रीरामचन्द्र सूरि के 'निर्भयभीमव्यायोग' पर भास के महाभारतीय नाटकों का प्रभाव स्पष्ट है। भीम की 'मध्यम' संज्ञा, भरतनाट्यशास्त्र के नियमों का उल्लंघन, भास के समान ही जनान्तिक इत्यादि नाट्यधर्मी संवादों का अभाव एवं समग्र कथावस्तु का सर्वश्राव्य संवाद के माध्यम से

१- द्रष्टव्य-'स्वप्नवासवदत्तम्' त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज़ न०

२- ,, 'दूतांगद' श्री केदारनाथ शर्मा शास्त्री द्वारा सम्पादित (१९५०)

चित्रित करना- इत्यादि बातों में श्रीरामचन्द्रसूरि भास के ही ऋणी प्रतीत होते हैं । चतुर्दश शताब्दी के परमार श्री प्रह्लादनदेव रचित `पार्थपराक्रमव्यायोग`[1] की प्रेरणा यदि भास का `पञ्चरात्र` रहा हो, तो आश्चर्य की बात नहीं, किन्तु संभवत: यह कवि-प्रतिभा की दुर्बलता ही थी जिसके कारण `पार्थपराक्रमव्यायोग` में, महाभारतीय कथा आधार को बिना किसी नूतनता का स्पर्श किये ही ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया गया है । श्रीकाञ्चनाचार्य के `धनञ्जय-विजय` में महाभारत के गोग्रहणपर्व में नूतनता लाने का प्रयत्न अवश्य अवश्य किया गया, तथापि `पंचरात्र` के कवि से उत्कर्ष नहीं दिखा सके । `भीमपराक्रम`[2] नामक एकांकी रूपक के रचयिता भी भास के महाभारतीय रूपकों से अवश्य परिचित रहे होंगे - ऐसा प्रतीत होता है । भास के महाभारतीय एकांकी रूपकों के समान ही यह लघुकाय है । इसमें भी शृंगार का अभाव है । कवि वीर रस के प्रति अधिक यत्नवान् हैं । संवादों में भी साम्य दृष्टिगोचर होता है, उदाहरणार्थ- `धात्राय राजन्यम् ---` इत्यादि जरासन्ध की उक्ति `दूतवाक्य` के दुर्योधन की `राज्यं किल नृपात्मजै: ---` इत्यादि उक्ति के सदृश है[3] । इसी प्रकार जरासन्ध को क्या कह कर आशीर्वाद देना उचित होगा- इस विषय में भीम और अर्जुन का वितर्क `कर्णभार` के शक्र की उक्ति[4] से साम्य रखता है --` अत: न जयतु देव इति भृत्यजनालाप:, विजयतां महाराज इति असमञ्जस्यस्तो विषय: । अभिलषितसिद्धिरस्त्विति प्रस्तुतविरोध: । दीर्घायुर्भूया इत्यसत्यवचनम् ।` इत्यादि । बीसवीं शताब्दी के श्रीमन्महालिङ्गम कवि-विरचित `प्रतिराजसूयम्` के अनेक स्थलों में भास की शैली का अनुकरण दिखाई पड़ता है,- `बाढम् । प्रथम:कल्प:,` `उदार: कल्प:` इत्यादि वाक्य, `गान्धारीमात:` इत्यादि विशेषण सर्वथा भास के सदृश ही हैं । इसके अतिरिक्त युधिष्ठिर को देखकर प्रथम ब्राह्मण का ` हा महाराज । हा सत्यव्रत । हा राजसूययाजिन् । ईदृशीमवस्थां लम्भितोऽसि क्रूराचारैर्दायादपापकैरभि:` - इत्यादि विलाप भी भास के `ऊरुभंग` में वर्णित विलाप की शैली का अनुकरण करता है । विदुर के मुख से

1- `पार्थपराक्रमव्यायोग`

2- `भीमपराक्रम` त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज नं० १७३(१९५४)

3- `दूतवाक्य` श्लोक संख्या २४

4- किं नु खलु मया वक्तव्यं, यदि दीर्घायुर्भवेति वक्ष्ये दीर्घायुर्भविष्यति, यदि न वक्ष्ये मूढ इति मां परिभवति । तस्मादुभयं परिहृत्य किं नु खलु वक्ष्यामि । कर्णभार ।

दूतवाक्य में द्रौपदी-लाञ्छन का जो उल्लेख किया गया है, वह 'दूतवाक्य' में[1] दुर्योधन के चित्रपट-वर्णन से साम्य रखता है --

> 'अन्येषामुत्तोलितरत्नदिग्गजेभ्यश्चत्रिपेय्यन्यपुञ्जितेषु ।
> धर्मात्मजा धर्मसुतेन रुद्धे स्थिते च भीमे च स्फुरिताधरोष्ठे ।।
> संदिग्धगात्रमवरुद्धविलोलनीवि-
> स्रस्तालकं नृपसभे रुदतीमनल्पा ।
> आकर्षति परिभवैरभितर्जयन्ती
> दुःशासनस्य सहसा न रराज किं धीः ।।'

इसी रूपक में गन्धर्वराज चित्ररथ के साथ संग्रामरत दुर्योधन तथा उसकी सेना को परिश्रान्त देख कर उसका पक्ष लेकर अभिमन्यु के युद्ध करने की घटना 'पंचरात्र' के द्वितीय अंक ... से मिलती है । इसी प्रसंग में अभिमन्यु की स्वाभिमानपूर्ण उक्तियाँ दोनों रूपकों में प्रायः समान ही हैं ।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि कालिदास से लेकर आधुनिक युग तक के नाटकों के कथानकों के विकास में भास के महाभारतमूलक रूपकों का कितना अपूर्व योगदान रहा है ।

द्रौपदी के 'वेणीसंवरण' की अभिनव कल्पना ही उत्तरकालीन साहित्य के लिए भट्टनारायण की प्रतिभा का सबसे बड़ा योगदान है । भट्टनारायण की शैली से भी आगामी नाटककार बहुत प्रभावित हुए । कहीं-कहीं तो उनकी शैली का इतना घनिष्ठ प्रतिबिम्ब दृष्टिगोचर होता है कि उन पंक्तियों को पृथक रूप से देखने पर वे 'वेणीसंहार' की पंक्तियाँ ही प्रतीत होती हैं । उदाहरणार्थ-विश्वनाथ के 'सौगन्धिकाहरण' के ग्रन्थान्त में कुबेर की -- ' वीर वृकोदर, पूर्यतामस्याः पाञ्चालराजदुहितुरभिनिविष्टा मनोरथस्त्वया वीरेण दयितेन---'[2] इत्यादि उक्ति में 'वेणीसंहार' के षष्ठ अंक के अन्त में युधिष्ठिर की उक्ति

१- 'दूतवाक्य' (विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला संख्या ५२)पृ० १० से १५

२-' अनुभवतु तपस्विनी वेणीसंहारमहोत्सवम्'

पद्य-

निर्वीर्यं गुरुशापभाषितवशात् किं मे तवेवायुधं
सम्प्रत्येव भयाद्विहाय समरं प्राप्तोऽस्मि किं त्वं यथा ।
जातोऽहं स्तुतिवंशकीर्तनविदां किं सारथीनां कुले
क्षुद्रारातिकृताप्रियं प्रतिकरोम्यस्त्रेण नास्रेण यत् ।।

कर्ण – दुरात्मन् रे रे वाचाट, कृपाशस्त्रेणाम्बुविवक्ष्य वटो,
निर्वीर्यं वा सवीर्यं वा मया नोत्सृष्टमायुधम् ।
यथा पाञ्चालभीतेन पित्रा ते बाहुशालिना ।" इत्यादि

'भीमपराक्रम' में जरासंध के प्रति भीम की निम्नलिखित उक्ति में भी "वेणीसंहार" का प्रभाव परिलक्षित होता है —

" भीमः – दुरात्मन् रे रे । गुरुजनापकारपाखण्ड । कन्यादीनिवासघाति- घात पातकिन् । मार्गेतविणपावक । कृष्णास्वयंवरकोदण्डवीरताकुण्ठाकाण्ड राधेयविधि । कामपालकालयिताभिमान । युधिष्ठिरापराधिन् । स्वयमनावमान- दुर्ललितदुराचारचतुर । अनधिकारवर्तित्वविधुरमतिकृत्यमपि परिवदसि । तदद्य मदीरेण-
गुरुतरघनदण्डोच्चण्डदोर्दण्डपातै-
र्विघाटितकिरीटः पीठमाटालकाटम् ।
नवननयनपीणागच्छरीकृपारिपौर-
मातङ्कपिशितं त्वामन्तकायार्पयामि ।।"

ऐसे अनेक उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं – ।

पात्रों की खेदपूर्ण उक्ति में अथवा उनके विलाप में प्रायः "वेणीसंहार" के पितृवध से शोकाकुल अश्वत्थामा की अथवा भ्रातृवध के समाचार से व्याकुल दुर्योधन अथवा धृतराष्ट्र की उक्तियों का अनुकरण किया गया है । "भीमपराक्रम" में जरासन्ध- पुत्र सहदेव के –" हा तात । जगत्कुलैकमल्ल । हा प्रत्यर्थिभूपालचक्रचूडामणिकेतु । हा कामपालकुमारलीलालम्पट । हा निखिलभूपालमण्डलावनतशिरोभिषिक्त । हा त्याग- शीलापहसितकल्पविटपिकीर्तिविभूतिसमृद्ध । हा सकलक्षितिपालवल्लभ । क्व गतिं कालेन नीतोऽसि ।' इत्यादि । विलाप में और "वेणीसंहार" के षष्ठ अंक के युधिष्ठिर के निम्नलिखित विलाप में अत्यन्त साम्य है —

गदाग्रांकुशकोटिपाटितमहादुःशासनोरःस्थली
रक्तोद्गीर्णविकिरेण निश्चितमिदं भीमेन या बध्यते ।।"

काञ्चनाचार्य के 'धनञ्जय-विजय' में भीम कहते हैं —

"(सामर्षम्) भो भो राजन्, नैतत्प्रायिकं भवति । किन्तु
दुःशासनस्य गदया प्रविदार्य वक्षः
स्वःकदुष्णरुधिराणि ततो निपीय ।
तच्छोणितार्द्रमसृणितां सुनियम्य देव्या
वेणीं तु तत्प्रतिकरिष्यति भीम एव ।।"

चालुक्य-नरेश कुमारपाल के समसामयिक महाकवि सिद्धपाल के पुत्र विजयपाल ने राजशेखर के 'प्रचण्डपाण्डव' के प्रथम अंक के अनुकरण पर 'द्रौपदीस्वयम्बर' नामक रूपक की रचना की ।

इस प्रकार प्रस्तुत अध्याय में उत्तरकालीन नाट्यसाहित्य में आलोचित महाभारतमूलक नाटकों के योगदान का दिग्दर्शन किया गया । अभिलाषा तो थी कि संस्कृत के [illegible] समस्त नाटकों का अध्ययन करने के अनन्तर इस अध्याय को लिखूँ, किन्तु संस्कृत के पुस्तकों के प्रकाशन के प्रति इस देश की उदासीनता एवं पुस्तकालयों में प्रकाशित पुस्तकों की अपर्याप्तता से प्रत्येक जिज्ञासु पाठक एवं शोधकर्ता परिचित हैं । फिर भी इस विषय में सामर्थ्यानुसार प्रयास किया गया और जिन नाटकों में आलोचित रूपकों का प्रभाव दृष्टिगोचर हुआ, उनका सम्यक् अध्ययन किया गया । परन्तु ऐसा विश्वास है कि इस विषय में जितना दिग्दर्शन किया गया उससे इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि उत्तरकालीन नाटकों का उपजीव्य चाहे महाभारत हो अथवा महाभारतेतर ग्रन्थ हों, किन्तु कथानक के विकास की पद्धति में, भावाभिव्यंजना की शैली में, रस-परिपाक की रीति में प्रायः द्वितीय प्रथम शताब्दी तक के इन महाभारत-मूलक नाटकों को ही आदर्श-रूप में ग्रहण किया गया है ।

उ प सं हा र

अब तक के इन नौ अध्यायों में विक्रमीय प्रथम शताब्दी तक के महाभारत-मूलक नाटकों के कथानकों के आलोचनात्मक अध्ययन करने का यत्किंचित् प्रयास किया गया । गुरुकृपा-लब्ध अपनी विवेक-बुद्धि,अपने विश्वास और अपनी समझने के सामर्थ्य के अनुसार ही महाभारतीय कथाएँ एवं इन पर आधारित नाटकों के कथानकों के उत्कर्षापकर्षों का विचार किया गया है । अतएव इस निबन्ध में जहां कहीं , जो भी कोई निर्णय दिया गया अथवा देने का प्रयत्न किया गया है — उसके पूर्व सदा "ऐसा प्रतीत होता है" अथवा "ऐसा संभव है"-- इस प्रकार का वाक्यांश जोड़ दिया गया । केवल शब्दशास्त्र ही "अनन्तपारम्" है — ऐसी बात नहीं,सम्यक् रूप से अध्ययन करने का संकल्प करने पर सभी शास्त्र अपार एवं विराट् प्रतीत होते हैं । इस निबन्ध का सम्बन्ध एक ओर महाभारत से है, जिसके स्वरूप के लिए "यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्" इत्यादि उक्ति सुविदित है, दूसरी ओर इस निबन्ध का सम्बन्ध भास,कालिदास,भट्टनारायण तथा राजशेखर की महाभारतमूलक नाट्य-कृतियों से है । नाटक के विराट् स्वरूप की ओर संकेत करते हुए भरतमुनि ने कहा है —"न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला । न तद् कर्म न वा योगो नाटकेऽस्मिन् यन्न दृश्यते ।।" वाग्देवता के अप्रतिम उपासक भास, कालिदास आदि नाट्यकारों की प्रतिभा को हृदयङ्गम करने के लिए भी चिरकाल की एकाग्र साधना की अपेक्षा है । अतएव ऐसी स्थिति में दो-तीन वर्षों का अनुसंधान , चाहे वह कितना ही एकाग्र मन से क्यों न किया गया हो— उसके बल पर प्रस्तुत निबन्ध में यदि किसी के भी सम्बन्ध में दृढ़-निर्णय देने की अभिलाषा की जाती तो वह बौने के चांद छूने की अभिलाषा के समान ही हास्यकर एवं दुःसाहसिक होती ।

संस्कृत-नाटकों की प्राचीनता के सम्बन्ध में पाश्चात्य विद्वानों ने तथा उनके पदानुगों के अनुसरण करने वाले पौरस्त्य विद्वानों ने अनेकों मत प्रस्तुत किये हैं ।[१] किन्तु इन मतों में कई कारणों से त्रुटि का अवकाश हो गया है । उनमें से भारतीय -नाटकों की उत्पत्ति पर ग्रीक-प्रभाव खोजने का प्रयास ही प्रधान कारण प्रतीत होता है । उन्हें मानो इस बात का विश्वास होता ही नहीं कि किसी

१- द्रष्टव्य :(१) प्रस्तुत निबन्ध का प्रथम अध्याय, पृष्ठ संख्या-८

देश के निवासी बिना ग्रीक-नाटकों से परिचय प्राप्त किये, अपने युग-युग के संस्कार के अनुरूप एवं अपनी स्वतःस्फूर्त प्रतिभा से अपने देश में नाट्यकला का शुभारम्भ कर सकता है। किन्तु दोनों देशों के नाटकों की रचना - शैली एवं आदर्शों की भिन्नता इन विद्वानों के मत को निराधार बना देती है[1]। संस्कृत नाटकों के विभिन्न तत्वों का बीजारोपण वैदिक-युग में ही हो गया था तथा उनका क्रमिक विकास वैदिकोत्तर-युग में भी अव्याहत रूप से होता गया—इस बात के अनेक प्रमाण हैं। अशोक के शिला-लेख एवं विभिन्न ग्रन्थों के अन्तःसाक्ष्य से संस्कृत-नाटकों की प्राचीनता का प्रमाण बारम्बार प्राप्त होता है[2]। पाणिनि के द्वारा नट-सूत्रों एवं पतंजलि के द्वारा नाटकों के उल्लेख से तथा अन्य अनेक प्रमाणों के आधार पर ५०० ई० पू० को संस्कृत-भाषा के पूर्णाङ्ग - रूपकों के रचनाकाल के रूप में स्वीकार कर सकते हैं[3]।

पाश्चात्य रीति से हमारे देश में इतिहास लिखने की प्रथा प्राचीनकाल में नहीं थी। यह हमारी सभ्यता के लिये कमी नहीं है। हमारी प्राचीन भावधारा एवं हमारे संस्कार के आदर्श का यह एक वैशिष्ट्य है। अपनी कृतियों के माध्यम से हमारे देश के प्राचीन मनस्वियों ने समय की शिला पर अपनी प्रतिभा एवं व्यक्तित्व के जो अमिट-चिह्न छोड़ गए हैं, आगामी सन्तानों के लिए जो पाथेय रख गए हैं, उनको हृदयङ्गम करने से ही इतिहास का प्रयोजन साधित किया जा सकता है। किन्तु यदि इतना होने पर भी किसी व की आँखों में इन प्राचीन साहित्यकारों के अमर-सन्देश की अपेक्षा उनके जन्म-समय अथवा उनकी साहित्य-साधना के काल के ज्ञान में अधिक सार दिखता हो, तो उसे भी निराश नहीं होना पड़ेगा—ऐसा दृढ़ विश्वास है। रचनाओं के आभ्यन्तरीण सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक इत्यादि साक्ष्यों के आधार पर, उत्तरकालीन ग्रन्थों पर उनका प्रभाव एवं उनमें उनके नामोल्लेख के आधार पर अथवा अति प्रचलित जनश्रुतियों के आधार पर कोई उनके सठिक स्थितिकाल तक न सही, उसके आस पास तक तो पहुँच ही सकता है। इस प्रकार के

१- द्रष्टव्य : १- प्रस्तुत निबन्ध का प्रथम अध्याय, पृ० सं० ८ से १५

२- ,, २- ,, ,, पृ० सं० ३ से ७

३- ,, ३- पृ० सं० 6

जिज्ञासुओं के कौतूहल की शान्ति के लिए इन्हीं पूर्वोक्त पद्धतियोंका अवलम्बन करके भास का समय ३००ई०पू०के आस-पास, कालिदास का प्रथम शताब्दी ई०पू०के आस-पास, भट्टनारायण का ८वीं शताब्दी ई० के तथा राजशेखर का समय १०वीं शताब्दी के आस-पास निर्धारित किया जा सकता है[१]।

आलोचित महाभारतीय-नाटकों के अध्ययन से यह बात स्पष्ट हुई है[२] कि महाभारत की आधिकारिक कथाओं पर आधारित भास के ६ नाटक, भट्टनारायण के 'वेणीसंहार' एवं राजशेखर के 'प्रचण्डपाण्डव' की महाभारत-मूलकता पर कोई शङ्का उठ ही नहीं सकती। शङ्का का यत्किञ्चित् अवकाश केवल कालिदास के दो नाटक 'विक्रमोर्वशी' एवं 'शाकुन्तल' के सम्बन्ध में होता है। इन दो नाटकों की आधारभूत कथाएं विभिन्न पुराणों में भी प्राप्त होती हैं। 'विक्रमोर्वशी' की कथा तो ऋग्वेद एवं शतपथ-ब्राह्मण में भी उपलब्ध होती है। यद्यपि उर्वशी-पुरूरवा की कथा तथा दुष्यन्त-शकुन्तला की कथा प्रत्यक्ष रूप से महाभारत की आधिकारिक कथा से सम्बन्धित नहीं है, तथापि ये कुरु-पाण्डवों के अति-प्रसिद्ध पूर्वजों की कथा होने के कारण अन्य प्रसङ्गोपात्त उपाख्यानों के समान महाभारत की आधिकारिक कथा से बहुत दूर विच्छिन्न भी नहीं है। फिर, जिन पुराणों में ये कथाएं मिलती हैं, उनका समय निश्चित रूप से कालिदास से बाद का है। कालिदास के परवर्ती होने के कारण ही इन कथाओं में कालिदास की रचनाओं से इतना अधिक साम्य उपस्थापित करना संभव हो सका है। वस्तुतः इन कथाओं के रचयिता ही कालिदास के ऋणी हैं, अतुल-प्रतिभासम्पन्न गान्धर्वी के वरपुत्र कालिदास कदापि उनके ऋणी नहीं हैं। इतना अवश्य संभव है कि "विक्रमोर्वशी" के विप्रलम्भ की घटना [illegible] की प्रेरणा कालिदास ने अपने पूर्ववर्ती ऋग्वेद एवं शतपथब्राह्मण की कथा से ग्रहण की हो। किन्तु दोनों नाटक महाभारतमूलक हैं, इसमें संदेह करना उचित प्रतीत नहीं होता।

इन महाभारतमूलक नाटकों के सटीक मूल्यांकन करने में सुविधा हो इसका ध्यान करके इनके महाभारतीय-स्रोत का भी यथासंभव विस्तृत-विवरण प्रस्तुत किया गया है।

१- द्रष्टव्य : १- प्रस्तुत निबन्ध का द्वितीय अध्याय, पृ० सं० ६१- २४
,, २- ,, ,, पृ० सं० ,, ,,
३- प्रस्तुत निबन्ध का तृतीय अध्याय, पृ० सं० २५-१२६

इससे भगवान वेदव्यास की प्रतिभा के प्रति भी समुचित श्रद्धा-प्रदर्शन करने का अवसर प्राप्त हुआ, वहीं तो महाभारत के शकुन्तलोपाख्यान की इन नाटकों में से अनेकों के महाभारतीय आधार पर आलोचकों[1] के अनुचित कटाक्षों का समूलोच्छेदन भी संभव न हो पाता। इन नाटकों के कथानकों की सार्थकता का मूल्याङ्कन करते समय उनकी भावव्यञ्जकता एवं रसोद्दीपकता[2] पर विचार किया गया। चूँकि भावव्यञ्जकता तथा रसोद्दीपकता दोनों तत्त्वों की सफलता बहुत कुछ नाटकीय वस्तु-विन्यास पर निर्भर रहती है, अत: कथानकों का नाट्यशास्त्रीय विवरण भी प्रस्तुत किया गया है।[3] रूपक के शीर्षक का तात्पर्य, नाट्य प्रकार, सन्धि-सन्ध्यङ्ग तथा सन्ध्यन्तरों की अवस्थिति के विषय में विभिन्न विद्वानों के मतों की समालोचना भी की गयी, इन समालोचनाओं के विषय में किसी का मतभेद हो सकता है। हो सकता है, जहाँ दोष समझा गया है, उन स्थलों के विषय में उन विद्वानों की दृष्टि भिन्न रही हो अथवा उनके मतों को ठीक से समझा न गया हो। अतएव यदि प्रस्तुत निबन्ध का कोई कथन कटूक्ति हुआ हो, तो वह भ्रम ही हो सकता है, धृष्टता नहीं। प्रतिष्ठित विद्वानों के प्रति असम्मान प्रदर्शन करना अवश्य धृष्टता है, किन्तु विनय-पूर्वक उनके मतों की सम्भाव्य समालोचना करके निर्भीकता के साथ अपना मन्तव्य प्रकाश करने में संभवत: कोई हानि नहीं है।

भारतीय उपाख्यानों पर आधारित इन रूपकों के कथानकों का अध्ययन करते हुए ऐसा अनुभव होता है कि इन सीधे-सादे उपाख्यानों को एक प्रभावकारी रूप देने के लिए हमारे देश के मनीषि-कवियों ने कितना उत्साह दिखाया है। श्रुति और स्मृति के पुजारी भारत की सन्तानों को अपने पूर्वजों की प्रख्यात-कथाओं में कितना ममत्व था। उनके हृदय में इस आर्ष-काव्य रूप महाभारत के एक-एक शब्द के प्रति इतनी श्रद्धा थी कि इसके उपाख्यानों को अभिनीत रूप में देख कर भी उन्हें परितृप्ति नहीं होती थी। आदिपर्व में ठीक ही कहा गया था -" इदं

१- द्रष्टव्य- प्रस्तुत निबन्ध का पञ्चम अध्याय, पृ० सं० १९९ – २७४
२- " " षष्ठम " पृ० सं० ३०६ – ३५०
३- " " अष्टम " पृ० सं० २२८ – ३०६

पाठक को जो अपूर्व वीररसात्मक अनुभूति होती है उस वर्णन को चक्षुरिन्द्रिय-ग्राह्य बनाकर उन्होंने उस अनुभूति के आनन्द को अधिक हृदयहारी बनाने का प्रयत्न किया है । महाभारत में भीम के आचरणों का वर्णन पढ़कर जो कौतुक होता होगा, वेणीसंहार के भीम की प्रत्यक्ष रूप से 'मथ्नामि कौरवशतं समरे न कोपात्.....' इत्यादि कहते सुनकर निश्चय ही वह कौतुक सौ गुना बढ़ जाता होगा । अतएव इसमें सन्देह नहीं है कि विवेच्य प्रथम शताब्दी तक के महाभारतीय नाटकों के कथानक उनके महाभारतीय स्रोत से अधिक आकर्षक एवं उच्चस्तरीय रचना हैं ।

महाभारतीय उपाख्यानों से इन नाटकीय कथानकों के तुलनात्मक अध्ययन करते समय यह अनुभूत होता है कि भगवान् वेदव्यास ने 'जय' नामक इतिहास रूप में प्रसिद्ध महाभारत में उन घटनाओं का वर्णन किया जो घटित हो चुकी थीं और भास,कालिदास,भट्टनारायण आदि महाकवियों ने महाभारत का आधार लेकर रूपक-रचना करते समय उन्हीं घटनाओं के उस रूप का वर्णन किया जो घटित हो सकता था । जो घटित हो चुका है वह जीवन का मूर्त अङ्ग बन जाने के कारण देश और काल की सीमा में आबद्ध होकर विशिष्ट बन जाता है और इसके विपरीत जो घटित हो सकता है -- वह अमूर्त कल्पना का अंश बन जाने के कारण सीमाओं से मुक्त सामान्य अर्थात् सार्वभौम,सार्वकालिक बन जाता है । महाभारत के उपाख्यानों का सत्य विशिष्ट होने के कारण सीमित है,परन्तु नाटकीय कथानक में आकर उनका रूप सामान्य एवं शाश्वत हो गया है । सामान्य का सत्य असीम है, इसीलिये सामान्य का रूप भव्यतर है, उसमें दार्शनिकता अधिक है । महाभारतीय उपाख्यान जो अधिकांशतः वस्तुपरक हैं, इन नाटकों के कथानक के रूप में परिवर्तित होकर भावपरक हो गये हैं ।

फिर, कवि के व्यक्तित्व से भी एक ही घटना का स्वरूप भिन्न-भिन्न हो जाता है । कालिदास के दुष्यन्त और शकुन्तला और वेदव्यास के दुष्यन्त-शकुन्तला एक नहीं हैं । इसका प्रधान कारण यह है कि कालिदास और वेदव्यास एक ही व्यक्ति नहीं हैं । दोनों की अन्तः प्रकृति एक ही साँचे में ढली नहीं है,इसीलिये दोनों ने अपने अपने अन्तर्मन और बाहर के मानव-समाज से प्रभावित होकर जिस दुष्यन्त और शकुन्तला की सृष्टि की है, उनके स्वरूप में भिन्नता आ गयी है ।

इससे यह नहीं कहा जा सकता है कि कालिदास का दुष्यन्त कालिदास की ही प्रतिकृति है । किन्तु इतना तो कहना ही पड़ेगा कि कालिदास के दुष्यन्त में कालिदास का भी बहुत कुछ अंश है, नहीं तो उसका रूप दूसरा होता ।

फिर, महाभारत को जैसे एक ही समय में धर्म और वैराग्य का शास्त्र कहा जा सकता है, वैसे ही कालिदास को भी एक ही समय में सौन्दर्यभोग और भोग-विरति का कवि कह सकते हैं । उनकी रचना सौन्दर्य-विलास में ही समाप्त नहीं हो जाती, उसका अतिक्रमण करके तब उनकी लेखनी शान्त होती है । उन्होंने दिखाया है "जो अन्धा प्रेम-सम्भोग हमें स्वाधिकारप्रमत्त करवाता है, वह भर्तृशाप से खण्डित, ऋषि-शाप से प्रतिहत और देवरोष से भस्मीभूत हो जाता है"। शाकुन्तल के कवि ने प्रेम को ही प्रेम की चरम प्रतिष्ठा के रूप में स्वीकार नहीं किया है, किन्तु मङ्गल को प्रेम का लक्ष्य रखा है । यहां कालिदास-निर्दिष्ट-प्रेमादर्श शिव के प्रेमादर्श का अनुसरण करता है । पञ्चशर के सम्मुख आत्मसमर्पण करने पर कल्याण का उद्भव नहीं हो सकता, तपस्या के साथ प्रेम के सम्मिलन से ही उस शौर्य की उत्पत्ति संभव है, जो मानव को उस आसुरी-वृत्ति के पराभवों से बचाने वाला है । यह केवल कुमारसंभव का सन्देश नहीं, 'शकुन्तला' का भी सन्देश है । तभी तो कालिदास ने शाकुन्तल के नायक - नायिका की हृदयावस्थित पञ्चशर को भी ऋषि की रोषाग्नि और दुःसह अनुतापाग्नि से भस्मीभूत करवा दिया । सौन्दर्यभोग और भोग-विरति की यह पद्धति महाभारत के शकुन्तलोपाख्यान में कहाँ ? अतएव शकुन्तलोपाख्यान से शाकुन्तल निश्चित रूप से उच्चस्तर की रचना है ।

इस प्रकार विक्रमीय प्रथम शताब्दी तक के इन महाभारतमूलक नाटकों के कथानकों का अध्ययन करते हुए हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि संस्कृत-भाषा के नाट्यसाहित्य के इस उत्कृष्ट युग के इन चारों[१] नाटककारों में प्रख्यात नाटक लिखने की अद्भुत योग्यता थी । अपनी कल्पना, भाषा, भाव, शैली से इन पुरानी कथाओं में नूतनता का रंग भर कर, — उन्हें भव्यतर रूप प्रदान कर — इन प्रतिभावान् नाटककारों ने प्राचीन के सार्थक स्वीकरण का अपूर्व आदर्श स्थापित किया है और साथ ही अपने को महाभारतकार का योग्य उत्तराधिकारी सिद्ध किया है ।

—

१- भास, कालिदास, भट्टनारायण और राजशेखर

रसार्णव सुधाकर — सिंहभूपालकृत —(त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज़)१९१६

संगीतरत्नाकर (सप्तम अध्याय) (Adyar Library Series)

साहित्यदर्पण —विमला टीका — (मोतीलाल बनारसीदास)

संस्कृत-नाटक-समीक्षा — डॉ० इन्द्रपाल सिंह (साहित्यनिकेतन कानपुर १९६०)

संस्कृत आलोचना — डॉ० बलदेव उपाध्याय (हिन्दी समिति ग्रन्थमाला,सूचना विभाग उत्तरप्रदेश १९५७)

हिन्दी अभिनव भारती — सम्पादक डा० नगेन्द्र (दिल्ली विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित)

'A note on the Name of Dashrupa' by V. Raghavan (gournal of Oriental Research Madras Vol.7.1933)

Bibliography of the Sanskrit Drama by M.Schuler (Columbia University) Indo-Iranian Series) 1906

Classical Dances and Costumes of India by K. Ambrose (London W.1957)

Contribution to the History of the Hindu Drama by M.M. Ghosh Firma K.L.Mukhopadhyaya, Calcutta 1958

Drama in Ancient India by S.C. Bhatt (New Delhi, Amrit-Book Sellers Publishing Co.1962)

Drama in Sanskrit Literature by R.V.Jagirdar

'Natyadharmi and Lokadharmi' by V. Raghavan Journal of Oriental Research Madras VOL.7.

Number of Rasas by V.Raghavan (Adyar Library Series 1940)

Nritya, Nattya and Nritta : Their meaning and Relation by K.L.Varma

Sanskrit Comic Characters by J.T. Parikh (Popular Book Depot. Surat 1952)

Sanskrit Drama by A.B. Keith (Oxford University Press) 1924

Sanskrit Drama : its Origin and Decline - by Brill

The Classical Drama - Wells Henry.W. (Bombay Asia Publishing House)

'The Curtain in Ancient Indian Theatre' by S.K. De (Bharatiya Vidya Volume IX 1948)

The Indian Theatre by C.B. Gupta (1954)

The Laws and Practice of Sanskirt Drama (Thesis for D.Phil decree)by S.N. Shastri 1947

'The Origins of Indian Drama' by H.P.Shastri (Journal of Asiatic Society of Bengal VOL.5. 1909

The Vidusaka in Sanskrit Drama S: His Origin by R.C.Hazra (Journal of Asiatic Society VOL XIX 1953)

Types of Sanskrit Drama by D.R.Mankad, (Karachi,1936)

World Drama by Nicoll

संस्कृत-साहित्य के इतिहास पर लिखित ग्रन्थ :--

India's Past by A.A. Macdonell (Motilal BanarasiDas 1956)

History of Sanskrit Literature by S.N. Das Gupta and S.K.De (Calcutta University Publication 1962)

History of Sanskrit Literature by V. Varadachari

History of Sanskrit Literature by A.A. Macdonell

History of Indian Literature (VoL.III, Part I) by Winternitz Translated by Subhadra Jha (Ed.1963)

History of Sanskrit Literature by S.K. De (1947)

Survey of Sanskrit Literature by C. Kunhan Raja (Bharatiya Vidya Bhawan 1962)

भास

'मध्यमव्यायोग' दूतवाक्य,दूतघटोत्कच,कर्णभार तथा ऊरुभंग' सम्पादक महामहोपाध्याय टी०गणपति शास्त्री (त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज़ १९१२)

स्वप्नवासवदत्तम् (भूमिका) सम्पादक- टी०गणपति शास्त्री (त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज़१९१२)

दूतवाक्य -- सम्पादक वी०आर०वेदेश्वर (पूना ओरियण्टल सीरीज़ १९५७)

दूतवाक्य -- ,, पं० रामजी मिश्र (विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थ माला १९६०)

दूतघटोत्कच -- ,, ,, ,, ,,

मध्यमव्यायोग --,, ,, ,, ,,

कर्णभार -- ,, ,, ,, ,,

ऊरुभंग -- ,, पं० कपिलदेव गिरि ,, ,,१९६२

पंचरात्र -- ,, आचार्य रामचन्द्र मिश्र ,, ,,१९५८

पंचरात्र -- ,,

'महाकवि भास : एक अध्ययन' - पं० बलदेव उपाध्याय (चौखम्बा विद्याभवन १९६४)

Bhasa's Works : A criticism - by A.K. Pisharoti (Trivandrum 1925)

Bhasa's Works : A Critical Study - by M.M.T.Ganapati Shastri- (Trivandrum 1925)

Bhasa - a study by A.D. Pusalker (Moti Lal Banarasi Das 1940)

Bhasa - by A.S.P. Ayyar (Indian Men of Letters Series Madras 1957)

'Fragments of the Early Hindu Dramatist-Bhasa, Ramila and Somila' by Fitz Edward Hall (Journal of Asiatic Society of Bengal 1859)

'Karna's Burden' by H.L. Hariyappa (Rajah Sir Annamalai Chattiar Comm.
VOL. Annamalai University)

'Studies in Bhasa' by V.S. Sukthankar (Journal of the Bombay Branch of the Royal Asiatic Society VOL.26)

The Plays Ascribed to Bhasa, Their authenticity and Merits by C.R. Devadhar (Oriental Book Agency 1927)

'The Bhasa Riddle' by V.S. Sukhankar (Journal of Bombay Branch of Royal Asiatic Society Vol.I 1925)

The Problem of the Mahabharata Plays of Bhasa (Annals of the Bhandarkar Oriental Research Institute VOL. No.35. 1955)

'Thirteen Newly Discovered Dramas Attributed to Bhasa' by Bhatta Nath Svamin (The Indian Antiquary VOL. 45, 1916)

कालिदास

अभिज्ञान शाकुन्तलम्-- Ed.by R.Pischel, 2nd Edition (Harv. Oriental Series 1922)

अभिज्ञान शाकुन्तलम्-- Translated by M.Williams (Oxford, 1926)

अभिज्ञान शाकुन्तलम्--(राघवभट्टव्याख्याविभूषितम्)-- Ed.N.R. Acharya (Nirnaya Sagar Press)1938

अभिज्ञान शाकुन्तल -- Ed. R.M. Bose (Calcutta 1931)

An Astronomical Basis for Fixing the age of Kalidasa by Dr. N.Sen. (Journal of Asiatic Society 1932)

'Date of Kalidasa'- by K.G.Shankar(Indian Historical Quarter by VOL.1. 1931)

Date of Kalidasa by N.K. C.Chattopadhyaya (Indian Press Ltd. Allahabad 1926)

India in Kalidasa by B.S. Upadhyaya (1947)

Kalidasa- a study by Prof.G.C. Jhala

Kalidasa- by C.Kunhan Raja (Andhra University 1956)

Kalidasa His Period, personality and Poetry by K.S.Ramaswami (1933)

Kalidasa- the human meaning of his works by Walter Ruben- (Published by Akademie Verlag Berlin) 1957

Kalidasa and his Philosophy of Love by K.Balasubrahmanya Iyer (Journal of Oriental Research Madras VOL. III 1929)

The Sources of the Shakuntala Story by Pt. K.C.Chattopadhyaya (Allahabad University Jubilee number)

The Progress of Love in the First three Acts of Shakuntala by C.R. Deodhar (Thirteenth All Indian Oriental Conference, Nagpur 1946)

'कालिदासीयं दर्शनम्' -- by Ramchandra Diksital (Journal of Oriental Research Madras 1928 Vol.2)

'कालिदास और उनकी कविता' -- लें०- महावीरप्रसाद द्विवेदी (दारागंज, प्रयाग १९३३)

'कालिदास और भवभूति' -- लें०- द्विजेन्द्रलाल राय (हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, ग्रन्थ संख्या ४६)

'कालिदास' -- लें०-महामहोपाध्याय वासुदेव विष्णु मिराशी

'कालिदास-साहित्य' -- लें० डा० बाबाप्रसाद मिश्र

विक्रमोर्वशीय -- सम्पादक एस०पी० पण्डित

विक्रमोर्वशीय -- ,, एम०एम० शास्त्री (निर्णय सागर प्रेस) १९४२

विक्रमोर्वशीय -- ,, डा०एच०आर कानिक तथा प्रो०एस०पी० कैसारे

विक्रमोर्वशी -- (General Introduction by Dr. S. Radhakrishnan) Ed. H.D. Velankar (Sahitya Akademi Delhi 1961)

'Vikramorvasiya- Konesvari' by H.D. Velanker (Annals of the Bhandarker Research Institute VOl.No.XXVII.1968)

'Vikramorvasiya - Act IV' by Dr. S.S.Bhave (Bharatiya Vidya Volume No. 9 1948)

'Vikramoditya of Ujjaini' by Rajbali Pande (Banaras shatadal Prakashan, 1961)

भट्टनारायण

वेणीसंहार -- सम्पादक एम०आर० काले

वेणीसंहार -- ,, एन०बी० गजेन्द्रगडकर

वेणीसंहार -- ,, एन०बी० गोडबोले

वेणीसंहार -- (जगद्धरकृतव्याख्यासहित) सम्पादक के०पी० परब १९४०

वेणीसंहार -- सम्पादक- बी०बी० वैशम्पायन (Bombay Book-Seller's Publishing Co. 1968)

'Adisura and Ballalsena by Sri Parvati Shankar Roy Choudhury (in Bengali)

Adisura and Bhattanarayan by K.N. Tagore (in Bengali)

'On the Sen Rajas of Bengal' by R.L.Mitra (Journal of Asiatic Society 1865)

<u>राजशेखर</u>

बालभारत edited by C.Cappller, (Strassburg 1885)

बालभारत -- सम्पादक एन०आर० आचार्य(निर्णयसागर प्रेस१९४६)

'Chronological order of Rajshekhara's Works' by V.V. Mirashi (K.B. Pathak Comm. Volume Part VIV)

Essays on Rajshekhara's life and writings' by Sten Konow (in Karpurmanjari Ed. by Sten konow)

<u>प्रस्तुत शोध-निबन्ध के नवम अध्याय में आलोचित संस्कृत-नाटक</u>

उन्मत्तराघवम् -- भास्करकविकृत (काव्यमाला नं०१७)

उन्मत्तराघवम् -- विरूपाक्षदेव

कमलाविजयनाटक -- वेंकटरमणय्यकृत -- (मैसूर १९३४)

कर्पूरमंजरी -- राजशेखर -- सम्पादक एस०एम० घोष (Calcutta University Publication 1948)

कुवलयावली -- सम्पादक एल०ए० रवि वर्मा त्रावणकोर १९४१

चण्डकौशिक -- क्षेमीश्वर

तपतीसंवरण -- कुलशेखरवर्मन्कृत --सम्पादक टी०गणपति शास्त्री त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज १९१२

दूतांगद -- सुभटकवि -- सम्पादक श्री केदारनाथ शर्मा शास्त्री (१९५०)

धनंजयविजय -- कांचनाचार्य -- काव्यमाला नं०५४

नागानन्द -- हर्षवर्द्धन (संस्कृत साहित्य समिति विल्लेस्वरपुरम बैंगलोर १९५२)

निर्भयभीमव्यायोग -- रामचन्द्रसूरि

पार्वतीपरिणय -- वामनबाण (वाणी विलास प्रेस १९०६)

पार्थपराक्रमव्यायोग -- प्रह्लादनदेव

पुष्करावलिम् -- मीकृष्णदत्तमैथिल --सम्पादिका कुमारी नीलम चौबे (आनन्द ग्रन्थमाला १९..

(फ)

प्रतिराजसूयम् -- महालिंग कवि (वाणी विलास प्रेस १९५७)

प्रभारकाल्ली -- प्रभाकराचार्य (निर्णयसागर प्रेस) १९५७

भीम पराक्रम -- बलबल्ब ज्ञानानन्दकवीन्द्रकृत त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज़ १९५४

मैथिलीपरिणयनाटक -- मण्डिकल राम शास्त्री (मैसूर १९१४)

मैथिलीकल्याण नाटक -- हस्तिमल्ल विरचित (माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला)

मृगांकलेखा -- विश्वनाथ देव --सम्पादक गोपीनाथ कविराज सरस्वती भवन ग्रन्थमाला२९ (१९२९)

रतिविजय -- के०एस०रामस्वामी शास्त्री (वाणी विलास प्रेस १९२३)

रुक्मिणीपरिणय -- श्रीराम वर्मेन्द्र

विद्धशालभंजिका -- राजशेखर

वंगीयप्रताप -- हरिदास सिद्धान्तवागीश (बंगाब्द १३५२)

सौगन्धिकाहरण -- विश्वनाथकवि

सुभद्राधनंजय -- कुलशेखरवर्मन, --सम्पादक- गणपति शास्त्री त्रिवेन्द्रमसंस्कृत सीरीज़१९१२

सुभद्रापरिणयनम् -- व्यासराम देव -- सम्पादक नारायण शास्त्री खिस्ते -(वाणी-विलास प्रेस १९३८)